वाल्मीकि रामायण

अयोध्या-काण्ड।

(पूर्वार्ध)

—⋙()⋘—

तैयार है।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का पूर्वार्ध तैयार हुआ है और प्राय. इस महीने में ग्राहकों के पास भेजना प्रारंभ होगा। अयोध्याकाण्ड के दो भाग होंगे। उन में यह पूर्वार्ध है। अगले भाग में अयोध्याकाण्ड संपूर्ण हो जायगा।

वनवास।

इस अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्ध में श्री रामचन्द्रजी के वनवास का प्रारंभ हुआ है। भारद्वाज ऋषिके आश्रम से चलकर यमुना पार होकर चित्रकूट के लिये प्रस्थान करने तक का कथाभाग इस विभाग में आया है। प्रथम भाग के समान ही यह भाग बडा चित्ताकर्षक और सुन्दर हुआ है।

घर की परिस्थिति।

इस विभाग में दशरथ के घरकी परिस्थिति, राणियों के पारस्परिक व्यवहार, दशरथ की कौटुंबिक स्थिति, रामचन्द्रजी को वनवास जाने के लिये कौन कैसे कारण हुए, दशरथ के राज्य का विस्तार कितना बडा था, दशरथ का राणियों में से किस के साथ व्यवहार कैसा था और उसका कौटुंबिक जीवन पर क्या परिणाम हुआ, वनवास में कैसा व्यवहार या खानपान होता था, चित्रकूट में निवास का स्वरूप क्या था, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के आपस में किस तरहके बर्ताव होते थे, उस समय पूजा, अर्चा, हवन, उपासना, संध्या आदि किस तरह होती थी, पूजाके साधन कौनसे थे, मूर्ति की पूजा होती था या नहीं, होती तो किन मूर्तियो की होती थी, देवताकी पूजा के कमरे घर-घरमें थे या सार्वजनिक मन्दिर थे, मन्दिर कैसे थे, कितने बडे थे, इत्यादि अनेक विषयों का विचार इस काण्ड के निरीक्षण में अन्तर्गत प्रमाणों से किया है। इस आलोचना से उस समय की सामाजिक और राजकीय परिस्थिति की उत्तम कल्पना हो सकती है।

समालोचना का महत्त्व।

वाल्मीकीय रामायण की इस तरह समालोचना इस समय तक किसीने नहीं की है। यही पहिली बार सामाजिक और राजकीय दृष्टि से समालोचना की जा रही है और प्राचीन इतिहास पर नयी रोशनी डाली जा रही है। जो हमारी समालोचना को पढते हैं, वे इस तरहकी समालोचना को बहुत ही पसंद करते है। क्योंकि जिन बातों पर आजतक प्रकाश नहीं पडा था, उन बातों पर इस समालोचना से बहुत ही प्रकाश डाला गया है।

मूल्य।

संपूर्ण वाल्मीकीय रामायण के सात काण्ड दस विभागों में प्रकाशित होंगे। प्रत्येक विभाग का मूल्य ३) होगा और प्रत्येक का डा० व्य० ॥=) है। अर्थात् दसों विभागों का मूल्य ३०) और डा. व्य. ६॥) है।

लाभ।

जो पेशगी मूल्य भेजेंगे, उनको २४) मूल्य होगा। पेशगी मूल्य भेजनेवालों को डाक व्यय माफ होगा।

'प्रबंधकर्ता'

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २६७

वर्ष २३ : : : : अङ्क ३

फाल्गुन संवत् १९९८

मार्च १९४२

व्रतोंका पालनकर्ता ।

त्वमग्ने व्रतपा असि
देव आ मर्त्येष्वा
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ।

(ऋ० ८।११।१)

"हे अग्ने ! तू (व्रत-पाः) व्रतों का पालन करनेहारा है। हे देव ! तू मर्त्यों में तथा तूही यज्ञों में (ईड्य) प्रशंसनीय हो।"

इस समय की कठिनता।

दुष्कर्मों के फल।

सब पाठक जानते हैं कि यह समय कितना कठिन है। किस तरह भयानक रीतिसे हम चारों ओर से घेरे जा रहे हैं। हमारे अन्दर सब प्रकार की शक्ति होते हुए भी हम उसका उपयोग कर नहीं सकते, न अपनी रक्षा कर सकते और नाही अपना विशेष कार्यक्रम रख सकते हैं। हमारे पूर्व दुष्कर्मों और इस समय के दुष्कर्मों के ये फल हैं।

कागज की कठिनता।

इस समय सब मुद्रण की वस्तुओं के मूल्य बढ रहे है। दो गुणा, तीन गुणा मूल्य देनेपर भी जितना चाहिए, उतना कागज नहीं मिलता। कागजों के कारखाने और दुकानदार इस समय बडे अडे हुए हैं। न कोई किसी प्रकार की सहूलियत देनेको तैयार है न कोई माल हाथ से छोडने को तैयार है।

ऐसी भयानक अवस्था में हमारा स्वाध्याय-मण्डल का भारत-मुद्रणालय अटक गया है। क्या किया जाय, यह समझ में नहीं आता। दिन प्रति दिन हालत अधिक ही बिगडती जाती है। इस हालत का सुधार करना हमारे अधीन नहीं है।

इस समयतक हमने **वैदिक धर्म** इसी आपत्तिको सहते हुए चलाया और आगे भी जहांतक चलेगा, वहांतक चलावेंगे। पर आगेके दिन ऐसे दीख रहे हैं कि, संभव है कि हमें कुछ दिन के लिए यह मुद्रण बन्द करना पडे।

युद्ध के बाद।

'वैदिक धर्म' के पृष्ठोंकी संख्या हमने कुछ कम की है। इसको देखकर कई पाठक हमें कुछ बुराभला लिख रहे हैं। उनको कागज आदि की आज की अवस्था का पता नहीं है। इसलिए सब पाठकों को हम यह कह देना यही उचित समझते हैं कि, 'वैदिक धर्म' के पृष्ठोंकी संख्या इस समय-अर्थात् युद्ध की समाप्तितक- कितनी भी न्यून हुई, तो इसका विचार पाठक इस समय न करें।

युद्धसमाप्ति के पश्चात् हम सब पृष्ठ अर्थात् पूर्व के और आगेके भी इनको मासिक के पृष्ठ बढाकर पहुंचा देंगे। इस विषयमें पाठक किसी प्रकार की चिंता न करें।

युद्धसमाप्तितक इस मासिक के पृष्ठ न्यून हों, वा इस से भी कम करने पडें, तो भी ये सब रहे हुए पृष्ठ और आगे पूर्ववत् पृष्ठसंख्या हम पाठकों को दे देंगे। ये दिन लाचारी के हैं, इसलिए इन दिनोंमें दिए जानेवाले न्यून पृष्ठोंकी पाठक क्षमा करें।

यदि कागज मिलता रहेगा, तो हम भी पृष्ठ कम करने के इच्छुक नहीं हैं। हम चाहते हैं कि, वैदिक धर्म के पृष्ठ सौ या डेढ सौ किये जाय और पाठकों को भरपूर धर्म की चर्चा पढनेको मिले, पर वैसा करना इस समय असंभव हुआ है और हम जो करना नहीं चाहते वही "पृष्ठों की संख्या को कम करना" आवश्यक हुआ है।

कागजवालों के पास हमने आर्डर दे रखी है। पर वे कागज नहीं दे सकते। उनके पास कागज नहीं है, न आने की संभावना है। देसी कागजों के मिलवाले जितना कागज बनाते हैं, उतना सरकार ले रही है, इसलिये हमारी लाचारी बढ रही है।

इसलिये युद्ध जबतक रहेगा, तबतक इस स्थिति में सुधार नहीं हो सकता, यह जानकर पाठक क्षमा करें।

"संपादक"

वेद का रहस्य ।

दूसरा अध्याय । [क]

वैदिक वाद का सिंहावलोकन ?

(लेखक- श्री० योगी अरविंद घोष; अनुवादक- स्वा० अभयदेवजी)

तो वेद एक ऐसे युग की रचना है, जो हमारे बौद्धिक दर्शनों से प्राचीन थां। उस प्रारम्भिक युग में विचार हमारे तर्कशास्त्र की युक्तिप्रणाली की अपेक्षा भिन्न प्रणालियों से आरम्भ होता था और भाषा की अभिव्यक्ति के प्रकार ऐसे होते थे, जो हमारी वर्तमान आदतों में बिल्कुल अनुपादेय ठहरते। बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य उस समय सम्पूर्ण ज्ञान के लिये आभ्यन्तर अनुभूति पर और अन्तर्ज्ञानयुक्त मन की सूझों पर निर्भर रहता था, जो ज्ञान इस प्रकार की श्रृंखला में होता था कि मनुष्य के सामान्य प्रत्यक्षों और दैनिक क्रियाकलापों से परे का था। उन का लक्ष्य था ज्ञानालोक, न कि तर्कसंमत निर्णय, उन का आदर्श था अन्तःप्रेरित द्रष्टा, न कि यथार्थ तार्किक। भारतीय परम्पराने वेदों के उद्भव के इस तत्त्व को बड़ी सचाई के साथ संभाल कर रखा हुआ है। ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से स्वयं निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था, एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का। वेद की भाषा स्वयं 'श्रुति' है, एक छन्द है जिस का बुद्धि-द्वारा निर्माण नहीं हुआ, बल्कि जो श्रुतिगोचर हुआ, एक दिव्य वाणी है जो कंपन करती हुई असीम में से निकल कर उस मनुष्य के अन्तःश्रवण में पहुँची, जिसने पहले से ही अपने आपको अपौरुषेय ज्ञान का पात्र बना रखा था। 'दृष्टि' और 'श्रुति' दर्शन और श्रवण, ये शब्द स्वयं वैदिक मुहावरे हैं, ये और इस के सजातीय शब्द, मंत्रों के गूढ परिभाषा शास्त्र के अनुसार, स्वतःप्रकाश ज्ञान को और दिव्य अन्तःश्रवण के विषयों को बताते हैं।

स्वतःप्रकाश ज्ञान (इलहाम या ईश्वरीय ज्ञान) की वैदिक कल्पना में किसी चमत्कार या अलौकिकता का निर्देश नहीं मिलता। जिन ऋषिने इन शक्तियों का उपयोग किया, उसने एक उत्तरोत्तर वृद्धिशील आत्म-साधना के द्वारा इन्हें पाया था। ज्ञान स्वयं एक यात्रा और लक्ष्यप्राप्ति थी, एक अन्वेषण और एक विजय थी; स्वतःप्रकाश की अवस्था केवल अन्त में आई; यह प्रकाश एक अन्तिम विजय का पुरस्कार था। वेद में यात्रा का यह अलंकार, सत्य के पथ पर आत्मा का प्रयाण, सतत रूप से मिलता है। उस पथ पर, जैसे यह अग्रसर होता है, वैसे ही आरोहण भी करता है; शक्ति और प्रकाश के नवीन क्षेत्र इस की अभीप्साओं के लिये खुल जाते हैं; यह एक वीरतामय प्रयत्न के द्वारा अपने विस्तृत हुए आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को जीत लेता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद को यह समझा जा सकता है कि, यह उस महान् उत्कर्ष का एक लेखा है, जिसे मानवीयताने अपनी सामूहिक प्रगति के किसी एक काल में विशेष उपायों के द्वारा प्राप्त किया था। अपने गूढ तथा साधारण अर्थ में यह कर्मों की पुस्तक है, आभ्यन्तर और बाह्य यज्ञ की पुस्तक है; यह है आत्मा की संग्राम और विजय की सूक्ति जब कि, यह विचार और अनुभूति के उन स्तरों को खोज कर पा लेता है और उन में आरोहण करता है, जो भौतिक अथवा पाशविक मनुष्य से दुष्प्राप्य हैं; यह है मनुष्य की तरफ से उन दिव्य ज्योति, दिव्य शक्ति और दिव्य कृपाओं की स्तुति जो मर्त्य में कार्य करती है। इसलिये इस बात से यह बहुत दूर है कि, यह कोई ऐसा प्रयास हो, जिस में कि बौद्धिक या कल्पनात्मक विचारों के परिणाम प्रतिपादित किये गये हों; नही यह किसी आदिम धर्म के विधि-नियमों को बतलानेवाली पुस्तक है। केवल, अनुभव की एकरूपता में से और प्राप्त हुए ज्ञान की निर्व्यक्तिकता में से विचारों का एक नियत समुदाय निरन्तर दोहराया जाता हुआ उद्भूत होता है और एक नियत प्रतीकमय भाषा उद्भूत होती है, जो सम्भवतः उस आदिम मानवीय बोली में इन विचारों का अनिवार्य रूप थी। क्योंकि यही सिर्फ अपनी समवेत मूर्तरूपता के द्वारा और रहस्यमय संकेत की शक्ति के द्वारा इस योग्य थी कि, उसे अभिव्यक्त कर सके, जिस का व्यक्त करना जातिके साधारण मनके लिये अशक्य था।

चाहे कुछ भी हो, हम एक ही विचारों को सूक्ष्म-सूक्ष्म

में दोहराया हुआ पाते हैं, एकही नियत परिभाषाओं और अलंकारोंके साथ और बहुधा एक से ही वाक्यांशों में और किसी कवितात्मक मौलिकता की खोज के प्रति या विचारों की अपूर्वता और भाषा की नवीनता की माँग के प्रति बिलकुल उदासीनता के साथ। सौन्दर्यमय सौष्ठव, आडंबर या लालित्य का किसी प्रकार का भी अनुकरण इन रहस्यवादी कवियोंको इसके लिये नहीं उकसाता कि, वे उन पवित्र प्रतिष्ठापित रूपोंको बदल दे, जो उनके लिये- ज्ञान के सनातन सूत्रों को दीक्षितों की सतत परम्परा में पहुँचाते जानेवाले- एक प्रकारके दिव्य बीजगणित से बन गये थे।

वैदिक मंत्र वस्तुतः ही एक पूर्ण छन्दोबद्ध रूप रखते हैं, उन की पद्धति में एक सतत सूक्ष्मता और चातुर्य है, उनमें शैली की तथा काव्यमय व्यक्तित्व की महान् विविधतायें हैं; वे असभ्य, जंगली और आदिम कारीगरों की कृति नहीं हैं, बल्कि वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव निःश्वास हैं, जो कला अपनी रचनाओंको एक आत्मदर्शिका अन्तःप्रेरणा की सबल किन्तु सुनियन्त्रित गति में उत्पन्न करती है। फिर भी ये सब उच्च उपहार जानबूझकर एक ही अपरिवर्तनीय ढाँचे के बीच में और सर्वदा एक ही प्रकार की सामग्री से रचे गये हैं। क्योंकि व्यक्त करने की कला ऋषियों के लिये केवल एक साधनमात्र थी न कि लक्ष्यभूत; उनका मुख्य प्रयोजन अविरत रूप से व्यावहारिक था, बल्कि उपयोगिता के उच्चतम अर्थ में लगभग उपयोगितावादी था।

वैदिक मन्त्र उस ऋषि के लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वयं अपने लिये तथा दूसरों के लिये आध्यात्मिक प्रगति का साधन था। यह उसकी आत्मा में से उठा था, यह उसके मन की एक शक्ति बन गया था, यह उसके जीवन के आन्तरिक इतिहास में कुछ महत्त्वपूर्ण क्षणों में अथवा संकट तक के क्षण में उसकी आत्माभिव्यक्ति का माध्यम था। यह उसे अपने अन्दर देव को अभिव्यक्त करने में, भक्षक को, पाप के अभिव्यञ्जक को विनष्ट करने में सहायक था; पूर्णता की प्राप्ति के लिये संघर्ष करनेवाले आर्य के हाथ में यह एक शस्त्र का काम देता था, इंद्र के वज्र के समान यह आध्यात्मिक मार्ग में आनेवाले प्रवण भूमि के आच्छादक पर, रास्ते के भेडिये पर, नदी-किनारे के लुटेरों पर चमकता था।

वैदिक विचार की अपरिवर्तनीय नियमितता को जब हम इसकी गम्भीरता, गुरुता और सूक्ष्मता के साथ लेते हैं, तो कुछ रोचक विचार इससे निकलते हैं। क्योंकि हम युक्तियुक्त रूप से यह तर्क कर सकते हैं कि, ऐसा एक नियत रूप और विषय उस काल में आसानी से संभव नहीं हो सकता, जो कि विचार तथा आध्यात्मिक अनुभव का आदि काल था, अथवा उस काल में भी जब कि, उन का प्रारंभिक उत्कर्ष और विस्तार हो रहा था। इसलिये हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, हमारी वास्तविक संहिता एक युग की समाप्ति को सूचित करती है, न कि इसके प्रारंभ को और नहीं इसकी क्रमिक अवस्थाओं में के किसी काल को। यह भी संभव है कि इसके प्राचीनतम सूक्त उन प्राचीनतर + गीतिमय छन्दों के अपेक्षाकृत नवीन विकसित रूप हों अथवा पाठान्तर हों जो और भी पहले की मानवीय भाषा के अधिक स्वच्छन्द तथा सुलनम्य रूपोंमें ग्रथित थे। अथवा यह भी हो सकता है कि, इसकी प्रार्थनाओं का सम्पूर्ण विशाल समुदाय आर्यों के अधिक रूप से समृद्ध भूतकालीन साहित्यमें से वेदव्यास के द्वारा किया गया केवल एक संग्रह हो।

प्रचलित विश्वास के अनुसार जो द्वैपायन कृष्ण हैं, उस महान् परम्परागत मुनि, महान् संग्रहीता (व्यास) के द्वारा, आयस युग के आरंभ की ओर, बढती हुई सन्ध्या और अन्तिम अन्धकार की शताब्दियों की ओर मुँह मोडकर बनाया हुआ यह संग्रह शायद दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग की, पूर्वजों की ज्योतिर्मयी उषाओं की केवल अन्तिम ही वसीयत है, जो अपने वंशजों को दी गई है, उस मानवजाति को दी गई है, जो पहले से ही आत्मा में निम्नतर स्तरों की ओर तथा भौतिक जीवन की, बुद्धि और तर्कशास्त्र की युक्तिओं की अधिक सुगम और सुरक्षित प्राप्तियों- सुरक्षित शायद केवल प्रतीति में ही-की ओर मुख मोड रही थी।

परन्तु ये केवल कल्पनायें और अनुमान ही हैं। निश्चित तो इतना ही है कि, मानवचक्र के नियम के अनुसार जो

+ वेद में स्वयं सतत रूप से "प्राचीन" और "नवीन" ऋषियों, (पूर्व ... नूतन) का वर्णन आया है, इनमें से 'प्राचीन' इतने अधिक पर्याप्त दूर हैं कि, उन्हें एक प्रकारके अर्ध-देवता, ज्ञान के प्रथम संस्थापक समझना चाहिये।

वह माना जाता है कि, वेद उत्तरोत्तर अन्धकारमें जाते गये और उनका विलोप होता गया, यह बात घटनाओं से पूरी तौर पर प्रमाणित होती है। यह वेदों का अन्धकार में जाना पहले से ही प्रारंभ हो चुका था, उससे बहुत पहले जब कि भारतीय आध्यात्मिकता का अगला महान् युग, वेदान्तिक युग, आरंभ हुआ, जिसने कि इस पुरातन ज्ञान को सुरक्षित या पुनरुज्जीवित करने के लिये, जितना कि वह उस समय कर सकता था, संघर्ष किया। और तब कुछ और हो सकना प्रायः असंभव ही था।

क्योंकि वैदिक रहस्यवादियों का सिद्धान्त अनुभूतियों पर आश्रित था, जो अनुभूतियाँ कि साधारण मनुष्य के लिये बड़ी कठिन थीं और वे उन शक्तियों की सहायता से होती थीं, जो शक्तियाँ हममें से बहुतों के अन्दर केवल प्रारंभिक अवस्था में हैं और अभी अधूरी विकसित हैं और ये शक्तियाँ यदि कभी हमारे अन्दर सक्रिय होती भी हैं, तो मिले जुले रूपमें ही और अतएव वे अपने व्यापार में अनियमित होती हैं। एक बार जब सत्य के अन्वेषण की प्रथम तीव्रता समाप्त हो चुकी, तो उसके बाद थकावट और शिथिलता का काल बीचमें आना अनिवार्य था, जिस काल में कि पुरातन सत्य आंशिक रूप से लुप्त हो जाने ही थे। और एक बार लुप्त हो जाने पर फिर वे प्राचीन सूक्तों के आशय की छानबीन किये जाने के द्वारा आसानी से पुनरुज्जीवित नहीं किये जा सकते थे; क्योंकि वे सूक्त ऐसी भाषा में ग्रथित थे, जो कि जानबूझकर सन्दिग्धार्थक रखी गई थीं।

एक भाषा जो हमारी समझ के बाहर है, वह भी ठीक ठीक समझ में आ सकती है, यदि एक वार उस का मूल सूत्र पता लग जाय; एक भाषा जो जानबूझ कर सन्दिग्धार्थक रखी गई है, अपने रहस्य को अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ता और सफलताके साथ छिपाये रख सकती है, क्योंकि वह उन प्रलोभनों और निर्देशोंसे भरी रहती है, जो भटका देते हैं। इसलिये जब भारतीय मन फिरसे वेदके आशयके अनुसन्धान की ओर मुड़ा, तो यह कार्य दुस्तर था और इस में जो कुछ सफलता मिली, वह केवल आंशिक थी। प्रकाश का एक स्रोत अब भी विद्यमान था, वह परम्परागत ज्ञान जो उन के हाथमें था, जिन्होंने मूल वेद को कण्ठस्थ किया हुआ था और उस की व्याख्या करते थे, अथवा जिन के जिम्मे वैदिक कर्मकाण्ड था– ये दोनों कार्य प्रारम्भ में एक ही थे, क्योंकि पुराने दिनों में जो पुरोहित होता था, वही शिक्षक और द्रष्टा भी होता था। परन्तु इस प्रकाश की स्पष्टता पहले से ही धुँधली हो चुकी थी। बड़ी ख्याति पाये हुए पुरोहित भी जिन शब्दोंका वे बार बार पाठ करते थे, उन पवित्र शब्दोंकी शक्ति और उनके अर्थका बहुत ही अधूरा ज्ञान रखते हुए याज्ञिक क्रियायें करते थे।

क्योंकि वैदिक पूजा के भौतिक रूप बढ़कर आन्तरिक ज्ञान के ऊपर एक मोटी तह के रूप में चढ़ गये थे और वे उसी का गला घोंट रहे थे, जिस की किसी समय वे रक्षा करने का काम करते थे। वेद पहले ही गाथाओं और यज्ञविधियों का एक समुदाय बन चुका था। इस की शक्ति प्रतीकात्मक विधियों के पीछे से ओझल होने लग गई थी; रहस्यमय अलंकारों में जो प्रकाश था, वह उनसे पृथक् हो चुका था और केवल एक प्रत्यक्ष असम्बद्धता और कलारहित सरलताका ऊपरी स्तर ही अवशिष्ट रह गया था।

ब्राह्मणग्रंथ और उपनिषदें लेखचिह्न हैं, उस एक जबरदस्त पुनरुज्जीवन के जो मूल वेद तथा कर्मकाण्ड को आधार रख कर प्रारम्भ हुआ और जो आध्यात्मिक विचार तथा अनुभव को एक नवीन रूप में लेखबद्ध करने के लिये था। इस पुनरुज्जीवन के ये दो परस्पर पूरक रूप थे, एक था कर्मकाण्डसम्बन्धी विधियों की रक्षा और दूसरा वेद की आत्मा का पुनः प्रकाश– पहले के द्योतक हैं ब्राह्मण ग्रंथ, × दूसरे की उपनिषदें।

ब्राह्मणग्रंथ प्रयत्न करते हैं, वैदिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विधियों को, इन की भौतिक फलोत्पादकता की शर्तों को उन के विविध अंगों, क्रियाओं व उपकरणों के प्रतीकात्मक, अर्थ और प्रयोजन को, यज्ञ के लिये जो महत्वपूर्ण मूलमंत्र हैं, उन के तात्पर्य को, धुँधले संकेतों के आशय को तथा पुरातन गाथाओं और परिपाटियों की स्मृति को नियत करने और सुरक्षित करने का। उन में आनेवाले कथानकों में से बहुत से तो स्पष्ट ही मंत्रों की अपेक्षा उत्तरकाल के हैं, जिन का आविष्कार उन संदर्भों का स्पष्टीकरण करने के

× निश्चय ही, ये तथा इस अध्याय में किये गये दूसरे विवेचन कुछ मुख्य प्रवृत्तियों के सारभूत और संक्षिप्त आलोचन ही हैं। उदाहरणतः ब्राह्मणग्रंथों में दार्शनिक सन्दर्भ भी हम पाते हैं।

लिये किया गया है जो कि, अब समझ में नहीं आते थे, दूसरे कथानक संभवतः मूल गाथा और अलंकार की उस सामग्री के अंग हैं, जो प्राचीन प्रतीकवादियों के द्वारा प्रयुक्त की गई थी, अथवा उन वास्तविक ऐतिहासिक परिस्थितियों की स्मृतियाँ हैं, जिन के कि, बीच में सूक्तों का निर्माण हुआ था।

मौखिक रूप से चली आ रही परम्परा सदा एक ऐसा प्रकाश होता है, जो वस्तु को धुँधला दिखाता है; जब एक नया प्रतीकवाद जो उस प्राचीन प्रतीकवाद पर कार्य करता है, जो कि आधा लुप्त हो चुका है, तो संभवतः वह उसके ऊपर उग कर उसे अधिक आच्छादित ही कर देता है, अपेक्षा इस के कि, वह उसे प्रकाश में लाये, इसलिये ब्राह्मणग्रंथ यद्यपि बहुत से मनोरंजक संकेतों से भरे हुए हैं, फिर भी हमारे अनुसन्धानमें वे हमें बहुत ही थोडी सहायता पहुँचाते हैं, न ही वे पृथक् मूलमन्त्रों के अर्थके लिये एक सुरक्षित पथप्रदर्शक होते हैं, जब कि, वे मन्त्रकी एक यथातथ और शाब्दिक व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं।

उपनिषदों के ऋषियोंने एक दूसरी प्रणाली का अनुसरण किया। उन्होंने विलुप्त हुए या क्षीण होते हुए ज्ञान को ध्यानसमाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया और उन्होंने प्राचीन मंत्रों के मूल ग्रन्थ(मूल वेद) को अपने निजी अन्तर्ज्ञान तथा अनुभवों के लिये आधार या प्रमाणरूप से प्रयुक्त किया, अथवा यूँ कहें कि, वेदवचन उन के विचार और दर्शन के लिये एक बीज था, जिस से कि, उन्होंने पुरातन सत्यों को नवीन रूपोंमें पुनरुज्जीवित किया।

जो कुछ उन्होंने पाया, उसे उन्होंने ऐसी दूसरी परिभाषाओं में व्यक्त कर दिया, जो उस युग के लिये जिस में कि, वे रहते थे, अपेक्षाकृत अधिक समझ में आने योग्य थीं। एक अर्थ में उन का वेद मंत्रों को हाथ में लेना बिलकुल निःस्वार्थ नहीं था, इस में विद्वान् ऋषि की वह सतर्क सूक्ष्मदर्शिनी इच्छा नियन्त्रण नहीं कर रही थी, जिससे कि, वे अवश्य शब्दोंके यथार्थ भाव तक और अपने वास्तविक रूपमें वाक्योंके ठीक-ठीक विचार तक पहुँचे। वे शाब्दिक सत्य की अपेक्षा एक उच्चतर सत्य के अन्वेषक थे और शब्दोंका प्रयोग केवल उस प्रकाशके संकेतक रूपमें करते थे, जिस की ओर कि, वे जाने का प्रयत्न कर रहे थे। वे शब्दों के, उन की व्युत्पत्ति से बने अर्थों को या तो जानते ही नहीं थे, या उस की उपेक्षा कर देते थे और बहुधा वे शब्दों के घटक अक्षरध्वनियों को लेकर प्रतीकात्मक व्याख्या करने की सरणिका ही प्रयोग करते थे, जिसमें कि, उन्हें समझना बडा कठिन पड जाता है।

इस कारण से, उपनिषदें जहाँ अमूल्य वस्तु हैं, उस प्रकाश के लिये जो कि, वे प्रधान विचारों पर तथा प्राचीन ऋषियों की आध्यात्मिक पद्धति पर डालती हैं, वहाँ वे जिन वेदमंत्रों को उद्धृत करती हैं, उन के यथार्थ आशय को निश्चय करने में हमारे लिये उतनी ही कम सहायक हैं, जितने कि ब्राह्मणग्रन्थ। उन का असली कार्य वेदान्त की स्थापना करना था, न कि वेद की व्याख्या करना।

इस महान् आंदोलन का फल हुआ, विचार और आध्यात्मिकता की एक नवीन तथा अपेक्षाकृत अधिक स्थिर शक्तिशाली स्थापना, वेद की वेदान्त में परिसमाप्ति। और इस के अन्दर दो ऐसी प्रबल प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं, जिन्होंने पुरातन वैदिक विचार तथा संस्कृति के टुकडे-टुकडे करने और बिखेर देने की दिशा में कार्य किया। प्रथम यह कि, इस की प्रवृत्ति बाह्य कर्मकाण्ड को अधिकाधिक गौण करने की, मंत्र और यज्ञ की भौतिक उपयोगिता को कम कर के उस के स्थान पर अधिक विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक लक्ष्य और अभिप्राय को देने की थी।

प्राचीन रहस्यवादियोंने बाह्य और आभ्यन्तर, भौतिक और आत्मिक जीवन में जो संतुलन, जो समन्वय कर रखा था, उसे स्थानच्युत तथा अस्तव्यस्त कर दिया गया। एक नवीन संतुलन, एक नवीन समन्वय स्थापित किया गया जो कि, अन्ततोगत्वा संन्यास और त्याग की ओर झुक गया और उसने अपने आप को तब तक कायम रखा, जब तक कि, यह समय आने पर बौद्धधर्म में आई हुई इस की अपनी ही प्रवृत्तियों की अति के द्वारा स्थानच्युत और अस्तव्यस्त नहीं कर दिया गया।

यज्ञ, प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड अधिकाधिक निरर्थकसा अवशेष और यहाँ तक कि भारभूत हो गया, तो भी, जैसा कि प्रायः हुआ करता है, यन्त्रवत् और निष्फल हो जानेका ही परिणाम यह हुआ कि उनकी प्रत्येक बाह्यसे बाह्य वस्तु की भी महत्ता को बढाचढा कर कहा जाने लगा और उनकी सूक्ष्म विधियों को राष्ट्र-मन के उस भाग द्वारा जो

अब तक उनसे चिपटा हुआ था, बिना युक्ति के ही बल-पूर्वक थोपा जाने लगा। वेद और वेदान्त के बीच एक तीव्र व्यावहारिक भेद अस्तित्वमें आया, जो क्रियामें था, यद्यपि पूर्णतः सिद्धान्तरूप से कभी भी स्वीकार नहीं किया गया, जिसे इस सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है, "वेद पुरोहितों के लिये, वेदान्त सन्तों के लिये।"

वेदान्तिक हलचल की दूसरी प्रवृत्ति थी, अपने आपको प्रतीकात्मक भाषा के भार से क्रमशः मुक्त करना, अपने ऊपर से उपचित गाथाओं और कवितात्मक अलंकारों के पर्दे को हटाना, जिस में कि रहस्यवादियों ने अपने विचार को छिपा रखा था और उसके स्थान पर एक अधिक स्पष्ट स्थापना को और अपेक्षया अधिक दार्शनिक भाषा को रखना। इस प्रवृत्ति के पूर्ण विकास ने न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की, बल्कि मूल वेद की भी उपयोगिता को अप्रचलित कर दिया। उपनिषदें जिन की भाषा बहुतही स्पष्ट और सीधी-सादी थी, सर्वोच्च भारतीय विचार का मुख्य स्रोत हो गईं और उन्होंने वसिष्ठ तथा विश्वामित्र की अन्तःश्रुत ऋचाओं का स्थान ले लिया ×।

वेदशिक्षा का अनिवार्य आधार क्रमशः कम और कम होते होते, अब वैसे उत्साह और बुद्धिचातुर्य के साथ पढे जाने बन्द हो गये थे; उनकी प्रतीकमय भाषाने, प्रयोग में न आने से, नई सन्तति के आगे अपने आन्तरिक आशयके अवशेष को भी खो दिया, जिस सन्तति की सारी ही विचारप्रणाली वैदिक पूर्वजों की प्रणाली से भिन्न थी। दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग बीत रहे थे और उनके स्थान पर तर्क के युग की प्रथम उषा का आविर्भाव हो रहा था।

बौद्धधर्म ने इस क्रान्ति को पूर्ण किया और प्राचीन युग की बाह्य परिपाटियों में से केवल कुछ अत्यादृत आडम्बर और कुछ यन्त्रवत् चलती हुई रूढियाँ ही अवशिष्ट रह गईं। इसने वैदिक यज्ञ को लुप्त कर देना चाहा और साहित्यिक भाषा के स्थान पर प्रचलित लोक-भाषा को प्रयोग में लाने का यत्न किया। और यद्यपि इसके कार्य की पूर्णता, पौराणिक सम्प्रदायों में हिन्दूधर्म के पुनरुज्जीवन के कारण, कई शताब्दियों तक रुकी रही, तो भी वेद ने स्वयं इस अवकाश से न के बराबर ही लाभ उठाया। नये धर्म के प्रचार का विरोध करने के लिये यह आवश्यक था कि, पूज्य किन्तु दुर्बोध मूल वेद के स्थान पर ऐसी धर्म-पुस्तकें सामने लाई जावें, जो अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन संस्कृत में सरल रूप में लिखी गई हों।

देश के सर्वसाधारण लोगों के लिये पुराणों ने वेद को एक तरफ धकेल दिया और नवीन धार्मिक पूजा-पाठ के तरीकों ने पुरातन विधियों का स्थान ले लिया। जैसे वेद ऋषियों के हाथ से पुरोहितों के पास पहुँचा था, वैसे ही अब यह पुरोहितों के हाथसे निकल कर पण्डितोंके हाथोंमें जाना शुरू हो गया। और उस रक्षण में इसने अपने अर्थों के अन्तिम अंगच्छेदन को और अपनी सच्ची ज्ञान और पवित्रता की अन्तिम हानि को सहा।

यह बात नहीं कि वेदोंका यह पण्डितों के हाथमें जाना और भारतीय पाण्डित्य का वेदमन्त्रों के साथ व्यवहार, जो कि ईसा के पूर्व की शताब्दियों से प्रारम्भ हो गया था, सर्वथा एक घाटे का ही लेखा हो। इसकी अपेक्षा ठीक तो यह है कि, पण्डितों के सतर्क अध्यवसाय तथा उनकी प्राचीनता को रक्षित रखने और नवीनता में अप्रीति की परिपाटी के हम ऋणी हैं कि, उन्होंने वेद की सुरक्षा की, बावजूद इसके कि इसका रहस्य लुप्त हो चुका था और वेद-मन्त्र स्वयं क्रियात्मक रूप में एक सजीव धर्मशास्त्र समझे जाने बन्द हो गये थे। और साथ ही लुप्त रहस्य के पुनरुज्जीवन के लिये भी पाण्डित्यपूर्ण कट्टरता के ये दो सहस्र वर्ष हमारे लिये कुछ अमूल्य सहायतायें छोड गये हैं। वेद-संहितायें जिनके ठीक-ठीक स्वर-चिह्न बडी सतर्कता के साथ निश्चित किये हुए हैं, यास्क का महत्त्वपूर्ण कोष और सायण का वह विस्तृत भाष्य जो अनेक और प्रायः चौंका देनेवाली अपूर्णताओं के होते हुए भी, अन्वेषक विद्वान् के लिये गम्भीर वैदिक शिक्षा के निर्माण की ओर एक अनिवार्य पहला कदम है।

× यहाँ फिर इससे मुख्य प्रवृत्ति ही सूचित होती है और इसे कुछ शर्तों की अपेक्षा है। वेदों को प्रमाण-रूप से भी उद्धृत किया गया है, पर सर्वांगरूप से कहें, तो उपनिषदें ही हैं, जो कि ज्ञान की पुस्तक होती हैं, वेद अपेक्षाकृत कर्मकाण्ड की पुस्तक है।

ब्रह्माका नारायणकी नगरीमें प्रवेश।

(लेखक- श्री० ब्र० हरिश्चन्द्रजी, गुरुकुल-इन्द्रप्रस्थ।)

अथर्ववेद के " प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृतां पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् " इस मन्त्र में उल्लिखित घटना का वर्णन हुआ है। मनुष्य का शरीर ही यह नगरी है। यह नगरी "अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय " इन पांच कोशों से मिलकर बनी है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि, यह क्रमशः एक दूसरेके अन्दर और अन्दर विद्यमान हैं और उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते गये हैं।

१. अन्नमय कोश।

इस नगरीका अन्नमय कोश सबसे बाह्य, स्थूल आवरण है। उसके लिये मन्त्र में 'प्रभ्राजमानां' यह शब्द विशेषणरूप से आया है। मनुष्य का यह स्थूल शरीर अन्नमय कोश 'सबल-सुडौल और सुन्दर' हों, उसके मुख पर दीप्ति हो, तो सभी उससे सहसा प्रभावित हो उठते हैं। उसकी आँखों पर एक छापसी पडती नजर आती है, सभीके हृदयों को वह अपील करता है, अपनी ओर खेंचतासा है। मनु ने सम्भवत. इसीलिये दूत- (जिसने कि पराराष्ट्रों पर स्वराष्ट्र का एक अच्छा प्रभाव डालना है)- के विशेषणों में "वपुष्मान्" यह शब्द लिखा है कि, वह लम्बेचौडे चमकते प्रभावशाली शरीरवाला हो।

वेद में स्थान स्थान पर उत्तम दृढ शरीर के लिये प्रार्थनायें व विधान उपलब्ध होते हैं। " अश्मा भवतु नस्तनूः " हमारा शरीर पत्थर के समान कडा हो। " यद्-अग्नि बलं कुर्वे इत्थं वज्रमाददे " - मै खाऊं, व्यायाम करूं और इस प्रकार वज्रतुल्य शरीरवाला बन जाऊं, मेरा शरीर Adamantine हो। " मर्यश्री: स्पृहयद्वर्ण: अग्निर्नाभिमृशे " मनुष्यों की शोभा के तुल्य, स्पृहणीय वर्णवाला, अग्नि के समान प्रभ्राजमान, देदीप्यमान मैं बनूं।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि, इस प्रकार का यह शरीर बन कैसे सकता है ? वस्तुतः यह तभी हो सकता है, जब कि यह रोगों से आधि-व्याधियों से, आक्रान्त न हो, स्वस्थ हो। स्वास्थ्य के लिये चरक ऋषि का यह वाक्य सूत्ररूपेण सदैव स्मरण रखना चाहिये कि—

" हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः। पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात् "।

मनुष्य भोजन के विषय में इन तीन बातों का सदैव दृढतासे पालन करे कि, वह (१) हितकर भोजन खाये। पथ्य का सेवन करे- अपथ्य का नहीं। जीवन के लिये उपयोगी पौष्टिक सुपच भोजन को ही करे। स्वाद के लिये, पौष्टिकता के अंश से रहित, पदार्थों को न खाये। (२) जब भी वह खाये, मित-मपा तुला- शरीर के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही खाये। अधिक भोजन अत्यन्त हानिकर है। " Eat in measure and defy the doctor, " " Eating little and speaking little can never do harm " ऐसी लोकोक्तियां ही हैं। (३) हित व मित भोजन के साथ यह भी आवश्यक है कि, "ठीक समय पर ही खाया जाय "। व्रत के पालन में इसका अत्यन्त अधिक महत्त्व है। मनु के शब्दों में " अग्निहोत्रसमो विधिः "। जिस प्रकार अग्निहोत्र का समय नियत है, उसी प्रकार भोजन का भी नियत है। यूंही बीच बीच में न खाते रहना चाहिये। मनुने कहा है कि, " नान्तराऽध्यशनं कुर्यात् "।

२. प्राणमय कोश।

यह तीन भोजनविषयक नियम तो आवश्यक हैं। परन्तु इन सब से बढकर स्वास्थ्य के लिये आवश्यक वस्तु " जितेन्द्रियत्व " है- जिसका कि केन्द्रित अभिप्राय " वीर्यरक्षा " से है। उसकी रक्षा होने पर न रोग होंगे, न अकालमृत्यु।

" आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति॥ "

ऐसा चरक ऋषि कहते हैं कि, 'वीर्यक्षय' होने पर ही विविध रोग व मृत्यु मनुष्य को आक्रांत कर पाते हैं। यह वीर्य भोजन का अन्तिम सार है– इसकी रक्षा पर ही शरीररक्षा अवलम्बित है।

पुरुषो मतिमान् आत्मनः शरीरमनुरक्षन् शुक्रमनुरक्षेत्। परा ह्येषा फलनिवृत्तिराहारस्य।

शुक्र के विनष्ट होने का अभिप्राय है कि, 'सारा पथ्य-मित व सामयिक भोजन व्यर्थ हो गया। यही तो भोजन का तत्त्व था। इसीने शरीर में आक्रमण करनेवाले रोगों को कम्पित कर नष्ट करना था। ('वि = विशेषेण ईरयति = कम्पयति वीरः तस्य भावो वीर्यम्')। यही शरीरकी प्राणशक्ति है, जिसका कि लक्षण 'It is a power of resistance and persistance in order to keep up existence.' इन शब्दों में किया जाता है।

यह रक्षित वीर्य ही ब्रह्मा की पुरी की दूसरी ड्योढी–प्राणमयकोश को 'हरिणी'= सब रोगों के हरनेवाली, बनाता है। यही Vitality है– यही प्राणशक्ति है- जो सब रोगोंको दूर कर शरीरको सबल-सुडौल व सुन्दर बनायेगी।

३. मनोमय कोश।

इस जितेंद्रियता व वीर्यरक्षा के लिये आवश्यक है कि, मनुष्य के मन में किसी प्रकार की कुवासनाये न हों, कु-वासना या अशुभ विचार ही जितेंद्रियता का सर्वमुख्य विघ्न है। 'मन में कुवासनायें न उत्पन्न हों।' इस के लिये आवश्यक है कि, मनुष्य का मन सदैव उत्तम विचारों से परिपूर्ण हो– शुभ ओर से शुभ चिन्तन से आवृत हो। अशुभ–बदनामी की कारणभूत–वासनाओं का तब मन पर आक्रमण न हो सकेगा। यह आवश्यक है कि, मनमें सदैव यशस्वी-प्रशस्य भावनाओं का भावन=चिन्तन चलता रहे। संक्षेपमें उसका मनोमय कोश '**यशसा सपरीवृताम्**' यशस्वी = प्रशंसनीय विचारों से आच्छादित हो।

४. विज्ञानमय कोश।

जिस प्रकार अन्नमय कोश की सबलता के लिये प्राणमय कोश में जितेंद्रियता की आवश्यकता थी, उसी प्रकार जितेंद्रियता के लिये मनोमय कोश के 'उत्तम विचारों से परिपूर्ण होने' की आवश्यकता है। अब इन उत्तम विचारों के लिये ज्ञान की आवश्यकता है- ज्ञान मनुष्य के विचारों को पवित्र बनाता है। '**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**'। ज्ञान के अभाव में 'काम-क्रोध और लोभ' जो कि, सब कुवासनाओं के मूल हैं और नरक = दुर्गति के द्वार हैं, पनपते हैं। ज्ञानाग्नि इनको भस्म कर देती है। मूल के नष्ट होने पर कुवासनाये भी नष्ट हो जाती हैं। इसीलिये मंत्र में कहा है कि, ब्रह्मा की वह पुरी '*हिरण्मयी*' = ज्योतिर्मय = ज्ञानज्योति से जगमगाते विज्ञानमय कोशवाली होनी चाहिये।

५. ब्रह्मा।

ज्ञान को प्राप्त करके ही यह पुरुष वस्तुतः ब्रह्मा बनता है। सरस्वती = ज्ञान की देवता इस की पत्नी होती है। यह ब्रह्मा है, (वृहि वृद्धौ) - अपनी वृद्धि करनेवाला है। इसने अहर्निश प्रयत्न से अपना विकास किया है। अपने अन्नमय कोश को सबल बनाया है, उस के लिये साधन-भूत प्राणमय कोश की स्वाधीनता को प्राप्त किया है, जितेंद्रिय बनकर प्राणोंको स्वाधीन करके। "प्राणा वाव इन्द्रियाणि" वीर्यरक्षाद्वारा शरीर को दीप्त किया है। इस जितेन्द्रियता के लिये मनोमय कोश को उत्तम, यशस्वी विचारों से भरा है– और उन उत्तम विचारों के लिये अपने विज्ञानमय कोश में ज्ञानज्योति को जगाया है। इसी क्रमिक वृद्धि व विकासके कारण यह ब्रह्मा (= बढनेवाला) कहलाया है।

६. हंस।

हंस इस ब्रह्मा का वाहन है। सब पापों के हनन=विनष्ट करने से, अपापविद्ध होने से परमेश्वर ही हंस है। यह हंस उस ब्रह्मा का वाहन है। उन्नत जीव परमेश्वर पर आरूढ है। मानो परमेश्वरने इस क्रमिक विकास करनेवाले अपने आत्मभूत इस पुत्र को अपने कंधों पर चढाया है। 'ओ३म्' की रचना में किस सुन्दर प्रकार से अ= (परमेश्वर) के ऊपर स्थित, उ = (जीव) की मात्रा इस भावना को स्पष्ट कर रही है।

७. आनंदमय कोश।

यह ब्रह्मा अब 'अपराजिता' नगरी में प्रवेश करता

है । यही आनन्दमय कोश है, इसी को उपनिषदों में कारणशरीर कहा गया है । यह प्रकृति-रूप होने से क्षुधा-पिपासा-शीतोष्ण व किसी भी रोगादि से आक्रांत नहीं, और किसी भी आसुर वृत्ति से अभिभूत नहीं । यहां परमेश्वर का राज्य है । ब्रह्मा उस में प्रविष्ट होने का अधिकारी बना है । उस में प्रवेश कर के वह नारायण (नरसमूह के अन्तिम शरण) परमेश्वर का दर्शन करता है । उस के अत्यन्त सान्निध्य से मानो स्वयं नारायणसा बन जाता है (ब्रह्मभूयं स गच्छति) । वस्तुतः यह ब्रह्मा अपना पूर्ण विकास कर सर्वभूतहित में प्रवृत्त होता है, एवं सभी का रक्षक = शरण बनता है । दूसरे शब्दों में नारायण बन जाता है ।

८. पंचविध बल ।

इस का देदीप्यमान अन्नमय कोश 'नृम्ण' = Manliness वाला है, उस में शूरता है- इस से वह बाह्य शत्रुओं पर विजय पाता है- इतर मनुष्यों के आदर का पात्र होता है ।

उस का प्राणमय कोश ' वीर्य ' वाला है- उस से उसने आन्तरिक रोगकृमियों का संहार कर, उन के आक्रमणों का व्यर्थ किया है ।

उस का मनोमय कोश उत्तम भावनाओं से व्याप्त होकर ' बल ' वाला हुआ है, उसी मानसबल से वह निरुत्साह न होकर अपना उद्धार करने में समर्थ बना है ।

उस का विज्ञानमय कोश ' सह ' नामक बल से युक्त हुआ है । अपने अजरामरत्व के ज्ञान से वह आगमापायी (अनित्य = अचिरस्थायी) मात्रास्पर्श (इंद्रियविषय-सम्पर्क) से उत्पन्न दुःखों को सहर्ष सहन कर पाता है।

इन सभी बलों के परिणामरूप आज उस का आत्मा ओजस्वी है। (It has grown, it has increased) यह बढ गया है, ब्रह्मा बन गया है ।

इन सब बलोंका वर्णन अथर्व० के १० ५-१ में इन शब्दों में हुआ है। "इन्द्रस्य ओजःस्थ, इंद्रस्य सहः स्थ, इंद्रस्य बलं स्थ, इंद्रस्य वीर्यं स्थ, इंद्रस्य नृम्णं स्थ " इन सब बलों को प्राप्त कर आज वह किसी से भी पराजित नहीं हो सकता । वस्तुतः उसने अपराजिता नगरीमें प्रवेश किया है। आज उस के ऐश्वर्य की सीमा नहीं। क्या आन्तर, क्या बाह्य, क्या बल का, क्या ज्ञान का, सभी ऐश्वर्य इसे प्राप्त है । आज वह महेश है ।

९. स्कम्भ से समता ।

आज उस के अन्नमय कोश में तप= दीप्ति (वितप्यते= दीप्यते) की स्थिति है । प्राणमय कोश में ' ऋत ' की स्थिति होने से उस के सभी शारीरिक प्राण ठीक ठीक कार्यों को कर रहे हैं । इसका मन ' व्रतों ' (Vows) से परिपूर्ण है । उस की बुद्धि में ' श्रद्धा ' = सत्य ज्ञानके धारण की शक्ति है । और उस के आनन्दमय कोश में सत्य (= परमेश्वर) का वास है ।

इस प्रकार सभी कोशों की दृष्टि से उन्नत होनेवाला यह पुरुष आज अंशरूप से सर्वाधार स्कम्भ की समता पर पहुँचा है । इस स्कम्भ के विषयमें ही हम अथर्व० १०-७-१ में इस प्रकार पढते हैं ।

कस्मिन्नंगे तपोऽस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नंग ऋत-
मस्याध्याहितम्। क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य तिष्ठति
कस्मिन्नंगे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥

यही जीव की पूर्ण उन्नति है। यही प्रत्येक मनुष्य का ध्येय होना चाहिये ।

भारत का क्षयरोग।

उसकी रामबाण औषधि क्या है ? वेद क्या कहते हैं ?

अपामार्ग (?)

(लेखक- श्री० नरदेवशास्त्री, वेदतीर्थ, ज्वालापूर)

इस समय भारतवर्ष में क्षयरोगियों की जितनी अधिक संख्या है, सृष्टि के आदि से लेकर आजतक कभी इतनी नहीं हुई। भारतीय इतिहास में राजाओं को क्षयरोग होने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं, पर प्रजामें इस रोग की इतनी अधिक प्रबलता होगी, ऐसा अनुमान करने के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। क्षयरोग- किसी घोर पापकर्म का फल है, इसमें सन्देह नहीं। इसकी अवधि हमारे आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार एक सहस्र दिनकी है, अर्थात् लगभग तीन वर्ष हुए। आजकल भारतवर्ष में लगभग तेईस लक्ष ऐसे नर-नारी हैं, जिनको किसी न किसी रूप में क्षयरोग चिपटा हुआ है। इसमें फर्स्ट फेज (प्रारम्भिक दशा), सेकेण्ड फेज (माध्यमिक दशा), थर्ड फेज (अन्तिम दशा) में कितने कितने हैं, इसकी परिगणना ठीक प्रकार से नहीं हुई। भारतवर्ष का कोई रम्य स्वास्थ्यप्रद पर्वतीय स्थान शेष नहीं रहा, जहाँ प्रतिवर्ष सहस्रों क्षयरोगी स्वास्थ्य-लाभार्थ न पहुंचते हो। कतिपय पर्वतीय स्थान अथवा विस्तृत प्रदेश तो क्षयरोगियों के लिए चिरकालिक निवास-स्थान बन गए हैं-

क्षयरोग सांक्रामिक रोग है। कीटाणु का सिद्धान्त माना जाय, तो इसके कीटाणु उपदंश, महारोगकी छूतकी बीमारी की तरह केवल क्षयरोगी की थूक से बढते जाते हैं, फैलते जाते हैं, दूसरों में प्रविष्ट होते जाते हैं। सबसे प्रथम नम्बर पर बंगाल का काला अजार नामक विषैला ज्वर सहस्रों-लक्षों मनुष्यों की भेंट लेता रहता है। प्रतिवर्ष तेरह लक्ष नर-नारी इस रोगसे ग्रस्त होते हैं। दूसरे नम्बर पर क्षयरोगसे ग्रस्त होनेवाले तथा घुल-घुल कर मरनेवालों की संख्या है। भारतवर्ष के नवयुवकों में तो यह रोग घर करता जाता है।

हमारे आयुर्वेदशास्त्र में इस रोग के विषय में निदान-चिकित्सा आदि यथारीति वर्णित हैं।

यह रोग इतना बढा क्यों ?

हमारे देश के अथवा अन्य देश के प्राणाचार्य जो चाहे कहें, हम तो यही कहेंगे कि जबसे भारतवर्ष में दासता का प्रवेश हुआ, तब अन्य पदार्थों के साथ जीवनोपयोगी प्राण-धारक, पौष्टिक घृत-दुग्ध का ह्रास हुआ और सन्तानपरम्परा निर्बल होती गई। इसी का यह परिणाम है। खाने को भरपेट मिलता नहीं, चिन्ताएँ बहुत, बालविवाह, पाश्चात्य शिक्षादीक्षा का मस्तिष्क पर असह्य भार इत्यादि के कारण आङ्ग्ल शिक्षादीक्षावालों में यह रोग घर करता जाता है और उसके कीटाणु यत्र-तत्र-सर्वत्र फैलते जाते हैं- कैसे कैसे होनहार नवयुवक इस महारोग की अनन्त उदर-दरी में प्रविष्ट होते जाते हैं, इसकी कल्पना करके भयंकर दुश्चित्र का खयाल करनेवालों का प्राण भी बाहर जाने को हो जाता है। अंगरेजी के ए. बी. से प्रारम्भ होकर अक्षरों के उलटने तक अर्थात् बी. ए. होने तक भारतीय नवयुवक अधमरा हो जाता है। फिर उसी अपक्व दशा में संसारी चिन्ताएँ उसके रहे-सहे प्राणों को पी लेते हैं। किन्तु दुःखमतः परम्।

पाश्चात्य तथा पौरस्त्य प्राणाचार्य जीतोड प्रयत्न कर रहे हैं कि, यह रोग समूल नष्ट हो जाय, पर रोग बढता ही जाता है-

मर्ज बढता गया ज्यों ज्यों दवा की।

नये नये वैज्ञानिक आविष्कार निकल रहे हैं, रक्तपरीक्षा, थूक की परीक्षा आदि करके अनुसंधान किया जा रहा है, पर रोग घट नहीं रहा।

ऋग्वेद का अनुशीलन करते करते दशम मण्डल में

मुझे क्षय-सूक्त मिले । उनके पढनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि, उनमें किसी ऐसी औषधि का, जडी-बूटी का उल्लेख है, जिसके हाथमें लेते ही क्षयरोग भाग जाता है, ऐसे भाग जाता है, जैसे कोई अपने प्राण लेकर भाग जावे-। उसके सेवन से शरीरके एक एक सन्धिसे क्षयरोग बाहर निकल जाता है-

यद्यपि मन्त्रों में उस औषधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तथापि मन्त्रदेवता देखनेसे ज्ञात होता है कि, वह औषधि अपामार्ग है । प्रायः अपामार्ग चिटचिटाके नाम से प्रसिद्ध है, अपामार्ग कितने प्रकार का होता है ? उसके डण्ठल के क्या क्या गुण हैं ? उसकी जडके क्या गुण हैं ? इसके फलों में क्या गुण हैं । इनके साथ किन किन अनुपानों का प्रयोग करने से कौन कौन से रोग नष्ट होते जाते हैं, इस विषय में भारतवर्ष के प्राणाचार्य कहीं एकत्रित होकर भली भांति विचारपूर्वक निर्णय करें, तो भारत का क्षयरोग दूर होकर उसके साथ संसार का महान् उपकार होगा और आयुर्वेद तथा महर्षि धन्वन्तरि की छाप संसारपर पडेगी। इस विषय में प्राणाचार्यों की परीक्षा है । मैं समस्त आयुर्वैदिक विद्वानोंके विचारार्थ यह प्रश्न उपस्थित कर रहा हूँ- यह भी सोचना है, जिसको आजकल अपामार्ग कहते हैं, वही अपामार्ग है कि इस जैसी अन्य कोई जडीबूटी भी अपामार्ग कहलाती है-

वेदमंत्र क्या कहते हैं ?

यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥
(ऋग्वेद मण्डल १०-९७-११)

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥
(ऋग्वेद मण्डल १०-९७-१२)

साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥
(ऋग्वेद मण्डल १०-९७-१३)

पता नहीं कहाँ मैंने कहीं मंत्रभाष्य में ' इत्यपामार्गं स्तौति ' ' इस प्रकार अपामार्ग की स्तुति कर रहा है, ' इत्यादि पढा है। इसी से मैं कह रहा हूं कि, इन का तथा दशममण्डलास्थित ' यक्ष्म ' - प्रकरण का देवता ' अपामार्ग ' को माना है । मैं निश्चित स्थान तथा प्रकरण फिर लिखूंगा—

इसी प्रकार ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १६१ तथा १६३ सूक्त पढ जाइये । इन दो राजयक्ष्मघ्न सूक्तों के साथ सूक्त ९७ को भी मिलाइये । आप को स्पष्ट विदित हो जायगा कि इनमें अस्पष्ट रूप में किसी औषधि का उल्लेख है। मेरी समझ में यह अपामार्ग ही है। अन्य कोई विद्वान् अपनी बुद्धि और अनुभव से अन्य किसी औषधि का अनुसन्धान लगा सकते हैं।

सूक्त १६१, १६३ को कोई यह माने कि, इनके विधिपूर्वक जाप से यक्ष्मा दूर हो सकता है, तो यह उस पर भार है कि, वह इस विधि को बतलावे कि, इन सूक्तों का पाठ किस विधिविधान से करे। पर यह विधिविधान तभी सफल हो सकता है, जब कि उस विधिविधान के साथ कोई यक्ष्मघ्न जडी बूटी हाथ में हो और जिस का रोगी पर प्रयोग किया जानेवाला हो—

अपामार्ग के गुण ।

अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो
दीपनस्तिक्तकः कटुः ।।
पाचनो नावनश्छर्दि-
कफमेदोऽनिलापहः ॥
निहन्ति हृद्रुजाध्मान-
कण्डुशूलोदरापचीः ।।
अपामार्गोऽरुणोवात-
विष्टम्भी कफकृद्धिमः ॥
रुक्षः पूर्वं गणैर्न्यूनः ।
कथितो गुणवेदिभिः ।
अपामार्गफलं स्वादु
रसे पाके च दुर्जरम् ॥
विष्टम्भि वातलं रुक्षं
रक्तपित्तप्रमादनम् ॥
(भावप्रकाश)

अर्थ-

अपामार्ग दस्तावर (रेचक), तीक्ष्ण, अग्निप्रदीपक, तिक्त, चरपरा, पाचक, रुचिकर, वमन, कफ, मेद, वात, हृद्रोग, अफारा, खुजली, शूल, उदररोग, तथा अपची

अपचन रोग का नाशक है-

रक्त अपामार्ग वायु को रोकनेवाला, कफकारक, शीतल, रूक्ष तथा पूर्वोक्त अपामार्ग से न्यून गुणवाला है। अपामार्ग बीजरस में स्वादु, पाक में दुर्जर, विष्टम्भी, वातकारक, रूक्ष तथा रक्तपित्त को दूर करनेवाला है।

शोढल और राजवल्लभने भी अपामार्ग के विशेष गुणों पर प्रकाश डाला है। देखिए भावप्रकाश निघण्टु।

परन्तु यह कहीं नहीं कहा गया, स्पष्ट रूप में कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता कि, अपामार्ग साक्षात् क्षयरोग की रामबाण औषधि है। सम्भव है, परम्परा से क्षयरोग के कीटाणुओं को नष्ट करने का साधन हो-

शोढल लिखते हैं।

अपामार्गस्तु तिक्तोष्णः।
कटुश्च कफनाशनः॥
अर्शः कण्डूदराध्मानो।
रक्तहृद्ग्राहिवान्तिकृत्॥
अपामार्गोऽग्निकृत्तीक्ष्णः।
नस्याच्छीर्षकृमीञ्जयेत्॥
वामको रक्तसंग्राही।
रक्तातीसारनाशनः॥

इस में अन्य विशेष गुणों के साथ यह स्पष्ट लिखा है कि, अपामार्ग के नस्य से सिर के कीडे नष्ट हो जाते हैं।

राजवल्लभ कहते हैं।

नस्ये वान्तौ प्रशस्तः स्याद्।
दद्रुकण्डूकफापहः॥
अपामार्गोऽग्निवत्तीक्ष्णः।
क्लेदनः स्रंसनः परः॥

भारतवर्ष के प्राणाचार्य इस गम्भीर विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करें-

---

वे कारावास के दिन।

डिस्ट्रिक्ट जेल--देहरादून

(३)

(लेखक- श्री० पं० नरदेवशास्त्री, वेदतीर्थ, आचार्य--महाविद्यालय, ज्वालापुर)

मेरा अपना विचार है कि, यदि महात्मा गान्धी जैसा चाहते हैं, उस प्रकार हम लोग अपने जेल के कष्टों को गम्भीरतापूर्वक सहें और समय को आत्मपरीक्षण-निरीक्षणमें लगाते रहें, तो हमारी शक्ति द्विगुण हो सकती है। पर जो प्रकृति के त्रिगुणात्मक [सत्व, रज, तम] भावों को जानते हैं. वे स्वयं समझ सकते हैं कि, सत्याग्रहियोंमें सबसे यह आशा करना कि, वे विशुद्ध सात्त्विक बनकर जेल में आवें, रहें, शान्तिसे रहें, यह बात हो नहीं सकती।

एक तो अंगरेजी शिक्षा में लालित, पालित, पोषित, दीक्षित होकर आनेके कारण उन में विचित्र रजोगुण का उत्थान रहता है। किसी धर्ममें उनका विश्वास नहीं रहता। धर्म तो एक ढोंग समझा जाता है, स्वसंस्कृति को निकम्मा समझा जाता है। ऐसे उग्र तथा वज्र लोगों को महात्मा गान्धी अपने अनुयायी बनाने में सफल हो गये हैं, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

अंगरेजी शिक्षित वर्गमें देशभक्ति कूटकूट कर भरी रहती है, दूसरे देशोंके स्वतन्त्रता-प्राप्तिके इतिहास पढकर स्वदेश के विषय में भी वैसी प्रबल भावना का उत्पन्न होना स्वाभाविकही है। इस विषय में इनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोडी है- संस्कृत शिक्षावालों में यह उत्साह और उमंग नहीं देखी जाती। अगले लेखाङ्क और भी मनोरञ्जक वृत्त पढिए—

सुधार का यह प्रकार नहीं।

बरेली सेण्ट्रल जेलमें लगभग ढाई सहस्र कैदी हैं, यह मैं कह चुका हूँ। इनमें केवल १२५ कैदी राजनैतिक अपराधी थे, शेष सब नैतिक अपराधी अर्थात् इखलाकी कैदी थे। कोई चोरी में, कोई डाकेमें, कोई गैंग (Gang case) में, कोई ठगीमें, कोई खूनमें, कोई व्यभिचारमें, इसी प्रकार के अपराधी भरे हुए हैं। डेढसौ वर्ष की कैदवाले ७-८ कैदी हैं, अस्सी, साठ, पचास, चालीस वर्ष के दण्डवाले कैदी होंगे कोई चालीस, पचास। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस वर्ष के कैदी होंगे, कोई ५००, शेष दो दो वर्ष से लेकर पन्धर-पन्धरह वर्ष के दण्डवाले कैदी हैं।

समस्त यू० पी० में ऐसे पच्चीस सहस्र कैदी होंगे। क्यों इतने नैतिक अपराधी हैं, मुख्य कारण क्या है, यह रोग कैसे दूर हो सकता है, इत्यादि बातोंपर न सरकार ध्यान देती है और न जनता। जो एक वार जेल में हो आता, जनता तो उसको अपने पास बैठने नहीं देती, कुटुंबवाले भी घृणा करते हैं, पुलिसवाले चैन से बैठने नहीं देते। जरा सन्देह हुआ कि, पकडकर जेलमें बन्द कर देते हैं-

कैदी स्पष्ट कहते हैं कि क्या करें महाराज, बाहर कोई चैनसे बैठने नहीं देता, इसलिए जेल ही हमारा घर बन गया है। जेलोंमें चोरों और डाकुओं की एक बडी जाति की जाति ही बन गई है। सरकार यदि इनको निर्वाहार्थ भूमि प्रदान करके इनका ध्यान बटावे, तो ही सुधार हो सकता है। निर्वाह का साधन उपस्थित होनेपर भी जो चोरी आदि करें, उनको कडेसे कडा दण्ड देनेसे चोरी कम हो सकती है और सुधार भी हो सकता है। राजनैतिक कैदियों की जेलें सर्वथा पृथक् होनी चाहिएँ—

उनको नैतिक अपराधियों के साथ रखना अथवा उनसे उन जैसा बर्ताव करना घोर अन्याय है। यदि राज्यमें प्रजा असन्तुष्ट है, तो उसका अपराध राजा के ही सिरपर है। प्रजाको पुत्रवत् न पालकर उसको अपने ऐश्वर्य बढाने का साधनमात्र समझना भी घोर नैतिक अपराध है। जब राजा और प्रजा एक ही देश, धर्म, संस्कृति के होते हैं, तब और

प्राप्त होती है और जब इनका देश, धर्म, संस्कृति, हित-सम्बन्ध पृथक् होते हैं और पितापुत्र का सा सम्बन्ध न रहकर कोरा शास्य-शासकसम्बन्ध रह जाता है, तब तो घोर उपद्रव का कारण बन जाता है- सम्प्रति भारतवर्ष इसी दुरवस्था में से होकर गुजर रहा है।

जेलमें स्वाध्याय

अब हम इन बातों को छोडकर जेलके स्वाध्याय के विषयमें लिखते हैं। स्वाध्याय करनेवाले, शान्तप्रकृति सत्याग्रहियों के लिए तो जेल स्वर्गतुल्य है। मैं जब भी जेलमें गया कुछ कमाकर ही लाया हूँ। कुछ भी खोकर नहीं आया। ऐसा स्वच्छ स्थान, ऐसा एकान्त स्थान, ऐसा निश्चिन्त होकर रहने का स्थान कहाँ मिलेगा। बाहर तो सार्वजनिक तथा कौटुंबिक अथवा संस्थासम्बन्धी इतनी चिंताएँ रहती हैं कि, कह नहीं सकते। काम करनेवाले स्वयं जानते हैं-

बाहर काम तो बहुत होता है, पर शक्ति का अपव्यय भी बहुत होता रहता है। व्यर्थ के रागद्वेषों में शक्ति घटती रहती है। जेलें शक्तिसञ्चय के आगार हैं। यदि कोई उनसे काम लेवे, तो दुःख तो है ही, पर परिणाम में सुखही है। जिन जिन महापुरुषोंने जेलों में पैर रक्खे, उन्होंने अपनी शक्तिसचयद्वारा, बाहर आनेपर संसार को कुछ दिया ही है- महापुरुषोंके जीवनपर दृष्टि देकर देखिए- लोकमान्य तिलकने संसार को अमर गीतारहस्य दिया।

महात्मा गांधीने सत्य, अहिंसा आदि के पवित्र पाठ पढाए, जवाहरलालजीने बोधप्रद आत्मकथा दी। लोकमान्य तिलकने "ऋग्वेद" का 'Artic Home in the Vedas' वहीं लिखा। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, अरविंद घोष, बिपिनपाल, लाजपतराय आदि आदिने बहुत कुछ किया- कहाँ तक गिनायें, हम अपनी बातही कहते हैं-

इस सेण्ट्रल जेलमें सत्याग्रहियों के पास, भिन्न भिन्न विषय की लगभग पांचसौ पुस्तकें होंगी- रूसके साम्यवाद, वर्गवाद, जर्मनीके समाजवाद, यहाँके गांधीवाद, हिटलरकी आत्मकथा (माइन कैम्प), चीनके इतिहास, लोकमान्य तिलक की पुस्तकें, टागोरके ग्रन्थ, वेद, शास्त्र, महाभारत, पाश्चात्य तथा पौरस्त्य दर्शन, बर्नार्डशाह की ग्रन्थावली, बौद्धग्रन्थ, कार्ल मार्क्स के ग्रन्थ, अमरीकन तथा इंग्लैण्डके प्रसिद्ध ग्रन्थकारों के ग्रन्थ, संसारके ऐतिहासिक ग्रन्थ आदि आदि पचासों ग्रन्थ थे। परस्पर ग्रन्थविनिमयद्वारा जिसको जो ग्रन्थ रुचता था, मांग लेता था और पढकर लौटा देता था।

मैंने क्या क्या पढा, इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। उपर्युक्त ग्रन्थों में मैं प्रायः सब देख गया था, किन्तु विशेष रूप में मैं संस्कृत के ग्रन्थों का ही पारायण करता रहा- आधा महाभारत देख गया, भागवत समस्त बाँच गया, मझिमनिकायनामक विशालकाय बौद्धग्रन्थ को पढ गया, दासबोध (श्रीसमर्थ रामदासरचित) गीतारहस्य, श्री डॉक्टर भगवानदास के अंगरेजी के दार्शनिक ग्रन्थ (सायन्स ऑफ इमोशन्स, सायन्स ऑफ सेल्फ) आदि। राजतरङ्गिणी (काश्मीर का इतिहास चारों भाग कह्हणादिकृत) रामायण समस्त, चरक-सुश्रुत का कुछ अंश, ऋग्वेद प्रायः समस्त एक बार ही सरसरी दृष्टिसे देख गया, और क्या क्या देख गया, इसके लिखने का यह अवसर नहीं है। ऋग्वेद का कोई भी प्रामाणिक भाष्य मेरे पास नहीं था, मूल मूल ही देखता गया, फिर अचानक श्रीजयदेवजी का ऋग्वेद-भाष्य मिला-इसको मैंने समालोचनात्मक दृष्टिसे देखा।

इस के अतिरिक्त राजधर्म पर कुछ लिख लाया हूँ। जेल का वातावरण प्रायः अशान्त रहता था, इसलिए बहुत विघ्न रहे, बाहर से अपेक्षित पुस्तकें भी न आ सकीं, इसलिए ग्रंथ अधूरा रह गया, यदि अवसर मिला, तो इस का उपबृंहण करूंगा, नहीं तो हरीच्छा। इस समय हमारा वय ६३ वर्षका है, पहिले जैसा पुरुषार्थ नहीं हो सकता- इस जीर्ण-शीर्ण शरीर से जो कुछ भी बन सके, वह सौभाग्य ही समझिए- इस समय इतना ही कह सकता हूँ।

आर्यजगत् की प्रगति।

यद्यपि जन्म ही आर्यकुल में हुआ और समस्त आयु ही आर्यसमाज के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए गई, तथापि हमारी यह धारणा हुई कि, स्वराज्यके विना स्वधर्म की सर्वात्मना रक्षा नहीं हो सकती। स्वराज्य के अभाव में भारतसन्तान को जिस प्रकार की धर्मशून्य शिक्षा मिल रही है, उसने तो भारत की आँखें तो खोल दी हैं,

पर भारत का नाश कर दिया है। नवयुवकों में स्वधर्म-स्वसंस्कृति के लिए कोई आस्था ही नहीं रहती, ऐसी विचित्र दशा है- यदि आर्यसमाज प्रारम्भ से ही धार्मिक, शैक्षिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में पग रखता, तो आज आर्यसमाज ही भारतवर्ष की अग्रणी संस्था रहती।

इसने मुख्य अंग ' राजधर्म ' को छोड दिया। राजसभा बनाना भूल गया। सदा इस के नेता यही कहते रहे कि, हमारा राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं। परिणाम यह हुआ कि, संस्था पीछे पिछड गई। शिक्षाक्षेत्र में भी आर्यजगत् का अधिक धन स्वसन्तान को अंगरेजी शिक्षा-दीक्षा देने में ही व्यय हो रहा है। थोडेबहुत गुरुकुल खुले थे, वे भी वर्तमान स्थिति से प्रभावित हो गये हैं, जैसा फल चाहिए नहीं दे रहे हैं। ऐसी अनेक बातें हैं, जिस से आर्यसमाज की गति-विधि रुक गई है।

इसीलिए हम सन् १९१६ के पश्चात् स्वराजनैतिक गुरु लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के आदेशानुसार स्वधर्म का काम संभालते हुए भी, राजनैतिक क्षेत्र में काम कर रहे हैं और मन को परम सन्तोष है कि, देश-कार्य में कुछ तो योग दिया, कुछ तो काम किया, कुछ तो कष्ट सहे। भगवान् हमको शक्ति देवे कि, जिस से भविष्य में भी स्वस्वल्प शक्ति के अनुसार भविष्य में भी योग दे सकें- सत्य संकल्पों का देनेवाला और उनको पूर्ण करनेवाला वही भगवान् है। अस्तु।

जेल में वेदविषय में मैंने बहुत विचार किया, उसको कभी आर्यजनता के संमुख रक्खूंगा। आज एक ही विचार रख कर इस लेखमाला को समाप्त करता हूँ।

क्षयरोग।

भारतवर्ष को दासता, दरिद्रता, दीनता तो सता रही ही है, पर उसमें क्षयरोग भी घुस गया है। डॉक्टरों से ज्ञात हुआ है कि, हमारे देश में किसी न किसी रूप में इक्कीस लक्ष नर-नारियों को न्यूनाधिक अंश में क्षयरोग चिपटा हुआ है- कैसी भयङ्कर स्थिति है। यह सब भर-पेट अन्न मिलने तथा अधिक परिश्रम का फल है। हमारे देश के आयुर्वेदाचार्य इस विषय में क्या कर रहे हैं, पता नहीं, किन्तु ऋग्वेद के पारायण करते हुए मुझे यह बात मिली कि, अपामार्ग क्षयरोग के जन्तुओं को निर्मूल करने का सब से उत्तम उपाय है- यह कैसे इस को आयुर्वेदाचार्य बतलायेंगे।

वेद कहता है- ऋग्वेद दशम मंडल में राजयक्ष्मघ्न मन्त्रों अथवा सूक्तों को देखिए। इन मन्त्रों का देवता " अपामार्ग " है। वेद तो मूल में सब कुछ कह देता, उसका उपबृंहण करना विद्वानों का- वैदिक विद्वानों का काम है। अपामार्ग का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, इस का अनुसन्धान शीघ्र होना चाहिए। यदि इसकी सहायता से हम असंख्य क्षयरोगियों के प्राण बचा सके, तो अच्छा है। बडे पुण्य तथा उपकार का कार्य है। दशम मण्डल के १६१ से १६३ तक के सूक्त देखिए। इस विषय में कभी फिर विस्तृत रूप में लिख सकूंगा-

सारांश पहिले तीन जेलयात्राओं की तरह इस चौथी यात्रा में भी हम को बहुत लाभ हुआ। हमारी आत्मा बहुत प्रसन्न है।

हमारी सेण्ट्रल जेल में यू. पी. के २६ जिलों के प्रमुख कार्यकर्ता थे, नेता थे- उनसे राजनैतिकविषय विचार-विनिमय करने का अवसर मिला, इतने ग्रन्थों को देख जाने का अवसर मिला, आत्मपरीक्षण का अवसर मिला, बिखरी हुई स्वशक्ति के संचय का अवसर मिला, यह किसी पूर्वजन्म के सुकृत का ही फल है।

वैसे जेल में कष्ट तो होते ही हैं, कौन चाहता है कि, बन्धन में रहे और बन्धन दुःख का कारण ही है। बन्धन, व्यसन, दुःख आदि किसी पाप के ही फल हैं, होंगे, कोई पूर्वजन्म के कर्म जिनका फल इस प्रकार के फल हों। चलो इस एक जेलनिमित्त से पूर्व पाप भी कटा और देश के पुण्यकार्य का फल भी मिला या मिलेगा। जो हुआ अच्छा हुआ, जो भी होगा, अच्छा होगा- बस्।

यत्करोमि, यदश्नामि
यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि कौन्तेय
तत्करोमि त्वदर्पणम्॥
शुभाशुभैः फलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः॥

(गीता)

सदाचार ।

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, गिरगांव, केळेवाडी-बम्बई)

(२)

मुहँ में इतना ज्यादा जल होना चाहिए, जिससे मुहँ में ज्यादा जल के कारण आँख पर भी जरा जोर लग जाय। आँख के चारों ओर छोटी- छोटी नाडियाँ हैं, वे सब मल से पूर्ण रहती हैं। मुहँ में ज्यादा जल लेकर दबाने से उन सब नाडियों से मल निकल कर आँख के कोने पर आ पहुँचता है। इसके बाद आँख खुली रखकर दूसरी जल से धीरे धीरे दोनों आँखों पर २०।२५ बार जल का छींटा लगावे। बाद में मुहँ का पानी फेंक देवे। इसके बाद सारे मुख-मण्डल को पानी से अच्छी तरह से धो डाले। साथ ही इस बात का विशेष ध्यान रक्खें कि, जब-जब मुख में जल देने की जरूरत हो, तब-तब आँख और कपोल-देश के सारे भाग को धो डालना उचित है। समस्त ललाट-देश को बार-बार धो डालने से आँख ठण्डी रहती है, उन में कोई बीमारी नहीं होती, और यदि कोई बीमारी रहे तो, वह भी धीरे-धीरे दूर हो जाती है, तथा मस्तिष्क स्निग्ध रहता है- शिर की बीमारी होने का भी डर नहीं रहता है।

मैंने पहिले लिखने मे भूल गया है कि, बिस्तरा छोडते ही, सर्व-प्रथम उपर्युक्त विधि से जल की छींटा आँख पर लगाना चाहिए। वह क्रिया आँख के लिए विशेष ही लाभ-दायक होती है। तदनंतर नासापान करना उत्तम है। शिर के दर्दवाले बीमार सबेरे बिस्तर छोड कर नथने से ठण्ड पानी पीयें, इससे मस्तिष्क ठण्डा होगा, शिर दर्द नहीं करेगा, एवं छही नहीं होगी। यह काम ज्यादा कठिन भी नहीं है। किसीएक बरतन में ठण्डा जल भर, उसमें नाक डुबाकर धीरे धीरे गलेके भीतर जल खींचना चाहिए। धीरे-धीरे अभ्यास करने से यह काम क्रमशः सहज हो जाता है। इस बीमारी के होने से वैद्य बीमार के आरोग्य होने की आशा छोड देता है, बीमार भी विषम कष्ट उठाता है, लेकिन इस नियम का अवलम्बन करने से अवश्य ही आशातीत फललाभ होता है।

अनंतर जिसे स्नान करने की शक्ति है, वह स्नान करे। नहीं तो आर्द्र (गीले) अंगोछे से सर्वांग अच्छी तरह से पोंछ डाले। इस से भी शरीर स्निग्ध तथा स्वस्थ रहता है। इसके बाद रात के पहने हुए कपडे को छोडकर साफ, शुद्ध धोती पहन कर पवित्र-चित्त से प्रातःकाल की सन्ध्या करे। द्विजगण के लिए तो अवश्य ही सन्ध्या करना उचित है। मनुजीने कहा है कि-

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।

(४।९४)

अर्थात् ऋषिगण दीर्घ सन्ध्या करते थें। इसीसे वे रोग-शून्य होते थे, तथा दीर्घ जीवन प्राप्त करते थे।

दीर्घ सन्ध्या तथा त्रिकालसन्ध्या स क्या लाभ होता है और उनकी विधियाँ विस्तार से लिखना यहाँ पर असंभव सी बात है। अतः इस विषय को पूर्ण रूप से जानने के लिए "ब्रह्मचर्य-साधन" तथा "योगीगुरु" आदि पुस्तकें देखना उचित है या किसी सद्गुरु से उपदेश लेना चाहिये ?

जो लोग सन्ध्या के अधिकारी नहीं है, वे इस त्रिकाल संध्या के समय अपने अपने मातापिता के उपदेशानुसार अथवा संस्कार या विश्वास के अनुसार भगवत् का चिंतन तथा प्रार्थना करें। संसार के सभी व्यक्ति को अवश्य ही परमात्मा का ध्यान, धारणा तथा उन से प्रार्थना करना उचित है, वे अधिकारी भी है। कोई भी व्यक्ति कभी भी यह बात न सोचे कि, मै परमात्मा की भक्ति का अधिकारी नहीं हूँ।

सभी प्राणी परमात्मा के एक-एक अंश हैं- हम सभी उन के प्रिय सन्तान हैं, कार्यकारणवश जन्म-जन्मांतर के कर्मफलानुसार हमें भेदभाव रहने पर भी, वे परमात्मा हम सभी के उत्पादक, पालक, रक्षक, तथा भक्ति-मुक्ति-शांति-आनन्ददाता हैं। अतः प्रत्येक प्राणी को उन के

ध्यान, धारणा, चिन्तन, भक्ति तथा नामस्मरणादि करने का पूर्ण अधिकार है। सुतरां अपने-अपने विचार, भक्ति, विश्वास, तथा संस्कार के अनुसार उन का ध्यान तथा चिन्तन करने से धीरे-धीरे उन की ही भास्कर-ज्योतिः हृदय पर पतित होकर अन्दर के सारे मल को नाश करते, हमें आनन्द तथा शांतिमय बना देंगे।

× × × ×

प्रात.संध्या के बाद दर्पण (शीशे) में अपने मुख को देखते हुए, केश का प्रसाधन कर अध्ययन-अध्यापन आदि अपने-अपने कर्तव्यकर्मों में लिप्त हो जावे। बालक तथा दुर्बल-व्यक्तिगण प्रात.संध्या के बाद थोडासा फल-मूल आदि या दूध पी सकते हैं। इस वख्त भिगोया हुआ चना, आर्द्रक, मिश्री के साथ लेना भी उपकारक होता है। जिन्हें चाय पीने की आदत हैं, वे उस वख्त चा पी सकते हैं, परन्तु खाली पेट में चाय पीना विशेष हानिकारक होता है। थोडा-कुछ उदर-ब्रह्माण्ड में पहुँचा कर चाय पीना चाहिए। वस्तुतः चाय न पीना ही उत्तम है।

मान लिया जाय कि, चाय में भी कुछ लाभदायक चीजें हैं सहीं, परन्तु लाभदायक चीजों से हानिकारक चीजे ही उस में ज्यादा हैं। चाय पीनेवाले को अजीर्णरोग होने की सम्भावना बहुत ही ज्यादा रहती है। खास कर के चाय पीनेवाले को तो पेशाब की बीमारी, मधुमेह, बहुमूत्र, सोमरोग आदि अवश्य होते हैं। चाय के साथ जो शक्कर (चीनी, Sugar) रहती है, वह किसी को भी हजम नहीं होती, इसी से धीरे-धीरे मधुमेह की उत्पत्ति हो जाती है। अतः चाय पीने की आदत न डालना ही अच्छा है; इस से उपकार के बदले अपकार ही ज्यादा होती है। प्रथमावस्था में तो चाय पीना सर्वथा मना है। छोटी अवस्था में चाय पीता है, वह यौवन के वास्तव सुख से वंचित ही रह जाता।

जिन सज्जनों को चाय या वैसी ही कोई चीज पीये बिना चल ही नहीं सकता है, उन के लिये एक गुणदायक चीज बतलाते हैं। पावभर गर्म (ताजा) गाय का दूध लेकर उस मे चार आना भर अश्वगंधा के चूर्ण, चीनी एक तोला, तथा गायका घी आधा तोला मिलाकर गरमागरम पीवे। इस से दास्त भी साफ होता है, तथा वीर्य की वृद्धि होकर, शरीर दृढ, पुष्ट, बलिष्ठ और कांतियुक्त होता है। हाँ अजीर्ण रोगवाले को ये चीज पीना उचित नहीं है। पाचन-शक्ति अच्छा रहने से छोटे बच्चें को खुराक कम कर के पीलाने से विशेष लाभ होता है।

अथवा छोटी एलची, दालचीनी, लौंग, यष्टीमधु, अश्वगंधा चोपचीनी, अनन्तमूल, उसवा, उनाब, जत्री, जायफल, गोक्षरु, धनिया, सौंफ, वायविडंग तथा श्वेत जीरा प्रत्येक एक-एक आना भर, काली द्राक्ष एक तोला या दो तोला, जल २० तोला, दूध २० तोला, एक साथ में मंदाग्नि में उबाल कर, जब सिर्फ दूध रहेगा, तब उतार कर, छान कर, नित्य एक बार पीने से अति शीघ्र ही शरीर पर विद्युत् की भाँति शक्तिसञ्चार होगा, तथा दुर्बल, जीर्ण, शीर्ण कलेवरवाले अति शीघ्र ही रोगमुक्त होकर, शरीर का खुन साफ होते हुए, शरीर चन्द्रमा जैसा कांतियुक्त बन जायगा। शरीर के भीतर फोडे, फुन्सी आदि रक्तविकार भी नाश होकर बल, वीर्य, मेधा, स्मृति आदि बढेगा। यह प्रत्यक्ष अनुभूत योग है। पीने में भी स्वादिष्ट होता है। अस्तु।

अध्ययन, अध्यापन या अपने-अपने कामकाज ९ बजे के भीतर समाप्त करके जिन लोगों ने प्रात:काल स्नान नहीं किए हों, वे इस समय स्नान करें। आजकल स्कूल, कालेज, ऑफिस, कचहरी आदि जितने कामकाज के जगह है, लगभग सभी १० से ११ के भीतर खुलती हैं। अतः विवश होकर सब को इस समय के भीतर ही नहाना, धोना, खाना, पीना आदि सब काम-काजसम्पन्न करना पडता है। परन्तु जिन लोगों को ऐसे कामों में फँसने की आवश्यकता नहीं पडती है, वे और भी एक घण्टे बाद यानी १०-१०॥ बजे उपर्युक्त सब कामकाज कर सकते हैं।

जिनको तैल मलने की आदत हैं, वे स्नान करने के पहिले सर्वांग में खास करके, सिर, कान, तथा पैर के नीचे सरसों का तैल को मालिश करें। देशभेद से तिल या नारियल तैल का मालिश भी प्रचलित है। जिस देश में जैसा तैल का मालिश किया जाता है, वह देश के लिए वही ठीक है। परन्तु स्वास्थ्य-तत्त्वानुसार सरसों का तैल ही उत्तम है।

अभ्याङ्गो वातकफहृत् श्रमशांतिं बलं सुखम्।

निद्रावर्णमृदुत्वायः कुरुते देहपुष्टिकृत् ॥
अभ्यङ्गः शीलितो मूर्ध्नि सकलेन्द्रियतर्पणः ।
देहपुष्टिकरो हन्ति शिरोभूमिगतान् गदान् ॥
केशानां बहुतां दार्ढ्यं मृदुतां दीर्घतां तथा ।
कृष्णतां कुरुते तद्वत् शिरसः पूर्णतामपि ॥
(भाव-प्रकाश ।)

तैलाभ्यंग (तैल का मालिश करना) द्वारा वात, कफ, तथा श्रम (मेहनत) की शान्ति होती है। शरीर का बल तथा वर्ण की वृद्धि होती है, उत्तम निद्रा होती है, वह मृदुत्व लाता है, तथा वह आयु को बढानेवाला एवं देह की पुष्टि करनेवाला है। तैल का मालिशद्वारा मस्तिष्क ठंडा होने पर सारी इंद्रियाँ परितृप्त होती हैं। इस से दृष्टि बढती है, केश सब दृढ, मृदु (कोमल) दीर्घ तथा कृष्ण वर्ण के होता है, एवं सिर की बीमारी शांत होती है।

सुतरां तैलमालिश करना शरीर के लिए विशेष मंगलकर है। कुछ डॉक्टरोंने एसी सलाह दी है कि, नियमित रूप से सच्चा (pure) सरसों के तैल को मालिश करने से चर्मरोग तथा प्लैग होने की सम्भावना भी नहीं रहती है। जब प्लैग से देश उजाड होने लगता है, तब दोनों वक्त असली-सरसों के तैल की मालिश अवश्य ही करना चाहिए। परन्तु हमारे देश के अनेक सज्जन बिलकुल ही तैल की मालिश नहीं करते, वरन् उस के बदले साबुन लगाकर नहाते हैं। परन्तु साबुन का व्यवहार करना हमारे देश के लिए विशेष हानिकारक होता है।

जो सज्जन शीतप्रधान देश में निवास करते हैं, एवं स्नान के बाद ही सर्वांग को कुरते आदि से ढक लेते हैं, उन के लिए शायद साबुन उपकारी हो सकता है। साबुन लगाने से देह के जितने लोमकूप हैं, उन सब को अधिक मात्रा से मल-शून्य करता है। साथ ही उस से बाहर की हवा का खराब अंश आसानी के साथ शरीर के भीतर जा सकता है, एवं नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जो सज्जन सदा ही कपडा पहना करते हैं, उन की देह ढकी रहने के कारण वैसा डर नहीं रहता, अतः उन के लिए साबुन का व्यवहार करने में कोई हर्ज नहीं है। परन्तु जिन सज्जन की वैसी आदत नहीं है, उन का साबुन का व्यवहार करना उचित नहीं है।

हमारे देश के जल-वायु भी वैसे साबुन-व्यवहार करने के लिए बाध्य नहीं करता है। क्योंकि हमारा देश गर्म है, यहाँ पर प्रायः सभी व्यक्ति को पसीना निकलता है। पसीनासे भी हमारे शरीर शुद्ध तथा लोमकूप (रोऍ के गड्ढे) आदि साफ हो जाते हैं। अधिकंतु साबुन अधिक परिमाण में मल निकाल देता है, वह स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है। क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि-

'मलायत्तञ्च जीवनम्' परन्तु 'जीवस्तिष्ठति सर्वस्मिन् बीजे रक्ते मलेऽपि च।'

मल भी देह के जीवन-रक्षा का एक हेतु है। देह से जितने परिमाण से मल निकलना उचित है, उस से अधिक परिमाण से मल निकल जाने से जीवन की हानि पहुँचती है। सरसों के तैल में भी परिष्कार (साफ) करने की शक्ति है, उस में भी सोडा (soda) है, खासकर उस में सल्फर (sulpher-गंधक) रहने के कारण वह चर्मरोगनाशक है, तथा शरीर की उष्णता की रक्षा करता है। अतः सरसों का तैल ही सर्वतोभावेन व्यवहार में लाना चाहिए।

सरसों का तैल लगाते समय सब से पहिले दोनों पैर के अंगूठे को तैल से मालिश कर, पैर के नीचे तथा दूसरे स्थान पर मालिश करें। अंगूठे पर तैल-मालिश करने से आँख की रोशनी बढती है। अनन्तर स्नान के लिए जलाशय (तलाव-नदी) के पास पहुँच पहिले मस्तक पर जल देंवे, पीछे नाभितक जल में खडा होकर मौनावलम्बनपूर्वक स्नान करे। स्नान के समय गात्रमार्ज्जनी (अंगोछे) द्वारा सारे शरीर को अच्छी तरह से मर्दन कर, शरीर से तैल निकाल देना चाहिए।

परन्तु जो सज्जन प्रातःकाल स्नान करते हैं, उन के लिए तैल लगाना उचित नहीं है। उस समय तैल लगाने से कफ की वृद्धि होती है। तद्रूप भोजन के बाद भी स्नान करना उचित नहीं है। इस से पाचन-शक्ति हीन होकर अजीर्ण रोग पैदा होने की सम्भावना रहती है। स्नान कर के ही तुरंत भोजन करना अनुचित है, क्योंकि स्नान करने से थोडे समय के लिए शरीर पर कफाधिक्य होता है। वह कफ साम्यावस्था में न पहुँचने पर भोजन करने से भुक्त-द्रव्य यथोचित पाचन नहीं होता है, अतः

रोग का कारण बन जाता है। इसी कारण हमारे देश के प्राचीन योगी-ऋषिगण नियमित रूप से त्रिकाल-सन्ध्या करते थे।

एक एक समय आसन * लगा कर संध्या करने के लिए कम से कम आधे घंटे की आवश्यकता होती है। इसी आधे घंटे में स्नान के कारण उत्पन्न कफनाश होकर पित्त बढने लगता है। पित्त-प्रकोप के समय जो कुछ भी भोजन किया जाता है, वह सब आसानी के साथ पच जाता है। परदेशी लोग त्रिकाल-स्नान, त्रिकाल-संध्या नहीं करते हैं, परन्तु भोजन के आधे घंटे पहिले पित्त की वृद्धि के लिए वे बोतलस्थ ' लाल पानी ' (शराब) नियमित रूप से पीते हैं। उस से पित्त-प्रकोप होकर भूख लगती है, अतः भोजन की चीजें भी आसानी के साथ पच जाती है। परन्तु शराब में अन्य अनेक दोष हैं, इस से शराब नहीं पीना चाहिए। उष्ण देशवासियों को तो कभी नहीं पीना चाहिए। अस्तु।

स्नानादुत्तरतो नाडी श्लेष्मवृद्धिकरी मता।
(चरक-संहिता)

अर्थात् स्नान के बाद देह में श्लेष्मा का जोर होता है। अत स्नान के बाद द्विप्रहर की संध्या में आधे घंटा व्यतीत करने से सभी प्रकार से मंगल है। भावप्रकाश में लिखा है कि-

स्नानं ज्वरातिसारे च नेत्रकर्णानिलार्तिषु।
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितं॥

ज्वर, अतिसार नेत्ररोग, कर्णरोग, वायुरोग, उदराध्मान पीनसरोग, अजीर्णरोग तथा भोजन के बाद स्नान करना उचित नहीं है।

भोजन के पहले आद्रक और सेंधा, नमक सेवन करना विशेष लाभदायक है। इस से मंदाग्नि हट जाती है, तथा पचन में कोई गडबड नहीं होता। यथा—

भोजनान्ते सदा पथ्यं जिह्वाकंठविशोधनम्।
अग्निसन्दीपनं हृद्यं लवणाद्रकभक्षणम्॥

और एक बात सदैव स्मरण रखने की आवश्यकता है। वह बात है कि, कभी भी दूसरे के व्यवहार आई हुई चीजें जैसा-कपडा, कुरता, जूता, बिस्तरा, अंगोछा आदि व्यवहार में नहीं लाना चाहिए। दूसरे के व्यवहार में लाई हुई चीजों से नाना प्रकार की संक्रामक बीमारी शरीर में आ सकती है। यह भी विशेष रूप से स्मरण रखना चाहिए कि, दूसरे के विषाक्त, लालाक्लिष्ट, हुक्के या छिलिम से तम्बाकु पीना या दूसरे की पीया हुआ चुरूट पीना भी विशेष ही हानिकर होता है- इस से नाना प्रकार की बीमारी होने की सम्भावना रहती है। दूसरे के व्यवहार में लाए हुए धोती, अंगोछा, जूती, हुक्का, छिलिम आदि से शुक्रमेह, मधुमेह, प्रमेह, उपदंश (गरमी), यक्ष्मा, दमा आदि नाना प्रकार की उत्कट बीमारियाँ भी पैदा हो सकती है। महर्षि मनुजीने कहा है कि-

उपानहञ्च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्।
उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च॥

दूसरे के व्यवहार में आए हुए जूते, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, माला तथा जल-पात्र आदि का व्यवहार करना उचित नहीं है।

भोजन के विषय में एक बात और कहना रह गया है। वह बात यह है कि, भोजन करते समय दाहिने नथने से श्वास चलना उचित है। इस से भोजन की वस्तुएँ आसानीके साथ पच जाती है और कोई गडबड नहीं होती। भोजन के समय बातचीत करना भी उचित नहीं है, धीरे धीरे भोजन करना उत्तम है। भोजन के बाद थोडा समय विश्राम करके दूसरे काम में लग जाना चाहिए।

---

* आसन करने से सभी प्रकार की बीमारियाँ का नाश होता है। शास्त्र में तथा सिद्ध योगिगण सिद्धासन और पद्मासन को ही श्रेष्ठ बताते हैं। आसन से एक और जैसा बीमारी नाश होती है, वैसा ही दूसरी ओर आध्यात्मिक उन्नति भी होती है और मन स्थिर होकर परमात्मा के ध्यान में अनोखा आनन्द लाभ होता है। इस सम्बन्ध में एक साधारण उपयोगी लेख ' कल्याण ' के ' योगांक ' में लिखा हूँ। इस विषय पर विस्तृत रूप से जानने के लिए ' योगीगुरु ' नामक पुस्तक पढना चाहिए, या मुझ से मिलना चाहिए। आसन भी ठीक तौर से न होवे, तो आध्यात्मिक लाभ की इच्छा छोड देनी पडती है, तथा बीमारी भी नहीं हटती है।

भोजन ।

अब भोजन के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातें बतलाने की आवश्यकता है। भोजन मानव के लिए एक परमावश्यक विषय है। इस के लिए विशेष रूप से सतर्कतापूर्वक काम लेना उचित है। महर्षि मनुजीने कहा है कि—

सर्वेषामेव शौचानामन्नशौचं परं स्मृतम्।
योऽन्ने शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

अर्थात् जितने प्रकार की शौच है, या जितने प्रकार की पवित्रता है, उन में से अन्न की पवित्रता ही श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति अन्नद्वारा पवित्र है, वे यथार्थ रूप से ही पवित्र हैं, नहीं तो केवलमात्र स्नान करने से या मृत्तिका द्वारा शरीर का मार्जन करने से ही पवित्र होना- ऐसा नहीं।

हमारा यह शरीर अन्न का ही रूपान्तर यानी दूसरा रूप है। अत कारण का जिस प्रकार का गुण या शक्ति रहती है, कार्य का भी वैसा ही गुण या शक्ति होती है, सुतरां अन्न के ही अनुरूप यानी जैसा अन्न होगा, शरीर में वैसा ही शौर्य, वीर्य, पराक्रम, रूप, लावण्य, आदि उत्पन्न होगा। सात्विक, राजसिक तामसिक भेद से भोजन की वस्तुओं को भी तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

त्रिगुणमय देह उपर्युक्त त्रिविध आहार्य्य (भोज्य-वस्तु) से ही परिपुष्ट होता है। केवल सात्विक भोजन या केवल राजसिक अथवा तामसिक भोजन से शरीर स्वास्थ्य नहीं रह सकता। जिस प्रकार के भोजन की वस्तुएँ अधिक मात्रा में ग्रहण की जावेगी, शरीर तथा मन पर उसी वस्तु के अनुरूप क्रिया होगी। शरीर के साथ मन का विशेष निकट सम्बन्ध है। भोजन की वस्तु जिस प्रकार के गुणों से युक्त होगी, शरीर तथा मन भी वैसे ही गुणयुक्त बनकर कार्य करनेयोग्य होगा। इसी कारण हमारे सनातन हिन्दू-शास्त्रोंने भोजन की वस्तु के सम्बन्ध में बड़े कठोर विधि-निषेध की व्यवस्था की है।

और एक विशेष बात यह है कि, हमारा यह शरीर पितृपितामह या मातृमातामह आदि से पुरुष-परम्परा चल कर अब जिस अवस्था में विद्यमान है, वह उसी पुरुष-परम्परा एवं अन्न के ही परिणामस्वरूप है। पितृपितामह एवं मातृमातामह आदि के भोजन की वस्तु ही इस शरीर का उपादान है। अतः जिन के पूर्व-पुरुषोंने जिस प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण किया है, उन के शरीर भी उसी प्रकार की भोजन की वस्तुओं के उपयोग से हृष्ट, पुष्ट, स्वस्थ, नीरोग तथा बलवान् होंगे, एवं इसके विरुद्ध आचरण करने से अवश्य ही अनिष्ट होगा।

अतएव हिन्दू शास्त्रोंने जिस प्रकार के खाद्य-पदार्थ ग्रहण करने से मना किया है और जिन्हें हमारे पूर्व-पुरुष कभी भी ग्रहण नहीं करते थे- वे सब निषिद्ध हैं। उन वस्तुओं का भोजन करने से अवश्य ही शरीर बिगड़ जायेगा, तथा उम्र भी कम होगा, एवं रोग की वृद्धि होने लगेगी। अतः हिन्दू-शास्त्र तथा हिंदू-समाज की विधिनिषेध को मानकर स्वास्थ्य तथा दीर्घायु के लिए भोज्य-वस्तु तथा पाचक (पकानेवाले) दूसरे के उच्छिष्ट (जूठे) पात्रादि और जाति आदि की ओर लक्ष्य रखकर चलना उचित है। हरएक व्यक्ति का पकाया हुआ अन्न, हरएक व्यक्ति के साथ, या हरएक जगह पर बैठ कर भोजन करना कभी भी उचित नहीं है। इस से किसी जाति या किसी व्यक्ति के प्रति घृणा या विद्वेष की कोई बात नहीं है। कुबुद्धि लोग ही ऐसी उल्टी बातें समझकर जातिजाति में विरोध की सृष्टि करते हैं।

ब्राह्मणगण जब भोजन करने को बैठ जाते हैं, तब अपने पुत्र-कलत्र (स्त्री), भ्राताभगिनी के स्पर्श करने पर भी उन्हें भोजनत्याग करना पड़ता है- भोज्य-वस्तु ग्रहण के योग्य नहीं रहती है। इस से विद्वेष या घृणा का भाव ही कहां है ? किसी ब्राह्मण के भोजन के समय शूद्र के स्पर्श करने से ब्राह्मण की जो भोज्यवस्तु नष्ट हो जाती है, उसे क्या घृणा का सूचक समझा जायेगा ? शास्त्र में ऐसे निर्देश किया है कि, स्वपाक (अपना ही पकाया हुआ) भोजन करना ही श्रेष्ठ है, तथा स्वपाक भोजन में असमर्थ होने पर दूसरी विधि है। माता, पिता, भाई, स्त्री, पुत्र या अपने कुटुम्बी जन आदि का पकाया हुआ भोजन करना।

किन्तु सच्ची बात तो यह है कि, जो लोग सदा तमोगुण में लिप्त रहते हैं या जिन लोगों का आचरण कुत्सित (खराब) है, अथवा जो लोग नाना प्रकार की दूषित व्याधियों से युक्त हैं, उन व्यक्तिओं के पकाया, अथवा स्पर्श किया हुआ अन्न भोजन न करना चाहिए। क्योंकि इस से तत्काल दूषित परमाणु संक्रामित हो, भोक्ता के शरीर में प्रवेश कर स्वास्थ्य का नाश कर सकता है, इसीलिए इसकी

सतर्कता की आवश्यक है। इस संसार में अच्छे, बुरे लोग को पहचाने की शक्ति नहीं है, विशेषतः यह काम विशेष ही कठिन है। **ब्राह्मण भी ब्राह्मण नहीं है और न चण्डाल ही चण्डाल है। छोटे-बडे सभी प्रकार के वर्णों में पवित्रचित्त जितेन्द्रिय, सदाशय सज्जन रह सकते हैं; परन्तु उनके बाहरी आचार-व्यवहार और चाल-चलन से या आकृति-प्रकृति से इन बातों को समझा नहीं जा सकता।**

अतः ब्राह्मण-चण्डाल का ख्याल न रखकर सत्त्वगुण-सम्पन्न सद्लोक के पकाए हुए, तथा स्पर्श किए हुए अन्न को ग्रहण करने की बुद्धि रक्खें, तो विपर्यय घटने की सम्भावना है। और बाह्य दृष्टि से या बाहरी आचार-व्यवहार से किसी को न पहचान सकने पर, उससे पूछ-ताछ करने से लडाई-झगडा पैदा होकर अनर्थ भी उत्पन्न हो सकता है। इसी कारण अपनी-अपनी जाति या जाति-रूप निर्दिष्ट सीमा के भीतर आबद्ध रहना ही सर्वतोभावेन निरापद है। परन्तु केवल स्वजातीय होने से ही अत्यन्त कदाचारसम्पन्न, मद्यासक्त अथवा लम्पट (व्यभिचारी) व्यक्ति का अन्न ग्रहण करने से भी कोई दोष नहीं होगा-ऐसा दलील भी उचित नहीं कही जा सकती।

पाश्चात्य पंडितगण तथा तद्देशीय सभ्यता से बिगडे हुए अनुकरणशील, प्राच्य, उच्च शिक्षित व्यक्तिगण रासायनिक विश्लेषणद्वारा ब्राह्मण तथा चण्डाल के पक्वान्न में कुछ भी भेद भले ही न देख पाते हों; परन्तु इसी से क्या हमारे पूर्वपुरुष त्रिकालदर्शी ऋषियों का सिद्धांत मिथ्या समझा जा सकता है? मकरध्वज और रससिन्दुर, रासयनिक विश्लेषण से एक ही पदार्थ की भाँति प्रतीत होते हैं और रासयनिक शास्त्रविना पण्डितगण मकरध्वज में स्वर्ण का व्यवहार वृथा समझते हैं सही, परन्तु व्यवहार में मकरध्वज और रससिन्दुर में जमीनआसमान का फर्क तथा गुण-वैषम्य सदा ही देखने में आता है। इसी से ऋषियों का सिद्धांत अभ्रान्त प्रमाणित हो रहा है। सुतरां हिंदूशास्त्रोंने दूसरे का पक्व या स्पर्श किया हुआ अन्नग्रहण दोषयुक्त तथा भोजन के लिए अयोग्य कहकर जिस सत्य का प्रचार किया है, वह बिलकुल ही यथार्थ है।

[1] मानवशरीर से योग चक्षु का अन्तराल में सदा ही अनेक अज्ञात-शक्तिओं का स्फुरण होकर चतुर्दिकस्थ वस्तुओं में संक्रामित हो रहा है, इस बात को आध्यात्मिक शक्तिवन्त महापुरुषगण ही अनुभव कर सकते हैं, एवं इसी कारण उन्होंने दूसरे के सृष्ट तथा पक्वान्न ग्रहण, एक साथ शयन, एक साथ भोजन, एक साथ पान, तथा एक ही आसन पर बैठ कर आलापादि में भी गुण-दोष का संक्रमण होने की बात का प्रचार किया है। महामहोपाध्याय वाचस्पति मिश्रने 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' में लिखा है कि—

आर्षन्तु योगिनां विज्ञानं लोकव्युत्पादनाय नालम्।

अर्थात् ऋषियों का यौगिक क्रियादि विज्ञान लोगों भी समझाने में असमर्थ हैं। अणुवीक्षणयंत्र की सहायतासे जो सूक्ष्म-पदार्थ देखा जाता है, वह चर्म-चक्षुद्वारा नहीं दिखा जा सकता। ठीक वैसे ही ऋषियों की योग-चक्षु का दृश्य पदार्थ हमारी साधारण दृष्टि से दर्शनयोग्य नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि, अणुवीक्षण-यंत्र भी उस का तत्त्वनिर्णय में असमर्थ है। कूर्मपुराणमें ऋषि बृहस्पतिजीने कहा है कि—

एकशय्यासनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्।
याजनाध्यापन योनिस्तथा च सहभोजनम्॥
नवधा संकरः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह।
समीपे चाप्यवस्थानात् पापं संक्रमते नृणाम्॥

अर्थात् एक आसन पर बैठना, एक पंक्ति में बैठकर भोजन करना, एक पात्र में यानी एक ही साथ भोजन करना, दूसरे का पक्वान्न भोजन करना, याजन (पुरोहित का काम) करना, अध्यपन करना, स्त्री वा पुरुषसंभोग करना, एवं अपने या दूसरे का अन्न एकसाथ एक-पात्र में भोजन करना, यह संसर्ग (९ प्रकार काम) पतित के साथ नहीं होना चाहिए। क्योंकि पापी के साथ रहने से अपने में भी पाप संक्रमित होता है।

महर्षि पराशरजीने कहा है—

आसनाच्छयनाद् यानात् भाषणात् सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥

अर्थात् तैल का बुन्द जल में गिरते ही जैसा फैल जाता है, वैसे ही किसी के साथ बैठने, सोने या आनेजाने से, परस्पर आलाप करने से तथा एकत्र भोजन करने से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति का शरीर में पाप-वृत्तियाँ संक्रमित होती हैं।

सुतरां भोजनसम्बन्ध में हिंदू-शास्त्र में जो विधि-निषेध आवहमानकाल से विद्यमान है, सर्वतोभावेन उनकी रक्षा तथा पालन करना चाहिए। गृहस्थ समाज में पंक्तिभोजन न करने से सामाजिक नियम की रक्षा नहीं होती है, अतः उन लोगों के साथ जब कभी भोजन करने की आवश्यकता हो, तब पापसंक्रमण के भय से रक्षा पाने के लिए राख (भस्म), घास (तृणादि), अथवा जलद्वारा अपने भोजन की वस्तुओं को यानी थाली के चारों ओर वेष्टन कर पंक्तिभेद कर के भोजन करना उचित है। व्यासदेवजीने कहा है कि-

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संवृतः स्वजनैरपि।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत् ॥
भस्म-स्तम्ब-जल-द्वार-मार्गैः पंक्तिं च भेदयेत्॥

अर्थात् अपने बंधु-बांधव या स्वजन होने पर भी उन के द्वारा परिवेष्टित हो, एक पंक्ति में बैठकर भोजन करना उचित नहीं है। क्योंकि किस के शरीर में कौनसा पाप (या रोग) छिपा हुआ है, कौन जान सकता है ? अतः पाप-वृत्तियों से मुक्त रहने के लिए भस्म, तृण अथवा जल-द्वारा वेष्टन-पूर्वक पंक्तिभेद कर भोजन करना चाहिए।

वर्तमान समय के विज्ञानने भी प्रमाण कर दिया है कि, भस्म, तृण तथा जल विद्युत् (बिजली) प्रवाह की गति को रोक सकता है। अतः हमारे पूर्व-पुरुषों की सूक्ष्म दृष्टि से उपलब्ध पंक्तिभेद से भोजन हंसी से उडाने जैसी बात नहीं हो सकती।

घृतशून्य भोजन भी नहीं करना चाहिए। घी के संबंध में शास्त्र में लिखा है कि-

घृतमाज्यं हविः सर्पिः कथ्यंते तद्गुणा अथ।
घृतं रसायनं स्वादु चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ॥
शीतवीर्यं विषालक्ष्मी पापपित्तानिलापहम्।
अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योजस्तेजोलावण्यवृद्धिकृत् ॥
उदावर्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान् हरेत्।
स्निग्धं कफकरं रक्षः क्षयवीसर्परक्तनुत् ॥

घृत, आज्य, हवि तथा सर्पिः ये सब एक ही पर्याययुक्त शब्द हैं। घृत रसायन, मधुर-रस, चक्षु के लिए हितकर, अग्नि को तेज करनेवाला, शीतवीर्य, थोडासा अभिष्यन्दि कांतिजनक, ओजः धातुवर्द्धक, तेजस्कर, लावण्य-वर्द्धक, बुद्धिजनक, स्वर-वर्द्धक, स्मृतिकारक, मेधाजनक, आयुस्कर, बलकारक, गुरु, स्निग्ध, कफकर, रक्षोघ्न तथा विष, अलक्ष्मी, पाप, पित्त, वायु, उदावर्त, ज्वर, उन्माद, शूल-आनाह, व्रण, क्षय, विसर्प एवं रक्तदोषनाशक है।

घृत अनेक प्रकार के होते हैं, उन में से गव्यघृत सब से अच्छा है। परन्तु क्षय, राजयक्ष्मा उदरामय, संग्रहणी रोगी के लिए तो बकरी का घी ही उत्तम है। घृत इतना गुणकारक होने पर भी राजयक्ष्मा, कफरोगी, आमाशय (पेचिश), हैजा, विबंध, मदात्यय, ज्वर तथा मंदाग्नि रोग से युक्त व्यक्ति और बालक एवं वृद्ध व्यक्ति के लिए वह उपकारी नहीं है। यथा-

राजयक्ष्माणि बाले च वृद्धे श्लेष्मकृते गदे।
रोगे सामे विसूच्यां च विबंधे च मदात्यये।
ज्वरे च दहने मन्दे न सर्पिर्बहु मन्यते ॥

पलाण्डु (प्याज), लशुन तथा संयोगविरुद्ध वस्तुएँ-जैसे शाक और अम्ल, माषकलाई (उडद का दाल) और मछली-मछली और मांस, दूध के साथ नमक, मछली मांस के साथ गुड, चीनी कभी भी भोजन न करना चाहिए, तथा पर्वदिन यानी अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा संक्रांति, रविवार, गुरुवार, कोई पूजा के दिन तैल, पियाज, लशुन, आद्रक, हींग, मसुर का दाल, मछली, मांस, अण्डे आदि का भोजन करना उचित नहीं है। एवं रात्री के समय सर्व प्रकार पत्र, शाक, दही, श्रीफल (बिल्व), छाल, तथा तिल्ली का भोजन न करे। इस से तरह-तरह की बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

अगर इस बात पर किसी को विश्वास न हो, तो वे रविवार या गुरुवार के दिन मसूर का दाल भोजन कर के देख सकते हैं। उस रोज पेशाब ज्यादा होगा, तथा दूसरे रोज पेशाब की परीक्षा कर के देखिए, तो न जाने उस में कितना कुछ मिलेगा। हमारे पूर्व-पुरुषोंने तिथि-विचार कर के भोजन की जो व्यवस्था बताई है, वह तो शरीर के लिए विशेष लाभजनक है। आप लोग एक बार कृपया आजमाइश कर के देखिए, तो पता लगेगा कि, इस से कुछ लाभ होता है, या नहीं ? मैं तो जोर से कह सकता हूँ कि, उस की रक्षा करने से सभी को लाभ अवश्य होगा।

सिर्फ इतना ही नहीं, हमारे पूर्वज कितने ही सूक्ष्माति-

सूक्ष्म दृष्टिसम्पन्न थे, उस का भी सामान्यांश यहाँ लिखता हूँ। चन्द्रमा का उदयास्त के साथ हमारे शरीर पर तथा भोज्य वस्तु पर गुण का भी नाना प्रकार व्यतिक्रम होता है। ये तिथिभेद से कोई-कोई भोज्यवस्तु ग्रहण का अयोग्य बताए गये हैं। कौन-सा तिथि में क्या क्या नहीं खाना चाहिए, एवं उस तिथि से वह वस्तु खाने से क्या-क्या व्याधि की उत्पत्ति होती है, यह भी लिख गये हैं। अब उसे बताता हूँ-

प्रतिपदा में कुष्माण्ड खाने से व्रणादि क्रूर रोग का उत्पन्न होता है। द्वितीया में वृहति भोजन से अर्बुद रोग, तृतीया में परवल से वातरक्त, चतुर्थी में मूली भक्षण से आमवात, पञ्चमी में बिल्वफलभोजन से पित्त--जनित रोग, षष्ठी में नीम खाने से कुरण्ड-गलगण्ड आदि रोग, सप्तमी में ताड (ताल) खाने से रक्तपित्त, अष्टमी में नारियल खोपरा भक्षण से अजीर्ण, नवमी में अलाबु (दुधी) उदरस्थ करने से वातश्लेष्मा रोग, दशमी में कलम्बी शाक खाने से अम्लपित्त रोग, एकादशी में शिम्बी (पापडी जाति) खाने से ज्वर, द्वादशी में पोतकी (पॅई शाक) भक्षण से राजयक्ष्मा, त्रयोदशी में बैंगन खाने से कुण्डरोग तथा रक्तविकार चतुर्दशी मे माषकलाय (उडद) खाने से अतिसार, उदरामय रोग, एवं पूर्णिमा या अमा-वस्या के दिन मत्स्य, मांस आदि भक्षण से श्लेष्माजनित विविध रोग की उत्पति होती है।

ऐसे तिथिविचार कर के भोजन मेरा जीवन का एक प्रधान अंग है। मालूम नहीं, जन्म-जन्मांतर के संस्कार-वश मेरी उम्र जब ७ वर्ष तब से ही मैं तिथिविचार कर के भोजन करता था। हमारे वंगदेश के पंचाग में कौनसी तिथि में कौनसी वस्तु भोजन नहीं करना चाहिए, यह बात साफ लिखा रहता है, अतः बचपन में मैं पंचांग पढता था। उस से आप ही आप मेरा मन में उदय हुआ था कि, अमुक तिथि अमुक वस्तु जब खाने को मना किया है, तब नहीं खाना चाहिए। हम भ्राता-भगिनि मिलकर ११ होने पर भी, उस में मैं सर्वकनिष्ट होने के कारण, मेरी बात को वे खुशी-खुशी मानते थे, अतः मैं संस्कार-वश अपने घर में तिथिभेद से भोजन की व्यवस्था कर लिया था।

वास्तव में इस में तकलीफ ही क्या है ? एक महीना में सिर्फ २ दिन परवल या मूली या तद्रूप कुछ नहीं खाना विधि है। ऐसा भी तो नित्य परवल मूली आदि नहीं खाते हैं। उस में तिथिविचार से सिर्फ उस दिन उस वस्तु को नहीं खाने से जब शरीर स्वस्थ रहता है, तब उस दिन उस वस्तु को न खाने से क्या हर्ज है ? हमारे पंचम वेद आयुर्वेद का पहिला सिद्धांत है कि—

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥
(आयुर्वेद)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों को प्राप्त करने के लिए सर्वतोभावेन शरीर का आरोग्य रखना बहुत ही आव-श्यक है, शरीर के रोगग्रस्त या अकर्मण्य हो जाने पर किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। अत: शरीर जब रक्षा करना ही पडेगा, तब उस के लिए शास्त्र में जो सब विधिनिषेध है, उसे अवश्य पालन करना चाहिए। सुतरां मेरी राय से उपर्युक्त तिथिविचार कर के ऐसे भोजन में शायद कोई सज्जन आपत्ति नहीं करेंगे। वर्तमान समय हमारे अनेक भाईयों विद्या का घमण्ड में बातों बातों में पाश्चात्य पण्डितों का विज्ञानसम्मत मत चाहते है, अतः विवश होकर ऐसा मत उद्धृत कर देना पडता है।

स्वर्णभूमि भारत के सनातन विधिनिषेधवर्ग वास्तव में लाभदायक है या नहीं, उस के लिए आमेरिकावासी अनेक सज्जन अनुसन्धानवृत्ति लेकर वैज्ञानिक ढंग से परीक्षा में लिप्त हैं। उन में से एक सज्जन तथा के सु-प्रसिद्ध डाक्टर त्रयोदशी तिथि में बैंगन खाना निषिद्ध जान कर प्रतिपदा से परीक्षा शुरू की। द्वादशी तिथि तक उन्हें नुकसानदायक कुछ भी नहीं मिला, परन्तु त्रयोदशी-तिथि शुरू होते ही उस में सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव पैदा होने लगा। जब तक त्रयोदशी तिथि थी, तब तक उन्हें बैंगन में असंख्य जीव मिला, त्रयोदशी समाप्त होते ही, वह नुकसानदायक जीव एक भी नहीं मिला। कहना वृथा है कि, वे अनुवीक्षण-यंत्र की सहायता से परीक्षा करते थे।

(क्रमशः)

मंत्रभागे समग्रा वेदगीता ।

तत्र अष्टादशश्लोकी भगवद्गीता = वेद-संहिता-चतुष्टयमन्त्रोपसंकलिता वेदगीता ।

[लेखक- पं० जगन्नाथ शास्त्री, न्यायभूषण ज्योतिषी ओ. टी.
संस्कृताऽध्यापक, गवर्नमेंट हाईस्कूल, डेरागाजीखान (पंजाब)]

प्रथम श्लोक अर्जुन की उक्ति होने से नहीं लिखा-

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥१॥

(अष्टादशश्लोकी गीता द्वितीय मंत्र; भ. गीता अध्याय २ श्लो. ४८)

अर्थ- (हे धनञ्जय !) हे अर्जुन ! (समत्वम्) ('निर्दोषं हि समं ब्रह्म') ब्रह्म दोषरहित और सब में समानरूप है । समानता रखनेवाले का नाम समत्व है । वह ही ब्रह्मज्ञान से पाया जावे । उसे योग कहते हैं । (योगस्थः) ब्रह्म में स्थिति रखनेवाला केवल पापकर्म से मोक्ष की इच्छा करता हुआ, तू (संगम्) इन कर्मों से मेरे पापों का नाश हो, इत्यादि संग को काम कहते हैं, (त्यक्त्वा) उसे छोड कर (सिद्ध्यसिद्ध्योः) कामना के फलकी प्राप्ति और कामनाके फलकी अप्राप्तिमें (समो) हर्ष और विषाद से शून्य (भूत्वा) होकर (कर्माणि) स्वस्ववर्णानुसार बतलाए हुए दुःखात्मक अथवा कठिन कर्म, करनेयोग्य है इस बुद्धि से (कुरु) कर ।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ॥ (ऋ. मंड. १०, सू. ७१, मंत्र २)

अर्थ- (यत्र) जिस समय (धीराः) बुद्धिमान् विवेकी पुरुष (तितउना सक्तुमिव) शूर्प से धान्यविशेष को (पुनन्तः) पवित्र करते हुए अथवा साफ करते हुए अर्थात् खराब धान्य को पृथक् करते हुए पुरुषों की तरह निष्काम कर्मद्वारा कर्मों के फल की इच्छा को दूर करते हुए (मनसा) शुद्ध संकल्पसे या शुद्ध बुद्धि से (वाचम्) ज्ञानात्मक कर्मों को (अक्रत) करते है । (अत्र) इस समय में (सखायः) शास्त्रप्रतिपादित समताज्ञान को विषय रखते हुए, (सख्यानि) शास्त्रप्रतिपादित समता में होनेवाले ज्ञान को अथवा कर्मों को (जानते) जानते हैं । अथवा (सखायः) वाणी से आपस में मित्र बने हुए सब के साथ समता को प्राप्त करते हुए, (सख्यानि) समतावाक्य से मिली हुई उन्नतियों को पाते हैं । इसलिए समता में रहनेवाले (एषाम्) इन पुरुषों की (वाचि) वाणी की शक्ति में (भद्रा) कल्याणस्वरूप (लक्ष्मीः) सम्पत् (अधिनिहिता) स्थित रहती है ।

(तुलना) गीतामें संग का परित्याग १, सब में समता रखनी २, कार्यसिद्धि और असिद्धि में हर्षविषाद का परित्याग ३, यही ब्रह्मप्राप्ति के लक्षण है ।

वेदमंत्र में भी बुरे कर्मों का त्याग निष्काम शुभ कर्मों का करना १, शुद्ध मनसे ज्ञानलब्धि करना २, सबके साथ मित्रता । समता का धारण करना ही मोक्षसम्पत्तिप्राप्ति का साधन है ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥२॥

(अष्टादशश्लोकी गीता तृतीय श्लोक; भ. गीता अध्याय ३, श्लो. ६)

अर्थ- (विमूढात्मा) करनेयोग्य, न करनेयोग्य कामके से रहित मनवाला महामूर्ख पुरुष (कर्मेन्द्रियाणि) हस्तपादादि पांचों कर्मेन्द्रियों को (संयम्य) रोककर आँख बंद करके (इंद्रियार्थान्) जगत् के सब पदार्थों को मनके अन्दर ही (मनसा) मनसे (स्मरन्) सोचता हुआ, स्मरण करता हुआ (यः) जो पुरुष (आस्ते) मैं ब्रह्मज्ञानी कर्मके त्यागमात्र से कृतार्थ हो गया हूं, ऐसा रहता है । (सः) वह (मिथ्याचारः) कपटी, आत्मवञ्चक (उच्यते) बुद्धि-

मार्गों से कहा जाता है ॥ ३ ॥

वेदगीता (वेदमंत्रः)

एष वाजी हितो नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः। अव्यो वारं वि धावति ॥

(ऋ० मं० ९, सू० २८, मं० १) (८ साम० ५ प्रपा०, द्वितीयार्ध ५ सू०, १ दश०, मं० १)

अर्थ- (एषः) मूढ पुरुष (वाजी) वाक् पाणिपादादि कर्मेन्द्रियों से चलनेवाला (नृभिः) चक्षुरादि नेताओं से (हितः) धारण वा पालनपोषण किया हुआ (विश्ववित्) सब इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला (मनसः पतिः) अन्तःकरण अर्थात् मानसिक वृत्तियोंके पीछे चलनेवाला हुआ हुआ (अव्यम्) सर्वदा रहनेवाले अथवा 'गड्डरिका प्रवाह' की तरह बार बार अथवा (वारं) यथाक्रम (मरने के अनन्तर, जन्मके अनन्तर मरण) इस क्रम को अथवा (वारम्) संसार में जन्ममरणरूपी युद्ध की ओर (विधावति) विविध प्रकार से दौडता रहता है।

(तुलना) गीतामें दिखावे के लिए कर्मों को छोडकर मनसे पदार्थों को स्मरण करना कपटी होनेका मूल कारण है और मूर्खता का मूल स्वरूप है।

वेदमन्त्र में भी कर्मेन्द्रियों के विषयों को मन में स्मरण करनेवाला मूर्ख पुरुष वारंवार इस संसार में जन्ममरण की ओर जाता रहता है।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥४॥

(अष्टादशश्लोकी गीता ४ श्लोक; भ गीता अध्या० ४ श्लो ३०)

अर्थ- (श्रद्धावान्) वेदवाक्य और गुरुवचनों में सत्यता का ज्ञान रखनेवाला (संयतेन्द्रियः) सब विषयों से इन्द्रियोंको हटानेवाला (तत्परः) ब्रह्माकार वृत्ति को धारण कर्ता हुआ, (ज्ञानम्) परमेश्वरके ज्ञानको (लभते) पाता है। (ज्ञानम्) परमेश्वर के ज्ञान को (लब्ध्वा) पाकर (अचिरेण) शीघ्र ही (पराम्) निरतिशय बडे सुखवाली (शांतिम्) शांति को अर्थात् मुक्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

वेदगीता (वेदमंत्रः)

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त। य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

(अथ० कां ७, सू० ५, मं० ५)

अर्थ- (मुग्धाः) वेदवाक्य और गुरुवचनों में श्रद्धा से मोहित हुए हुए (देवाः) ज्ञानसे प्रकाशमान परमेश्वरोपासक पुरुष (गोः) इंद्रियों की (अंगैः) वृत्तियों से (पुरुधा) मन से, वाणी से और कर्मसे, सब विषयों से इंद्रियों के हटानेवाले बहुत प्रकारोंसे (अयजन्त) परमेश्वरोपासना करते हैं, यद्वा ज्ञानयज्ञ करते हैं। (यः) जो ज्ञानी यति (इमम्) इस (यज्ञम्) ज्ञानयज्ञ को अथवा पूजनीय परमात्मा को (मनसा) शुद्ध मन से (चिकेत) जानता है। हे ईश! (तम्) वैसे ब्रह्मोपासक यति को (नः प्रवोचः) हमें बतला (इह) जो ज्ञानी हमें इस जन्म में ही परमात्मा के स्वरूप को (ब्रवः) कहे ॥ ५ ॥ तथा च मन्त्रः।

"श्रद्धया सत्यमाप्यते, (यजु० १९-३०)

"श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते" (तै. ब्रा. ३ १२-३)

"श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्"

(बृहदा. उप. ४-४)

अर्थ- (श्रद्धया) वेदवाक्य और गुरु के वचनों में सत्यत्वबुद्धि रखने से (देवः) विद्वान् पुरुष (सत्यम्) सत्यस्वरूप परमात्मा को (आप्यते) प्राप्त करता है।

(श्रद्धया) पूर्वोक्त श्रद्धा विद्वान् पुरुष (देवत्वम्) ज्ञानस्वरूप (ज्ञानभाव) को (अश्नुते) पा लेता है। (श्रद्धावित्तः भूत्वा) श्रद्धा के स्वरूप में ज्ञानवान् होकर अपने स्वरूप में ब्रह्म को पहिचानता है।

(तुलना) गीता में श्रद्धावान् ही परमात्मा के चरणों में पहुंचकर शान्ति पा सकता है, (वेद) में भी श्रद्धा से ही ब्रह्म मिलता है, यह दर्शाया है।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥५॥

(अष्टादशश्लोकी गीता पंचम श्लोक; भ. गीता अध्य. ५, श्लो. २८)

अर्थ- (यतेन्द्रियमनो बुद्धिः) इन्द्रिय, मन और बुद्धि को स्वाधीन रखनेवाला (विगतेच्छाभयक्रोधः) इच्छा, भय, और क्रोध से रहित (सदा) हमेशा (मोक्षपरायणः) मोक्ष की प्राप्तिके साधनमें लगा हुआ, (यः) जो (मुनि) विद्वान् पुरुष है, (सः) वह (एव) ही (मुक्तः) जीवन्मुक्त हुआ हुआ मरने के अनन्तर कैवल्यमुक्त हो जाता है।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणाः व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥

(ऋ. मंड, ७, सू, १०३, मं. १,) (अथ. ४।१४।३)

अर्थ- (मण्डूकाः) ब्रह्मज्ञान से मुदित होते हुए यद्वा ब्रह्मज्ञान से तृप्त होते हुए यद्वा अष्टविध भक्ति के आचरण करने से शोभायमान होते हुए अर्थात् इच्छामय क्रोधादि से रहित मोक्षपरायण जन (पर्जन्यजिन्वताम्) देवों की विद्वानों को प्रसन्न करनेवाली (वाचम्) वाणी को (अवादिषुः) बोलते हैं। ऐसे इंद्रियसंयमी लोग (व्रतचारिणः) इंद्रियों के विषयों के न ग्रहण करनेरूपी व्रत को करते हुए अर्थात् जीवन्मुक्त (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञान को जाननेवाले (संवत्सरम्) जिसमें सर्व जगत् निवास करता है, ऐसे परमात्मा में (शशयानाः) शयन करते हुए मुक्त हो जाते हैं।

(तुलना) गीतामें इंद्रिय, मन, बुद्धिको वशमें करना १; इच्छा, क्रोध, भय से दूर रहना २; मोक्ष के साधन हैं।

वेद में भी " क्रोधादि को वश में कर के सब के साथ मधुर वाणी बोलना १; इंद्रिय, मन, बुद्धि का संयमन करना २; परमात्मचिंतन ३; मुक्ति के साधन हैं।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६॥

(अष्टादशश्लोकी गीता षष्ठ श्लोक; भ. गीता अध्या. ६ श्लो. १७)

अर्थ- (युक्ताहारविहारस्य) स्वस्वदेहाऽनुसार यथायोग भोजन करनेवाले और यथायोग्य सैर करनेवाले, (युक्तचेष्टस्य) कार्यसिद्धिमात्र तक देहेन्द्रियादि से काम लेनेवाले (युक्तस्वप्नाऽवबोधस्य) यथायोग्य शयन तथा निद्रा करनेवाले मनुष्य का (योगः) योगाऽभ्यास, परमात्मदर्शनाऽभ्यास (दुःखहा) आध्यात्मिकाधिभौतिकाऽऽधिदैविक तथा जन्ममरणादि दुःखों के नाश करनेवाला (भवति) होता है। ॥६॥

वेदगीता (वेदमंत्र)

उत प्रहामतिदीव्या जयाति कृतं यच्छ्वघ्नी
विचिनोति काले। यो देवकामो न धना
रुणद्धि समित्तं राया सृजति स्वधा ॥१॥

(ऋ. मंड १० सू. ४२, मंत्र ९)

(अथ. कां. ७, सू. ५०, मं ६)

अर्थ- यह योगी (अतिदीव्या) युक्ताहार और युक्त विहारादियों से अतिशय प्रकाशमान् होता हुआ (प्रहाम्) प्रकर्षता से नाश करनेवाले अति भोजन और अति घूमने आदि को (जयाति) विजय कर लेता है, अर्थात् आहार-विहारादि को वश कर लेता है, (श्वघ्नी कृतं यत्) जैसे जुआरी जूए के समय नियत किए हुए, कृतसंज्ञक पण को (विचिनोति) लाभ में ही ढूंढता है। (यः) जो मनुष्य (देवकामः) ईश्वरप्राप्ति की इच्छा करता हुआ, (धनानि) शरीरको धारण करनेवाले युक्ताहारविहारशयनजागरणरूपी धनों को (न रुणद्धि) अतिक्रमण नहीं करता। वह योगी (स्वधा) युक्ताहारविहारादि को यथायोग्य धारण करता हुआ ही (राया) ब्रह्मज्ञान से अपने आप को (सृजाति) जोड देता है, अर्थात् सब दुःखों से रहित हो जाता है। ॥१॥

(तुलना) गीता में यथायोग्य भोजन और कर्म करना १, यथायोग्य सोना और जागना २, यथायोग्य कार्यसिद्धि के लिए परिश्रम करना ३, योग के साधन हैं। वेद में भी यथायोग्य आहारविहार करना और उन का अतिक्रमण न करना, ब्रह्मप्राप्ति के साधन बताए हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ७ ॥

(अष्टादशश्लोकी गीता सप्तम श्लोक; भ० गीता अध्या० ७, श्लोक १४)

अर्थ— (मम) मुझ परमात्मा की (दैवी) प्रकाशमान (गुणमयी) तीन गुणोंवाली (एषा) संसारमें प्रत्यक्ष स्वरूप (माया) गुणमयी बन्धनशक्तिः (दुरत्यया) कठिनता से तरनेयोग्य है। (ये) जो विद्वान् पुरुष निष्कामसेवा से (माम् एव) मुझ परमात्मा को (प्रपद्यते)

शरण में प्राप्त होते है (ते) वह विद्वान् पुरुष (एताम्) इस सांसारिक त्रिक्षेपाऽऽवरणात्मक (मायाम्) बन्धनशक्ति को तथा उसके बन्धन करनेवाले सब कार्यों को (तरन्ति) पार कर जाते हैं ॥ ७ ॥

वेदगीता (वेदमंत्रः)

सुत्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् । दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्राम॑नागसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ १ ॥

(अथर्व. कां. ७, सू. ६, मं. ३) (ऋ. १०, सू. ६३, मं० १०)

अर्थ- हे परमात्मन् ! हम मुमुक्षु पुरुष (सुत्रामाणम्) भली प्रकार अपने गुणों से अपने अपने विषयको रक्षा करती हुई (पृथिवीम्) सर्वत्र पदार्थमात्रमें विस्तीर्ण हुई हुई (सुप्रणीतिम्) सुख से सब कर्मोंके प्रेरणा करनेवाली (स्वरित्राम्) अच्छी तरह दण्ड देनेयोग्य (नावम्) नौकासदृश पार करनेवाली (दैवीम्) परमात्मसम्बन्धी प्रकाशमयी त्रिगुणात्मक सांसारिक बन्धनशक्ति को (आरुहेम) चढ जावें, अर्थात् उसको दबाकर संसाररूपी समुद्र से पार हो जावे । फिर (अनागस.) पापादि दोषोंसे रहित होकर हम दैवी मायाके पार करनेके अनन्तर (सुशर्माणम्) अच्छे प्रकार से सुखस्वरूप (अदितिम्) न नाश होनेवाली (अस्रवन्तीम्) अविकृत स्वरूप (द्याम्) प्रकाशमान परमेश्वर के धामको (स्वस्तये) मुक्ति पानेके लिए अथवा अच्छी तरह सुख हो, इस बात की सिद्धि के लिए (आरुहेम) ऊपर चढे ।

(तुलना) गीतामें सांसारिक बन्धन कठोर है, उसके पार करनेके लिए मायाका पार करना मुक्ति का साधन है,

वेद में भी सांसारिक बन्धन काटकर कल्याणसाधन के लिए निष्पाप होकर माया से पार होना बताया है ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना· ॥ ८ ॥

(अष्टादशश्लोकी गीता अष्टम श्लोकः; भ० गीता ८।२४)

अर्थ = (अग्निः) उत्तरायणकालाभिमानी देवता (ज्योतिः) ज्योतिःकालाऽभिमानी देवता (अहः) दिनाऽभिमानी देवता (शुक्लः) शुक्लपक्षाऽभिमानी देवता (षण्मासाः उत्तरायणम्) षण्मासोत्तरायणाभिमानी देवता । उत्तरायणमें मरनेवाले ब्रह्मज्ञानी पुरुष (ब्रह्म) परमात्मा को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

वेदगीता (वेदमंत्रः)

पृ॒थि॒व्या अ॒हमु॒दन्तरि॑क्ष॒मारु॑हम॒न्तरि॑क्षा॒त् दि॒वमारु॑हम् । दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥

(यजुः १७।६७.) (अथर्व. कां ४, अनु. ३, सू. १४, मं. ३)

अर्थ- (अहम्) परमात्मचिन्तन करनेवाला ब्रह्मज्ञानी मैं (पृथिव्याः) इस मनुष्यलोक से अग्निद्वारा पार्थिव शरीर को छोड कर (अन्तरिक्षम्) समग्र ज्योतियों के आश्रयभूत आकाश को (उदारुहम्) ऊर्ध्वक्रम से अन्तरिक्ष पर चढता हूँ । (अन्तरिक्षात्) फिर आकाशसे (दिवम्) प्रकाशमान सूर्य को (आरुहम्) प्राप्त होता हूँ । (दिवः) प्रकाशमान (नाकस्य) सुखनिमित्त सूर्य (पृष्ठात्) के पृष्ठ से (अहम्) मैं यथाक्रम ऊपर जाता हुआ ही (स्वः) सुखमय (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप परमात्मा को (अगाम्) प्राप्त होता हूं, जिस मार्ग से फिर संसार में जन्ममरण के दुःख में वापिस नहीं आता ॥६७॥

(तुलना) गीता में क्रममुक्ति का वर्णन है । वैसे वेदमंत्र भी क्रममुक्ति का प्रतिपादन करता है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥९॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥९॥

(अष्टादशश्लोकी गीता श्लो. ९; भ. गीता ९।३०-३१)

अर्थ- (अपि चेत्) पहले जो ब्राह्मणादि वर्णोंमें कोई भी (सुदुराचार) अत्यन्त दुराचारी भी सत्संगति को पाकर (अनन्यभाक्) इंद्रियादि विषयोंसे दूर रहकर परमात्मा के बिना किसी की सेवा न करता हुआ, (माम्) मुझ परमात्माकी सेवा करता है । (सः) वह अनन्यभक्त (साधुः) सत्पुरुष (एव) ही (मन्तव्यः) माननेयोग्य है, (हि) क्योंकि (सः) उस पुरुषने (सम्यग्व्यवसितः) अच्छी बात में उद्यम करनेवाला हो गया है । वही पुरुष (क्षिप्रम्) शीघ्र (धर्मात्मा) पुण्यात्मा (भवति) हो जाता है । (शश्वत्) नित्य (शांतिम्)

निर्वाणपदवी को (निगच्छति) प्राप्त हो जाता है। (कौन्तेय !) हे अर्जुन ! (मे) मुझ परमात्मा का (भक्त) सेवक (न प्रणश्यति) मुक्तिमार्ग से पतित नहीं होता। (प्रति जानीहि) तू इस बात को जान।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वंति सोमं दधति प्रयांसि । तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः ।

(ऋ० मंड ३, सू. ३०, मं. १)

अर्थ- जो अग्र ब्राह्मणादि वर्णोंमें कोई भी दुराचारी मनुष्य भी (प्रयांसि) प्राणादि हवियों को परमात्माको अर्पण करते हैं, अर्थात् भगवद्भजन करते हैं। और वह ईश्वरभक्त परमात्मा को सर्वव्यापक जानते हुए, (जनानाम्) सब मनुष्यों की (अभिशस्तिम्) हिंसामयी वाणी वा दुर्वचनों को (तितिक्षन्ते) मन, वचन और कर्मसे प्रतिकार न करते हुए सहन कर लेते हैं। इसलिए वह दुराचारी मनुष्य तितिक्षादि गुणों को पाकर (सोम्यासः) शांतिगुण को पाते हुए, (सखायः) सब के मित्ररूप होकर अर्थात् प्राणिमात्र को अपना स्वरूप समझ कर (त्वा) तुझ परमात्मा को (इच्छन्ति) कामना करते हैं। (हे इंद्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! त्वत् आप के सम्बन्ध से सम्बन्धित होकर (कः+चन) कोई भी पुरुष (प्रकेतः) भक्तों में ज्ञानवान् हो जाता है।

(तुलना) गीता में दुराचारी भी यदि सत्संगति पाकर भगवद्भजन करे, तो वह धर्मात्मा हो जाता है। वेदने भी यही सिद्ध किया कि, यदि कोई भी पुरुष दूसरे की (दुर्वचनों) गालियों को सहन करता हुआ, सब में भगवत्स्वरूप देखता है। तो वह भी ईश्वरचरणों में प्राप्त हो जाता है।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१०॥

(अष्टादशश्लोकी गीता दशम श्लोक; भ. गीता १०-३)

अर्थ- (यः) जो मुमुक्षु (माम्) मुझ परमेश्वर को (अजम्) प्राकृतिक जन्मरहित (अनादिम्) कारणरहित अर्थात् नित्य (लोकमहेश्वरम्) सर्व लोकों के स्वामी (वेत्ति) जानते हैं, (सः) वह मुमुक्षु (मर्त्येषु) सब मनुष्यों में (असंमूढः) मोहरहित अर्थात् ज्ञानी (सर्वपापैः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक पापों से और पाप के कार्य दुःख, दुर्योनि, और दुर्गतियों से (प्रमुच्यते) अच्छी तरह छूट जाता है।

वेदगीता (वेदमंत्र)

स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान । उर्वी गंभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत् ॥३॥

(ऋ. मंड. ४, सू ५६, मं. ३)

अर्थ- (यः) जिस परमात्मा ने (इमे) दृष्टिगोचर होते हुए (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न किया। न कि पृथिव्यादि से स्वयं उत्पन्न हुआ, अतः उसे अज कहते हैं। (धीरः) वैदिक ज्ञान-बुद्धि के देनेवाले (यः) जिस परमात्मा ने (उर्वी) विस्तीर्ण (गभीरे) हिलचुल न करनेवाले (सुमेके) शोभन स्वरूप (रजसी) इस लोक तथा परलोक को (शच्या) अपनी शक्ति से (सम् ऐरत्) अच्छी रीति से चलाता है। ऐसा जो जानता है। (स + इत्) वह ज्ञानी ही (स्वपाः) अच्छे कर्मोंवाला अर्थात् पापकर्मों से रहित (भुवनेषु) सब भुवनवासी जीवों में (आस) है।

(तुलना) गीता में ईश्वर को अज, अनादि सर्व जगत् स्वामी, बताया है। उस ब्रह्म के जाननेवाला सब पापों से रहित बताया गया है। वेद में भी पृथिव्याकाशादि के उत्पादक ब्रह्म को स्मरण करता हुआ पुरुष निष्पाप हो जाता है, यह सिद्ध किया है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥११॥

(अष्टादशश्लोकी गीता ११ श्लोक; भ. गीता ११।५५)

अर्थ- हे (पाण्डव) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! (यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त (मत्कर्मकृत्) मेरे निमित्त ही कर्म करनेवाला (मत्परमः) मैं ही जिस का परम प्यारा हूं, (संगवर्जितः) धनपुत्रादि में रागरहित हुआ हुआ (सर्वभूतेषु) सब प्राणिमात्र में (निर्वैरः) वैरसे रहित

है (सः) वह मेरा भक्त (माम्) मुझ परमात्मा को (एति) प्राप्त होता है।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

यं आनयत् परावतः सुनीती तुर्वशं यदुम् । इन्द्रः स नो युवा सखा ॥

(साम. अध्या. २, खं. २, मं. ३, ऋ. मंड. ६, सू. ४५; मं. १)

अर्थ- (यः) जो (इन्द्रः) भक्तिरूपी ऐश्वर्यवाला मेरा भक्त (सुनीती) अच्छी रीतिनीति से (तुर्वशम्) हिंसक स्वभाववाले यद्वा दुःसंगवाले (यदुम्) कुत्सित व्यवहार को यद्वा सब जीवों शत्रुता को (परावतः आनयत्) दूर देश में भगा देता है। (सः) वह भगवद्भक्त (युवा) मद्भक्तिसाधनसम्पन्नता से नित्य जवान हुआ हुआ (नः) मुझ परमात्मा का (सखा) समान स्वरूप हो जाता है।

(तुलना) गीतामें भगवदर्पण कर्म करना १, परमात्मा का अनन्य सेवक होना २, दुःसंग परित्याग ३, सब जीवों से द्वेष दूर करना परमात्मप्राप्ति के साधन हैं। वेद में भी हिंसक स्वभावका परित्याग १, कुत्सित व्यवहारका परित्याग २ सब जीवों से शत्रुता का हटाना परमात्मप्राप्ति के साधन बताए हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

(अष्टादशश्लोकी गीता १२ श्लोक; भ. गीता १२-१२)

अर्थ- (हि) निश्चय से (अभ्यासात्) प्रतीकोपासनाऽभ्यासमात्र से अथवा श्रवणमात्र अभ्यास से (ज्ञानम्) सब वस्तु में ब्रह्म व्यापक है, ऐसा ज्ञान श्रेष्ठ है। (ज्ञानात्) सर्वत्र ब्रह्म व्यापक है, केवल इस ज्ञानमात्र से (ध्यानम्) भगवच्चिन्तक (विशिष्यते) अधिक अच्छा कहा गया है। (ध्यानात्) केवल भगवच्चिन्तन से (कर्मफलत्यागः) लौकिक वैदिक सकाम कर्मों के फल का त्याग ही मोक्षसाधन के लिये अच्छा कहा गया है। (त्यागात्) नित्यनैमित्तिक सकाम कर्मों के फल के त्याग के (अनन्तर) बाद (शान्तिः) संसारवृत्तियों से अत्यन्त उपरति होती है।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः। सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाऽश्नीयादनडुहो विजानन् ॥१२॥

(अथ. कां. ४, सू. ११, मं. ३)

अर्थ- (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (मनुष्येषु + अन्त.) मनुष्यों के अन्तःकरण में (जातः) ज्ञानस्वरूप प्रकट होता है, इसलिए भगवन्नामोच्चारण के अभ्याससे भगवत् का ज्ञान ही श्रेष्ठ है। वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा (तप्तः) तपस्वरूप (घर्मः) प्रकाशमान (शोशुचानः) ध्यान से अत्यन्त देदीप्यमान (चरति) है। इसलिये ज्ञान से ही भगवद्ध्यान ही श्रेष्ठ है। (अनडुहः) परमात्मा के (विजानन्) माहात्म्य को अच्छी तरह जानता हुआ भगवद्भक्त (न अश्नीयात्) नित्यनैमित्तिक कर्मों के फल को नहीं चाहता। (सः) वह भगवद्भक्त (सुप्रजाः) मोहबन्धनविहीन प्रजावाला (उदारे) देह के परित्याग के समय में (उत्) इस शरीर से निकला हुआ (न सर्षत्) फिर संसार के धर्मों को प्राप्त नहीं होता, किन्तु भगवल्लोक को प्राप्त होता है।

(तुलना) गीता में अभ्यास से ज्ञान और ज्ञान से ध्यान और ध्यान से कर्मों के फल का परित्याग अच्छा बताया है। कर्मफल के त्याग से ही शांति मिलती है।

वेद में भी अभ्यास से ज्ञान, ज्ञान से ध्यान, ध्यान से कर्मफलत्याग, कर्मफलत्याग से परमात्मप्राप्ति बतलाई है।

क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ १३ ॥

(अष्टादशश्लोकी गीता त्रयोदश श्लोक; भ. गीता १३।२)

अर्थ- (हे भारत) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन! (सर्वक्षेत्रेषु) समस्त शरीरों में (क्षेत्रज्ञम्) देह के जाननेवाले आत्मा को (माम्) मुझे (विद्धि) जान। (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) प्रकृतिपुरुष का (यत्) यथार्थतया जो (ज्ञानम्) ज्ञान है। (तत्) वह (ज्ञानम्) ज्ञान (मम) मुझ परमेश्वर का (मतम्) निश्चित है ॥१३॥

वेदगीता (वेदमंत्रः)

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥१

(ऋ. मंड. १०, सू. १३५, मं. १)

अर्थ- (यस्मिन्) जिस (सुपलाशे) सुखदु:खादि पत्तोंवाले (वृक्षे) विनाशशील देहरूपी वृक्षमें (यमः) नियन्ता जीवात्मा (देवैः) अन्तःकरणादि ग्यारह इंद्रियों के साथ (संपिबते) अच्छी रीति से कर्मफलों को भोगता है। (पिता) वेदज्ञान के दान से सब के पालनेवाला (विश्पतिः) प्रजाओं का स्वामी परमेश्वर (अत्र) इस देहात्मक क्षेत्रमें रहनेवाले (पुराणान्) पुरातन अथवा आगे प्राप्त हुए हुए (नः) हम ज्ञानी पुरुषों को (अनुवेनति) कृपापूर्वक स्वसमीप प्राप्त करता है ।

(तुलना) गीता में देह को क्षेत्र, क्षेत्र में वास करनेवाले को आत्मा, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान परमात्मा को प्यारा है, ऐसा बताया है ।

वेद में भी वृक्ष को, देहवृक्ष के पत्तों को सुखदुःखादि द्वन्द्व, उस के पान करनेवाला आत्मा, भक्तात्मा को मुक्ति देनेवाला परमात्मा बताया है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥१४॥

(अष्टादशश्लोकी गीता चतुर्दशः श्लोक; भ. गीता १४।२६)

अर्थ- (यः) जो मुमुक्षु पुरुष (माम्) मुझ परमात्मा को (अव्यभिचारेण) न दूषित होनेवाले एक रसवाले (भक्तियोगेन) भक्तियोग से (सेवते) ध्यान करता है। (सः) वह पुरुष (एतान्) इन (गुणान्) सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों को (समतीत्य) पार करके (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्मप्राप्ति के लिए (कल्पते) समर्थ हो जाता है ।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

इमे नरो वृत्रहत्येषु शूरा विश्वा अदेवीरभि
सन्तु मायाः । ये मे धियं पनयंत प्रशस्ताम् ॥

(ऋ० मंडल ७, सू० १, मं० १०)

अर्थ- (ये) जो मुमुक्षु पुरुष (-) मेरी (प्रशस्ताम्) बहुत श्रेष्ठ (धियम्) ज्ञानबुद्धि को अथवा ज्ञानबुद्धिपूर्वक भक्तियोग को (पनयन्त) स्तुति (प्राप्त) करते हैं। (इमे) वह यह मुमुक्षु पुरुष (वृत्रहत्येषु) पापविनाशक कर्मानुष्ठानों में (शूराः) बहादर हुए हुए (अदेवीः) राक्षसी अथवा दुष्ट (विश्वाः) सब (मायाः) तीनों गुणों से उत्पन्न विचारशक्तियों को (अभिसन्त) दबावें । १०

(तुलना) गीता में तीनों गुणों का परित्याग, नितांत भक्तियोग, इन दोनों को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बताया है। वेद में आसुरी, कपटी विचारों का परित्याग, पापविनाशक कर्मोंमें प्रवृत्ति, ब्रह्मप्राप्ति के साधन बताए हैं ।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः । द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ १५ ॥

(अष्टादशश्लोकी गीता पंचदशः श्लोकः, भ. गीता १५।५)

अर्थ- (निर्मानमोहाः) मान और मोहसे रहित (जितसंगदोषाः) संगदोषों को जीतनेवाले (अध्यात्मनित्याः) नित्य ही आत्मज्ञान में वास करनेवाले (विनिवृत्तकामाः) सुखादि कामनाओंसे रहित (सुखदु.खसंज्ञैः) शीतोष्ण, प्रियाऽप्रिय, शत्रुमित्र, सुखदुःखादि (द्वन्द्वैः) जोडों से (विमुक्ताः) रहित (अमूढाः) मूढता से शून्य ज्ञानी पुरुष (तत्) उस (अव्ययम्) विकाररहित नित्यैकरस (पदम्) मुक्तिधाम को (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं। १५

वेदगीता (वेदमन्त्रः)

मर्मृजानास आयवो वृथा समुद्रमिंदवः ।
अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥

(ऋ. मंडल ९, सूक्त ६४ मंत्र १७)

अर्थ- (मर्मृजानासः) सुखदु.खरागद्वेषादि द्वंद्वों के परित्यागसे अपने आपको अत्यन्त शुद्ध करते हुए (इन्दवः) योगसमाधि से चन्द्रमा की तरह शांत स्वभाववाले (आयवः) मुमुक्षु मनुष्य यद्वा अध्यात्मविचार में गमन करनेवाले ज्ञानी मनुष्य (वृथा) समग्र मोहजाल मिथ्या ही है, ऐसे जानते हुए (ऋतस्य) चर, अचर, प्रपञ्च के (योनिम्) मूलकारण (समुद्रम्) सर्व प्रपञ्च के मुद्रण-

कारक परमात्मा को (आ + अश्नन्) चारों ओर प्राप्त होते हैं।

(तुलना) गीतामें मान, मोह, संगदोष, कामना, सुखदुःखादि द्वन्द्व का परित्याग, मुक्तिधाम की प्राप्ति का कारण बताया। वेदमें भी चित्तशुद्धि संसारवासनाको वृथा समझना परमात्मप्राप्ति का साधन बताया है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥१६॥
(अष्टादशश्लोकी गीता षोडशः श्लोकः; भ. गीता १६।२३)

अर्थ-(यः) जो पुरुष (शास्त्रविधिम्) शास्त्रों की विधिनिषेध को छोडकर (कामकारतः) अपनी इच्छा से (वर्तते) काम करता है। (सः) वह स्वेच्छाचारी पुरुष (सिद्धिम्) अपने अभीष्ट कार्य की समाप्ति को (न अवाप्नोति) नहीं पाता। (न सुखम्) न इस संसार में सुख को पाता है और (न परां गतिम्) न ही मोक्ष को पाता है ॥१६॥

वेदगीता (वेदमंत्रः)

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः। प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥१६॥

(ऋ. मंड. ७, सू. १०४, मं. ११)
(अथ. कां. ८, सू. ४, मं. ११)

अर्थ- (देवाः) हे मुमुक्षु विद्वानो ! (यः) स्वेच्छाचारी पुरुष (नः) मुझ परमात्मा की कही हुई वेदप्रोक्त मर्यादा को (दिवा नक्तम्) दिनरात (दिप्सति) नाश करता है, (दो अब खंडने से) अर्थात् वेदमर्यादा को नहीं मानता। (सः) वहः स्वेच्छाचारी पुरुष (तना) विस्तृत (तन्वा) शरीर के साथ (परः अस्तु) दूर हो जाता है, अर्थात् शरीरान्तर को ग्रहण करता हुआ, जन्ममरण के दुःख को भोगता है। (सः एव) वही स्वेच्छाचारी पुरुष (विश्वाः तिस्रः पृथिवी) समग्र तीनों लोकों से (अधः अस्तु) नीचे पतित होता है, अर्थात् नीच योनियोंमें जन्म लेता है। (अस्य) इस स्वेच्छाचारी पुरुष का (यशः) अन्न, कीर्ति, सिद्धि (प्रतिशुष्यतु) नाश हो जाती है।

(तुलना) गीता में वेदविधि का त्याग कर के स्वेच्छाचारी होना दुःख और पुनर्जन्म का कारण बताया है। वेद में भी वेदमर्यादा का परित्याग कर के स्वेच्छाचारी होकर केवल स्वशरीरपुष्टि में लगा रहने से पुनर्जन्म और नरक की प्राप्ति बतलाई है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१७॥
(अष्टादशश्लोकी गीता सप्तदशः श्लोकः; भ. गीता १७-१६)

अर्थ- (मनःप्रसादः) मन की प्रसन्नता, अर्थात् स्थिरचित्तता (सौम्यत्वम्) सब का हितकर्तृत्व अथवा वक्रता से रहित होना, मौनम्) सांसरिक विचारों में ध्यान न देना और एकाग्रवृत्ति से भगवच्चिन्तन (आत्मविनिग्रहः) निर्विकल्प समाधि से बाह्य विषयों से मन को रोकना, (भावसंशुद्धिः) अन्तःकरण से रागद्वेषादिकों का असंपर्क अथवा व्यवहाराऽवस्था कपट न करना (इति एतत्) इतनी बातों का रखना (मानसम् तपः) मानसिक तप (उच्यते) कहा गया है।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः।

(अथ. कां. ७, अनु. ६, सू. ६३, मं. २)

अर्थ- (अग्ने !) हे परमात्मन् ! (वयम्) मानसिक तपस्वी हम लोग (तपः) मन की प्रसन्नतारूपी तप, शान्तिदायक तप, मौनात्मक तप को यथानियम (तप्यामहे) आचरण करें। और (उप तप्यामहे) आप के चरणों की प्राप्ति के लिये भावशुद्ध्यात्मक तप का आचरण करें। उस मानसिक तप के प्रभाव से हम (श्रुतानि) वेदादि सच्छास्त्रों को अच्छी तरह (शृण्वन्तः) सुनते हुए और मन से मनन करते हुए (आयुष्मन्तः) दीर्घ काल तक जीनेवाले (सुमेधसः) अच्छी बुद्धि और ज्ञानवाले (भूयास्म इति शेष) होवें।

(तुलना) गीतामें मनकी शान्ति, सौम्य गुण रखना, बाह्य विषयों से मौनता, मन की बाह्य वृत्तियों को अपने वशमें रखना, मानसिक विचारोंको शुद्ध रखना मानसिक तप कहा है। वेद में भी वेदशास्त्रों को अच्छी रीति से सुनकर और मनन करके मनःप्रसति रखना मानसिक तप कहा है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः १८

(अष्टादशश्लोकी गीता अष्टदश. श्लोकः भग. १८।६६)

अर्थ- श्रद्धा और भक्ति से किए हुए वेदशास्त्र के कर्मों के करने से नष्ट हुए हुए पापोंवाला तू (सर्वधर्मान्) निष्प्रयोजन, असद्विषयवाले, मुक्ति के प्रतिबन्धक सब सकाम धर्मों को (परित्यज्य) छोड कर (माम्) शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप मुझ (एकम्) अद्वितीय, मुख्य परब्रह्म की (शरणम्) आश्रय को (व्रज) प्राप्त हो। (अहम्) मैं परमात्मा ही (त्वा) तुझ जीवात्माको (सर्वपापेभ्यः) जरा, जन्म और मृत्यु के कारणरूप पापों से (मोक्षयिष्यामि) छुडा दूंगा। (मा शुचः) इसलिए तू किसी बात का शोक मत कर।

वेदगीता (वेदमंत्रः)

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ८

(अथर्व. कां. ५, अनु. ६, सू. ३०, म० ८)

अर्थ- हे मुमुक्षु जीवात्मन्! (अहम्) मै परमात्मा (निरवोचम्) विशेषतया कहता हूं। (तव) तेरे (अङ्गेभ्यः) समग्र देह से (यक्ष्मम्) सांसारिक लोगों से प्राप्त जन्ममरणादि के कारणस्वरूप चिन्तारोग (अङ्गज्वरम्) देहजनित पापज्वर को (अपाकरोमीति शेष.) दूर करता हूं। मेरी शरण में आया हुआ तू जीवात्मा (न मरिष्यसि) फिर फिर मृत्यु नहीं होगा, किन्तु मुक्त हो जायगा। इस लिए (मा बिभेः) मेरा जन्म होगा, मेरी मृत्यु होगी, ऐसे भय को मत कर। मैं (त्वा) तुझ जीवात्मा को (जरदष्टिम्) जरासे हीन अर्थात् मुक्त (कृणोमि) करता हूं।

(तुलना) गीता में सकाम कर्मों का त्याग, भगवच्छरणप्राप्ति ही मुक्ति का साधन बताया है। वेद में भी शरण में पडे हुए जीवात्मा का मृत्यु से निडर होना मुक्ति का साधन बताया है।

(अष्टादशश्लोकी गीता का फलप्राप्तिसूचक अन्तिम श्लोक)

गीतासारमिदं पुण्यं यः पठेत्सुसमाहितः।
विष्णुलोकमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥ १९॥

अर्थ- (यः) जो मुमुक्षु पुरुष (सुसमाहित) अच्छी तरह सावधान मन होकर (इदम्) इस (पुण्यम्) पवित्र (गीतासारम्) भगवद्गीता के सार को (पठेत्) पढे। वह पुरुष (भयशोकादिवर्जितः) सांसारिक तथा पुत्रादि की मृत्यु के शोक से रहित हुआ हुआ (विष्णुलोकम्) विष्णुलोक अर्थात् मुक्ति को (अवाप्नोति) प्राप्त होता है

भक्त के भगवान् ।

[भाग दूसरा]

(२)

[ले०– श्री० हलियाराम कश्यप, एम्. एस्सी., लाहौर]

इस लेख में वे जन्मजन्मान्तर के विषय के भाव जो मेरे मस्तिष्क में प्रायः हर समय ही उथलपुथल करते रहते हैं, लेखबद्ध करने का यत्न करता हूँ। चाहे पाठक इसे मेरे भ्रम ही समझ लें, चाहे मेरी थ्यूरी, चाहे वास्तविक ज्ञान। इस विषय में पाठक पूरे स्वतन्त्र हैं, और नहीं तो आजकल प्रचलित उपन्यास आदिवत् वे रोचक तो होंगे ही। अस्तु।

जिन स्वामी जगन्नाथ का वर्णन पुस्तक में पहिले हो चुका है, उन के प्रभाव में जब मैं था, उस समय विचित्र शक्तियां मुझ में दृष्टिगोचर हुईं; न जाने वे मेरी थीं, वा उनकी वा ईश्वरीय अथवा केवल मेरा भ्रम।

जब मेरे मंझले भाईसाहिब बीमार थे, तो वे विचित्र शक्तियां विविध प्रकार प्रकट थीं। इन का उल्लेख पहले इसलिये नहीं किया गया कि, परिणाम इन का सफलता में नहीं हुआ। लाख यत्न किया, भाईसाहिब को बचाया तो न जा सका। अब लिखता हूं इसलिये कि, मौत तो सब की होनी ही है। विज्ञान को इन घटनाओं से वंचित क्यों किया जाय? सम्भव है, किसी उस पथ की गामी आत्मा की उन्नति का मार्ग इन उदाहरणों ही से सुगम तथा रोचक बन जाय, तथा उस की कठिनाई तथा शुष्कता वा रूखापन कुछ कम हो जाय।

१. भाईसाहिब को अन्तिम दो अढ़ाई मास में नींद आने में बड़ी मुश्किल लगती थी, कारण कि सोने लगते ही बहुत घबराहट होती, जिस से डर कर सोना असम्भसा हो जाता। सोने लगते ही पता नहीं, कैसा भयानक स्वप्न आता कि, उलटपुलट ऊंचे ऊंचे बोलना आरम्भ कर देते और जाग आ जाती।

ऐसी दशा में यह हुआ कि, मैं उन के पास चला जाता, उनके श्वासके साथ अपना श्वास मिलाता, अर्थात् दोनों श्वास एक समान ही दीर्घ Regular, In tune, हो जाते, वह तुरन्त सो जाते, अर्थात् इस से उन को वैसा ही आश्रय मिल जाता, जैसा कि मेरे उन के साथ लेटने से मिलता था स्यात् उस से भी अधिक। कभी कभी तो ऐसा हुआ कि, उसी कमरे में बैठे बड़े भाईसाहिब को भी उसी समय नींद आ गयी।

पहली बार यह ज्ञात हो जाने पर कि, भाईसाहिब को इस अमल से चैन मिलती है, फिर तो प्रायः प्रति दिन ही उन को यह सुख दिया जाता रहा। पर शोक कि, वह विद्या मृत्यु से उन्हें बचा नहीं सकी।

२. अब हालत ज्यादह खराब हो गई, तो एक दिन उन की नाड़ी मुझे मद्धम मालूम दी। मैं आकर अपने आंगन में लकड़ी की कुरसी पर पाओं भूमिपर बिना लगाए बैठ गया, सूर्य की धूप में। अपने विचार में मैं सूर्य की शक्ति भाईसाहिब को पहुंचानेके लिये माध्यम(Medium) बन कर बैठा। थोड़ी देर बैठकर जा कर फिर भाईसाहिब को देखा, तो हालत बहुत आगे से अच्छी हो चुकी पाई।

३. भाईसाहिब ५, ७ दिन पीछे बहुत कष्टमें आ जाते थे। उस समय मैं झट स्वामिजी के पास जाकर सहायता मांगता और आकर सदैव उन्नति देखता। यहां तक कि, ५।७ दिन में ऐसे हो जाते कि, आशा बंध जाती कि, अब दोएक दिन में चलने, फिरने लग जायेंगे। पर हमारा भाग्योदय तो न होना था, अतः फिर बिगड़ते और पांच-सात दिन में फिर हालत खराब हो जाती। मैं फिर जाकर स्वामिजी की सहायता लेता और फिर आशा बंधती, परन्तु अन्तिम बार मृत्यु से ४ दिन पहले स्वामिजी से सहायता प्राप्त करने में सफल न हो सका। अब की हालत बिगड़ी, फिर किसी तरह न बनाई जा सकी और भाईसाहिब बचाए न जा सके।

४. भाईसाहिब का आत्मिक सम्बन्ध मुझ से ऐसा जुड़ा हुआ था कि, एक दिन उनकी हालत अधिक खराब होने से उन्हें खाना किसी प्रकार न खिलाया जा सका, तब मैंने कुछ खुद खा लिया, फिर वह भी कुछ खाही सके। ऐसे ही एक बार मैंने दूसरे कमरे में बैठ स्वामिजी को कुछ खिला दिया, तब भी आकर भाईसाहिब को कुछ खिलाने में सफल हो गया।

५. इसी प्रकार एक दिन दुर्बलतावश ही उन को शौच न आया, हालत नाजुक थी। मैं अपने घर आकर तुरन्त शौच हो आया, वापिस जाकर देखा तो भाईसाहिब को भी शौच की हालत हो गई।

६. ऐसा प्रतीत होता था कि, वास्तव में उनकी आत्मा तो प्रायः उन के देह से असम्बद्धसी ही थी और उनके देह से छूटता न था, वह मेरी आत्मा से सम्बद्ध होने से नहीं छूटता था। इस का प्रमाण (proof) सब से बड़ा यह है कि, जो डाक्टर कलकत्ता से मंगवाए गये थे, जब उनकी तार पहुंची कि मैं बुधवार सुबह पहुंच रहा हूं, तो यह समाचार पाकर जो उनको Thrill पैदा हुई, उन के दिलमें खुशी की तीव्रतम बिजली की लहर पैदा हुई, वह उनके दिलसे निकल मेरे दिलसे ही पूरी तेजी से पार हुई। वह इतनी असह्य थी कि मैं अपना समस्त आत्मबल, योगबल आदि प्रयुक्त कर उसे अत्यन्त कठिनाईसे ही कहीं संभल सका और ऐसा अनुभव हुआ कि एक क्षण दिलको बचानेके लिए शायद दोनों ही दिल समाप्त हो जायं। पर मैंने प्रेमका धन्यवाद किया कि यह Thrill उनके दिल को बिना ही प्रभावित किए, समग्र ही मेरे दिल को ही प्रभावित कर पाई और मैं उस समय उन का खुशी से ही Heart Fail हो जाना रोकने में तो कामयाब हो ही गया।

बस फिर तो उस समय से लेकर घंटे गिन गिन कर हम दोनोंने निकाले, जबतक कि डाक्टरसाहिब पहुंच गए।

७. परन्तु डाक्टर को उन का Charge देने तक गत १-१½ मासमें मैं इतना थक चुका था कि, मेरे लिए आगे भाईसाहिब को वह Support देना असम्भव हो गया, अतः जब डाक्टरने Charge लिया, तो Heart miss करता था, क्योंकि अब मेरी आत्मा उनको अपने आप पर छोड़नेपर बाधित हो चुकी थी और अब मुझे निश्चय था कि, ऐसा हितैषी योग्य डाक्टर ही अब इनको बचा सके तो सके, मेरी देह अब मेरी आत्माका साथ उनकी सहायता में नहीं दे सकती। यह मृत्यु से कोई १० दिन पहले की बातें हैं।

८. मृत्युवाले दिन एक अच्छे पतंग के साथ एक फटी पतंग उड़ते देख, मुझे धीरज बन्धा कि, इसी प्रकार एक है आत्मारूपी डोर, मेरी देहरूपी अच्छी पतंग तथा भाई-साहिब रुग्ण देहरूपी फटी पतंग दोनोंको उड़ा ले जा सकती, अर्थात् जीवित रख सकती है।

परन्तु शीघ्र ही वह फटी पतंग अलहदा हो गई, तब केवल अच्छी पतंग अकेली ही पीछे उड़ती रही, इस से मेरा हौसला एकदम टूट गया कि, अब मुझे कैसे आशा रह सकती है? उसी रात को भाईसाहिब हम सब को रोता धोता छोड़कर चल दिये।

९. वह बहुधा कहा करते कि स्वामिजीको मिला दो, अर्थात् स्वामी सत्यानन्दजी से मिलने की उनकी बहुत उत्कण्ठा थी। मैं उनसे पूछता कि फिर आप राजी हो जायंगे। वह उत्तर देते नहीं। वैसे ही उनको मिल तो लेते। उनका परस्पर घनिष्ठ प्रेम था। मैंने समझा कि ये उनके दर्शन कर मर जाना चाहते हैं, अतः मेरा विचार हुआ कि यह उनको न मिलें, तो स्यात् अच्छे ही हो जाय, पर भगवान् जो चाहें, सो करें, हम उसके विरुद्ध कर सकनेवाले कौन?

एक दिन पता लगा कि स्वामिजी लाहौर में हैं। अपने पुत्र से ही टैलीफोन करवा कर उनको बुलवा भेजा, वह आ गए। खूब प्रेमसे मिले, जब वह चले गए, तो पूछने लगे, 'स्वामिजी गए?' स्त्रियोंने कहा "हां गए।" आप बोले "नां असीं बी गए" अर्थात् हम भी गए। तुरन्त नाड़ी, श्वास सब बन्द हो गया।

इतने में स्वामिजी को मोटर में चढ़ा हम लौटे और जैसे तैसे फिर उन की नाड़ी, श्वास सब लौटा, पर उन्होंने बहुत बुरा मनाया।

ऐसे ही कई बार उन का प्रयाण रोका गया, अतः मुझे वह बहुत धिक्कारते थे कि, यह निजी स्वार्थवश मुझे जाने नहीं देता।

कई बार उनको यही धारणा हुई कि, यह मुझ को जाने

नहीं देता, पर इनसे क्या न मैं, न कोई, न स्वामी, न डाक्टर, कोई भी उन को वास्तव में बचा न सका। हा शोक!

१०. मरनेसे कोई १०, ११ दिन पहिले भाईसाहिब बोले कि, 'किसीने मेरा पेट फाडकर लगभग एक सहस्र रुपया निकाल लिया।' वास्तव में तत्पश्चात् लगभग इतना रुपया उनकी बीमारी पर आर खरच आ गया, तथा उनको सख्त तकलीफ जुदा उस इलाज में मिली।

११. यह तो वह बार बार कहते ही थे कि, ' मैं बच किसी तरह नहीं सकता ' और हुआ भी वही।

(२)

अब पुनर्जन्मविषयक अपनी भावनाएँ प्रकट करता हूं।

२८ फर्वरी को भाईसाहिब इस लोक से गए, १३ नवम्बर को उन का पौत्र इस लोक में आया, अर्थात् उनके सुपुत्र के घर सुपुत्र-रत्न का जन्म हुआ। परमात्मा उसे दीर्घायु करे।

मेरा विचार है कि भाईसाहिब का ही पुनर्जन्म इस स्वकीय पौत्र के रूपमें हुआ है। कारण इनके कई हैं-

(१) अपनी स्नुषाकी सेवाशुश्रूषासे सुतृप्त हो, उसे आपने आशीर्वाद दिया- " रानी! तेरी सदा ईजय " (अर्थात् तुम्हारी सदा ही जय हो)।

(२) दूसरे अपनी धर्मपत्नी के विषय में कहा- ' आगे एह मेरी बहुनी हुन मां ऐ ' [अर्थात् आगे ये मेरी धर्मपत्नी थीं, अब माता हैं।] वास्तव में अब वह दादी है और काका उन्हें माताजी ही कहता है।

(३) तीसरे यह कहनेपर कि अभी आपने अपना पौत्र नहीं देखा, वे बोले, 'इस को आई को साल हो गया अगर मैंने देखना होता, अब तक हो न जाता।'

भाई साहिबके पीछे मैं सख्त बीमार हुआ, मगर किसी न किसी तरह बच गया, फिर पूज्य पिताजी बीमार हुए, कई मास बीमार रहे। मेरे बहनोईजीने मुझ से पूछा कि 'पिताजीने तो किसी को कष्ट दिया नहीं। वह क्यों इतने कालसे कष्ट उठा रहे हैं?' मैंने उत्तर दिया, 'आप को क्या पता सम्भव है? गर्भवास का समय बिता रहे हों, वहां से तो यह कष्ट कम ही है।' ११ मई को पिताजी पूरे हुए, जुलाई में उन का प्रपौत्र उत्पन्न हुआ। मेरा विचार है कि पिताजी ही स्वयं अपने प्रपौत्र के रूप में पुनर्जन्म धार आए हैं।

अपने पुत्र केशवचन्द्र के विषय में पहिले ही लिख चुका हूं कि, अब वह मेरी छोटी परन्तु बडी साली का पुत्र है।

पुनर्जन्म के इन तीन उदाहरणों में पाठक चाहे भ्रम करें, परन्तु मुझे इतना विश्वास है कि, मुझे अपने पिता, भ्राता तथा पुत्र के मरने का दुःख बहुत ही कम रह गया। इन बच्चों से ही आत्मा तृप्त रहती है कि, वे प्रिय बन्धु इन नवीन चोलों में यहीं पर विद्यमान हैं, अतः शोक काहेका?

इसी प्रकार अपनी लडकियों के विषय में मेरा विचार है कि, सब से बडी मेरी छोटी बुआ, तीसरी छोटी मेरी माता, और सब से छोटी मेरी ताईजी का अवतार है।

इनके प्रमाण देने की यहां विशेष आवश्यकता नहीं, क्योंकि ऐसे अप्रत्यक्ष विषयों में स्वल्प ही प्रमाण मिलने सम्भव हैं, जो मेरे लिये तो Decisive हैं, पाठकों की सम्मति में बहुत तुच्छ ही जंचेंगे, यथा—

[१] पिताजी मेरी ओर आकृष्ट थे। अब वह प्रपौत्र अपने घरवालों के लाख हटाने पर भी हमारे हां चला आता है, आकर किवाड को कुण्डी लगा लेता है अगर फिर भी कोई लेने आ ही जाय, तो पलंग के नीचे जा छिपता है इत्यादि।

[२] बडी लडकी का स्वभाव बुआ जैसा सख्त है, जन्म उसी साल का प्रतीत होता है, जब बुआ पूरी हुई थीं।

[३] छोटी लडकी पर लसन अर्थात् रंगबिरंगे निशान इतने हैं, कि जिस से वह घटना याद आती है कि, मृत्यु के पूर्व ताईजी की देह पर बहुत निशान खून के पड गये थे। मृत्यु से कुछ घण्टे पूर्व ताईजी ने नीम बेहोशीमें मुझे उन्हें रख लेने, बचा लेने के लिये पुकारा भी था।

बुआजी भी यद्यपि मरीं, तो अपने हाथों पर कुछ दिन पूर्व मेरे पास लुध्याने इलाज के लिये आयी थीं, परन्तु फिर वापिस चली गयी थीं।

पूज्य तायाजी के विषय में मुझे बडा अचम्भा है। हमारे भाईसाहिब के दूसरा प्रपौत्र हुआ। मेरा पहिले ख्याल था तायाजी पूरे हो जायंगे और यह अवतार उन

का होगा, पर यह लड़का पैदा हो गया और उन की मृत्यु की सूचना कोई न आयी। पाठक हैरान होंगे कि ३, ४ दिन पीछे ताऊजी पूरे हो गये। मृत्युसे पूर्व ३, ४ दिन रोज़ कई घंटे बुखार बढ़ कर बेहोश से रहते रहे।

मुझे तो निश्चय है कि यह बच्चा उन्हीं का अवतार है, पर साथ ही यह पहेली भी है कि, वह पहिले जीर्ण वस्त्र उतारे बिनाही कैसे नवीन देहमें नवजात शिशु बन गये?

इससे तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि, पूर्ण योगी यह देह छोड़ कर किसी दूसरी युवा जो अभी मरा हो, उस की देह को अपनी बना उस में आ सकता होगा और वास्तव में वेदोक्त ज्योक्-जीवन यही होगा कि बिना गर्भनरकनिवास, बिना बचपन की कठिनाईयां सहारे, सीधा ही दूसरे, तीसरे, चौथा युवा देहों को ही धारते जाना जब तक मुक्ति न हो।

हमारे बड़े भाईसाहिब की सास बहुत बीमार रहीं। मैंने एक दिन उन को निवेदन किया कि, यदि आप और छोटी पुत्रवधू परस्पर प्रेम में बन्ध जावें, तो दोनों का कल्याण हो। इस से दोनों में प्रेम उमड पड़ा। माताजी ने कुछ काल पीछे शरीर छोड़ दिया। उनकी उस पुत्रवधू के बच्चे आगे बचते न थे। अब उन के पुत्रीने जन्म लिया।

मेरे विचार में दादी ही पोती बन आई है। स्वभाव लड़की का दादी पर बहुत ही है।

मरने से कुछ पहिल माता को अपने पतिदेव की स्मरण हो आई।

इधर पुत्रवधू ने पुत्री के लगभग दो वर्ष पीछे पुत्ररत्न को जन्म दिया।

मेरे विचार में यह लाल अपना बाबा ही पौत्ररूपमें अवतार धार कर आया है।

अब मंझले भाईसाहिब के एक और पौत्र हुआ है, जो मेरे ख्याल में हमारे दूसरे बाबाजी के एक पोता हमारे भाई का अवतार है, क्योंकि यह बड़ा तपस्वी भ्रातृ-भक्त था।

इस लेख से पाठकों को यह लाभ ही सकता है, वे भी अपने घरों में विचार कर हिसाब लगावें और अपने मृत बन्धुओं को अपने नवजात शिशुओंके रूपमें अवतरित हुआ पहिचान मृतकों के लिये शोक करना त्याग सुखी होवें। यदि एक भी पाठक इस प्रकार सुखी हो गया, तो मेरा यह लेख सफल हो चुका होगा।

(३)

अब पाठकों के दिल में यह रुचि उत्पन्न हुई होगी कि, हमें भी यह विद्या आ जाए, तो हमें आनन्द हो। इस वास्ते यहां वह मोटे मोटे नियम लिखता हूं, जिन के कारण यह ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। हमारे पंजाब में लोकोक्तियां हैं-

[१] लैहने देने दे सम्बन्ध हन।

अर्थात् लेने देने के सम्बन्ध हैं।

[२] अन्त मता सोई गता।

अर्थात् अन्तिम भावना के अनुसार ही जीव की गति होती है।

इन दोनों की सहायता के लिये गीता का-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।

यह श्लोक पहुंच जाता है कि, जैसे कोई व्यक्ति पुराने फटे कपड़े उतार नये दूसरे पहिन लेता है, वैसे ही देही आत्मा पुराने बुड्ढे रुग्ण शरीर त्याग कर दूसरे सुन्दर शिशु, आदि के नवीन शरीर को प्राप्त हो जाता है।

ऐसे ही कठोपनिषद् में कहा है कि, अपने कर्मों तथा ज्ञान के अनुकूल जीव स्थावर, जंगम योनियों को प्राप्त होते हैं। दशोपनिषद् में से एक बृहत् प्रामाणिक उपनिषद् में कहा है कि, तृणजलौका की न्यायीं, जो पिछले भाग एक घास के तिनके से तब उठाती है, जब अगले भाग नवीन घास के तिनके पर टिका चुके, यह जीव भी पिछला शरीर तब छोड़ता है, जब किसी नये शरीर का प्रबन्ध हो चुके।

इन सब के परिणामों की सत्यता जांचने के लिये योगसूत्र 'संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्' अर्थात् किसीके मन में कैसे पुराने संस्कार जमे हुए हैं, जिन के अनुसार वह यहां जीवन बिता रहा है, इस की विवेचना करने से, पता चल जाता है कि, यह पिछले जन्म में कौन था।

कुछ कुछ रुचि तो मेरी इस ओर पहिले थी, परन्तु जब स्वामी जगन्नाथसे मेरा सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ, तो यह विचार हुआ कि, कहीं हमारा पिछले जन्म का सम्बन्ध ही न हो, फिर उन्होंने बतलाया कि, हर जीव मृत्यु से १०,९ मास पीछे ही नहीं जन्मता, वरंच जब प्रसवपीडा आरम्भ होती है, कई तो उसी समय आते हैं और कैद हो कर छूटने के लिये फडफडाते हैं, उस समय स्त्री को पीडा हो जाती है और बच्चा पैदा हो जाता है। हां, वैसे गर्भ में जो देह बन रहा होता है, आत्मा उस पर दृष्टि अवश्य रखती है कि, यह मेरा शरीर बन रहा है ।

इस थ्यूरीको सुननेसे पूर्व मेरे विचार थे कि, यद्यपि कोई पुस्तक कहती है कि, चौथे मास जीव गर्भ में प्रविष्ट होता है, कोई कहती है, सातवें, परन्तु Biology विज्ञानानुसार तो संभोगसमय ही या स्त्री के अण्डे तथा पुरुष के वीर्य-कीटाणु (Ovum + Sperm) के परस्पर मिल कर एक हो जानेसे पूर्व अवश्य जीव को गर्भ में आ जाना चाहिये। कभी ख्याल आता था कि, स्यात् जन्मसमय ही आता हो, पर यह ठीक नहीं जंचता था।

परन्तु जब से यह नवीन तथ्य पता लगा, तबसे बहुत आसानी हो गई ।

हमारे एक Cousin तायाजी के लडकेने कहीं सुना कि, एक ब्राह्मण मरते समय बतला गया कि, पंद्रह दिन पीछे अमुक घर में जन्म लूंगा। पंद्रह दिन पर वहां उसी घर में लडका पैदा हुआ। यह बात उन भाईसाहिबने मुझे सुनाई, परन्तु इस को मैं Explain न कर सका, क्योंकि तब मैं इस नवीन तथ्य से अपरिचित था।

स्वामिजीने यह पहले बताया था कि, भाई साहिब की सास अपनी पुत्रवधू [छोटी] के घर जन्म लेंगी और हमारे मंझले भाईसाहिब को स्वभावतः अपने पुत्र तथा पुत्रवधू ही अधिक नजदीकी हैं ।

उपरोक्त शेष पुनर्जन्मविषयक धारणाएं मैंने स्वयं की हुई हैं ।

[१] लेनेदेने के सम्बन्ध का दृष्टान्त तो भाईसाहिब हैं, जो अपनी समस्त जीवन की कमाई अपने घरके लोगों के लिये ही छोड गये, अतः वहीं जन्म आ लिया।

पूज्य पिताजीने भाईसाहिब को बनाया; परन्तु स्वयं आयुभर गरीबी ही काटी, अतः अब कैसे वहां न आते? मृत्यु से छः आठ मास पूर्व ही मैंने इन्हें उधर भेज दिया था।

पूज्य तायाजी वा पिताजी दोनों की सांझी कमाई से हम छः भाई पले थे, जब हमारी कमाई तायाजी खा नहीं सके, तो उन का अब भाईसाहिब के यहां जन्म लेना स्वाभाविक ही था।

ये दोनों ही महानुभाव बीमारी में कहते थे कि, यहां इतना कष्ट भोग रहे हैं, कभी के कहीं शिशु बन जाते, तो अच्छा था। तायाजी कहते थे कि, मुक्ति के योग्य तो मेरे कर्म नहीं।

[२] 'अन्त मता सोई गता का' उदाहरण भाईसाहिब जो धर्मपत्नी को अब माँ बन चुकी बताते था, तथा ताईजी जो " हाय रुलिया रख है " हाय! रुलिया राम! मुझे बचा ले कहती थीं, ये दोनों हैं।

[३] भाईसाहिब का नवीन देह अभी बनना आरम्भ हुआ ही होगा कि, उन्होंने पुराना जामा उतार फैंका, तायाजी का नया सूट न केवल सिल ही चुका वरंच संसार में प्रकट भी जन्म लेकर हो गया, इन्होंने अपने फटे पुराने चिथडे तब उतारे।

ये पुराने फटे चिथडे उतार, रोगी या बुड्ढा शरीर त्याग नया, सुन्दर शिशु-शरीररूपी नया सूट पहिन लेनेके उदाहरण हैं।

[४] अब भी पूज्य पिताजी तथा उनके प्रपौत्र का बार बार हमारे घर, अपने घरवालों के विरुद्ध होकर भी आना, तथा भाईसाहिब की सास तथा इस की पोती दोनों का स्वभाव समान होना, संस्कारसमानता से पूर्वजातिज्ञान होने के उदाहरण हैं।

[५] जन्म से ठीक पहले आत्मा नवीन देह में प्रविष्ट होने लगती है, इस का उदाहरण तायाजी; सातवें महीने प्रविष्ट होती है, इसका पिताजी; गर्भ रहते ही या उसके लगभग प्रविष्ट होती है, इस का उदाहरण भाई-साहिब हैं।

इस प्रकार ऊपर जो ज्ञान दिया गया है, आशा है उस से पाठकों को मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, यह विषय कुछ कुछ ज्ञात हो जायगा। और वह भी मेरी तरह अनु-मान लगाने लग जायगा, यथा—

मेरे बहिनोईका भाला गुजरा, उसकी क्रिया के पीछे मैंने उनको कहा रात को कि देखिए यदि इनके लड़का हो (क्योंकि उन की धर्मपत्नी पूरे दिनों की गर्भवती थीं) तो मानना होगा कि वह स्वयं आप का वही भ्राताजी ही होंगे, इसलिये जो सेवा उसकी आप भाई के रूप में नहीं कर सके, वह अब आप दिल खोलकर कर लेना यह सुनहरी मौका है।

५, ७ दिनमें ही लड़का पैदा हो गया और बहिनोईजी विस्मय तथा आनन्द से द्रवित हो गये।

आशा है, पाठक भी इसी प्रकार अनुमान लगा सका करेंगे। परमात्मा जन्मजन्मांतरभेद खोल कर सब को अपना भक्त बना सुखी करे।

(४)

उपरोक्त पुनर्जन्मविषयक उदाहरणों से मेरे मन में ऐसा विचार उदय होता है कि, साधारण सद्‌गृहस्थ सज्जन तो न केवल फिर मानवजन्म ही पाते हैं, वरंच भाते भी हैं, लौट कर अपने ही प्रिय कुटुम्बियों में। उस में ऐसी व्यवस्था है कि, जो जो कोई युवा ही अपनी नवविवाहित प्रिया को बिलखता छोड़ जाता है, वह तो कभी कभी निज पुत्र के रूप में जन्म पाता है, जैसे स्यात् वीर अभिमन्यु स्वयं ही महाराज परीक्षित के रूप में अवतरित हुए हों, या जैसे हमारे तायाजी के एक दामाद स्वयं ही पुत्ररूप में परिणत हो गये हों, परन्तु शोक कि, आगे वंश न चला, वह हमारा भानजा हमारी अतीव सेवा कर के चल बसा और स्वयं भी निज पुत्र न बना।

जिन का पुत्र युवा हो, वह निज पौत्र बनते हैं, यथा हमारे प्राणप्रिय भ्राताजी।

जिन का पौत्र युवा हो, वह निज प्रपौत्र बनते हैं, यथा हमारे पूज्य पिताजी।

जिन की पुत्रवधू प्रौढ होने से अब गर्भधारण असमर्थ हो, तथा पौत्र अभी अविवाहित हो और भतीजों को जिनने पुत्रसमान पाला‌पोसा है, ऐसे चचा, ताया आदिक निज भतीजों वा उन के पुत्रों के पुत्र बन जाते हैं, यथा हमारे पूज्य तायाजी।

जिस किसी तपस्वी का निज पुत्र न हो, परन्तु वह अपने दूसरे बाबे के पुत्रों को भी भाईयों की तरह प्रेम करता रहा हो, वह अपने प्रेमपात्र भ्राता का पौत्र आदि भी बन सकता है। यथा हमारे दूसरे दादे का पौत्रजी अब हमारे भतीजे का छोटा पुत्र बना है।

जहां अद्वितीय पतिपत्नी-प्रेम हो और एक दोनों में से मर जाय, तो वह मुद्दत तक जन्म धारण नहीं करता, जब उस का जीवित साथी प्रयाण करता है, इस के पीछे वही दोनों ही लगभग एक ही समय पास पास जन्म लेते हैं, यथा हमारी माताजी कोई १३ वर्ष पिताजी से पूर्व प्रयाण कर गयी थीं, पर पुनर्जन्म में दोनों की कुछ दिनों की ही छोटाई बड़ाई है। माताजी मेरी पुत्री हैं और पिताजी भाईसाहिब के प्रपौत्र। इसी प्रकार ताईजी तायाजी से लगभग दसबारह वर्ष पूर्व प्रयाण कर गयीं थीं, पर पुनर्जन्म में दोनों की कुछ दिनों की ही छोटाई बड़ाई है और ताईजी मेरी पुत्री हैं, तायाजी भाईसाहिब के प्रपौत्र।

इसी तरह भाईसाहिब की सास उन के ससुर से कोई २० वर्ष पीछे प्रयाण कर गयीं, परन्तु पुनर्जन्म में वे सगे बहिन-भाई हैं, आयु का अन्तर दोतीन वर्ष है।

इस से यह भी पता चलता है कि, जो पुनर्विवाह नहीं करते, वह पति वा पत्नीलोक को प्राप्त रहते हैं, अर्थात् मृत बन्धु जीवित साथी से सम्बद्ध रहता है, जब पुनर्विवाह हो जाय, तो यदि मृत का अनादर वहां न हो, तो वह पुत्र वा पुत्रीरूप में जन्म धार लेता है और वहां सौभाग्योदय होता है, यथा हमारी पहिली देवी-स्वरूपा भौजाई अब हमारी भतीजी हैं और भाईसाहिबका वा उस भतीजी का दोनों का भाग्य खूब उदय है। परन्तु यदि उस मृत का आदर उसकी स्थानापन्न नवागता न करे, तो वह मृत यदि जन्म ले, तो टिकती नहीं, यथा मेरी पिछली धर्मपत्नी हमारे यहां १३ मास १४ दिन पुत्ररूप में रह कर चलती बनीं, क्योंकि नये जन्मकी उसकी मासी तब बहुत रोयी, इस कारण वह जाकर उसी का सुपुत्र बन गयी।'

इस प्रकार सद्‌गृहस्थों के पुनर्जन्मविषयक नियम कुछ कुछ वर्णन किये जा सके हैं।

उपरोक्त वर्णन में यह और जोड़ देना आवश्यक है कि, मेरे तायाजी, पिताजी बहुत ओ३म् का जाप, गीता, उपनिषद् आदि का पाठ बारह वर्ष के लगभग करते रहे, भाईसाहिब बीमारी के अन्तिम दो मास में विशेष कर और

वैसे आयु भर ही प्रभु के भजन गाते रहें। मेरी स्त्रीने भी तपस्या बहुत की थी, सो सम्भव है इन्हीं कारणों से उत्तम मानवी देह फिर पाई हो, या स्यात् सभी सद्‌गृहस्थ ही निज कुटुम्ब में ही आया करते हों।

जो उपनिषद् में भ्रातृलोक, पितृलोक आदि वर्णित हैं, मेरे विचार में पतिव्रता की पतिलोकप्राप्ति यही है कि, जीवित पति से उस का सम्बन्ध न टूटे और पतिकी मृत्यु पर फिर दोनों का जन्म पास पास हो इत्यादि। यदि पति दूसरी शादी करे, तो पिछली पत्नी उसके घर जन्म ले ले।

मातृलोक वहीं है, जहां माता, तायी आदि हों, सो मेरा घर मातृलोक बना हुआ है। पितृलोक वह होता है, जहां ताया, पिता आदि हो। बडे भाईसाहिब के बडे लडके का घर आजकल वह बना हुआ है। भ्रातृलोक जहां भ्राता हों, वह मंझले भाईसाहिब के लडके का घर बन रहा है। इत्यादि।

हां, जो पुत्र, पिता, पितामह आदि पुनर्जन्म मानवीको प्राप्त न हों, उनका क्या बनता है? यह विवेचनीय विषय केवल अनुमेय ही है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होने असम्भवसे ही हैं। इसलिये यह विषय लिखना अभी असम्भवसा प्रतीत होता है, अतः फिर कभी इस विषय पर लेखनी उठाने का यत्न किया जायगा।

॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आदर्श राष्ट्र।

भूमिका।

(लेखक- श्री० पं० रामचन्द्रजी, पेन्शनर, अंबाला)

प्रिय पाठकवृन्द ! यह छोटासी लेखमाला आप की सेवा में भेंट की जाती है। इसके लिखने का प्रयोजन यह है कि, आजकल इतनी धर्मसंस्थायें, इतने धर्मपुस्तक, ऐसा धर्मप्रचार और धर्मान्दोलन होते हुए भी संसार में अशांति, बेचैनी, आपाधापी, मारधाड़, लूटखसोट मची हुई है, जिस से सभी मनुष्यों का जीवन दुःखमय हो रहा है। संसार में सुख के समान होते हुए भी दुःख ही भोगना पड़ रहा है। इस का कारण इन पंक्तियों के लेखक को यही प्रतीत होता है कि, लोग मुख से धर्म धर्म बहुत पुकारते हैं। धर्म के लेक्चर और व्याख्यान बहस मुबाहसे भी बहुत करते हैं, परन्तु अपने जीवन में धर्म का संचार नहीं करते। यही नहीं, बल्कि धर्म के असली तत्त्व को भी नहीं समझते।

धर्मका स्थान पंथपूजा, मतपूजा पार्टिपूजा ने ले लिया है। लोगों में पक्षपात इतना बढ़ गया है कि, उन की आँखें तत्त्व अर्थात् असलियत को देख ही नहीं सकतीं। स्वार्थवश लोग अपनेसे भिन्न दूसरे मनुष्यों को मनुष्य ही नहीं समझते। ऐसे ऐसे दोषों और अन्धपरम्परा से युक्त मनमुखी चाल की रोकथाम होनी चाहिये। यद्यपि यह कार्य अति महान् है और इस के वास्ते मुझ जैसे साधारण से भी साधारण मनुष्य सर्वदा असमर्थ हैं। तथापि श्री अ.द.णीय शेख × सादीजी के वचनों को ध्यानमें रखकर यह दास इस ऊंचे काम को भी करने के लिये उद्यत हुआ है। सम्भव है कि, मेरे इस साहस को पर्याप्त न समझ कर कोई अन्य सज्जन विद्वान् पुरुष इस की पूर्ति का बीड़ा उठावें।

हमारा ख्याल है कि, संसार में लोगों के जीवन में जो विषमता, जो लोलुपता, जो स्वार्थ, जो स्वात्मपरायणता (Self-aggrandisement,) जो निर्बल-दलनात्मकता (Exploitation of the weak), जो असहिष्णुता इत्यादि अनेक प्रकार के दोष आ गये हैं जिस से साधारण रूप से सब संसार में और विशेष रूप से योरुप देश में लोग 'त्राहि मां, त्राहि मां' पुकार रहे हैं. यह कभी दूर नहीं हो सकते, जब तक लोग पूर्णतया मनुष्यजीवन और उस के उद्देश्य को न समझेंगे और अपना व्यक्तिगत और जातिगत आचरण व्यष्टि और समष्टिरूप में न बनावेंगे। तब ही उन का जीवन स्वाभाविक अर्थात् प्राकृतिक (Natural) होगा और यह बात वर्णाश्रमधर्म को ही ठीक ठीक समझ कर उसको यथार्थ रूप में पालन करने से हो सकती है।

वर्णाश्रमपद्धति एक विचित्र प्रथा है। इस में मनुष्यों के स्वाभाविक गुण-कर्मों को ध्यान में रखकर उन के लिये भिन्न भिन्न अधिकार दिये गये हैं, जिस से कोई अनधिकार चेष्टा न करने पावे और न ही आपस में अनुचित मुकाबला (Unhealthy competition) करनेका भाव पैदा हो, जिस से मनुष्यों में स्वार्थता और स्पर्धा का भाव बढ़ता है। इस प्रथानुकूल प्रत्येक मनुष्य को साधारण रूप से यह ज्ञात हो जाता है कि, उसको समाज की मशीन में कौनसा पार्ट (खेल) खेलना है। उसी के अनुसार उसके मातापिता पालनपोषण करते थे, उसी के अनुसार उस की प्रारंभिक शिक्षा और पठनपाठन का सिलसिला शुरू होता था और उसी के अनुसार वह अपने आपको अपने जीवन

× अगर बीनम् कि नाबीना व चाहऽस्त।
बगर खामोश बिनशीनम् गुनाहऽस्त॥
यदि मैं एक अंधे को कूप की ओर जाता हुआ देखूं और चुपचाप बैठा रहूं, तो यह मेरे लिये पाप है।

संग्राम के लिये तैयार करता था । इस प्रकार यह प्रथा सामाजिक जगत् में परस्पर संघर्षण के भावको बहुत सीमा तक दूर कर के परस्पर प्रेमभाव को उत्पादन करती थी, जिस से मनुष्यों का सामाजिक जीवन बडे आराम से व्यतीत होता था । आज जो द्वेषभाव पूंजीपतियों और मजदूर लोगों में या किसानों और वणिजों में या इसी प्रकार दूसरे मनुष्यसमुदायों में देखने में आता है, इस का कहीं पता या निशान भी न था । सभी अपने आपको समाजरूपी मशीन के पुर्जे अर्थात् अंग समझ कर आपस में प्रेम से रहते हुये, एक दूसरे के दु.खसुख को अपना दुःखसुख समझते थे । कोई ईर्षाद्वेष या स्पर्धा नहीं करते थे । अतः उन का सामाजिक जीवन बडे सुख से गुजरता था ।

इस प्रथाका फल केवल सामाजिक जीवनमें ही सुविधा संपादन करना न था, अपितु यह प्रथा मनुष्य के पारमार्थिक जीवन में भी बडी सहायक होती थी । वह इस प्रकार-वर्णधर्म प्रवृत्तिमार्ग में रोधक है और आश्रमधर्म निवृत्तिमार्ग का पोषक है और निवृत्तिमार्ग ही है, जो पारमार्थिक जीवन में साधक और सहायक है । इस रहस्य को केवल आर्यजातिने ही पूरी तरह समझा है, अन्यने नहीं ।

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः निवृत्तिपोषकश्चापरः
(आश्रमधर्मः) ।
उभयोपेता आर्यजातिः तद्विपरीता अनार्याः
(कर्ममीमांसा) ॥

यहां प्रसंगवश यह स्पष्ट करना भी आवश्यक मालूम होता है कि, प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का क्या अभिप्राय है । यहां संसार में दो प्रकार की वृत्तियां या मार्ग हैं- एक वह जिस पर अनुसरण करने से मनुष्य ऊपर अर्थात् आत्मतत्व की ओर उठता है । दूसरा वह जिसके द्वारा मनुष्य नीचे की ओर अर्थात् प्रकृति की ओर झुकता है । एक में आरोहण (ascending) है, दूसरे में अवरोहण (descending), एकमें वह (Celestial Gravitation) अर्थात् आत्माकर्षणद्वारा ऊर्ध्वमुखी होकर आत्मत्व को प्राप्त होता है । दूसरे में (Terrestrial gravitation) अर्थात् पार्थिवाकर्षणद्वारा नीचे की ओर जाता है, एक ' तपनं ' का जीवन है, तो दूसरा ' पतनं ' का । या साधारण शब्दों में यह कहिये कि, प्रकृतिजन्य अर्थात् विषयसुखों का गुलाम बनना प्रवृत्तिमार्ग में चलना है । आत्मानन्द को अनुभव करने के लिये विषयानन्द को त्याग कर आत्मा की ओर जाना निवृत्तिमार्ग पर चलना है । अब रहा यह देखना कि, वर्णाश्रमधर्म प्रवृत्तिमार्ग से हटा कर किस प्रकार निवृत्तिमार्ग की ओर ले चलता है, सो सुनिये ।

स्वभाव से मनुष्य बहिर्मुख है, × अर्थात् इंद्रियों के सुखों की ओर ही झुकता है । परन्तु जब मनुष्य ' धीर ' बन कर अर्थात् यह दृढनिश्चय ठान लेता है कि, उसने प्रवृत्ति से हटकर निवृत्ति की तरफ चलना है, तो उस के लिये वर्णाश्रम के नियम सहायक होते हैं ।

इस को उदाहरण से अधिक स्पष्ट करते हैं । कल्पना करो कि, एक ब्राह्मणवर्णस्थ पुरुष को निर्वाहार्थ कोई धंधा करना है । अब उसको ब्राह्मणवर्ण के नियम मजबूर करेंगे कि, वह जहां तक हो सके, ब्राह्मणवर्णोचित व्यवसाय को ही धारण करके अपने लिये भोजनादि का प्रबन्ध करे, चाहे उसको किसी अन्य पेशे में, जो ब्राह्मणवर्णोचित नहीं है, कहीं अधिक आय क्यों न हो । वर्णधर्म उसको कहेगा कि, भले पुरुष ! तुम्हारे सामने ब्राह्मणत्व है । तुमको ब्राह्मणवर्णोचित ही आजीवन वा निर्वाह करना चाहिये । तप और विद्यादि ही ब्राह्मणोंका धर्म है । कुछ परवाह नहीं, यदि तुमको इस तरह पर अधिक रुपया नहीं प्राप्त होता । थोडे में ही गुजारा कर लो । परन्तु पैसे के लिये ब्राह्मणत्व को न गंवाओ । यह तुम्हारी सैंकडों जन्मों की कमाई है ।

× पराञ्चि खानि व्यतृणतस्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मा ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ (मनु०)

अर्थ- साधारण जीवों की प्रवृत्ति यह है कि, वह मांसभक्षण, मद्यपान, मैथुन इत्यादि इंद्रियजन्य सुखों को ही अच्छा समझते हैं । परन्तु मनुजी कहते हैं कि, महाफल अर्थात् आत्मानन्द इन के त्यागमें से ही मिलता है ।

इसका पूरा लाभ उठाओ, अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त होने के उपाय करो। इत्यादि अब यदि वह ऐसा करेगा, तो जहां एक ओर वह अपनी आत्माको उच्च करता है, वहां दूसरी ओर दूसरे वर्णों को स्पर्धा, असूया, ईर्षा और द्वेषके दोषों से बचाता है, क्योंकि यदि वह इस वर्णधर्म को पालन न कर के किसी अन्यवर्णोचित पेशे को धारण कर लेता, तो वह उस वर्णस्थ पुरुषों के दिलों में ईर्षा और द्वेष उत्पन्न कर देता। जैसा कि, आजकल हम देखते हैं। ऐसे ही ब्रह्मचर्याश्रमस्थ नवयुवक ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों में बंधा हुआ गृहस्थाश्रम के सुखों पर लात मारता है। वह जानता है कि, मैं ब्रह्मचारी हूं। मेरे लिये स्नान, पान, भोजन, आच्छादन इत्यादि इंद्रियजन्य सुखों में गृहस्थियों का अनुकरण करना धर्मविरुद्ध है। अतः वह ऐसा करने से निवृत्तिमार्ग के लिये तैयार होता है। इसी प्रकार जब बालक और बालिकायें युवावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तो आपस में कामपूर्ति के लिये विवाहसम्बन्ध में जुड़ना चाहते हैं। अब यदि कोई नियम (Restriction) उन के रास्ते में नहीं, तो वह उच्छृंखल होकर– कामवश होकर– उच्चता या नीचता का विचार न कर के सिरतबवाये इस कामपाश में फंस जायेंगे। इसी वास्ते × यहां पर नियम किये जाते हैं कि, प्रत्येक वर्ण को अपने ही वर्ण की कन्या से विवाहसम्बन्ध करना चाहिये। इस नियम का यह फल हुआ कि, एक वर्ण के बालक को बाकी के तीन वर्ण की कन्याओं की ओर विवाहसम्बन्ध की दृष्टि से देखने का अधिकार ही न रहा और इस का प्रभाव यह होगा कि, उस की कामोत्तेजना पर एक प्रकार का दबाव (Control) पड़कर वह अपने से इतर वर्णकी युवतियों को चाहे, वह कितनी भी रूप और लावण्य से युक्त हों, अपनी बहिन के तुल्य समझेगा। अब उस की मनोवृत्ति को विवाहसम्बन्धार्थ बाहर जाने के लिये अपने ही वर्ण के अन्दर का दायरा रह गया। अब इसको भी वह और संकुचित करते हैं। वह कह कर कि, अपने वर्ण में भी अपने गोत्र और अपनी माता के कुल (खानदान) की कन्या को विवाहसम्बन्ध में न लें। याद रखिये कि, काम जैसी प्रबल मनोवृत्ति को यदि उच्छृंखल छोड़ दिया जाय, तो मनुष्य का कोई ठिकाना नहीं, क्योंकि यह बड़ा प्रबलवेग है। एक कविने सत्य कहा है–

मत्तेभकुम्भदलने भुवि संति शूराः।
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किंतु ब्रवीमि पुरतः बलिनां प्रसह्य।
कंदर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

दुनियां में मस्त हाथी के सिरको दलन करने में समर्थ शूर वीर हैं। बहुत से ऐसे भी बहादुर हैं, जो शेर को भी मार सकते हैं। लेकिन मैं बली पुरुषों के आगे जोर से कहता हूं कि, कामदेव के दर्प को दलन करनेवाले विरले ही मनुष्य हैं। अतः इस वृत्तिपर बडेभारी अंकुश (Restrictions) की जरूरत है।

किम्बहुना। वर्णाश्रमपद्धति एक अद्भुत पद्धति है। *यही सच्चा (Socialism) है, जिस की तह में धर्म और* परमार्थ की मुख्यता है। आधुनिक (Socialism) की बुनयाद ऐहिक सुखों को ही स्थान देती है।

परन्तु यदि कोई महाशय इस प्रथा के महत्व को न समझ कर इस के सम्बन्ध में कोई शंका उठावे और इस को सभ्यता और उन्नति के रास्ते में रुकावट समझे, तो उन के वास्ते इतना ही लिखना पर्याप्त है कि, यदि वे सभ्यता और उन्नति के सत्य अर्थ को समझ कर इस प्रथा की गहरी फिलासफी की ओर दृष्टि डालेंगे, तो अवश्य उन को अपनी भूल ज्ञात हो जायगी। हम उन के विचारार्थ कई एक भाव यहां लिख देते हैं। परन्तु ग्रंथविस्तारभय से उन पर यहां सविस्तर नुनच नहीं करते।

सत्य रूप से सभ्यता और उन्नति क्या है? यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। इस के उत्तर भिन्नभिन्न दृष्टि से अनेक हो सकते हैं। एक धन आदि ऐश्वर्यवादी के मतानुसार सच्ची उन्नति या सभ्यता तभी हो सकती है, जब धन, ऐश्वर्य बड़ी से बड़ी मात्रा में उस के अपने या अपनों के अधिकार में आ जावे। एक राज्यवादी के मन में सत्य, सभ्यता

× सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शास्त्रेण क्रियते धर्मनियमः। यथा खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समाने च खेदविगमो गम्यायामगम्यायाञ्च। तत्र नियमः क्रियते इयं गम्या इयमगम्येति॥ (म० भाष्य० ।)

या उन्नति इसी में है कि, उस का या उस के इष्टमित्रों का राज्यशासन सकल भूमण्डल पर फैल जावे। इसी तरह एक मतवादी के मतानुकूल सच्ची सभ्यता और उन्नति तभी फैल सकती है, जब सारा संसार उसी के मत के गान गाने लगे इत्यादि। परन्तु यदि हम तनिक भी सूक्ष्म विचार से देखेंगे, तो हम को विदित हो जावेगा कि, सभ्यता और उन्नति के ऐसे ही और लक्षणों में कई दोष हैं। इन सब की जड में स्वार्थसिद्धि का बडा भारी दोष है। इन सब में से प्रत्येक उसी को उन्नति मान बैठा है, जो उस को प्रिय या पसन्द है। इस में दूसरों के हिताहित, प्रियाप्रिय का कुछ भी विचार नहीं किया गया है। इस में यह भी विचार नहीं कि, मनुष्यजीवन का उद्देश क्या है और किस किस तरह हम उस को पा सकते हैं। उन के यह विचार देश, काल जाति आदि के संकुचित भावोंने आच्छादित हैं। यहां मनुष्यमात्र का विचार नहीं किया जाता। मनुष्य क्या है? इसके जीवन का लक्ष्य क्या है? इत्यादि विचारों को यहां स्थान नहीं। ऐसे विचारवालों की दृष्टि इस दृश्य लोक और उसके भोगों से परे नहीं गई। परलोक और परलोक से परोक्ष दृश्य उनकी दृष्टि में आही नहीं सकते। अतः हम इन विचारों को नास्तिकतामूलक कहें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे विचारवालों को चाहे वह कितने ही विद्वान् और पंडित क्यों न हों, उपनिषत्कार 'बालक' ही कहते हैं और उनके वास्ते जब तक कि वह सत्य ज्ञान प्राप्त न कर लें, संसारासारसागर में आना जाना बना ही रहेगा।

> न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ (कठोपनिषत्)

सच्ची सभ्यता और उन्नति वह है, जो अपनी परिधि के अन्तर्गत मनुष्यसमुदाय को मनुष्यजन्म की साफल्य की ओर ले चले। अर्थात् सच्ची सभ्यता और उन्नति वह है कि, जिसके रंग से रंजित मनुष्यसमुदाय समष्टि तथा व्यष्टिरूप में (Collectively and individually) इस प्रकार जीवन व्यतीत करे कि, जीवन का लक्ष्य कदापि उसकी दृष्टि से परे न हटे। उसका सांसारिक जीवन ऐसा विलक्षण हो कि, उसका परिणाम आध्यात्मिक जीवन हो। उसके स्वार्थ में परमार्थ ऐसा मिला हुआ हो कि, अंत में स्वार्थ परमार्थ में ही घुलमिल जावे।

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः॥"

धर्म अर्थात् सत्य सभ्यता और उन्नति वह है, जिस में मनुष्यमात्र को सांसारिक ऐश्वर्य के साथ साथ निःश्रेय अर्थात् परमानन्द (Highest Bliss) प्राप्त हो।

इस लक्ष्य को उपलब्ध करने की शक्ति प्राप्त करने के लिये यह सभ्यता मनुष्य के लिये ऐसे ऐसे विधान करेगी कि, वह प्रथमावस्था में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणादि अनेक व्यवहारों और व्रतों को धारण करे। फिर द्वितीयावस्था में उसी लक्ष्य की ओर गति करने के लिये अपने अन्तःकरणस्थ गुणों को पूर्ण रूप में आविष्कृत करने के लिये गृहस्थी को धारण करे और फिर उसी लक्ष्य को ध्यानमें रखते हुये प्राकृत जगत् के पिंजरे से निकल कर आत्मिक जगत् के उच्च तथा अति मनोहर सौंदर्ययुक्त स्थान की ओर उडने के वास्ते एकान्तसेवन, आत्मचिन्तन, मनन और निदिध्यासनादि अनेक उपायों को धारण करे। और यह सब बातें केवल एक विचित्र प्रथा के अनुसरण करने से ही प्राप्त हो सकती हैं, जिसे वर्णाश्रमव्यवस्था कहते हैं।

(क्रमशः)

संसारभर के देशोंमें

रामायणके वीरोंके नाम।

[लेखक- श्री. गोपाल गणेश आचवल, पेन्शनर, पूना]

(१)

वालिनाथ	Walnut	वॉलनट	जॉर्जिया, आयोवा,
वालिधानी	Walden	वॉलडेन	कोलोरडो, न्यूयॉर्क
वालिसूनु	Blesen	ब्लेसेन्	जर्मनी
	Bilsen	बिलसेन	बेलजियम्
बलि	Buli	बुलि	बेल्जम कांगो
बलियाग	Buliyag	बुलियॉग	फिलिपाईन द्वीप
बलिनम्र	Ballinamore	बालिनामोर	आयर्लंड
बलिस्थान	Bilstein	बिलस्टीन	जर्मनी
बलि	Belley	बेलि	फ्रान्स
वालिधानी	Belle donne	बेलेडोने	फ्रान्स
वालिज	Belz	बेल्झ्	पोलंड
विलास	Bellas	बेल्लास्	पोर्तुगाल
बलिस्थल	Bellatola	बेल्लाटोला	स्विट्झर्लंन्ड
वालिवत्स	Bellavista	बॅलाव्हिस्टा	अर्जेंटिना, पराग्वे
बालरवि	Belle Rive	बेल्लेरिव्हे	इलिनॉइस
बलाबला	Bella Bella	बेल्लाबेल्ला	कॅनडा
वालिज	Belize	बेलिज	सॅंट्रल अमेरिका
बलवान्	Belbaven	बेल्हॅवेन्	नॉर्थ करोलिना व्हर्जिनिया
बलिदान	Belden	बेलडेन्	मिनेसोटा, मिसिसिपि नॉर्थ डॅकोटा नेब्रास्का
बलिआवास	Belfast	बेल्फास्ट	आयर्लंड
वालिपुरी	Belfry	बेल्फ्रि	मोंटाना
बलिनिवास	Ballyness	बॅलिनेस्	आयर्लंन्ड
वालि	Bally	बॅलि	,,
बलिभूत	Bally brittas	बॅलिब्रिट्टास	आयरिश-फ्रीस्टेट

बलिन्	Ballina	बॅलिना	आयर्लंन्ड (मेयो)
	Bullinger	बॉलिंजर	टेक्सास
माल्यवान्	Mallawalle	मॅलॅवले	मलायाद्वीपकल्प
अहल्या	Iloilo	इलोइलो	फिलिपाईन द्वीप
	Hilla	हिला	अरेबिया
	Haila	हेला	पॅलेस्टाईन
जयन्त	Qeannette	जेनेटे	रशिया
वरतन्तु	Orient	ओरिएंट	अमेरिका
	Orienta	ओरिएंटा	विस्कान्सिन्
द्रुमकुल्य	Drumcliff	ड्रुमक्लिफ्	आयर्लंन्ड
शत्रुघ्न	Sotteghem	सॉटेघेम्	बेल्जम्
	Xertigny	झेर्टिनि	फ्रान्स्
गिरिभरत	Gilbert	गिलबर्ट्	अमेरिका
जीवल्लतर	Gibraltar	जिब्राल्टर	स्पेन
भरत	Furth	फर्थ	बव्हेरिया, जर्मनी
	Burton	बर्टन्	इग्लँड
	Beirut	बीरूट	सीरिया
	Burrton	बुर्टान	कंसास
	Birtha	बर्था	मेसोपोटेमिया
भरतालय	Brittle	ब्रिटल	स्काटलंड
	Bartley	बार्टले	नेब्रास्का
भरतराम	Burtram	बर्टरम्	मिनेसोटा
भरतरामदास	Bartolomeu Dias	बार्टोलोम्युडियास	पोर्तुगीज ईस्ट आफ्रिका
बरूथ	Baruth	बारूथ	जर्मनी
अयोध्या भरत	Audoubert, Cave	ऑडोबर्ट, गुहा	फ्रान्स

लक्ष्मण	Leckum	लेकम्	जर्मनी
	Lockseven	लॉक्सेव्हन्	व्हेस्ट-व्हर्जिनिया
	Laxen	लॅक्सन्	फ्रान्स
वायुसुनु	Wauseon	वोसेआन्	ओहाइओ
मारुति	Meridi	मेरिडि	सुडान
	Morteru	मॉर्टो	फ्रान्स
	Mortierbay	मॉर्टिअरबे	न्यूफौंडलंड
	Mortaw	मार्टन्	मिसिसिपी
	Marty	मार्टी	अमेरिका
मारुतिराय	Mortree	मॉर्ट्री	फ्रान्स्
बलभीम	Baldwin	बॅल्डविन्	जार्जिया
बलभीममारुति	Behem Martin	बेहेम मार्टिन	व्यक्ति का नाम
मंथरा	Mantromant	मॅन्ट्रॅमेन्ट	फ्रान्स्
इक्ष्वाकु आलय	Asak El	असॅक् एल	अरेबिया
दिलीप	Tulip	ट्यूलिप	अर्कन्सास, इंडियाना
	Felippea	फेलिपे	ब्राझिल
	Ralph	राल्फ	अलाबामा
	Phillip	फिलिप	ऑस्ट्रेलिया
भिलुप अंबर्षि	Philips, Amlrose	व्यक्ति का नाम	
दिलीप	Delaplain	डेलाप्लेन	केंटकी
साकेत	Ascot	अस्कॉट	इंग्लैंड, कॅनेडा
अमर	Ummer	उमएर	पॅलेस्टाईन
रामभरत	Rambouillet	रामबौलेट	फ्रान्स
	Pemberton	पेंबर्टन्	कॅनडा, इग्लॅंड
लंका	Longcay	लॉंगके	हॉंडुरास
	Longkey	लॉंगकी	फ्लोरिडा
	Lange	लॅंगे	वाशिंगटन्
	Lanca Shire	लॅंकाशायर	इग्लैंड
सुग्रीव	Sugar	सुगर	ओहाइो
	St. Agreve	सेंट ॲग्रीव्ह	फ्रान्स
	Surigao	सुरिगॉव	फिलिपाईन द्वीप

	Seagraves	सीग्रेव्हज्	टेक्सस्
	Seagrove	सीग्रोव्ह	नार्थ कॅरोलिना
वालिभरत	Velbert	व्हेलबर्ट	जर्मनी
वालिपुर	Velburg	व्हेलबर्ग	,,
वालिइन्द्र	Vallendar	व्हलेंडार	,,
वालिरघु	Vallerange	व्हलेरौंग	फ्रान्स
वालिलंका	Valencia	व्हलॅंसिया	स्पेन
	Vallenca	व्हलॅंका	ब्राझिल
जटायु	Xativa (Qativa)	क्षटिव्हा	स्पेन
इक्ष्वाकु	Isacoca	इसाकोका	रुमेनिया
	Ishakawa	इशाकावा	जपान
	Kishwaukee	किशवाकी	इलिनाइस
सुमन्तु	Cement	सिमॅंट	ओक्लाहोमा
चरक	Cherokee	चेरोकी	अलाबामा
ऋग्वेदी	Brackwede	ब्रेकवेड	जर्मनी
समिति	Samit	सॅमिट	सयाम
कुश	Goose	गूस	इलिनाइस
रावण	Rabun	रबन्	जार्जिया
	Arvana	अर्व्हना	टेक्सास
दनु	Dane	डेन	विस्कान्सिन
वालकिष्किंधा	Velikakikinda	व्हेलिककिकिंदा	युगोस्लाविया
वालमोहन	Ballymohan	बॅलिमॅहोन	
वालमुनि	Ballymoney	बलिमोनी	आयर्लंड
वालिपूर	Ballour	बॅल्फोर	नॉर्थ डकोटा
जनक	Zenica	झेनिका	युगोस्लाविया
मंथरा	Montereau	मोंटेरो	फ्रान्स
अज	Ijo	इजो	फिन्लन्ड
जनस्थान	Johnston	जॉन्स्टॉन्	नार्थ करोलिना
बलीवर्द	Ballyward	बॅलीवर्ड	आयर्लंड
कपीश्वर	Kaposvar	कॅपोस्वर	हंगेरी

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि॰ सातारा) की हिंदी पुस्तकें।

	मू.	डा॰व्य॰
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
५ काण्व-संहिता।	३)	॥=)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
„ सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला।	६॥)	।॥=)
वे. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।		
१ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
२ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
४ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
५ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
६ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
७ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
८ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
९ एकादश काड ,,	२)	॥)
१० त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
११ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१२ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना। (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला।		
१ संध्योपासना।	१॥)	।-)
२ प्राणविद्या।	॥)	
३ योगके आसन। (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी।	।॥)	।-)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	=)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
९ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१० वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
११ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१२ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१४ इंद्र शक्तिका विकास	॥)	=)
१५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)
उपनिषद्-माला। १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेद परिचय। भाग १-२	२॥)	॥)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ वेदोपदेश।	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य	१॥)	॥)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २६८

वर्ष २२ : : : : अङ्क ४

चैत्र संवत् १९९८

अप्रैल १९४१

दीर्घायु के लिये !

नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।
हरिते त्रीणि रजते त्रीणि
अयसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥
(अथर्व० ५।२८।१)

"सौ वर्षों की दीर्घ आयु प्राप्त करने के लिये, सोने के तीन, चांदी के तीन और लोहे के तीन, (ऐसे नौ तारों को) उष्णता से परस्पर जोड कर, इन नौ के साथ नौ प्राणों को मिलाकर बलवान् बनाते हैं।"

सोने की एक, चांदी की एक और लोहे की एक ऐसे तीन तारों को मिलाते हैं और इनके फिर तीन तीनों को परस्पर जोडते हैं, जिस से नौ तारों का वह आभूषण होता है। इसको शरीर पर धारण करने से दीर्घायु प्राप्त होती है।

(वह अंगली में, बाहू में, गले में, कमर में या अन्यत्र धारण करनेयोग्य बनाया जा सकता है। इससे उत्पन्न होनेवाला विद्युत्प्रवाह प्राणों को बलिष्ठ बनाता है।)

" दैवतसंहिता " शीघ्र मंगवाइये।

वेदों का स्वाध्याय करने की इच्छा है, तो एक एक देवता के मंत्रों का अच्छा अध्ययन करना अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना रहस्यसमेत वेद का प्रकाश होना असंभव है। इसलिये हमने प्रत्येक देवता के मंत्र क्रमपूर्वक मुद्रण करके एक एक देवता के अलग अलग भाग बनाये हैं। इस समय (१) अग्निदेवता और (२) इन्द्र-देवता के दो भाग तैयार हैं। इसके पश्चात् (३) सोम-देवता और (४) मरुत् देवता तैयार हो रहे हैं। इनके मंत्र छप चुके हैं, भूमिका और सूचियां छपनी हैं। प्रायः अगले महिने में तैयार हो जायगी।

पेशगी मूल्य।

संपूर्ण दैवत-संहिता के तीनों विभागों का पेशगी मूल्य १६) रु. है, डा० व्य० ३) से ज्यादा होगा। अर्थात् कम से कम १९) रु. में यह ग्रंथ मिलेगा। पर **पेशगी मूल्य केवल दस रु०** देने से ये तीनों ग्रंथ ग्राहकों को मिलेंगे। अर्थात् पेशगी १०) भेजनेवालों को डा० व्य० माफ होगा और मूल्य में ६) की बचत होगी।

तीन विभागोंमें संपूर्ण दैवतसंहिता।

इसके तीन विभाग होंगे। प्रथम विभाग में (१) **अग्नि, (२) इन्द्र, (३) सोम** और **(४) मरुत्** इन चार देवताओं के मंत्रसंग्रह रहेंगे। पर जिनको प्रत्येक देवता का अलग अलग पुस्तक लेना होगा, वे प्रथम विभाग के उक्त चार फुटकर ग्रंथों के लिये (प्रत्येक पुस्तक की जिल्द के लिये ॥) के हिसाब से २) रु. अधिक भेज दें। अथवा प्रत्येक देवता का **विनाजिल्द पुस्तक** मंगावें। विना जिल्द पुस्तक पर पतला कागज होगा और सब पृष्ठ वै० धर्म जैसे सीये होंगे। पक्की जिल्द न होगी। पक्की जिल्द न लेनेवालों के लिये केवल १०) में ही अलग अलग कच्ची जिल्दें मिलेंगी। इनके पृष्ठ कटे नहीं होंगे। क्योंकि आगे पक्की जिल्द करवाने के समय पृष्ठ काटे जांयगे। पर जो पक्की जिल्द पहिले से ही चाहेंगे, वे उक्त (प्रथम विभाग के) ४ पुस्तकों के लिये २) अधिक भेज दें।

छोटी देवताओं के छोटे ग्रंथ।

अगले दोनों भागों में **अश्विनौ** आदि कुछ देवताओं को छोडा जाय, तो प्रायः सब देवताएं थोडे थोडे मंत्रवालीं हैं। इसलिये इन थोडे मंत्रवालीं देवताएं अलग अलग लेने से व्यर्थ व्यय बढेगा। इसलिये हमने यह सोचा है कि हम तो पेशगी १०) देनेवालों को तीन बडी जिल्दें देंगे। जो तीन बडी जिल्दें नहीं चाहेंगे, वे १२ जिल्दों में ले सकते हैं। ये १२ जिल्दें कच्ची तथा विना कटी लेनेवालों को १०) से अधिक मूल्य देने की आवश्यकता नहीं है। पर जो ये १२ जिल्दें पक्की मोटे गत्तों की लेने के इच्छुक हैं, उनको ६) अधिक देने होंगे। अर्थात्—

(१) १०) पेशगी मूल्य में ३ पक्की जिल्दें अथवा १२ कच्ची जिल्दें ' दैवत-संहिता ' की मिलेगीं। अथवा—

(२) १६) पेशगी मूल्य में १२ पक्की जिल्दें ' दैवत-संहिता ' की मिलेगी।

जो पेशगी मूल्य नहीं देंगे, उनको तीन जिल्दों के डा० व्यय समेत १९) होंगे और १२ जिल्दों के २५) होंगे। इस मूल्य में डा० व्य० शामील है।

इस समय दो देवताएं तैयार हैं, अगले मास में दूसरी दो तैयार होंगी। आगे क्रमपूर्वक एक एक देवता एक एक महिने में तैयार होती जायगी।

प्रथम भूमिका, पश्चात् देवता के मंत्र, उसके आगे पुनरुक्त, उपमा, विशेषण आदि अनेक सूचियां होंगी।

जो सज्जन १२ जिल्दों की अपेक्षा छः जिल्दें लेंगे, उनको उतना मूल्य कम देना होगा। इसका विचार करके ग्राहक यह ग्रंथ शीघ्र मंगवायें।

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, औंध (सातारा)

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण ।

" बालकांड " तैयार है । अब संपूर्ण रामायणका मू० २२) है ।

वाल्मीकि रामायण का मुद्रण शुरू हुआ तथा अब सचित्र '**बालकाण्ड**' छपकर तैयार है । इस ग्रंथ में बालकाण्ड के कथाभाग का विवरण चित्रों और नकशों के साथ है ।

पृष्ठ के ऊपर श्लोक दिये हैं, पृष्ठ के नीचे आधे भाग में उनका अर्थ दिया है, आवश्यक स्थानों में विस्तृत टिप्पणियां दी हैं। जहां पाठके विषयमें सन्देह है, वहां हेतु दर्शा कर सत्य पाठ दर्शाया है ।

इस बालकाण्ड में दो रंगीन चित्र हैं और सादे चित्र कई हैं । जहां तक की जा सकती है, वहां तक चित्रों से बडी सजावट की है ।

काण्ड की समाप्ति के पश्चात् विस्तृत टीका तथा टिप्पणी और विवरण दिया है। वानर कौन थे, राक्षस कौन थे, ये मानववंशीय थे या और कुछ थे, आर्यराजाओं की सभ्यता कैसी थी और वानरों और राक्षसों की सभ्यता किस प्रकार की थी, यह सब सप्रमाण यहां बताया है । इसलिये यह ग्रन्थ केवल वाल्मीकि रामायण का अनुवाद ही नहीं है, यह ग्रन्थ एक रामायणकालीन इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला विवेचनापूर्ण ग्रन्थ है ।

इस तरहकी इतिहासिक विवेचना इस समयतक किसीने नहीं की है, अतः यह अपूर्व ग्रन्थ है।

इसका मूल्य ।

सात काण्डों का प्रकाशन १० ग्रन्थों में होगा। प्रत्येक ग्रन्थ करीब करीब ५०० पृष्ठों का होगा । प्रत्येक ग्रन्थ का मूल्य ३) रु० तथा डा० व्य० रजिस्ट्रीसमेत ॥=) होगा । यह सब व्यय ग्राहकों के जिम्मे रहेगा । प्रत्येक ग्रंथ अधिक से अधिक तीन महीनो में प्रकाशित होगा। इस तरह संपूर्ण रामायण दो या ढाई वर्षों में ग्राहकों को मिलेगी । प्रत्येक ग्रंथ का मूल्य ३) है, अर्थात् सब दसों विभागों का मूल्य ३०) है और सब का डा० ६॥) है ।

पेशगी मूल्य से लाभ ।

(१) जो ग्राहक सब ग्रन्थ का मूल्य एकदम पेशगी भेज देंगे, उनको डा० व्य० के समेत हम ये सब दसों विभाग केवल २२) में देंगे । यह मूल्य इकट्ठा ही आना चाहिये । (२) जो ग्राहक प्रथम ५) भेज कर अपना नाम ग्राहकश्रेणी में लिखा देंगे और वी० पी० से ग्रंथ लेंगे, उनको प्रत्येक पुस्तक ३) रु० की वी० पी० से भेजा जायगा । अर्थात् इनको डा० व्य० माफ होगा और पूर्ण ग्रन्थ ३०) में मिल जायगा। पेशगी रखे ५) अन्तिम भागों में मुजरा किये जायेंगे, अर्थात् अन्तिम भाग १) की वी० पी० से भेजा जायगा। वी० पी० वापस आने पर नुकसान उनके ५) में से काटा जायगा। (३) जो ग्राहक प्रतिमास १) या अधिक रुपये भेजते रहेंगे, उनको भी सब ग्रंथों का डा० व्य० माफ होगा। इनको प्रत्येक ग्रन्थ ३) रु० जमा होनेपर भेजा जायगा। (४) जो ग्राहक दो सौ रु० रामायणसमाप्तितक अनामत रखेंगे, उनको इस रामायणकी एक प्रति विना मूल्य मिलेगी और रामायण का मुद्रण समाप्त होने पर उनका सब धन वापस भी किया जायगा। (५) जो ग्राहक १००) रु० दान देकर स्वाध्याय-मण्डल के पोषक-वर्ग के ग्राहक होंगे, उनको रामायण तो मिलेगी ही, पर अन्यान्य पुस्तकें जो बाद में प्रकाशित होंगीं, वे भी मिलेंगीं ।

मन्त्री- **स्वाध्याय-मण्डल**, औंध (जि० सातारा)
Aundh, (Dist. Satara)

चारों वेदोंकी पदानुक्रमणी, मूल्य १२)रु० नेट्

श्री स्वामी नित्यानन्दजी, विश्वेश्वरानन्दजीकृत चारों वेदों की पदानुक्रमणी वेदप्रेमी, अनुसन्धान-प्रिय विद्वानों को **केवल १२) रु० में दी जावेगी**। कुछ प्रतियां ही बची हैं। मूल्य पेशगी भेजें। फुटकर में ऋग्वेद की ६) रु०, यजुर्वेद की २), सामवेद की २), अथर्ववेद की ४) रु० । पत्ता- व्यवस्थापक, आर्य-**साहित्य-मण्डल**, लि०, अजमेर। (४)

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥।)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद द्वितीय संस्करण	३)	१)	॥)	१॥)
(छप रहा है)	१३)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहूलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक व्यय
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) (तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्त यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य-सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

इन्द्रदेवता का परिचय।

मेघस्थानीय विद्युत्।

अब इन्द्रदेवता के स्वरूप का परिचय करनेका यत्न करना है। इन्द्रदेवता कौन है, कहां रहता है, क्या करता है, हमसे उनका संबंध क्या है, उसकी सहायता हमें किस तरह मिल सकती है? इसका विचार करना है। इन्द्रदेवता 'मेघस्थानीय विद्युत्' है, ऐसा कई कहते हैं। इन्द्रका अर्थ Thunderbolt [मेघस्थानीय विद्युत्] है, ऐसा इनका कहना है। इन्द्रदेवताके अनंतविधत्व रूप में मेघस्थानीय विद्युत् यह एक रूप है, इसमें सन्देह नहीं है। पर युरोपीयन लोग सर्वथा मेघस्थानीय विद्युत् ही 'इन्द्र' है, ऐसा जब कहने लगते हैं, तब हम कहते हैं कि, वेदका संपूर्ण इन्द्रदेवता का वर्णन 'मेघस्थानीय विद्युत्' पर घट नहीं सकता। इसका विचार करना हो, तो 'इन्द्रिय' शब्दका प्रथम विचार कीजिये।

इन्द्रिय = इन्द्रकी शक्ति।

'इन्द्रिय' शब्द इन्द्र शब्दसे ही बनता है। 'इन्द्र+इ+य' ये तीन विभाग इन्द्रपदमें हैं, इन्द्र [इ] की [य] शक्ति, यह इसका अर्थ है। इन्द्रिय 'इन्द्रकी शक्ति' है। भगवान् पाणिनी महामुनि 'इन्द्रिय' शब्दका निर्वचन ऐसा करते हैं—

> इन्द्रियं इन्द्रलिङ्गं इन्द्रदृष्टं इन्द्रसृष्टं इन्द्रजुष्टं इन्द्रदत्तं इति वा। [अष्टा० ५।२।९३]
> इन्द्र आत्मा, तस्य लिङ्गं, करणेन कर्तुः अनुमानात्। इन्द्रेण दुर्जयमिन्द्रियम्। [भट्टोजी०]
> इन्द्रेण दृष्टं ज्ञातं 'मम चक्षुः, मम श्रोत्रं' इत्यादिक्रमेण सृष्टं, अदृष्टद्वारा जुष्टं, प्रीणितं सेवितं वा। दत्तं यथायथं विषयेभ्यः॥
> [कौमुदी तत्त्वबोधिनी टीका]

'इन्द्र आत्माका नाम है। इस आत्माका ज्ञान इससे होता है, इन्द्रने यह अपना साधन है, ऐसा जाना है, इन्द्रने अपनी साधना के लिये इसको निर्माण किया, इन्द्रने इसका सेवन किया, इन्द्रने यह विषयोंके प्रति भेजा है, वह इन्द्रिय है।'

यहां भगवान् पाणिनी मुनि अपने व्याकरण में "इन्द्र की शक्ति" इस अर्थमें इन्द्रिय शब्द सिद्ध करते हैं। यह इन्द्रिय शब्द वेदमें है। अर्थात् इन्द्रकी शक्ति अर्थमें यह इन्द्रिय शब्द है और वह वेदमें है। केवल मेघस्थानीय विद्युत् ही अर्थ लेनेसे इस पाणिनी महामुनिके बताये अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती।

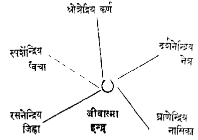
हम भी अपने आंख, नाक, कान आदि साधनोंको 'इंद्रिय' ही कहते हैं। ये ज्ञानके साधन और कर्मके साधन इन्द्रिय ही हैं, अर्थात् ये इन्द्रके साधन हैं, ये इन्द्रकी शक्तियाँ हैं। अर्थात् इन्द्र इनके पीछे है, इन्द्रसे इनमें शक्ति आ रही है, इनसे इन्द्रका ज्ञान हो रहा है। यह विवरण देखनेसे मेघस्थानीय विद्युत्ही केवल इन्द्र नहीं है, यह बात सिद्ध हो जाती है। वेदमें कहा है—

आदित् ह नेम इन्द्रियं यजन्ते। [१५८१, ऋ०४।२४।५]

"[नेमे] अन्य लोग [आत् इत्] उस समय [इन्द्रिय] इन्द्रियोंको बल देनेवाले इन्द्रका [यजन्ते] यजन करते हैं।" इस मन्त्रमें 'इद्रिय' शब्दही इन्द्रका वाचक आया है, क्योंकि इन्द्रमें जो शक्ति है, वह इन्द्रकी है, इन्द्रही इन्द्रियरूप बना है और मानवी देहोंमें कार्य कर रहा है।

देहधारी जीवके पास सब इन्द्रियां हैं, वह सबकी सब इन्द्रकी शक्तियां हैं, अर्थात् इद्रियोंके पीछे इन्द्र छिपकर रहा है, अपनी शक्तिको इन्द्रियोंद्वारा प्रकट कर रहा है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि, जीवात्मा इन्द्र है और इन्द्रियां उसकी शक्तियां हैं।

इन्द्रके इन्द्रिय



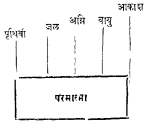
इन्द्रके ये इन्द्रिय हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि यह इन्द्र निःसन्देह आत्मा है, जो अन्दर रहता है और अपनी शक्तियोंको बाहर इन्द्रियस्थानोंमें भेजकर विविध कार्य करता है।

हमारे इन्द्रियभी बाह्य देवताओंपर अवलम्बित हैं। जैसा नेत्र सूर्यपर, जिह्वा जलपर, नासिका पृथ्वीपर, त्वचा वायुपर और कर्ण आकाशपर अवलम्बित है। बाह्य देवताओंसेही ये इन्द्रियगोलक बने हैं। इसका वर्णन ऐतरेय उपनिषद्‌में इस तरह किया है—

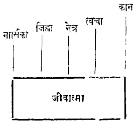
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्।
दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्।
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्॥ [ऐतरेय]

'सूर्य आंख बन कर नेत्रस्थानमें प्रविष्ट हुआ, दिशा (आकाश) कान बन कर श्रवणेन्द्रियके स्थानमें प्रविष्ट हुई, वायु प्राण बन कर नासिकाके स्थानमें प्रविष्ट हुआ।' इसी तरह अन्यान्य देवताएं अन्यान्य इंद्रियस्थानोंमें प्रविष्ट हुई हैं।

विश्वसृष्टि



व्यक्तिसृष्टि



इससे स्पष्ट हो जाता है, जो देवता इस विशाल जगत् में परमात्मदेहमें हैं, वे हीं सूक्ष्म अंशरूपसे इस जीवके देहमें इंद्रियों रूपमें प्रकट हुई हैं। इस तरह विचार करनेपर यह बात प्रकट होगी कि, जैसा इंद्रियोंके पीछे जीवात्माके रूपमें 'इंद्र' है, उसी तरह विश्वव्यापक शक्तियों के पीछे परमात्मारूप में भी इन्द्रही है। अर्थात् एकही इन्द्रके जीवात्मा और परमात्मा ये रूप क्रमशः शरीरमें और विश्वमें है। यहांतक हमने इन्द्र का स्वरूप सामान्यतः मेघस्थानीय विद्युत् से पृथक् है, यह देख लिया। अब इसका विचार अधिक करनेके लिये सबसे प्रथम हम निरुक्त-कार श्री यास्काचार्यजीका निर्वचन देखते हैं—

निरुक्तकी व्युत्पत्ति।

इन्द्र इरां दृणातीति वा, इरां ददातीति वा, इरां दधातीति वा, इरां दारयत इति वा, इरां धारयत इति वा, इन्दवे द्रवतीति वा, इन्दौ रमत इति वा, इन्धे भूतानीति वा, 'तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वं' इति विज्ञायते, इदं करणादित्याग्रयणः, इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः, इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मणः, इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्।
(निरुक्त० १०।१।९)

इसमें निम्नलिखित प्रकार की निरुक्तियां दीं हैं। क्रमशः ये अब देखिये—

(१) इरां दृणाति= जो अन्नको, जलको, बीजको फोडता है,
(२) इरां ददाति= जो अन्न वा जलको देता है,
(३) इरां दधाति=जो अन्न वा जलका धारण करता है,
(४) इरां दारयते=जो अन्न वा जलका विदारण करता है,
(५) इरां धारयते= जो अन्न वा जलका धारण करता है,
(६) इन्दवे द्रवति= जो इन्दु-चन्द्रमा के लिये द्रवरूप होता है, रस निष्पन्न करता है,
(७) इन्दौ रमते= जो जल या रसमें रमता है,
(८) इन्धे भूतानि= जो भूतोंको प्रकाशित करता है, उजाला करता है, तेजस्वी करता है,
(९) प्राणैः समैन्धन्= प्राणोंसे जिसका दीपन होता है, प्राणोंसे जो प्रकाशित होता है,
(१०) इदं करोति= इस जगत्‌को जो निर्माण करता है,
(११) इदं पश्यति= इस विश्व को जो देखता है,
(१२) इन्दतीति इन्द्रः =परम ऐश्वर्यसे जो संपन्न होता है,

(१३) इंद्रन् शत्रूणां दारयिता= शत्रुओं को विदारण करनेवाला,

(१४) इंदन् शत्रूणां द्रावयिता= शत्रुओंको जो भगा देता है,

(१५) यज्वनां आदरयिता=याजकोंका आदर करनेवाला,

ये निर्वचन श्री यास्काचार्य के दिये हैं। इस प्रत्येक निर्वचन की सत्यता की परीक्षा करना हो, तो इन अर्थोंके दर्शक मन्त्र वेदोंमें ढूंढने चाहिये। जिस अर्थके वेदमन्त्र मिलेंगे, वह अर्थ वेदप्रमाणयुक्त है, अतः आदरणीय है, और जो वेदमें नहीं दीखेगा, वह लेनेयोग्य नहीं, ऐसा समझना योग्य है। अन्तिम तीनों अर्थ वेदके प्रमाणोंसे परिपुष्ट हैं, इसके प्रमाण हम आगे देंगे। क्रमांक ९-१२ तकके अर्थ अध्यात्म में पाठक देख सकते हैं, इस विषयमें पाणिनी मुनि का सूत्र पूर्वस्थलमें दिया है और उसका विवरण किया है और इसी तरह की ऐतरेयोपनिषद् की व्युत्पत्ति आगे हम देंगे। अध्यात्मपक्ष के मन्त्र भी पर्याप्त मिलेंगे। अन्य व्युत्पत्तियोंके लिये वेदमें मन्त्र देखने चाहिये। यह एक बडा खोज करनेका विषय है। इसका निर्देश यहां इसलिये किया है कि, इससे पाठकोंके मनमें इस बातका प्रकाश हो जाय कि, निरुक्तकार आदिकोंके अर्थ उस समय ही लेने चाहिये, जिस समय उस अर्थ को दर्शानेवाले मंत्र मिल जायँ। अस्तु! हम अब ब्राह्मणों और उपनिषदों में दिये हुए 'इन्द्र' पद के निर्वचन देखते हैं। सबसे प्रथम ऐतरेय उपनिषदमें एक उत्तम निर्वचन दिया है, वह देखिये-

उपनिषदोंमें इन्द्रका अर्थ।

तस्मादिदन्द्रो नाम इदंद्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं संतं इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ [ऐ० उ० ४।३।१४]

'इसका नाम 'इदं-द्र' था। इस 'इदं-द्र' को ही 'इंद्र' परोक्षवृत्तिसे कहने लगे।' 'इदं-द्र' का अर्थ है, (इदं) इस शरीरमें (द्र) सुराख करनेवाला। इस शरीरमें सुराख करके वहां इंद्रियों को निर्माण करनेवाला। इस आत्माने इस शरीरमें अनेक सुराख किये और उनसे अपने विविध कार्य करने लगा। इन सुराखोंका नाम ही इंद्रियाँ है। इस विषय में पहिले दी हुई 'इंद्रिय' शब्दकी व्युत्पत्ति देखिये। इस सम्बन्धमें 'दरां दृणाति' यह यास्कीय निरुक्ति देखने योग्य है। इस तरह ऐतरेय उपनिषद् की यह व्युत्पत्ति इन्द्रका स्वरूप 'आत्मा' निश्चित करती है। अब और देखिये-

एष ब्रह्मा, एष इन्द्रः एष प्रजापतिः,
एते सर्वे देवाः। [ऐ० उ० ५।३]

'यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही सब देव हैं।' अर्थात् इन्द्र नामसे अथवा 'इदं-द्र' नामसे यहां वर्णन किया है, वही सब देवतारूप है अथवा उसीके रूप सब देवता हैं।

ततः प्राणोऽजायत, स इन्द्रः स एषोऽसपत्नोऽद्वितीयः। [बृ० उ० १।५।१२]

'उससे प्राण हुआ, वही इन्द्र है और वही शत्रुरहित एक तथा अद्वितीय है।' यहां प्राणकोही इन्द्र कहा है। तथा-

एतं इन्धं सन्तं इन्द्र इत्याचक्षते। [बृ०उ०४।२।२]

'इस इन्ध अर्थात् प्रदीप्त करनेवालेकोही इन्द्र कहते हैं।' निरुक्तकारने यह व्युत्पत्ति दी है। 'इन्धे भूतानि'[निरु०] जो भूतोंको प्रकाशित करता है। निम्नलिखित वर्णनमें इन्द्रको परमात्मासे छोटा बताया है—

भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। [तै०उ०२।८।१]

इस परमात्माके भयसे अग्नि और इन्द्र डरते हुए धीमे धीमे प्रकाशते हैं।' तथा—

शतं देवानां आनन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः।
शतं इन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः॥
[तै० उ०२।८।१]

'देवोंके सौ आनन्दोंके बराबर इन्द्रका एक आनन्द है। इन्द्रके सौ आनंदोंके बराबर बृहस्पतिका एक आनन्द है।'

एष खलु आत्मा इन्द्रः। [मै०उ०६।८]
असौ वा आदित्य इन्द्रः [मै०उ०६।३३]
चाक्षुष इन्द्रोऽयम्। [मै०उ०७।११]
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥
[प्रश्न० २।९]

स ब्रह्मा, स शिवः, स हरिः, सेन्द्रः, सोऽक्षरः, परमः स्वराट्। [नृ०पू०ता०उ०१।४]

'यह आत्मा निःसंदेह इन्द्र है। यह सूर्य इन्द्र है। चक्षु में जो तेज है, वह इन्द्र है। प्राण ही इन्द्र है, वही तेजसे रक्षण करता है, अन्तरिक्षमें यही संचार करता है,

सूर्यभी यही है। वही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर और परम स्वराट् है।' अर्थात् प्राण ही इन्द्र है और वही सब देवताओंका रूप धारण करता है।

मस्तकमें इन्द्रशक्ति।

अपने शरीर मस्तकमें एक स्तन जैसा अवयव है, इसका वर्णन तै० उपनिषद् में निम्नलिखित प्रकार आया है—

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इव अवलंबते सा इंद्रयोनिः। [तै०उ० १।६।१]

'तालुके अन्दर [मस्तकके बीचमें] एक स्तन जैसा अवयव है, वह इन्द्रशक्तिको उत्पन्न करनेवाला है।' अपने शरीर में इन्द्रशक्ति का संचार यहांसे होता है। इस को 'पीनियल ग्लण्ड' [इन्द्रग्रंथी] कहते हैं। योगसाधन करते हुए इस पर ध्यान करनेसे यह ग्रन्थी उत्तेजित होती हैं, जिससे अनेक लाभ होते हैं। इस विषयमें 'इंद्र-शक्तिका विकास' नामक पुस्तक अवश्य देखिये।

इन्द्रके विषयमें ब्राह्मणग्रंथोंमें निम्नलिखित वचन मिलते हैं। वे अब देखिये--

ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रका अर्थ।

(१) इंधो वै नाम एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तं वा एतं इंधं संतं इंद्र इत्याचक्षते। [श०ब्रा० १४।६।११।२]

(२) अस्मिन् वा इदमिंद्रियं प्रत्यस्थादिति तदिंद्रस्य इंद्रत्वम्। [तै०ब्रा० २।२।१०।४]

(३) इंद्रस्य इंद्रियेणाभिषिञ्चामि। [ऐ०ब्रा० ८।७]

(४) इंद्र [एवैनं] इंद्रियेण [अवति] [तै०ब्रा० १।७।६।६]

(५) दधातु इंद्र इंद्रियम्। [तां०ब्रा० १।३।५]

(६) मयि इंद्र इंद्रियं दधातु। [श०ब्रा० १।८।१।४२]

(७) इंद्र इति होतं आचक्षते य एषः [सूर्यः] तपति। [श०ब्रा० ४।६।७।११]

(८) एष वै शुक्रो य एष तपति एष उ एवेन्द्रः। [श०ब्रा० ४।५।५।७; ४।५।९।४]

(९) स यः स इंद्र एष एव स य एष तपति। [जै०ब्रा०उ० १।२८।२; १३२।५]

(१०) यः स इंद्रोऽसौ स आदित्यः। [श०ब्रा० ८।५।३।२]

(११) अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति। उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष [अग्निः] भवतींद्रः। [श०ब्रा० २।३।२।११]

(१२) इंद्रो वाग् इत्यु वाऽआहुः [श०ब्रा० १।४।५।४]

(१३) तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति [श०ब्रा० ११।१।६।१८]

(१४) अथ य इंद्रः सा वाक्। [जै०ब्रा०उ० १।३३।२]

(१५) वाग्वा इंद्रः। [कौ०ब्रा० २।७; १३।५]

(१६) वागिन्द्रः। [श०ब्रा० ८।७।२।६]

(१७) यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः [श० ब्रा० ४।१।३।१९]

(१८) योऽयं चक्षुषि पुरुष एष इन्द्रः। [जै०ब्रा०उ० १।४३।१०]

(१९) ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः। [श०ब्रा० १४।४।३।१९]

(२०) प्राण एवेंद्रः। [श०ब्रा० १२।९।१।१४]

प्राण इन्द्रः। [श०ब्रा० ६।१।२।२८]

(२१) हृदयमेवेंद्रः। [श०ब्रा० १२।९।१।१५]

(२२) यन्मनः स इंद्रः। [गो०ब्रा०उ० ४।११]

(२३) मन एवेंद्रः। [श०ब्रा० १२।९।१।१३]

(२४) इंद्रो वै यजमानः। [श०ब्रा० २।१।२।११; ३।३।३।१०; ४।५।४।८; ५।१।३।४; ८।५।३।८]

(२५) द्वयेन वा एष इंद्रो भवति यश्च क्षत्रियो यदु च यजमानः। [श०ब्रा० ५।३।५।२७]

(२६) ऐंद्रो वै राजन्यः। [तै०ब्रा० ३।८।२३।२]

(२७) इंद्रः क्षत्रम्। [श०ब्रा० १०।४।१।५; कौ०ब्रा० १२।८; श०ब्रा० २।५।२।२७; २।५।४।८; ३।९।१।१६; ४।३।३।६]

(२८) यदशनिरिंद्रः। [कौ०ब्रा० ६।९]

(२९) स्तनयित्नुरेवेंद्रः। [श०ब्रा० ११।६।३।९]

(३०) इन्द्रो ब्रह्मेति। [कौ०ब्रा० ६।१४]

(३१) प्रजापतिर्वा स इन्द्रः। [श०ब्रा० २।३।१।७]

(३२) देवलोको वा इन्द्रः। [कौ०ब्रा० १६।८]

(३३) इन्द्रो बलं बलपतिः। [श०ब्रा० ११।४।३।१२; तै० ब्रा० २।५।७।४]

(३४) वीर्यं वा इन्द्रः। [तां.ब्रा. ९।७।५, ८। गौ०ब्रा०उ० ६।७]

(३५) इन्द्रियं वीर्यं इन्द्रः। [श०ब्रा० २।५।४।८; ३।९।१।१५; ५।४।३।१८]

(३६) शिस्नमिन्द्रः। [श०ब्रा०१२।९।१।१६]
(३७) रेत इन्द्रः। [श०ब्रा०१२।९।१।१७]
(३८) अर्जुनो ह वै नाम इन्द्रः। [श०ब्रा०२।१।२।११; ५।४।३।७]
(३९) इन्द्रो ह्याहवनीयः।[श०ब्रा०२।६।१।३८;२।३।२।२]
(४०) इन्द्र एष यदुद्गाता। [जै०ब्रा०उ०१।२२।२]
(४१) इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम्। [तै०ब्रा०२।३।१।३]
(४२) इन्द्रः सर्वा देवता, इन्द्रश्रेष्ठा देवाः। [श०ब्रा० ३।४।२।२;१।६।३।२२]
(४३) ततो वा इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत्। [तै०ब्रा०२।२।१०।३]
(४४) इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः, पारयिष्णुतम.। [ऐ०ब्रा०७।१६;८।१२]
(४५) इन्द्रो वै देवानां ओजिष्ठो बलिष्ठः। [कौ०ब्रा०६।१४;गो०ब्रा०उ०१।३]
(४६) इन्द्र ओजसां पते। [तै०ब्रा०३।११।४।२]
(४७) इन्द्राय अंहोमुचे। [तै०ब्रा०१।७।३।७]
(४८) इन्द्राय सुत्राम्णे। [तै०ब्रा०१।७।३।७]
(४९) ओकः कारी हैवैषामिन्द्रो भवति। [गो०ब्रा०६।४,५।१५; ऐ०ब्रा०६।१७,२२]
(५०) इन्द्रो यज्ञस्यात्मा, इन्द्रो देवता। [श०ब्रा०९।५।१।३३]
(५१) ऋक्सामे वा इंद्रस्य हरी। [ऐ० ब्रा० २।२४; तै० ब्रा० १।६।३।९]
(५२) इंद्रस्य हरी बृहद्रथंतरे। [तां० ब्रा० ९।४।८]
(५३) सेना इंद्रस्य पत्नी। [गो० ब्रा० २।९]
(५४) ऐंद्राः पशवः। [ऐ० ब्रा० ६।२५]
(५५) एतद्वा इंद्रस्य रूपं यदृषभः।[श०ब्रा०२।५।३।१८]
(५६) इंद्रो वा अश्वः। [कौ० ब्रा० १५।४]
(५७) ऐंद्रो वै माध्यंदिनः। [गो० ब्रा०उ० ४।१३; ६।९। कौ० ब्रा० ५।५; २२।७; ऐ० ब्रा० ६।३०]
(५८) इंद्रो ज्योतिर्ज्योतिरिंद्र इति। [कौ०ब्रा०१४।१]
(५९) यत् शुक्लं तदैन्द्रम्। [श० ब्रा० १२।९।१।१२]

इतने ब्राह्मणग्रन्थोंके वचनों में 'इंद्र' के जो अर्थ दिये हैं, वे ये हैं- [१] दक्षिण नेत्रमें जो पुरुष है, वह इन्द्र है, [२] इंद्रियकी शक्तिसे इन्द्र का बोध होता है, [३] इन्द्र इंद्रियसे रक्षा करता है, [४] सूर्य ही इन्द्र है, [५] अग्नि जो बलसे जलता है, जिसका धूम ऊपर जाता है वह इंद्र है, [६] वाणी ही इन्द्र है, [७] वायुही इन्द्र है, प्राण इंद्र है, [८] हृदय, मन ये इन्द्र हैं, [९] यजमान इन्द्र है, [१०] क्षत्रिय, राजन्य इन्द्र है, [११] क्षात्र तेज इन्द्र है, [१२] मेघस्थानीय विद्युत् इन्द्र है, [१३] ब्रह्मा इन्द्र है, [१४] प्रजापति, देवलोक, ये इन्द्र हैं, [१५] बल और बलवान् दोनों इन्द्र हैं, [१६] वीर्य इन्द्र है, [१७] शिश्न और रेत इन्द्रिय है, [१८] अर्जुन इन्द्र है(इन्द्र पुत्र होनेसे), [१९] आहवनीय अग्नि इन्द्र है, [२०] उद्गाता इन्द्र है, [२१] देवोंमें श्रेष्ठ देव इन्द्र है, सब देवताही इन्द्र हैं, देवोंका राजा इन्द्र है। [२२] जो देवोंमें बलिष्ठ, ओजिष्ठ, सहिष्ठ और संकटोंसे पार के जानेवाला है, वह इन्द्र है, [२३] पापसे छुडानेवाला, रक्षा करनेवाला इन्द्र है, [२४] घर बनानेवाला इन्द्र है, [२५] यज्ञ का आत्मा, यज्ञ का देवता इन्द्र है, [२६] बैल इन्द्र का रूप है, अश्व इंद्र है, [२७] ज्योति इन्द्र है, जो श्वेत तेज है, वह इन्द्र है,[२८] ऋचा व साम, बृहत् और रथन्तर ये इन्द्रके घोडे हैं। [२९] सेना इन्द्रकी पत्नी है।

इन इन्द्रके अर्थों या स्वरूपों को देखनेसे केवल मेघस्थानीय विद्युत्ही इन्द्र है,ऐसा कहना योग्य नहीं हो सकता।

शरीरमें इंद्र= आंखकी पुतली, इंद्रिय, हृदय, मन, प्राण, आत्मा, वाणी, बल, ओज, सह, गौरवर्ण, शिश्न, रेत ये शरीरमें इन्द्रके रूप हैं।

मानवोंमें इंद्र= यजमान, ब्रह्मा, उद्गाता, राजा, क्षत्रिय, वीर, बलिष्ठ, ओजिष्ठ, दक्षिष्ठ, दुःखोंके पार ले जानेवाला, वक्ता, घर बनानेवाला इन्द्र है।

देवोंमें इन्द्र= सब देवता, देवोंका राजा, सूर्य, आदित्य, अग्नि, तेज, विद्युत, मेघस्थानीय बिजुली इन्द्र है।

पशुओंमें इन्द्र= बैल और अश्व ये पशुओंमें इन्द्र हैं।

इस तरह इन्द्रके रूप विविध स्थानोंमें हैं। 'इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[२११ ऋ०६।४७।१८]इन्द्र अपनी शक्तियोंसे नाना रूप धारण करता है, वह इस तरह उनके नाना रूप हैं। सब विश्वही उसका रूप है और विश्वान्तर्गत हरएक रूप इन्द्रकाही रूप है।

इस तरह इन्द्र की महिमा देखनेयोग्य है। अब वेदमें जो नाम इंद्रके लिये आये हैं, उनका विचार करते हैं-

वेदमें इन्द्रके विशेषण।

परमेश्वर का ही नाम 'इन्द्र' है, ऐसा स्पष्ट दर्शानेवाले कई पद वेदके मंत्रोंमें हैं देखिये–[अनूनः] किसी स्थानपर न्यून्य नहीं, सब स्थानोंमें एक जैसा भरा है, सर्व व्यापक [दिवि-क्षाः द्युक्षः]द्युलोकमें, आकाशमें रहनेवाला[स्वर्पति] द्युलोक अथवा आकाशका स्वामी, [विश्वतस्पृथुः] विश्वके चारों और भरपूर विश्वसे भी अधिक व्यापक, [अन्तरिक्षप्राः] अन्तरिक्षमें, बीचके अवकाशमें परिपूर्ण होकर रहनेवाला, [विभुः] व्यापक,विश्वव्यापक, [विश्वभूः] विश्वमें भरपूर, विश्वभरमें रहनेवाला, [दिविस्पृश] आकाशमें व्यापक ये शब्द इन्द्रदेव विश्वभरमें परिपूर्णतया व्यापक है, यह भाव बताते हैं कि सर्वव्यापक परमेश्वर ही इन्द्र है, यह बात इन शब्दोंसे सिद्ध होती है।

[विश्वकर्मा] सब विश्वकी रचना करनेवाला, विश्वरूप कर्म करनेवाला [लोककृत्] सब सूर्यादि लोकोंका निर्माण करनेवाला [विश्वमनाः] विश्व जितना जिसका व्यापक मन है, [विश्ववेदाः] विश्वको यथावत् जाननेवाला ये पदभी इंद्र परमात्माही है, ऐसा बताते हैं। ये पद वेदमंत्रों में इन्द्रके गुण बताते हैं। विश्वकी रचना करनेवाला और विश्वको जाननेवाला इन्द्र निःसंदेह परमेश्वर है।

[विश्वरूपः] विश्व ही जिसका रूप है, विश्वमें जो जो वस्तु है, वह सब इन्द्रकाही रूप है। इन्द्रही नाना रूप धारण कर विश्वमें रहता है। भगवद्गीता का ११वाँ अध्याय इसी 'विश्वरूपदर्शन' नामका है। वही भाव दर्शानेवाला इन्द्रवाचक यह शब्द वेदमंत्रमें है। [विश्व-देवः] सब देव जिसके अंश हैं। विश्वरूपी परमेश्वरकाही यह वर्णन है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आदि सब देवताएं जिसके शरीरके अंग प्रत्यंग हैं। परमात्मा ही इन्द्र है, यह आशय इन्द्रवाचक इन शब्दोंसे व्यक्त होता है।

(ईशानकृत्)स्वामियोंको बनानेवाला अर्थात् राजाओंका भी जो राजा है, प्रभुका भी प्रभु, [बृहस्पतिः] इस बडे विश्व का एकमात्र पालन करनेवाला, [वास्तोष्पति] सब वस्तुओंका पालक, [ज्येष्ठ राजः] सब राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ राजा है, [ज्येष्ठतमः] श्रेष्ठोंमें जो श्रेष्ठ है, [देवतमः] सब देवोंमें जो श्रेष्ठ देव है, [द्युमत्तमः] प्रकाशवानोंमे जो सबसे अधिक प्रकाशमान है, [पितृतमः] पिताओंकाभी जो पिता है, [शिवतमः, शंतमः, शंभूः] कल्याण करनेवालोंमें जो सबसे अधिक कल्याण करनेवाला है, [असमः] जिसके समान कोई नहीं है, ये सब इन्द्रवाचक पद परमेश्वरका ही बोध कराते हैं।

[स्वरोचिः] उसका अपना निज तेज है, किसी दूसरेके तेजसे वह तेजस्वी नहीं बना, अपने तेजसेही वह सदा प्रकाशता रहता है, [बृहद्भानुः] उसका तेज बडा भारी है, उससे बडा किसीका भी तेज नहीं है, [चित्रभानुः] उस का तेज चित्रविचित्र है। वह स्वयं ज्योति है। ये शब्द परमेश्वरका स्वयं तेजस्वी होना बताते हैं। इन्द्रके लिये ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अपने तेजसे सब विश्वको सुंदर रूप देता है, यह भाव [सुरूपकृत्नु] पदसे व्यक्त होता है।

यह [अमर्त्य] अमर है, [अजरः] अजर है। [अजुरः, अजुर्यः, अजुर्यत्] क्षीण होनेवाला नहीं है, सबका [पूर्वजाः] पूर्वज है, सबका आदि है, सब धर्मोंका निर्माणकर्ता [धर्मकृत्]है, [विधर्ता] सबका आधार है, ये पद इन्द्रके लिये प्रयुक्त हुए हैं और ये स्पष्टताके साथ ईश्वरके वाचक प्रतीत होते हैं। [अनपच्युत्] इसको स्वस्थानसे कोई हिला नहीं सकता, यह अपने स्थानमें सदा रहता है।

[विश्वचर्षणि] सर्व मनुष्यसमाजही परमेश्वरका रूप है, जनता–जनार्दन ही उसको कहते हैं, [पाञ्चजन्यः] पञ्च जन अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच प्रकारके लोग उसका स्वरूप है, [विश्वानरः] सब मानवजातिही ईश्वरका स्वरूप है। 'ब्राह्मण इस ईश्वरकी सिर है, क्षत्रिय इसके बाहु है, वैश्य इसका उदर है और शूद्र इसके पांव हैं। [ऋ० १०।९०।१२] इस वेदोक्त वर्णन के अनुसार ये पद निःसन्देह परमात्मवाचक हैं।

ये पद किस मन्त्रमें प्रयुक्त हुए हैं, यह पाठक इन सूचियों में देख सकते हैं और इनके मन्त्रभी देख सकते हैं। पर ये सब शब्द इन्द्रवाचक हैं और ये सब शब्द परमात्माके ही वाचक हैं। अर्थात् 'इंद्र' परमात्माही है। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि, जो इन्द्र को केवल मेघस्थानीय विद्युत् ही मानते हैं, वे इन्द्रके इस परमेश्वरीय भाव को नहीं जान सकते।

एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ।
अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः ॥ [ऋ० १।१६४।४६]

"एकही सत् है, जिसका वर्णन विद्वान् लोक अनेक प्रकार से करते हैं, उसको अग्नि, यम, मातरिश्वा, वायु, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि कहते हैं।" इस तरह उस 'एकं सत्' को इन्द्रपद से वर्णन किया। अतः इन्द्र आत्मा है अथवा 'एकं-सत्' ही है। अब इस विषयके कुछ मन्त्र यहां देखते हैं-

सबका एक राजा।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृंगिणो वज्रबाहुः। सेदु राजा क्षयति चर्षणीनां अरान्न नेमिः परि ता बभूव॥

(७२९ ऋ० १-३२-१५)

इंद्र (यातः अवसितस्य राजा) जंगम और स्थावर पदार्थमात्र का राजा है, वही (वज्रबाहुः) वज्र के समान जिसके बाहु हैं, ऐसा इन्द्र (शमस्य च शृंगिणः) शान्त और सींगवालों का अर्थात् शान्त और क्रूरों का भी राजा है। वही (चर्षणीनां राजा) सब प्रजाजनों का राजा है। जिस तरह (अरान् नेमिः) अरों को चक्र की लोहपट्टि घेरती है, उस तरह (ताः परि बभूव) इन सब को वही घेरता है।

सब का एकमात्र प्रभु है, वह सब को घेरता है, वह सब के चारों ओर है। सर्वव्यापक है। सब स्थावर-जंगम का एकमात्र प्रभु है। तथा और देखिए-

य एकश्चर्षणीनां वसूनां इरज्यति।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥ (३६ ऋ० १-७-९)

"इन्द्र ही पञ्चजनों का, और सब प्रजाजनों का तथा (वसूनां) सब धनों का एकमात्र स्वामी है।"

स्थावरजंगम का एक ही प्रभु है। इस विश्व के अनेक ईश्वर नहीं हैं, यही सब का एकमात्र एक ही प्रभु है। मनुष्यों, पशुओं और सब अन्य वस्तुओं का अधिष्ठाता यही है। इसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन कर नहीं सकता। यह द्युलोक से भी बडा है। इस विषय में आगे का मंत्र देखिए-

द्युलोक से बडा।

दिवश्चिदस्य वरिमा वि पप्रथ इन्द्रं न मह्ना पृथिवी चन प्रति। भीमस्तुविष्मान् चर्षणिभ्य आतपः शिशीते वज्रं तेजसे न वंसगः॥

(७९७ ऋ० १-५५-१)

द्युलोक से भी (अस्य वरिमा) इस इन्द्र का महिमा बहुत बडा है। पृथ्वी से भी बहुत बडा है। वह इन्द्र (भीमः) भयंकर (तुविष्मान्) बलवान् और (चर्षणिभ्यः आतपः) लोगों के लिये प्रकाश देनेवाला है। (वंसगः) बैल जैसा वह वीर (तेजसे वज्रं शिशीते) तीक्ष्ण करने के लिये शूर के वज्र को तेज करता है।

आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि।
न त्वावाँ इंद्र कश्चन न जातो न जनिष्यते
अति विश्वं ववक्षिथ॥ (९२० ऋ० १-८१-५)

इन्द्र ने (पार्थिवं रज. पप्रौ) पृथ्वी और अन्तरिक्ष को व्यापा है, उसने (दिवि रोचना बद्बधे) द्युलोक में तेजस्वी तारागण रखे हैं। तेरे समान दूसरा कोई नहीं है, न कोई है और न होगा। (विश्वं अति ववक्षिथ) तू विश्व से बढकर है।

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि॥

(६५ ऋ० १-१०-८)

हे इन्द्र! (उभे रोदसी) द्युलोक और पृथिवी ये दोनों (त्वा न इन्वतः) तुझ को अपने अन्दर समा नहीं सकते। तू (ऋघायमाण) शत्रुओं का नाश करनेवाला है। (स्वर्वती. अपः जेष) तेजस्वी उदकों का जय करके वह उदक और (गाः) गौवें (अस्मभ्यं सं धूनुहि) हम सब के लिये दो।

इन्द्र पृथ्वी और द्युलोक से भी बढकर है। सर्वत्र व्याप कर रहनेवाला वह है और वह इससे भी अधिक व्यापक है, अर्थात् वह जहां नहीं, ऐसा स्थान नहीं है।

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मन। चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्व परिभूरेष्या दिवम्॥

(७७१ ऋ० १-५२-१२)

(त्वं अस्य रजसः व्योमनः पारे) तूने इस अन्तरिक्ष और आकाश के परे रहकर (भूमिं चकृषे) भूमि का निर्माण किया। (स्वभूत्योजा धृषन्मनः) तू अपने सामर्थ्य से युक्त और शत्रुका धर्षण करनेवाला है, अतः हमारी (अवसे) रक्षा करने के लिये यह सब (ओजसः प्रतिमानं) अपने बल के योग्य कर्म करता है। तूं (स्वः दिवं अपः परिभूः एषि) द्युलोक, अन्तरिक्ष और अपोलोक को घेर कर रहता है।

त्रिलोक इंद्र से विभक्त नहीं ।

न यं विविक्तो रोदसी नान्तरिक्षाणि वज्रिणम् । अमादिदस्य तित्विषे समोजसः ॥
(३११ ऋ० ८-१२-२४)

(य वज्रिणं) जिस इंद्र को (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वी तथा (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष (न विविक्तः) अपने से पृथक् कर नहीं सकते । उस इंद्र के (ओजसः) बल से सब कुछ (तित्विषे) प्रकाशित होता है ।

कुछ भी दूर नहीं है ।

न ते दूरे परमा चिद् रजांसि आ तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम् । स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधाने अग्नौ ॥
(१२३९ ऋ० ३-३८-२)

(परमा रजांसि) दूर रजोलोक भी तेरे लिये (न ते दूरे) दूर नहीं हैं, हे (हरिवः) अश्वयुक्त इन्द्र ! (हरिभ्यां) अपने दोनों घोडों के साथ (आ प्रयाहि) आओ, (स्थिराय वृष्णे) तुज जैसे स्थिर बलवान् वीर के लिये ये सवन किये हैं और अग्नि प्रज्वलित करके (ग्रावाणः युक्ताः) रस निकालने के लिये ग्रावों को लगा दिया है ।

द्युलोक का उत्पादक इन्द्र ।

जनिता दिवो जनिता पृथिव्या पिबा सोमं मदाय कं शतक्रतो । यं ते भागमधारयन् विश्वाः सेहानः पृतना उरु ज्रयः समप्सुजित् मरुत्वां इन्द्र सत्पते ॥ (१७७२ ऋ० ८-३६-४)

इन्द्र, द्युलोक और पृथ्वीका उत्पन्न करनेवाला है। तू सोमका पान कर, आनद प्रप्त कर। सब देव जो भाग तेरे लिए निश्चित करते हैं, वह यह है। सब (पृतनाः) सैन्य का पराभव करनेवाला तू है और (अप्सु जित्) जलमें अथवा अन्तरिक्षमें विजय करनेवाला भी तू ही है।

पृथ्वी और जल का उत्पादक ।

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरंदरो दासीरैरयद् वि । अजनयन् मनवे क्षां अपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतोत् ॥ (१२१४ ऋ० २-२०-७)

" वह वृत्र का नाश करनेवाला और (पुरन्दरः) शत्रु के नगरों का भेदन करनेवाला इन्द्र (कृष्णयोनीः दासीः) काले दासों अर्थात् शत्रुओं को (वि ऐरयत्) भगा देता है। उसने मनुष्योंके लिए (क्षां अपः च) पृथ्वी और जल उत्पन्न किया। वह इन्द्र यज्ञ करनेवालों की प्रशंसा की वृद्धि करे ।

' कृष्णयोनी ' शब्द का अर्थ कृष्ण कृत्य करनेवाले दुष्ट शत्रु है। ऐसे शत्रुओं को इन्द्र भगा देता है।

आकाश खडा करनेवाला ।

अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तं आ रोदसी अपृणदन्तरिक्षम् । स धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैः वज्रेण खान्यतृणत् नदीनाम् । वृथासृजत् पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार (११६३-६४ ऋ० २।१५।२-३)

(अवंशे) आधाररहित आकाश में (बृहन्तं द्यां अस्तभायत्) बडे आकाश को स्थिर किया और (रोदसी) पृथ्वी और आकाश को तथा (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को (आ अपृणत्) भर दिया। उसने पृथ्वी का धारण किया और बढाया ।

(मानैः) नाप लेकर (प्राचः सद्म इव) जैसा मकान बनाते हैं, वैसा (नदीनां खानि अतृणत्) वज्रसे नदियोंके मार्ग बना दिये (दीर्घयाथै. पथिभिः) दीर्घ मार्गों से जानेवाली नदियां उसने सहजी उत्पन्न की हैं।

विश्वकी रचना करनेका यह अपूर्व वर्णन है। सब लोकलोकांतर निराधार अन्तराल में रखे हैं, यह प्रभु का अद्भुत सामर्थ्य है। और देखिए-

नक्षत्र स्थिर किये ।

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ (१६२ ऋ० ८-१४-९)

इन्द्रने आकाशमें तेजस्वी तारागण स्थिर और सुदृढ किए। उन स्थिरोंको कोई (न पराणुदे) हिला नहीं सकता।

नक्षत्र स्थिर हैं, यह यहां कहा है। नक्षत्रों को स्थिर करनेवाला यही इन्द्र है। अतः इसकी शक्ति अगाध है, सब उसके सामने कांपते हैं-

स्थावर, जंगम कांपते हैं।

अभिष्टने ते अद्रिवो यत् स्था जगच्च रेजते।
त्वष्टा चित् तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भिया
अर्चन् अनु स्वराज्यम् ॥ (५१३ ऋ० १-८०-१४)

हे (अद्रिवः) इन्द्र! (ते अभिष्टने) तेरे गर्जन से जो स्थावर, जंगम है, वह सब (रेजते) कांपने लगता है, (तव मन्यवे) तेरा क्रोध होनेपर त्वष्टा भी (भिया वेविज्यते) डर से कांपता है। ऐसा तेरा प्रभाव है, अतः स्वराज्य की अर्चना कर।

तव त्विषो जनिमन् रेजत द्यौ रेजद् भूमिर्भि-
यसा स्वस्य मन्योः । ऋघायन्त सुभ्वः पर्व-
तास आर्दन् धन्वानि सरयन्त आपः ॥२॥
सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता
स्वपस्तमो भूत् । य ईं जजान स्वर्यं सुवज्रं
अनपच्युतं सदसो न भूम ॥४॥ य एक इच्च्या-
वयति प्र भूमा राजा कृष्टीनां पुरुहूत इन्द्रः ।
सत्यमेनमनु विश्वे मदन्ति रातिं देवस्य गृणतो
मघोनः ॥५॥ (१४८९, ९१-९२ ऋ. ४।१७ २,४,५)

(तव त्विष. जनिमन्) तेरे जन्मके समय तेरे तेजसे (द्यौः रेजत) द्युलोक कांपने लगा, (भूमिः रेजत) भूमी भी कांपने लगी, (स्वस्य मन्योः भियसा) तेरे क्रोध के भयसे ये भयभीत हुए, (पर्वतासः सुभ्वः ऋघायन्तः) उत्तम पर्वत फट गए, (धन्वानि आर्दन्) शुष्क देश गीले हुए, और (आपः सरयन्त) जल बहने लगा।

(ते जनिता द्यौ सुवीरः अमन्यत्) तेरा जनक पिता द्युलोक उत्तम पुत्र से युक्त अपने आपको मानने लगा, (इन्द्रस्य कर्ता) वह इंद्र का प्रकट करनेवाला था और वह (सु-अपः-तमः) बडे कर्मों का कर्ता हुआ। उसने (सुवज्र) उत्तम वज्रधारी (अनपच्युतं) न गिरनेवाले (स्वर्यं) तेजस्वी इन्द्र को उत्पन्न किया।

वह एक ही वीर (भूमा च्यावयति) बडे शत्रुको हटाता है, वही स्तुत्य इन्द्र (कृष्टीनां राजा) प्रजाओंका एकमात्र राजा है। वह इन्द्र उपासक को धन देता है, इसलिये सब संसार (विश्वे एनं सत्यं अनुमदन्ति) इस सच्चे वीर का अनुमोदन करता है।

सब का वश करनेवाला इंद्र।

अर्चा शक्राय शाकिने शचीवते शृण्वन्तमिन्द्रं
महयन्नभि ष्टुहि । यो धृष्णुना शवसा रोदसी
उभे वृषा वृषत्वा वृषभो न्यृञ्जते ॥
(७८७ ऋ. १।५४।२)

उस शक्तिमान् और बुद्धिमान् इंद्र की स्तुति करो कि, जो अपने (धृष्णुना शवसा) घर्षणशील बल से दोनों द्यावापृथिवी को अपने वश में करता है। जैसा (वृषभ) वीर्यशाली वीर अपने सामर्थ्य से स्त्री को वश करता है।

सब विश्व जिस के सामने कांपता है, भयभीत होता है, जिस की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकता। अत प्रभु सब को वश करनेवाला है।

इंद्र का असीम सामर्थ्य।

असमं क्षत्रमसमा मनीषा प्र सोमपा अपसा
सन्तु नेमे। ये त इंद्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं
स्थविरं वृष्ण्यं च ॥ (७९३ ऋ. १।५४।८)

(अ- समं क्षत्रं) इंद्र का क्षात्र तेज असीम है, उस की (मनीषा असमा) बुद्धि भी असीम है। (नेमे) ये याजक (अपसा प्र सन्तु) अपने कर्म से उत्कर्ष को प्राप्त हों। क्योंकि जो लोक तेरी बधाई करते हैं, वे (महि स्थविरं वृष्ण्यं क्षत्रं) बडा विशाल, पौरुषयुक्त क्षात्र तेज प्राप्त करते हैं।

इतना असीम सामर्थ्य है, इसीलिये सब पर उस का प्रभुत्व चल रहा है, सब को वश में वह रखता है। उस पर कोई हुकूमत नहीं कर सकता, पर सब पर उसी की हुकूमत चलती है। देखिये-

सत्यमित् तन्न त्वावां अन्यो अस्तीन्द्र देवो न
मर्त्यो ज्यायान् । अहन्नहिं परिशयानमर्णोऽवा-
सृजो अपो अच्छा समुद्रम् ॥ (१९७१ ऋ. ६।३०।४)

हे इंद्र! यह सत्य है कि, तेरे जैसा न कोई देव है और (न मर्त्यः) न मानव है। तेरे से (ज्यायान्) बडा तो कोई नहीं है। (अर्णः परिशयानं अहिं अहन्) जल को प्रतिबंध करनेवाले शत्रु का वध कर के तूने (अप समुद्र अवासृजः) जल खुला किया, जो समुद्र तक बहता रहा।

हरएक वस्तुमात्र में प्रभु का सामर्थ्य दीखता है। क्या जल में, क्या वनस्पति में, क्या अन्य पदार्थों में, उस का

सामर्थ्य विश्वभर में ओतप्रोत भरा है। अतः सब पर उस का प्रभुत्व स्थिर है और उस की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, इस विषय में देखिये-

तेरे मार्ग का अतिक्रमण सूर्य नहीं करता ।

दिशः सूर्यो न मिनाति प्रदिष्टा दिवेदिवे हर्यश्व-
प्रसूताः । सं यदानळध्वन आदिदश्वैर्विमोचनं
कृणुते तत् त्वस्य ॥ (१२४९ ऋ. ३।३०।१२)

(प्रदिष्टाः दिशः) निश्चित किये दिशाओं को जो कि, (हर्यश्व-प्रसूता) इंद्रने निश्चित किये हैं, (सूर्य. न मिनाति) सूर्य नहीं छोडता । (अश्वैः यद् अध्वनः आनट्) घोडों से जब वह मार्गपर से चला जाता है, तब [विमोचनं कृणुते] विमोचन करता है। यह इसी का कार्य है।

इस तरह अनेक मन्त्र पाठक इन सूक्तों में परमेश्वर के वाचन देख सकते हैं, तथा पूर्वस्थान में जो विशेषण के शब्द ईश्वरवाचक करके बताये हैं, उन पदों का भाव पाठक इन मंत्रों में देख सकते हैं और अनुभव कर सकते हैं कि, इंद्रदेवता के मंत्रों में ईश्वरविषयक वर्णन का अच्छा स्थान है।

मैं इन्द्र हूं = इन्द्रका साक्षात्कार ।

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि
सत्यमस्ति। नेन्द्रोऽस्तीति नेम उ त्व आह क
ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥ ३ ॥ अयमस्मि
जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्ति आदर्दिरो भुव-
ना दर्दरीमि ॥४॥ (९९३-९४ ऋ० ८।१००।३-४)

यदि इन्द्र (सत्यं अस्ति) सचमुच है, तब तो उस की (स्तोम भरत) स्तुति करो, पर नेमने (आह) कहा कि (न इन्द्रः अस्ति) इन्द्र नहीं है, (क ईं ददर्श) किसने उसे देखा ? और हम (कं अभि स्तवामः) किस-की स्तुति करें ?

इन्द्रने उत्तर दिया- हे (जरितः) स्तोता ! (अयं अस्मि) यह मैं हूं (इह मा पश्य) यहां मुझे देख । (मन्हा विश्वा जातानि अभि अस्मि) अपने महत्व से सब वस्तुओं पर मैं ही प्रभाव करता हूं ! अतः (ऋतस्य प्रदिशः) सत्य को बतानेवाले (मा वर्धयन्ति) मुझे ही बढाते हैं। (आ दर्दिरः) क्रुद्ध होने पर मैं [भुवना दर्दरीमि] सब भुवनों का नाश करता हूं।

भक्त को इन्द्र प्रत्यक्ष दर्शन देता है, यह बात यहां दर्शायी है। ईश्वरसाक्षात्कार होता है। ईश्वर साक्षात् होकर ' मैं हूं ' ऐसा कहता है। जिसका भाग्य हो, उस को यह दर्शन होगा।

इस तरह ईश्वरवर्णनपरक मंत्रों का नमूना देखने के बाद हम वीरत्वविषयक वर्णन का नमूना देखना चाहते हैं। ऊपर के स्थान में जहां ब्राह्मणग्रंथों के वचन दिये हैं, वहां ' राजा, क्षत्रिय, वीर, शूर ' आदि का वाचक (इन्द्र) पद आया है। इंद्र के इस भाव का अब विचार करना है—

क्षत्रिय वीर इन्द्र ।

अब हम क्षत्रिय पराक्रमी वीर इन्द्र का विचार करते हैं। इन्द्रदेवता के जो मन्त्र वेद में हैं, उन में उसके पराक्रम के मंत्र ही बहुत हैं। अर्थात् क्षत्र भाव इन्द्र में विशेष प्रकट है। शत्रु का हनन यह भाव इसमें मुख्य है। इस भाव के वाचक शब्द इन्द्र के नामों में ये हैं-

(असुरहा) असुरों का नाश करनेवाला, (अहिहा) अहि नामक शत्रु का वध करनेवाला, (दस्युहा) शत्रुओंका नाश करनेवाला, (वृत्रहा, वृत्रहन्ता) वृत्र का वध करनेवाला, (अघहन्ता) सब प्रकार से वैरियों का नाश करनेवाला, (विहन्ता) विशेष रीति से दुष्टों का वध करनेवाला, (सत्राहा) मित्रदल को इकट्ठा कर के शत्रु का नाश करनेवाला, (महावधः) बडी कत्तल करनेवाला, ये इन्द्र के वाचक शब्द शत्रुवध करने का उस का स्वभाव बताते हैं।

शत्रु का हमला होने पर उसको सहकर अपने स्थान में सुस्थिर रहने का भाव निम्नलिखित शब्दोंद्वारा व्यक्त होता है- (अभिमातिषाह, अभिमातिहा) शत्रु को सहना, (चर्षणीसहः) शत्रुसेना के आक्रमण को सहने-वाला, (जनं सहः, नृषह.) जनताकी चढाईको सहने-वाला, (प्रसहः) विशेष प्रकारकी चढाई को सहनेवाला, (पृतनाषाड्) शत्रु की सेना के हमले को सहनेवाला, (तुराषाड्) त्वरा के साथ शत्रु के हमले को सहनेवाला,

(विश्वाषाट्) सब प्रकारके शत्रु को सहनेवाला, (सत्रा-षाट्) मिलकर अनेक शत्रु हमला करते हुए आ गये, तो उसको सहनेवाला, (प्राशुषाट्) अति शीघ्रता के साथ शत्रु के हमले को सहने की तैयारी करनेवाला, इन्द्र है। शत्रु को सहने का अर्थ अपनी वीरता से, अपने बल से, अपनी शक्ति से शत्रु के हमले को सहना है। शत्रु का हमला होने पर अपना स्थान न छोडना, अपने स्थान पर रहते हुए शत्रु को पराजय देकर भगा देने का नाम है, शत्रु को सहना। स्वयं शत्रु को सहना और स्वयं शत्रु को असह्य होना, यह द्विविध वैदिक युद्ध-कौशल्य है।

इस तरह शत्रु को असह्य बनने के लिये उत्तम वीर बनना आवश्यक है। यह भाव इन्द्रवाचक निम्नलिखित शब्दों में देखना उचित है- (सुवीरः) उत्तम वीर होना, (महावीरः, प्रवीरः, एकवीरः) सब से बडा वीर होना, बलवान् और वीर्यवान् होना, अजिंक्य वीर होना, (अभिवीरः, पुरुवीरः) सब प्रकार का वीरत्व अपने पास रखना, अपनी सेना में सब वीर ऐसे रखने कि, जो उक्त प्रकार वीर्य दिखा सकें, (वीरतरः वीरतम) वीरों में उत्तम वीर बनना, (अभिभूतरः) शत्रुका पराभव करना, विशेष प्रवीण बनना, (अवोजित्) रक्षणशक्ति के साथ शत्रु को जीतना (संसृष्टजित्, सत्राजित्, सजित्वानः) सब शत्रुओं को जीतनेवाला, विजय प्राप्त करने की शक्ति से युक्त, ये इन्द्रवाचक शब्द बताते हैं कि, इन्द्र किस तरह के वीर का नाम है।

(अपराजितः) कभी जो पराभूत नहीं होता, (धनंजयः) युद्ध में शत्रु के धन को जीतनेवाला, युद्ध में विजयी, (पूर्भित् पूर्भित्तमः) शत्रु के नगरों और कीलों का नाश करनेवाला, (पुरंदरः) शत्रु के नगरों का भेदन करके अन्दर प्रवेश करनेवाला, (अभि भूः) सब प्रकार से शत्रु का पराभव करनेवाला (अभीरुः, विभीषणः) जिस को स्वयं कभी भय नहीं होता, पर जो शत्रु को भयंकर मालूम होता है, (वीरयुः) जो वीरों को अपने पास रखता है, वीरों को वीरोचित कार्यों में जो लगाता रहता है, (आजिकृत् रणकृत्) जो युद्ध करने में परम कुशल है, (आजितुरः) जो युद्ध में त्वरा से अपने कर्म करता है, अतः जो (आजिपतिः) युद्ध का स्वामी कहलाता है, ये इन्द्र के शब्द इन्द्र का रणकौशल्य बता रहे हैं।

(वाजिनीवसुः) सेना ही जिसका धन है, सेना को ही जो अपना धन मानता है, (महाव्रातः) बडे सेनासमुदायों को जो युद्धों में चलाता है, बडी से बडी सेना का संचालन करने में जो कभी प्रमाद नहीं करता, (सेना-नीः) जो बडी कुशलता से सेना को चलाता है, (बलविज्ञाय, सबलः) बल के लिये, चतुरंगबल के लिये जिसकी सर्वत्र प्रसिद्धि है, (सत्यशुष्मा) जिसका बल सत्य है, अर्थात् सदा विजय पाने में निश्चित सामर्थ्य से जो युक्त है, जो (पुरोहितः, पुरःस्थाता, पुरएता) अपनी सेना के अग्रभाग में रहता है, तथा शत्रु के ऊपर हमला करने में जो सदा आगे बढता है।

(रथयुः, रथितमः) रथयुद्ध में जो प्रवीण है, जिसके पास बहुत रथ हैं, रथसेना के संचालन में जो प्रवीण है, (उरुक्रमः) शत्रुपर जो बडे आक्रमण करता है, (वृषरथः, सुखरथः) बैलोंके रथ और सुख देनेवाले रथ जिसके पास हैं, (रथेष्ठाः) रथपर जो रहता है, (बन्धुरेष्ठाः) रथमें विशेष स्थानपर जो बैठता है। ये शब्द इन्द्र का रथयुद्ध-कौशल बतानेवाले हैं।

(शवसः सूनुः, सहसः सूनुः) बलका पुत्र ये शब्द इसके असीम बलके सूचक हैं। (महाहस्ती) इस से उस के बडे हाथ, बडे बलवाले हाथ हैं, अथवा उस के पास बडे हाथी हैं, यह भाव व्यक्त होता है। (उग्र-धन्वा) बडे प्रखर मनुष्य को बर्तनेवाला, (इषुहस्तः) हाथ में बाण लेनेवाला, (वज्रहस्त, वज्रभृत्) हाथ में वज्र लेनेवाला, वज्र का धारण करनेवाला, (वज्रबाहु, सुबाहुः, उग्रबाहुः, सुपाणिः) उत्तम बाहु, वज्र जैसे कठोर बाहु, बलवान् बाहु और हाथों से युक्त इंद्र है, (तिग्मायुधः) जिस के शस्त्र अति तीक्ष्ण हैं।

इस की शक्ति के विषय में निम्नलिखित शब्द देखिये- (अभिभूत्योजाः) शत्रु का पराभव करनेवाला जिस का सामर्थ्य है, (अमितौजाः) जिस के बल की सीमा नहीं है, (असमात्योजाः धृष्णु-ओजाः) जिस का सामर्थ्य शत्रु का धर्षण करने में प्रकट होता है, (स्वभूत्योजाः, स्वौजाः, विश्वौजाः) सब प्रकार का सामर्थ्य जिस के

पास सदा तैयार रहता है। (बाहु-ओजाः) जिस का बाहुबल बहुत ही बडा है। (सहस्वान्, तवीयान्) जिस का बल बडा है। ये शब्द इंद्र का बल बता रहे हैं। (पुरुवर्पा) शब्द उस का शरीर विशाल है, यह भाव बताता है। यह भी उस के बडे सामर्थ्य का सूचक है।

(हरिष्ठाः) इन्द्र घोडेपर सवार होता है, (पर्वतेष्ठाः) पर्वतपर अथवा पर्वत के कीले में रहकर शत्रु से लडता है, वह ऐसा युद्ध करता है कि इस का युद्धकौशल देखकर शत्रु भी इसकी प्रशंसा करते है, यह भाव (अरि-ष्टुतः) इस शब्दसे व्यक्त होता है।

(पुरुमायः) वह शत्रुके साथ लडनेमें कपट भी करता है, (वामनीतिः) वह शत्रु के साथ (सुनीतिः, सुनीथः) अच्छी नीति भी बरतता है और बुरी भी। (शतनीथः, सहस्रनीथः) सैंकडों और सहस्रों प्रकार की युक्तियां उस के पास रहती हैं, इसलिए वह (अच्युत्, अनपच्युत्) अपने स्थानसे च्युत नहीं होता, (दुश्च्यवनः) उसको अपने स्थानसे भ्रष्ट करना अशक्य है, पर वह ऐसा है कि, वह दूसरे बडे बडे शत्रुओंको (अच्युतच्युत्) उनके स्थानों से हटा देता है, जो अपने स्थानोंपर स्थिर हुए शत्रु हैं, उनको परास्त करके हटा देता है, (अदब्धा, अदाभ्यः) वह शत्रुओंसे कभी न डरनेवाला है, कभी न दबनेवाला और कभी दबाया न जानेवाला है। (सचेताः, प्रचेताः, विचेताः, सहस्रचेताः) वह अनन्त प्रकार की कुशल बुद्धियोंसे युक्त है, इसलिए अपने बल को शत्रुके नाश करने में उत्तम रीतिसे लगाता है और विजय प्राप्त करता है।

इंद्र (प्रमति) विशेष बुद्धिमान् है, (विप्रतम, कवितमः) विशेष ज्ञानी, (सुवेदाः, सुविद्वान्) उत्तम ज्ञानी है, (सुमनाः) उत्तम मनवाला है, (अजात-शत्रु, अशत्रुः) स्वयं किसी की शत्रुता नहीं करता, (विश्वतो-धीः) उस की बुद्धि चारों ओर पहुंचनेवाली है, सब ओर वह खुली आंखों से देखता है, अतएव किसी शत्रु के द्वारा (अनाधृष्यः, अधृष्य) उस का पराभव या धर्षण नहीं होता, अतः (अप्रतिधृष्टशवाः) उसको सदा विजयी बलवाला कहा गया जाता है।

इंद्र [एकराट्, संराट्, स्वराट्] उत्तम राजा है, ऐसा कहते हैं। (नृपाता) मानवों की रक्षा वह उत्तम रीति से करता है। उसको (उर्वरापतिः) भूमि का सच्चा पालन करनेहारा कहते हैं। (गणपतिः) सब गणों का पालन करता है। एक एक कार्य करनेवालों के संघों को गण कहते हैं। इन गणों का उत्तम रीति से पालन इंद्र करता है, क्योंकि (कारुधायाः) कारीगरों का पोषण करने का कार्य वह करता है। कारीगरों के पोषण से राष्ट्र में सुस्थिति रहती है। (नृपतिः, विशस्पतिः, विश्पतिः) मानवों की पालना वह करता है, (मित्रपतिः सत्पति) सज्जनों का पालन करता है, मित्रजनों का, मित्रदलों का पालन करता है, (रयिपतिः, रायस्पतिः, वसुपतिः) वह धन का पालन और संग्रह करता है। यह इंद्र (गोपाः, शुचिपाः, व्रतपाः, चर्षणिप्राः, संवननः) अर्थात् सब प्रजाओं का, पशुओं का, प्रजा के सब कर्मों का रक्षण करता है, इस से उस के राष्ट्र का उदय होता है। (प्राविता) इसीलिये उसको सच्चा रक्षक कहते हैं और यह रक्षण वह (शवसस्पतिः) सब के बल का रक्षण करता हुआ करता है। यही उस की बुद्धिमत्ता है।

इंद्र का पशुपालनरूप कर्तव्य बतानेवाले शब्द ये हैं- (संभृताश्वः) उत्तम अश्वों को पास रखनेवाला, (स्वश्वः) उत्तम घोडे जिस के पास हैं, (हर्यश्वः) शीघ्रगामी घोडे जिस के पास हैं, अथवा हरिद्वर्ण घोडे जिस के पास हैं, (स्वश्वयुः) उत्तम घोडे जिस के रथ को जोडे जाते हैं, (अश्वपतिः) जो घोडों की पालना उत्तम करता है, (गवां पति, गोपतिः) गोपालन करता है, (गव्युः, भूरिगुः) जिस के पास बहुत गौवें रहती हैं, (शाचिगुः, अध्रिगु) जो उत्तम गौवों से युक्त है। ये शब्द इंद्र के पशुपालन का भाव बता रहे हैं।

प्रजाजनों के लिये उस की रक्षा कैसी मिलती है, यह बात निम्नलिखित इंद्रवाचक शब्दों से ज्ञात होती है, (अक्षितोतिः) जिस का संरक्षण का सामर्थ्य कभी कम नहीं होता, (ऊर्वी-ऊतिः) जिस की रक्षण करने की शक्ति बडी भारी है, (शतमूतिः, सहस्रोतिः) सैंकडों और हजारों साधनों से जो प्रजा की रक्षा करता है, (भद्रकृत्) वह सब का कल्याण करता है।

उसकी शक्ति [अपारः] अपार है, पर वह सुगमता से

शत्रु के (सुपारः) पार होता है।

इस तरह इन्द्र के वाचक, गुणबोधक अनेक शब्द हैं, जो वेदमंत्रों में प्रयुक्त हुए हैं और इन्द्र के गुण, कर्म, स्वभाव बताते हैं। इन्द्र राजा, वीर, शूर, बली, विजयी है और उसका शासन प्रजा का कल्याण करनेवाला है, इत्यादि भाव इन शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

यदि पाठक इन्द्र के वर्णन के सब पदों का इस तरह अभ्यास करेंगे, तो इन्द्र का स्वरूप सहजी से ज्ञात हो सकता है। और इन्द्र के मन्त्रोंद्वारा शौर्यवीर्यादि गुणों का संवर्धन करने का जो कार्य वेद को अभीष्ट है, वह भी पाठकोंके अन्तःकरणमें प्रकट हो सकता है।

जो इन्द्र के पराक्रम इन शब्दोंद्वारा प्रकट हुए हैं, उनका वर्णन पाठक अब मन्त्रोंद्वारा देखें। अब हम ऐसे मन्त्र देते हैं, जिनमें पूर्वोक्त स्थान में जो इन्द्र के गुण शब्दोंद्वारा प्रकट हुए हैं, वे ही मंत्रों के वर्णनों से प्रकट होंगे।

आर्य के लिये प्रकाश दो।

धिष्वा शव शूर येन वृत्रमवाभिनद् दानुमौर्णवाभम्। अपावृणोर्ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादि दस्युरिन्द्र॥ सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वाः स्पृध आर्येण दस्यून्। असभ्यं तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय॥ (१११८-१९ ऋ० २-११-१८।१९)

हे शूर इन्द्र! (शवः धिष्व) तू बल धारण कर (येन वृत्रं दानुं अवाभिनत्) जिससे शत्रु का नाश हो जाय। (आर्याय ज्योतिः अपावृणोः) आर्य के लिये प्रकाश की ज्योति बताओ। (सव्यतः दस्यु नि सादि) सीधी ओर शत्रु को दबा दो।

(ये ते ऊतिभिः तरन्तः) जो तेरी रक्षाओं से शत्रु के पार हो जाते हैं। (आर्येण विश्वा स्पृधः दस्यून्) आर्य के द्वारा स्पर्धा करनेवाले दस्युओं का नाश करता है। (अस्मभ्यं) हम सब के लिये उस विश्वरूपी त्वष्टृपुत्र का नाश कर। शत्रु का पूर्णता से नाश कर।

यहां (आर्याय ज्योतिः अपावृणो.) आर्यों के लिये प्रकाश कर, ऐसा स्पष्ट कहा है। आर्यों का मार्ग विश्वभरमें खुला रहे, किसी स्थान पर आर्यों को रोकठोक या प्रतिबंध न हो, यही यहां तात्पर्य है। आर्य सर्वत्र विजयी होते हुए अपनी और विश्व की उन्नति करते जांय, यही यहां तात्पर्य है।

धार्मिकों का हितकर्ता।

अनुव्रताय रंधयन्नपव्रता नाभूभिरिंद्रः श्नथयन्ननाभुवः। वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो वि जघान संदिहः॥ (७५३ ऋ० १।५१।९)

(अनुव्रताय) धर्मव्रत का पालन करनेवालोंका हित करनेके लिए (अपव्रतान् रन्धयन्) व्रतहीनोंका नाश करता हुआ इन्द्र (आ-भूभिः) उपासकों के साथ रहकर (अन्-आभुवः श्नथयन्) अभक्तों का नाश करता है। (वृद्धस्य चित् वर्धतः) इन्द्र प्रथम से ही बढा है पर वह और भी बढता भी है और (द्यां इनक्षत.) द्युलोक तक पहुंचता है। ऐसे इन्द्र की (स्तवानः) स्तुति करनेवाला (वम्रः संदिहः विजघान) संदेह दूर करता है, अर्थात् इन्द्र का महत्त्व जानता है।

यहां (अनुव्रत) और (अपव्रत) ये दो शब्द बडे बोधप्रद हैं। धर्मानुकूल चलनेवाले अनुव्रत कहलाते हैं और अधर्म में प्रवृत्ति होना अपव्रतियोंका लक्षण है। इन्द्र का यहां कर्तव्य है कि वह अधार्मिकों का नाश करे और धार्मिक सत्यव्रतियों की उन्नति करने में सहायक हो।

' परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। (गीता ४।८)

यह वचन इस मन्त्रके साथ देखनेसे बडा बोध मिलता है।

पंचजनों का रक्षक।

विश्वेदनु रोधना अस्य पौंस्यं ददुरस्मै दधिरे कृत्नवे धनम्। षळस्तभ्ना विष्टिरः पञ्च संदृशः परि परो अभवः सास्युक्थ्य (११४६ ऋ. २।१३।१०)

सबने इसके बल की वृद्धि की है। इसके पराक्रम के लिए सबने धन दिया है। पृथ्वी के (षट् विष्टिरः अस्तभ्नाः) छः भाग स्थिर किए हैं। (पञ्च संदृशः) पंच जनों का विजय करनेवाला तूं ही है, अतः तूं (उक्थ्य. असि) प्रशंसनीय हो। तथा-

आ यस्मिन् हस्ते नर्या मिमिक्षुरा रथे हिरण्यये रथेष्ठाः। आ रश्मयो गभस्त्योः स्थूरयोः आध्वन्नश्वासो वृषणो युजानाः॥ (१९६३ ऋ० ६।२९।२)

(यस्मिन् हस्ते) जिस इन्द्र के जिस हाथ में (नर्या मिमिक्षु) मनुष्यों के हितके लिए ही सब धन है और जो सुवर्ण के रथमें बैठकर सब को धन देता है, जिसके (स्थूरयोः) स्थूल हाथ में रथके लगाम है, जो अपने रथको घोडे जोतता है और जो घोडे सरल मार्ग से चलते हैं। वह इन्द्र है। तथा-

एकं नु त्वा सत्पतिं पाञ्चजन्यं जातं शृणोमि यशसं जनेषु। तं मे जगृभ्र आशसो नविष्ठं दोषा वस्तोर्हवमानास इन्द्रम्॥

(१७१५ ऋ० ५।३२।११)

इंद्र ही एक (सत्पतिं) सब का उत्तम पालनकर्ता है और (पाञ्चजन्यं) पञ्चजनों का हित करनेवाला है, तू हि (जनेषु) लोगों में यशस्वी है, ऐसा मैं (शृणोमि) सुनता हूं। उपासक लोग दिनरात तेरा ही स्वीकार करें। तथा-

लोकहितार्थ युद्ध।

स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः। अधा चन श्रद् दधाति त्विषिमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम्॥

(८०१ ऋ १।५५।५)

(स. युध्मः) वह इंद्र बडा योद्धा है, वह (जनेभ्यः) जनों के हित के लिये (ओजसा महानि समिथानि कृणोति) अपने सामर्थ्य से बडे युद्ध करता है। अतः सब लोग (वधं वज्रं निघनिघ्नते) शत्रु पर मारक शस्त्र का प्रहार करनेवाले (त्विषीमते इन्द्राय) तेजस्वी इंद्र के विषय में (श्रद् दधाति) श्रद्धा रखते हैं।

सब जनता के हित करने के लिये युद्ध किया जावे, यह सूचना यहां मिलती है। जनता के हित करने के लिये क्या करना चाहिये, इस का दर्शन अगले मन्त्र में पाठक करें-

दस्युको दण्ड और आर्योंकी उन्नति करो।

वि जानीहि आर्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासदव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन।

(७५२ ऋ० १-५१-८)

हे इन्द्र ! (आर्यान् विजानीहि) आर्य कौन हैं, यह तू जान, और (ये च दस्यवः) जो दस्यु या शत्रु हैं, उनको भी तू जान। (बर्हिष्मते) यज्ञकर्ता के हित के लिये (अव्रतान् शासत्) व्रतहीन शत्रुओं को दण्ड देकर (रन्धय) नष्टभ्रष्ट कर। (शाकी भव) समर्थ होकर रह (यजमानस्य चोदिता) यजमान को प्रेरणा दे। (सध-मादेषु) साथ साथ मिलजुल कर जहां सत्कर्म किये जाते हैं, ऐसे यज्ञोंमें (ते ता विश्वा इत्) तेरे वे सब सत्कर्म प्रशंसा-योग्य होते हैं।

शत्रु को दण्ड देना और सज्जनों की उन्नति करना ही राजा का कर्तव्य इस मंत्र से प्रकट होता है। प्रजा के रक्षण करने के लिये क्षत्रिय को सदैव तत्पर रहना चाहिये, यह सूचना अगला मंत्र देता है—

रक्षण के लिये खडा रहो।

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो। सं अन्येषु ब्रवावहै॥ (७०४ ऋ० १-३०-६)

हे शतक्रतो! (अस्मिन् वाजे) इस युद्ध में (नः ऊतये) हमारा रक्षण करने के लिये (ऊर्ध्वः तिष्ठ) युद्धमें सुसज्ज होकर खडा रह। (अन्येषु सं ब्रवावहै) अन्य प्रसंगों में हम मिलकर बात करेंगे कि, वहां क्या करना चाहिये।

आ घा गमद् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम्। (७०६ ऋ० १।३०।८)

(यदि श्रवत्) यदि इन्द्रने हमारी पुकार सुनी, तो वह (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः वाजेभिः) सहस्रों सामर्थ्यों और बलों के साथ (नः हवं) हमारी पुकार के स्थान के प्रति (आगमत्) अवश्य दौडते हुए आ जायगा।

यहां (वाजे ऊर्ध्वः तिष्ठ) युद्ध में उठकर खडा रह, ऐसा कहा है। राष्ट्र में क्षत्रियों को प्रजारक्षणार्थ ऐसा ही खडा रहना चाहिये। दुष्टों का नाश करने के विषय में वेद का आदेश स्पष्ट है—

दुष्टों का नाश कर।

उद् वृह रक्ष सहमूलं इंद्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि। आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥ (१२५४ ऋ० ३।३०।१७)

हे इन्द्र ! (रक्षः) राक्षसों को जडके साथ (उद् वृह) उखाड दो, (मध्यं वृश्च) उनका मध्य काट दो और (अग्रं

प्रति शृणीहि) उनका अन्तभाग काट दो। (कीवतः सलःलूकं आचकर्थ) दुष्टोंको दूर कर और ज्ञान का द्वेष करनेवाले दुष्टपर तपा शस्त्र (अस्य) फेंक।

यह मन्त्र दुष्टोंको उखाड देनेके लिये विशेष स्पष्टतापूर्वक उपदेश देता है। वृत्र शत्रु का नाम है। इन्द्रसे वृत्र का वैर प्रसिद्ध है। इस वृत्र का वध इद्रने किया है। इस वर्णनके सैंकडों मंत्र वेदमें हैं। उनमेंसे कुछ देखिये —

वृत्रवध।

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जह्वे महावीरं तुविबाधं ऋजीषम्। नातारीदस्य समृतिं वधानां स रुजानाः पिपिष इंद्रशत्रुः ॥ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रं अधिसानौ जघान। वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः॥ [७२०-२१; ऋ० १।३२।६-७]

[अ-योद्धा इव] अब मेरे साथ युद्ध करनेयोग्य कोई नहीं रहा, ऐसा माननेवाला वह [दुर्मदः] दुष्टबुद्धि शत्रु [महावीरं] बडे शूर [तुविबाधं] बहुतोंका पराभव करनेवाले [ऋजीष] अदम्य इन्द्रको [आजह्वे] अपने सम्मुख आह्वान करने लगा। परन्तु वह [इन्द्रशत्रु] इन्द्र का शत्रु [वधानां समृतिं न अतारीत्] इन्द्रके शस्त्रके घावों को सहन न कर सका। अन्तमें [रुजानाः सं पिपिषे] छिन्नभिन्न होकर चूर्ण हुआ।

पश्चात् उस [अ पाद-हस्तः] पांव और हाथसे विहीन [अ-पृतन्यत] सेनारहित वृत्रने [इन्द्रं वज्र अधिसानौ जघान] इंद्रपर उसकी गर्दनमें शस्त्र मारा, पर [वध्रिः वृष्णो प्रतिमानं बुभूषन्] नपूंसक का सामना जैसा वीर्यवान्से होता है, वैसी उसकी अवस्था हुई और [पुरुत्रा व्यस्तः] अनेक स्थानोंमें फेंका जाकर [अशयत] गिर पडा।

तथा और देखिये—

वज्रको नचाया।

त्वं गोत्रं अङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्। ससेन चिद् विमदायावहो वसु आजावद्रिं वावसानस्य नर्तयन्॥ [७४७; ऋ० १।५१।३]

हे इन्द्र! तूने अंगिरोंके लिये [गोत्र अप अवृणोः] गौंके स्थान को खुला कर दिया, अत्रि के लिये [शतदुरेषु गातुवित्] सौ द्वारोंवाले स्थानसे गमनका मार्ग बताया, विमद के लिये [ससेन वसु अवहः] धान्यके द्वारा धन दिया और वावसान के लिये [अद्रिं नर्तयन्] अपने वज्र को नचाया, अर्थात् वज्र से शत्रुको मारा, तथा—

युवं तमिंद्रा पर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तंतमिद्धतं वज्रेण तंतमिद्धतम्। दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। अस्माकं शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वत [१०३३ ऋ० १।१३२।६]

[पुरोयुधा] आगे होकर युद्ध करनेवाले तुम [यः नः पृतन्यात्] जो हमपर सैन्यसे चढाई करे, उसका वध करो, उसका [वज्रेण तं हत] वज्रसे वध करो। [दूरे चत्ताय दूर रहनेवाले पर भी जो वज्र हमला करता है वह गहन स्थान में भी जा सकता है। [अस्माकं शत्रून] हमारे शत्रुओंको [विश्वतः परि] चारों ओरसे घेरो और [विश्वत दर्मा दर्षीष्ट] चारों ओरसे विदारण करो।

सेना लेकर हमपर हमला करनेवाला तथा अन्य प्रकार से सतानेवाला ये सब शत्रु ही हैं और शत्रु को दूर करना ही इन्द्र का कर्तव्य है। क्योंकि शत्रु वध्यही है—

शत्रु वध्य हैं।

इंद्र दृह्य यामकोशा अभूवन् यज्ञाय शिक्ष गृणते सखिभ्यः। दुर्मायवो दुरेवा मर्त्यासो निषङ्गिणो रिपवो हन्त्वास [१२५२; ऋ० ३।३०।१५]

हे इन्द्र! [दृह्य] प्रबल बन। [याम-कोशा अभूवन्] कोशोंको प्रतिबंध हो रहा है। [यज्ञाय गृणते सखिभ्य] यज्ञकर्म, उपासना और मित्रोंको [शिक्ष] शिक्षा दे। [दुःमायवः] दुष्ट कपटी, दुः एवाः] दुश्चरित्र, [निषङ्गिणः मर्त्यासः रिपवः] तर्कस लिये शत्रुरूप मानव हैं, वे [हन्त्वास] हनन करनेयोग्य हैं।

शस्त्रास्त्र लिये शत्रु हमारे चारों ओर खडे हैं, उनका वध होनेके विना मानवों को सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये शत्रुको दूर करना योग्य है—

स्वर्जेषे भर आप्रस्य वक्मन्युषर्बुधः स्वस्मिन्नञ्जसि क्राणस्य स्वस्मिन्नञ्जसि। अहन्निंद्रो यथा विदे शीर्ष्णाशीर्ष्णोपवाच्यः। अस्मत्रा ते सध्र्यक् संतु रातयो भद्रा भद्रस्य रातयः॥ [१०२९, ऋ० १।१३२।२]

[स्वर्जेषे] सुख देनेवाले युद्धमें [उषर्बुधः] प्रातःकालमें जाग्रत होनेवाले वीर! आक्रमण करनेवाले शत्रुको तू पराजित करता है। और उसका वध करता है। [ते रातयः अस्मत्रा सध्र्यक्] तेरे दान हमारे पास इकट्ठे हों, तेरे दान कल्याणकारक हों।

शत्रुको परास्त करके विजय संपादन करना आवश्यक है इस विषयमें देखिये—

युद्धोंमें विजयी।

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयाम शतक्रतो।
धनानामिंद्र सातये। [१२; ऋ० १।४।९]

धनोंकी हमें प्राप्ति होनेके लिये, हे सैंकडों कर्म करनेवाले इन्द्र! [वाजेषु] युद्धोंमें [त्वा वाजिनं वाजयामः]युद्धोंमें लडनेवाले तुझ वीर को बढाते हैं, [बलिष्ठ करते हैं, युद्धमें भेजते है।]

सैंकडों पराक्रम करनेवाले वीरको शतक्रतु कहते हैं। युद्धोंमें अपने नेता वीरका बल बढानेयोग्य कर्म उसके अनुयायियोंको करने चाहिये। कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिये, जिससे अपने नेताकी शक्ति कम या क्षीण हो। तथा—

शश्वदिंद्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय नानदद्भिः शाश्वसद्भिः धनानि। स नो हिरण्यरथं दंसनावान् त्स नः सनिता सनये स नोऽदात्॥
[७१४; ऋ०१।३०।१६]

इन्द्रने [पोप्रुथद्भिः] स्फुरण जिनमें दीखता है,[नानदद्भि] जो हिनहिनाते है, [शाश्वसद्भिः] जिनका जोरसे श्वासोच्छ्वास हो रहा है, ऐसे घोडोंके साथ [धनानि जिगाय] धन देनेवाले युद्धोंमें विजय प्राप्त किया। उसने [नः हिरण्यरथं दंसनावान्] हमें सुवर्णका रथ दिया, और उसने हमें [सनये अदात्] दान कर दिया।

इन्द्र युद्धोंमें हिनहिनानेवाले घोडोंके साथ जाता है और विजय प्राप्त करता है। तथा—

कपटी शत्रुका नाश।

गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्सु अपीवृतं मायिनं क्षियन्तम्। उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसं अहन्नहिं शूर वीर्येण॥ [११०५; ऋ०२।११।५]

[गुहा हितं] गुहामें रहनेवाले, [गुह्यं] गुप्त [अप्सु गूळ्हं] पानीमें गुप्त रहनेवाले [अपीवृतं मायिनं] कपटी शत्रुको [क्षियन्तं] अपने कीलेमें रहनेवाले [द्यां अपः तस्तभ्वांसं] जलोंको बंद करनेवाले [अहिं] शत्रुको अपने [वीर्येण अहन्] पराक्रमसे नष्ट कर दिया है।

शत्रु जलको प्रतिबंधमें रखता है,क्योंकि जल न मिलनेसे सैनिक हैरान होते हैं और शीघ्र वश होते हैं। आजभी युद्धमें यही हम देखते हैं। जल जिसके पास है,वह जिसके पास जल नहीं है उसको, अपने काबू करता है। वही हम इन्द्र और वृत्रके युद्धमें देखते हैं। वृत्र प्रथम जलपर कबजा करता है, इस कारण इन्द्रके अनुयायी हैराण होते हैं, पश्चात् इन्द्र शत्रुका वध करके जलके स्रोत खुले करता है, तब जनता आनंदित होती है। इन्द्र-वृत्रके युद्धमें यह वर्णन स्थानस्थानपर है—

जल सुप्राप्य करना।

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। अपां बिलं अपिहितं यदासीत् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार। [७२५; ऋ० १।३२।११]

[दास-पत्नीः अहिगोपाः आपः अतिष्ठन्] दास शत्रुने अपने आधीन किये जल [निरुद्धाः] रोके हुए थे, जैसे [पणिना इव गावः] बनिया गौवोंको रोकता है। इन जलोंका द्वार [अपिहितं आसीत्]ढंका हुआ था। पर इन्द्रने [वृत्रं जघन्वान्] वृत्रको मारा और [तत् अप ववार] वह द्वार खोल दिया।

शत्रुने जलको अपने अधीन किया था, उस शत्रुको परास्त करके जल सबको मिलनेयोग्य खुला कर दिया। यह युद्धनीति है। युद्धमान एक पक्ष दूसरेका जल बंद करता है, जिससे उसके सैनिक जलके विना तडपने लगते हैं। फिर वह इस शत्रुको परास्त करता और जलको सुप्राप्य बनाता है। इसी तरह अन्न, वस्त्र, तथा स्थानके विषयमें जानना योग्य है।

जेता नृभिः इंद्रः पृत्सु शूरः श्रोता हवं नाधमानस्य कारोः। प्रभर्ता रथं दाशुष उपाक उद्यंता गिरो यदि च त्मना भूत्॥ [१०९८; ऋ०१।१७८।३]

[शूरः इन्द्रः] शूर इन्द्र [नृभिः] अपने वीरोंके साथ [पृत्सु] युद्धोंमें [जेता] विजय करता है। [नाधमानस्य कारोः

इवं श्रोता] नाथ होनेकी इच्छा करनेवाले कारीगरका कहना सुनता है। [दाशुषः रथं उपाके प्रभर्ता] दाताके रथको वित्तके पास पहुंचाता है । [यदि त्मना भूत] यदि उसमें इच्छा हुई, तो वह [गिरः उद्यन्ता] वाणियों को भी प्रेरणा करता है।

वीर अपने अनुयायियोंको युद्धमें जानेकी प्रेरणा करता है। इसकी प्रेरणासे प्रेरित हुए वीर युद्ध करते और वीजयी होते हैं।

शत्रुको जंजिरोंसे बांधकर कारागारमें रखना।

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते
तुजा शवः। येन शुष्णं मायिनं आयसो मदे
दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि॥ [८०७; ऋ० १।५६।३]

[सः] इन्द्र [तुर्‌-वनिः] त्वरासे कार्य करता हैं, इसलिये [महान्] बडा है। उसका [तुजा शवः अरेणु] हिंसक बल निर्मल है, स्वच्छ है, वह [पौंस्ये] पौरुष दिखानेके युद्धमें [गिरेः भृष्टिः न भ्राजते] पर्वतके शिखरके समान चमकता है। [मदे] आनन्दमें [दुध्र] रहता हुआ वह इन्द्र [मायिनं शुष्णं] कपटी शोषक शत्रुको [आयसः आभूषु दामनि] लोहेके कारागृहमें जंजिरोसे [नि रामयन्] रख देता है।

शत्रु जब पकडा जाता है, तब उसको प्रतिबंधमें रखना योग्य ही है—

फौलादका तीक्ष्ण वज्र।

त्वं दिवो बृहतः सानु कोपयोऽव त्मना धृषता शंबरं
भिनत्। यन्मायिनो व्रन्दिनो मन्दिना धृषत् शितां
गभस्तिं अशनिं पृतन्यसि। [७८९, ऋ० १।५४।४]

[मन्दिना धृषत्] आनन्ददायक सामसे उत्साहयुक्त बना हुआ [शितां गभस्तिं अशनिं] तीक्ष्ण वज्रको हाथमें लेकर [मायिनः पृतन्यसि] कपटी शत्रुसे जिस समय तूं युद्ध करता है, उस समय [बृहतः दिवः सानु कोपयः] बडे द्युलोक के शिखरको तू हिला देता है और शंबर राक्षस को अपने बलसे [अव भिनत्] छिन्न भिन्न करता है।

शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्र अधिक प्रखर रहने चाहिये। तब निःसंदेह विजय होता है । इन्द्रका मुख्य शस्त्र वज्र है। यह फौलादका अति तीक्ष्ण शस्त्र है। इन्द्रके पास अन्य भी अस्त्र बहुत होते हैं। शत्रुसे ये शस्त्रास्त्र अच्छे होते हैं, इसलिये इन्द्र विजयी होता है—

जघन्वां उ हरिभिः संभृतक्रतो इन्द्र वृत्रं मनुषे
गातुयन्नपः। अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसं
अधारयो दिव्या सूर्यं दृशे॥ [७६७; ऋ० १।५२।८]

हे [सभृतक्रतो इंद्र] संपूर्ण बलोंसे युक्त इन्द्र! [मनुषे अपः गातुयन्] मानवोंकी ओर जलके प्रवाह भेजनेके लिये [हरिभिः वृत्र जघन्वां] घोडोंको साथ लेकर तूने वृत्रको मार डाला, उस समय तूने [आयसं वज्र अधारयः] फौलादका वज्र धारण किया था और [दिवि दृशे सूर्यं] आकाशमें सर्वत्र प्रकाश होनेके लिये सूर्यको स्थापन किया था।

इन्द्र कपटी शत्रुओंसे कपट करता है, सीधे शत्रुओंसे सीधा बर्ताव करता है। कपटी शत्रुओंके कपटजालमें कभी फंसता नहीं। यह यहाँ विशेष रीतिसे देखना चाहिये।

कपट करनेवालोंसे कपट।

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि
शुप्तावजुह्वत। त्वं पिप्रोर्नृमण प्रारुजः पुरः प्र
ऋजिश्वानं दस्युहत्येषु आविथ॥

[७४९; ऋ० १।५१।५]

हे इन्द्र! जो [स्वधाभिः शुप्ता अधि अजुह्वत] जो अपने ही मुखमें अन्नोंका हवन करते है, अर्थात् जो स्वय भोग भोगते हैं, उन [मायिनः] कपटियोंको तूने [मायाभि अप अधमः] कपटोंसेही नीचे गिराया, [त्वं नृमणः पिप्रो पुरः प्रारुजः] तूने धनेच्छु पिप्रु नामक शत्रुके नगरोंको तोड दिया, और तूने [ऋजिश्वानं] ऋजिश्वाको [दस्युहत्येषु प्राविथ] शत्रुओंका वध करनेके समयमें बचाया।

[मायाभिः मायिनः अप अधमः] कपटोंसे कपटी शत्रुओंको दबाना योग्य है। सर्वत्र यही न्याय है, जो वेदने बताया है। शत्रुके नगर, कीले, देश आदि जलाना, तोडना नष्ट करना, यह भी एक युद्ध की नीति ही है, देखिये-

शत्रुओंके नगर फोड डाले।

अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून् वि तिग्मेन वृष-
भेणा पुरोऽभेत्। सं वज्रेणासृजद् वृत्रमिंद्रः प्र स्वां
मतिं अतिरच्छाशदानः। [७४२; ऋ० १।३३।१३]

[अस्य सिध्मः शत्रून् अभि अजिगात्] इस इन्द्रका यशस्वी वज्र शत्रुपर जा गिरा, इसने [तिग्मेन पुरः विभेत्] तीक्ष्ण शस्त्रसे नगरोंको तोड डाला। इन्द्रने [वृत्रं वज्रेण सं असृजत्] वृत्रपर वज्र फेंक दिया और [शाशदानः स्वां

मतिं अतिरत्] प्रशंसित हुआ, वह इन्द्र अपनी बुद्धिके अनुसार विजयको प्राप्त कर सकता है ।

त्वं करञ्जमुत पर्णय वधी तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी । त्वं शता वंगृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्विना ॥ [७८२, ऋ० १।५३।८]

अतिथिग्व राजाके तेजस्वी चक्रसे तू करज और पर्णय शत्रुओंका वध किया व ऋजिश्वाने घेर हुए [शता पुरः अभिनत्] शत्रुके सौ कीलों अथवा नगरोंको तोड दिया।

आ यद्धरी इंद्र विव्रता वेरा ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात् । येनाविहर्यतक्रतो अमित्रान् पुर इष्णासि पुरुहूत पूर्वीः ॥ [८८६, ऋ० १।६३।२]

[यत्] जब हे इन्द्र ! तेरे [हरी] घोडे [विव्रता वेः] इधर, उधर भटकते थे, उनको तूने [आ] पास लाकर रथको जोड दिया, तब [ते बाह्वोः वज्र] तेरे बाहुमें वज्र [जरिता आधात्] स्तोताने रख दिया। हे [अ-वि-हर्यत-क्रतो] हे अजिंक्य वीर ! हे [पुरुहूत] बहुतों द्वारा प्रशंसित ! तू [अमित्रान् पूर्वी पुरः] शत्रुओंको और उनके बहुतसे नगरोंको [इष्णासि] नाश करनेकी इच्छा करता है।

शत्रुके सैंकडों कीलोंका नाश ।

अध्वर्यवो य शतं शंबरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः । यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्र अपावपद् भरता सोममस्मै ॥ [११५५, ऋ०२।१४।६]

जिसने शबरके [शतं पुर बिभेद] सौ कीले तोड दिये, [शत सहस्र अपावत] जिसने लाखों सैनिकोंका नाश किया उस इन्द्रको सोम अर्पण करो ।

न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणं अभिनच्छुष्णमिंद्र । यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुं अवधीः पृतन्युम् ॥ [७४१, ऋ० १।३३।१२]

[इलीबिशस्य दृळ्हा न्याविध्यत] शत्रुके सुदृढ कीलोंको तोड दिया । [शृंगिण शुष्णं वि अभिनत्] सींगवाले शुष्णको छिन्नभिन्न किया । हे इन्द्र ! त्वरासे और बलसे तूने [पृतन्य शत्रु वज्रेण अवधीः] युद्धकी इच्छा करनेवाले शत्रुका वज्रसे वध किया ।

प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरंदरः । याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासद् वज्री भिनत्पुरः ॥ [९४, ऋ०८।१।८]

उसके लिये गायत्र सामका गायन करो, जो [पुरंदरः] शत्रुके नगरोंको तोडनेवाला सबको पूज्य है, जो कण्वके यज्ञमें जाता है और जो वज्रधारी [पुरः भिनत्] शत्रुके कीले तोडता है ।

शत्रुके कीले अथवा नगर जलाकर, तोड कर जो शत्रुका नाश करता है वह वीर इन्द्र है। कण्व नाम ज्ञानी का है।

पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत । इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ [७३, ऋ० १।११।४]

इन्द्र [पुरां भिन्दुः] शत्रुके कीलोंका या नगरोंका भेदन करनेवाला, [युवा कविः] तरुण कवि, [अमित ओजा.] अत्यंत बलवान् [वज्री] वज्रादि शस्त्र धारण करनेवाला, [विश्वस्य कर्मणो धर्ता] सब कर्मोंका धारण करनेवाला अर्थात् सब कर्मोंको निभानेवाला होनेके कारण [पुरुष्टुतः] अनेकों द्वारा प्रशंसित [अजायत] हुआ है ।

इस तरह के शूरत्व के कारण वह सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

वि दृळ्हानि चिदद्रिवो जनानां शचीपते । वृह माया अनानतः ॥ [२०६८, ऋ०६।४५।९]

हे वज्रधारी शचीपते इन्द्र ! शत्रुके [दृळ्हानि] सुदृढ कीले भी [विवृह] तोड दो ।

बनावटी कीलोंका नाश ।

स हि श्रवस्युः सदनानि कृत्रिमा क्ष्मया वृधान ओजसा विनाशयन् । ज्योतींषि कृण्वन्नवृकानि यज्यवेऽव सुक्रतु सर्तवा अप सृजत ॥ [८०२, ऋ० १।५५।६]

[स श्रवस्युः] वह कीर्तिकी इच्छा करनेवाला इन्द्र [ओजसा वृधा नः] अपने पराक्रमसे बढनेवाला [क्ष्मया कृत्रिमा सदनानि] शत्रुके भूमिके साथ रहनेवाले बनावटी कीलोंका [विनाशयत] नाश करता है। [यज्यवे] याजकके हित के लिये [अवृकाणि ज्योतींषि कृण्वन्] तेजोंको खुला करनेवाला वह [सुक्रतु] उत्तम कर्म करनेवाला इन्द्र [अपः सर्तवै अव सृजत] जलोंको प्रवाह बननेके लिये उत्पन्न करता है।

बनावटी कीले वे होते हैं [कृत्रिमा सदना] कि जो सेना अपनी रक्षार्थ थोडसे परिश्रमसे तैयार करती है। ये भी इन्द्र तोडता है और शत्रुको परास्त करता है ।

बीस राजोंसे युद्ध ।

त्वमेतान् जनराज्ञो द्विर्दशाऽबंधुना सुश्रवसोपजग्मुषः । षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥ [७८३, ऋ० १।५३।९]

[अबन्धुना] सहायता के बिना [सुश्रवसा] सुश्रव अर्थात् कीर्तिमान् राजाने जिन [द्विः दश जनराज्ञः] बीस जनराजोंके ऊपर हमला किया था, उनके६००९९रथोंसे युक्त दुर्धर्ष सेनाको अपने चक्रसे तूने [नि वृणक्] नष्ट कर दिया।

सेनामें६००९९रथों के लिये छः लाख सैनिक आवश्यक हैं। इतनी बडी सेनाके साथ यह युद्ध हुआ, ऐसा वर्णन यहां है। यह वर्णन काल्पनिक या रूपकभी माना जाय, तो भी बडी सेनाका संचालन यहां दीखता है, वह विचार के योग्य है।

इन्द्रके रथके घोडे।

आ द्वाभ्यां हरिभ्यां इंद्र याहि आ चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः। आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥ ४ ॥ आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः। आपञ्चाशता सुरथेभिरिंद्रा ऽऽ षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम् ॥ ५ ॥ आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः। अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इंद्र त्वाया परिषिक्तो मदाय ॥ ६ ॥

[११९३–९५; ऋ०२।१८।४-६]

हे इन्द्र! दो, चार, छः, आठ, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास साठ, सत्तर, अस्सी, नव्वे, अथवा सौ घोडों को जोते हुए रथमें बैठकर यहां आ और इस सोमका ग्रहण करो।

इन्द्रके घोडोंका यह वर्णन है। इस समय राष्ट्रपतिका जलूस पचास या साठ घोडोंके रथमें बिठलाकर निकालनेका वर्णन देखते हैं। इससे १०० घोडोंके रथमें इन्द्रका जलूस निकालना, विजयी वीरका जलूस ऐसा बडा निकालना संभव हो हा सकता है। इसमें कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती।

शिरस्त्राण धारण करनेवाला इन्द्र।

इंद्रः सुशिप्रो मघवा तरुत्रो महाव्रतस्तुविकूर्मिर्ऋघावान्। यदुग्रो धा बाधितो मर्त्येषु क त्या त्ये वृषभ वीर्याणि॥ त्वं हि ष्मा च्यावयन्नच्युतानि एको वृत्रा चरसि जिघ्नमानः। तव द्यावापृथिवी पर्वतासोऽनु व्रताय निमितेव तस्थुः ॥

[१२४०-४१; ऋ०३।३०।३-४]

हे [वृषभ] बलवान् इन्द्र! तू [सु-शिप्रः] उत्तम शिरस्त्राण धारण किया हुआ, [मघ-वा]धनवान् [तरुत्रः] त्वरासे संरक्षण करनेवाला, [महाव्रतः] महासेनाको चलानेवाला, [तुवि-कूर्मिः] महापराक्रमी, [ऋघावान्] समृद्धिवान् और [उग्रः] बडा पराक्रमी है। तू [मर्त्येषु बाधित] मानवोंमें जो पराक्रम किये, वे तेरे पराक्रम [क] कहां हुए हैं?

तू [एकः] अकेलाही [अच्युतानि च्यावयन्] स्थिरों को हिलानेवाला है, तू [वृत्रा जिघ्नमानः] शत्रुओंका वध करता है। तेरे [अनुव्रताय] अनुकूल कार्य करनेके लिये द्युलोक, भूलोक और सब पर्वत [निमिता इव तस्थुः] स्थिर जैसे रहे हैं।

बडा पादत्राण।

अभिव्लग्या चिदद्रिवः शीर्षा यातुमतीनाम्। छिन्धि वटूरिणा पदा महावटूरिणा पदा ॥२॥ अवासां मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम्। वैलस्थानके अर्मके महावैलस्थे अर्मके ॥३॥

[१०३५–३६; ऋ० ११३३]

हे [अद्रिवः] वज्रधारी! [अभिव्लग्या] ढूढ ढूढकर [यातुमतीनां शीर्षा] दुष्टोंके सिर [वटूरिणा पदा छिन्धि] पादत्राणयुक्त पावसे तोड, बडे पादत्राणयुक्त पावसे तोड, दुष्टोंको [अव जहि] बडे स्मशानमें नष्ट कर।

शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य।

इदं न हि त्वा न्यृषन्त्यूर्मयो ब्रह्माणीन्द्र तव यानि वर्धना। त्वष्टा चित्ते युज्यं वावृधे शवः ततक्ष वज्रं अभिभूत्योजसा ॥ [७६६, ऋ० १।५२।७]

जिस तरह [ऊर्मयः ह्रदं] जलप्रवाह जलाशय को भर देते हैं, उस तरह [ब्रह्माणि तव वर्धना] ये स्तोत्र तेरी बधाई को भर देते हैं, वर्णन करते हैं। त्वष्टाने [युज्यं शवः] तेरे योग्य बल [वावृधे] बढाया और [अभिभूति-ओजसा वज्रं ततक्ष] शत्रुका पराभव करनेकी शक्तिके साथ तेरे लिये वज्रभी बनाया।

इन्द्रके अन्तरिक्षस्थ शत्रु।

त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्च अयोधयो रजस इंद्र पारे। अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥७॥ चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुंभमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इंद्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण ॥ ८ ॥ [७३६-३७; ऋ०१।३३।७-८]

हे इन्द्र! तूने इन [रुदतः जक्षतः च] रोनेवाले और भोग भोगनेवाले शत्रुओंको (अयोधयः रजसः पारे) युद्ध करके अन्तरिक्षके पार भगा दिया। (दस्युं अदहः) तूने शत्रुको जला दिया और [दिवः अव] द्युलोकसे उसको नीचे गिरा दिया। तथा [शंसं आवः] याजकोंकी स्तुतियोंको उच्च स्थानमें स्थिर किया है।

सोनेके आभूषणोंसे सुशोभित हुए वे शत्रु [पृथिव्याः परीणहं चक्राणास] पृथ्वीके परिघमें भ्रमण करते थे, वेभी (स्पृशः) शत्रुके दूत [इन्द्रं हिन्वानाम: न तितिरुः] इन्द्रको परीजित न कर सके। पर [सूर्येण परि अदधात्] उसने ही शत्रुओंको सूर्यप्रकाशसे आच्छादित किया।

यह युद्ध नि संन्देह पृथ्वीके ऊपरका नहीं है। यह आकाशमें होनेवाला युद्ध है अथवा यह रूपक भी होगा।

शत्रुका वध और सत्यप्रचार।

प्र सू त इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्। जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विश्वं सत्यं कृणुहि विष्टमस्तु॥ [१२४३, ऋ० ३।३०।६]

हे इन्द्र! [ते] तेरा रथ दो घोडोंके द्वारा शीघ्र यहां आवे [ते वज्र] तेरा वज्र [शत्रून् प्रमृणन् प्र एतु] शत्रुओं का वध करता हुआ चले। [प्रतीचः] हमला करनेवाले शत्रुओंको, [अनूचः] दोनों ओरसे आनेवाले शत्रुओं को, तथा [पराचः] भागनेवाले शत्रुओंको तू नष्ट कर, [विश्वं सत्यं कृणुहि] विश्वमें सत्यका प्रचार कर और वह सर्वत्र [विष्टं अस्तु] प्रविष्ट हो कर रहे।

आगे बढ।

प्रेहि अभिहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते। इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपो अर्चन्ननु स्वराज्यम्॥ [१०२; ऋ० १।८०।३]

हे इन्द्र [प्रेहि] शत्रुपर चढाई कर, [अभिहि] शत्रुका नाश कर, [धृष्णुहि] शत्रुको परास्त कर। [ते वज्रः न नियंसते] तेरे वज्रका प्रतिकार कोई कर नहीं सकता। हे इन्द्र! [ते शवः नृम्णं] तेरा बल विजयकारी है, अतः [वृत्रं हनः] शत्रुका नाश कर, [अपः जय] जलोंको प्राप्त कर, [स्वराज्यं अर्चन् अनु] स्वराज्यकी अर्चना करते हुए यह सब कर।

नव्वे नदियाँ।

वि ते वज्रासो अस्थिरन् नवतिं नाव्यारे अनु। महत् त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्ते बलं हितं अर्चन् अनु स्वराज्यम्॥ [१०७; ऋ० १।८०।८]

हे इन्द्र! [ते वज्रासः] तेरे वज्र [नवतिं नाव्या अनु] नौकाएं जिनमें चलती हैं, ऐसे नव्वे नदियोंके पास [वि अस्थिरन्] पहुंचे हैं। तेरा पराक्रम बहुत बडा है, तेरे बाहुओंमें बहुत बल है, स्वराज्यकी अर्चना करते हुए यह सब कर।

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः। तमिन्महत्स्वाजिषूतमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ [११६; ऋ०१।८१।१]

[वृत्रहा इन्द्रः] शत्रुनाशक इन्द्र [मदाय शवसे] आनन्द और बल बढानेके लिये [नृभिः वावृधे] मनुष्योंने बढाया है, मनुष्योंने उसकी बधाई की है। [तं महत्सु आजिषु] उसको हम बडे संग्रामोंमें तथा [अर्भे हवामहे] भयानक युद्धमें बुलाते हैं। वह हमें [वाजेषु अविषत्] युद्धोंमें बचावे।

युद्धके समय इन्द्र की सहायता मांगी जाती है। क्योंकि इन्द्रही वीर्य बढाता है।

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादादिः। असि दभ्रस्य चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु॥ [११७, ऋ०१।८१।२]

हे वीर! तू [सेन्यः असि] सेना अपने पास रखनेवाला वीर है। शत्रुओंका [भूरि परादादिः] परास्त करनेवाला है, [दभ्रस्य वृधः] छोटेको तू बढानेवाला है, तू यजमान को ज्ञान सिखाता है [ते भूरि वसु सुन्वते] तेरा बहुत धन यज्ञ करनेवाले के लिये ही है।

अरोरवीद् वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं यन्मानुषो निर्जूर्वात्। नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान्त्सुतस्य॥ [११९०; ऋ० २।११।१०]

[मानुषः] मनुष्यका हित करनेवाले इन्द्रने जब [अमानुषं] अमानुष शत्रुका वध किया, तब इसका वज्र [अरोरवीत्] गर्जना करने लगा। सोम रस पीनेवाले इन्द्रने [मायिनः दानवस्य मायाः निः अपादयत्] कपटी शत्रुके सब कपटोंका नाश किया।

न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः। न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु॥ [११७८, ऋ० २।१६।३]

[त इंद्रियं] तेरा सामर्थ्य द्यावापृथिवी [न परिभ्वे] कम नहीं कर सकते, समुद्रों और पर्वतोंसे तेरे रथको प्रतिबंध नहीं होता, तेरे वज्रको कोई पराभूत नहीं कर सकता, ऐसा तू अपने सत्वर चलानेवाले घोडोंसे बहुत योजन तक [पतसि] दूर जाता है।

अधाकृणोः प्रथमं वीर्यं महद् यदस्याग्रे ब्रह्मणा शुष्ममैरयः। रथेष्ठेन हर्यश्वेन विच्युताः प्र जीरयः सिस्रते सध्र्यक् पृथक्॥ [११८२, ऋ० २।१७।३]

हे इन्द्र! तू प्रथम बडा पराक्रम करने लगा, उस समय ज्ञानके साथ बडा बल तूने प्रकट किया। रथमें बैठे इन्द्रने [विच्युताः] अपने स्थानसे भ्रष्ट किये शत्रु [सध्र्यक्] इकट्ठे मिलकर तथा [पृथक्] अलग अलग रहकर भी [प्रसिस्रते] भागते रहते हैं।

विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते। अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेंद्राय सोमं यजताय हर्यतम्॥ १॥ अभिभुवेऽभिभंगाय वन्वतेऽषाळ्हाय सहमानाय वेधसे। तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत॥२॥ [१२१७-१८; ऋ०२।२१]

[विश्वजिते] विश्वविजयी, [धनजिते] धनको जीतनेवाले, [स्वर्जिते] तेजस्विता प्राप्त करनेवाले, [सत्राजिते] साथ साथ जीतनेवाले, [नृजिते] मानवी शत्रुको जीतनेवाले, [उर्वराजिते] उपजाऊ भूमिको जीतनेवाले, [अश्वजिते] घोडोंको जीतनेवाले, [गोजिते] गौओंको जीतनेवाले, [अब्जिते] जलको जीतनेवाले, [अभिभुवे] सामनेसे शत्रुका पराभव करनेवाले, [अभिभंगाय] शत्रुका नाश करनेवाले [अषाळ्हाय] जिसका प्रताप शत्रुको सहन नहीं होता, [सहमानाय] पर शत्रुका हमला सहन करनेवाले, [वेधसे] शत्रुका वेध करनेवाले, अग्नि जैसे तेजस्वी, [दुष्टरीतवे] जिसका पार करना अशक्य है, ऐसे [सत्रासाहे] मिलकर हमला करनेपर भी जो अपने स्थानपर स्थिर रहता है, ऐसे इन्द्रका स्तोत्र हम गाते हैं।

यहां इकट्ठे इन्द्रके बहुतसे कर्म बताये हैं, ये देखनेयोग्य हैं—

सर्व कर्मोंमें अग्रेसर।

त्वं तमिन्द्र पर्वतं न भोजसे महो नृम्णस्य धर्मणामिरज्यसि। प्र वीर्येण देवताति चेकिते विश्वस्मा उग्रः कर्मणे पुरोहितः॥

[७९९; ऋ० १।५५।३]

हे इन्द्र! तू [महः नृम्णस्य] बडे धनका और [धर्मणां इरज्यसि] धर्मोंका अधिपति है। तू अपने पराक्रमसे देवताओंमें प्रतिष्ठा पाता है, क्योंकि तू [विश्वस्मै कर्मणे] सब कर्मोंमें [उग्रः पुरोहित.] प्रचंड अग्रगामी वीर है।

पुरोहित का अर्थ यहां नेता है, जो कर्म करने के लिये आगे होता है।

बलशाली धन।

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्। यस्मिन् विश्वानि पौंस्या॥ [२२; ऋ०१।५।९]

[यस्मिन् विश्वानि पौंस्या] जिसमें सब प्रकारके बल हैं, ऐसी शक्ति इन्द्र हमें देवे, क्योंकि [इन्द्रः अ-क्षित-ऊतिः] इन्द्रके रक्षण करनेके सामर्थ्य अनंत हैं।

हमें धन चाहिये, पर वह ऐसा चाहिये कि, जिसके साथ हमारे पास सब प्रकारके सामर्थ्य भी प्राप्त हो। ऐसा धन हमें नहीं चाहिये कि, जो हमें कमजोर बनावे।

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर॥ [३८; ऋ०१।८।१]

हे इन्द्र। [स-जित्वानं] सदा जयशाली, [सदा-सहं] सदा शत्रुका नाश करनेमें समर्थ और [वर्षिष्ठं] सदा बढनेवाला और कभी न घटनेवाला ऐसा [सानसिं रयिं] सुख देनेवाला धन [ऊतये आभर] हमारी रक्षाके लिये हमारे पास भर कर ले आ।

हमें धन ऐसा चाहिये कि, जिससे हमारा सदा जय होता रहे, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य हमारे पास रहे, हमारे महत्कार्योंमें जितना धन हमें आवश्यक हो, उतना सदा मिलता रहे, धनके अभावके कारण हमारे पुरुषार्थ रुके न रहें, तथा हमारी रक्षा होती रहे। अर्थात् हमें ऐसा धन नहीं चाहिये, जिस धनमें फंस कर हमारा पराभव होता रहे, जिससे हम शत्रुका नाश करनेमें असमर्थ हो जांय, जो आवश्यक कर्तव्योंके लिये न्यून हो जांय और जिससे हम अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ सिद्ध हो जांय।

हमें धन मिले।

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्॥ अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्। इन्द्र ता रथिनीरिषः॥[५४-५५, ऋ०१।९।७-८]

हे इन्द्र! हमें ऐसा धन मिले, जिसके साथ [गोमत्] बहुत गौवें हों, [वाजवत्] बहुत घोडे अर्थात् वाहन हों, [अ-क्षितं] जो नाश न होनेवाला हो, जो [विश्व-आयु] सब प्रकारसे आयुष्य बढानेवाला हो, [पृथु-- बृहत् श्रवः] जो विपुल तथा श्रेष्ठ प्रकारके यशसे युक्त हो। हे इन्द्र! हमें [सहस्र--सातमं] सहस्रों प्रकारका [बृहत् द्युम्न श्रवः] विपुल और तेजस्वी धन हो। [ता रथिनी- इष] तथा अन्न ऐसा हो कि, जो अनेक गाडियोंमें भरकर लाया जा सके।

हमारे घरमें गौवें, घोडे, वाहन, गाडियां, रथ, धन भरपूर हो, किसी तरह न्यूनता न रहे। अन्नभी बहुत हमें प्राप्त हो। हमसे इस धनका उत्तम उपयोग हो, जिससे हमारा यश चारों दिशाओंमें फैले। इस तरहका धन हमें चाहिये।

इन्द्रकी गुह्य मन्त्रणा।

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्।
मा नो अति ख्यः॥ [६; ऋ०१।४।३]

'तेरी गुह्य सुमतियां हमें मालूम हों, हमारे शत्रु उनको न जान सकें।'

'अन्तम सुमति' वह है, जो राज्यशासन करनेवाले वीरोंके पास ही रहती है। गुह्य सलाह या मसलत, गुप्त मन्त्रणा इन्द्रके पास रहती है, क्योंकि यह इन्द्र सब विश्वका साम्राज्य चलाता है। हम इसके अनुयायी हैं, इसलिये वह मंत्रणा हमें ही मालूम हों, पर शत्रुओं को उनका पता न लगे।

घुटने जोडकर प्रार्थना।

स वह्निभि- ऋक्वभिः गोषु शश्वन् मितज्ञुभिः
पुरुकृत्वा जिगाय। पुरः पुरोहा सखिभिः
सखीयन् दृळ्हा रुरोज कविभिः कविः सन्।
[२०१३; ऋ०६।३२।३]

[सः] उस इन्द्रने [मितज्ञुभिः] घुटने जोडकर प्रार्थना करनेवालोंके लिये [पुरुकृत्वा जिगाय] वारंवार विजय किया। उस इन्द्रने अनेक मित्रोंके साथ शत्रुके [दृळ्हा पुरः] सुदृढ नगर तोड दिये।

इन्द्र और माताका संवाद।

जज्ञानो नु शतक्रतुः वि पृच्छदिति मातरम्।
क उग्राः के ह शृण्विरे॥१॥
आदीं शवस्यब्रवीत् और्णवाभं अहीशुवम्।
ते पुत्र सन्तु निष्टुरः॥२॥
समित् तान् वृत्रहाखिदत् खे अराँ इव खेदया।
प्रवृद्धो दस्युहाभवत्॥३॥ [६४०-४२; ऋ० ८।७७]

इन्द्र उत्पन्न होते ही अपनी मातासे पूछने लगा कि, कौन शूर हैं और कौन प्रसिद्ध वीर हैं? वह माता उससे बोली कि और्णवाभ और अहीशुव ये वीर हैं। हे पुत्र! इन का निःपात करना उचित है। इन्द्रने उनको खींच लिया और नाश किया, इससे वह बडा हुआ।

माता अपने पुत्रको वीरताकी शिक्षा कैसी देवे, यह इन मन्त्रोंमें है। माताएं इस का मनन करें। बचपनसे इस तरह माताएं बोध देती रहेंगीं, तो पुत्र वीर ही बनेंगे, इस में संदेह नहीं है।

अन्तिम निवेदन।

इन्द्रदेवता के विषयमें इतना मनन यहां पर्याप्त है। इन्द्र आत्मा अथवा परमात्मा है, यह प्रथम बताया है और उत्तर विभागमें इन्द्र क्षत्रिय शूर वीर है, यह भाव बताया है। इन्द्रकी अन्यान्य विभूतियाँ मन्त्रोंका मनन करनेके बाद पाठक स्वयं जान सकते हैं।

इस स्थानपर जो इन्द्रवाचक पद दिये हैं, वे किस मन्त्रमें कहां हैं, यह पाठक इन सूचियोंसे जान सकते हैं। तथा इन सूचियोंका उपयोग करनेपर पाठकोंको इसी तरह अन्यान्य शब्द मिल सकते हैं कि, जिनसे इन्द्र का ठीक ठीक स्वरूप जाना जा सकता है।

अग्निकी अपेक्षा इन्द्रकी सूचियां अधिक हैं। तथा इसमें उत्तरपदसूची भी विशेष उपयोगी है।

धन्यवाद।

इन्द्रकी विशेषण, उपमा, तथा अन्य सूचियां बनानेका बडे परिश्रमका कार्य श्री पं० अनंत दिनकर रास्ते, पूनानिवासीने किया है। इसलिये वे धन्यवाद के लिये योग्य हैं। अग्निकी सूचियां भी इन्हींकी बनायी हैं।

अन्तमें पाठकोंसे प्रार्थना यही है कि, वे इस दैवतसंहिता से जितना अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं, उतना प्राप्त करें और वेदके सत्य सिद्धान्त के पास पहुंचनेका आनन्द प्राप्त करें।

औंध, जि० सातारा — संपादक
माघ वद्य सं० १९९८ — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वेद का रहस्य।

दूसरा अध्याय।

वैदिक वादका सिंहावलोकन।

वैदिक विद्वान्। [ख]

[लेखक- श्री० योगी अरविंद घोष; अनुवादक- स्वामी अभयदेवजी]

जो मूल वेद इस समय हमारे पास हैं, उसमें दो सहस्र वर्षों से अधिक काल से कोई विकार नहीं आया है। जहाँ तक हम जानते हैं, इस का काल भारतीय बौद्धिक प्रगति के महान् युग से, जो ग्रीक पुष्पोद्गम के समकालीन किन्तु अपने प्रारम्भिक रूपोंमें इस से पहले का है, प्रारम्भ होता है, जिसने देश के संस्कृत-सहित्य में लेखबद्ध पाई जानेवाली संस्कृति और सभ्यता की नींव डाली। हम नहीं कह सकते कि कितनी अधिक प्राचीन तिथि तक हमारे इस मूल वेद को ले जाया जा सकता है। पर कुछ विचार हैं, जो इमके विषयमें हमारे इस मन्तव्यको प्रमाणित करते हैं कि यह अत्यन्त ही प्राचीन काल का होना चाहिये। एक शुद्ध वेदका ग्रन्थ जिसका प्रत्येक अक्षर शुद्ध हो, प्रत्येक स्वर शुद्ध हो, वैदिक कर्मकाण्डियोंके लिये बहुतही अधिक महत्त्व का विषय था, क्योंकि सतर्कतायुक्त शुद्धता पर ही यज्ञकी फलोत्पादकता निर्भर थी। उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें हमें त्वष्टा की कथा मिलती है कि, वह इस उद्देश्य से यज्ञ कर रहा था कि, इन्द्रसे उस के पुत्रवध का बदला लेनेवाला कोई उत्पन्न हो, पर स्वर की एक अशुद्धि के कारण इन्द्र का वध करनेवाला तो पैदा नहीं हुआ, किन्तु वह पैदा हो गया, जिसका कि इन्द्र वध करनेवाला बने। प्राचीन भारतीय स्मृतिशक्ति की असाधारण शुद्धता भी लोकविश्रुत है। और वेदके साथ जो पवित्रताकी भावना जुडी हुई है, उसके कारण इस में वैसे प्रक्षेप, परिवर्तन, नवीन संस्करण नहीं हो सके, जैसों के कारण कि कुरु-वंशियों का प्राचीन महाकाव्य बदलता-बदलता महाभारत के वर्तमान रूपमें आ गया है। इसलिये, यह सर्वथा सम्भव है कि हमारे पास व्यासकी संहिता साररूप में वैसी की वैसी हो, जैसा कि इसे उस महान् ऋषि और संग्रहीता ने क्रमबद्ध किया था।

मैं ने कहा है 'साररूपमें,' न कि उस के वर्तमान लिखित रूपमें। क्योंकि वैदिक छन्दःशास्त्र कई अंशों में संस्कृत के छन्दःशास्त्रसे भिन्नता रखता था और विशेष कर, पृथक् पृथक् शब्दों की सन्धि करनेके नियमोंको जो कि साहित्यक भाषाका एक विशेष अंग है, बडी स्वच्छन्दताके साथ काम में लाता था। वैदिक ऋषि, जैसा कि एक जीवित भाषा में होना स्वाभाविक ही था, नियत नियमों की अपेक्षा श्रुति का ही अधिक अनुसरण करते थे; कभी वे पृथक् शब्दोंमें सन्धि कर देते थे और कभी वे उन्हें बिन सन्धि किये वैसा ही रहने देते थे। परन्तु जब वेद का लिखित रूपमें आना शुरू हुआ, तब सन्धिके नियमका भाषाके ऊपर और भी अधिक निष्प्रतिबन्ध आधिपत्य हो गया और प्राचीन मूल वेदको वैयाकरणों ने जहाँतक हो सका, इसके नियमोंके अनुकूल बना कर लिखा। फिर भी, इस बातमें वे सचेत रहें कि इस संहिताके साथ उन्होंने एक दूसरा ग्रन्थ भी बना दिया, जिसे 'पदपाठ' कहा जाता है और जिसमें सन्धिके द्वारा संयुक्त सभी शब्दोंका फिरसे उनके मूल तथा पृथक् पृथक् शब्दोंमें सन्धिच्छेद कर दिया गया है और यहाँ तक कि समस्त शब्दों के घटकों का भी निर्देश कर दिया गया है।

वेदों को स्मरण रखनेवाले प्राचीन पण्डितोंकी सचाईके विषयमें यह एक बडी उल्लेखयोग्य प्रशंसाकी बात है कि, उस अव्यवस्था के स्थान पर जो कि इस संस्थान में बडी आसानी से पैदा की जा सकती थी, यह पूर्ण रूपसे आसान रहा है कि इस संहितात्मक वेद को सदा वैदिक छन्द-शास्त्रके मौलिक समस्वर रूपोंमें पृथक् करके देखा जा सके।

और बहुत ही कम ऐसे उदाहरण हैं, जिन में कि पदपाठ की यथार्थता अथवा उसके युक्तियुक्त निर्णय पर आपत्ति उठाई जा सके।

तो, हमारे पास अपने आधार के रूपमें एक वेदका ग्रन्थ है, जिसे कि हम विश्वासके साथ स्वीकार कर सकते हैं, और चाहे इसे हम कुछ थोडेसे अवसरों पर सन्दिग्ध या दोषयुक्त भी क्यों न पाते हों, यह किसी प्रकारसे भी संशोधन के उस प्रायः उच्छृङ्खल प्रयत्न के योग्य नहीं है, जिसके लिये कि कुछ युरोपियन विद्वान् अपने आपको प्रस्तुत करते हैं। प्रथम तो यही एक अमूल्य लाभ है, जिसके लिये हम प्राचीन भारतीय पाण्डित्यकी सत्य निष्ठाके प्रति जितने कृतज्ञ हों, उतनाही थोडा है।

कुछ अन्य दिशाओं में संभवतः यह सर्वदा सुरक्षित न हो-अर्थात् जहाँ कहीं प्राचीन परम्परा पुष्ट और युक्तियुक्त नहीं भी थी, वहाँ भी-कि पण्डितों की परम्परा का हमेशा निर्विवाद रूपसे अनुसरण किया जाय- जैसे कि वैदिक सूक्तोंका उनके ऋषियों के साथ सम्बन्धमें। परन्तु ये सब ब्यौरे की बातें हैं जो कि बहुत ही कम महत्त्व की हैं। न ही मेरी दृष्टिमें इसमें सन्देह करनेका कोई युक्तियुक्त कारण है कि वेदके सूक्त अधिकतर अपनी ऋचाओंके सही क्रम में और अपनी यथार्थ सम्पूर्णता में बद्ध हैं। अपवाद यदि कोई हों भी तो वे संख्या और महत्त्व की दृष्टि से उपेक्षणीय है। जब सूक्त हमें असम्बद्ध से प्रतीत होते हैं, तो उसका कारण यह होता है कि, वे हमारी समझ में नहीं आ रहे होते। एक बार जब मूल सूत्र हाथ लग जाय, तो हम पाते हैं कि वे पूर्ण अवयवी हैं, जो जैसे कि अपनी भाषा में और अपने छन्दोंमें वैसेही अपनी विचार-रचना में भी आश्चर्यजनक हैं।

यह तब होता है जब हम वेद की व्याख्या की ओर आते हैं और इसमें प्राचीन भारतीय पाण्डित्यसे सहायता लेना चाहते हैं, कि हम अधिकसे अधिक संकोच करनेके लिये अपनेको बाध्य अनुभव करते हैं। क्योंकि प्रथम श्रेणिके पांडित्य के प्राचीनतर काल में भी वेदों के विषयमें कर्मकाण्डपरक दृष्टिकोण पहले से ही प्रधान था, शब्दों का, पंक्तियों का, संकेतोंका मौलिक अर्थ तथा विचार-रचना का मूल सूत्र चिरकाल से लुप्त हो चुका था या धुंधला पड गया था, नहीं उस समय के विद्वान् में वह अन्तर्ज्ञान या वह आध्यात्मिक अनुभूति थी, जो लुप्त रहस्य को अंशतः ही पुनरुज्जीवित कर सकती। ऐसे क्षेत्र में केवल मात्र अध्ययन जितनी बार पथप्रदर्शक होता है, उतनीही बार उलझानेवाला जाल भी बन जाता है, विशेषकर तब जब कि इसके पीछे एक खुले, कुशल पाण्डित्यका मन हो।

यास्कके कोषमें, जो कोष कि हमारे लिए सबसे आवश्यक सहायता है, हमें दो बहुत ही असमान मूल्यवाले अंगों में भेद करना चाहिये। जब यास्क एक कोषकार की हैसियत से वैदिक शब्दों के विविध अर्थों को देता है, तो उसकी प्रामाणिकता बहुत बडी है और जो सहायता वह देता है, वह प्रथम महत्त्व की है। यह प्रतीत नहीं होता कि वह सभी प्राचीन अर्थोंपर अधिकार रखता था, क्योंकि उनमेंसे बहुतसे अर्थ कालक्रमसे और युगपरिवर्तन के कारण विलुप्त हो चुके थे और एक वैज्ञानिक भाषाविज्ञानकी अनुपस्थिति में उन्हें फिरसे प्राप्त नहीं किया जा सकता था। पर फिर भी परम्परा के द्वारा बहुत बहुत कुछ सुरक्षित था। जहां कहीं यास्क इस परम्पराको कायम रखता है और एक व्याकरणज्ञ के बुद्धि-कौशल को काममें नहीं लाता, वहाँ वह शब्दों के जो अर्थ निश्चित करता है, चाहे यह हमेशा ठीक न भी हो कि जिस मन्त्र के लिये वह उन शब्दोंका निर्देश करता है, वहाँ उनका वही अर्थ लगे, फिर भी युक्तियुक्त भाषाविज्ञान के द्वारा उनकी पुष्टि की जा सकती है कि, उनके अर्थ संगत हैं। परन्तु निरुक्तिकार यास्क कोषकार यास्क की कोटिमें नहीं आता। वैज्ञानिक व्याकरण पहले-पहल भारतीय पाण्डित्यके द्वारा विकसित हुआ, परन्तु सुव्यवस्थित भाषाविज्ञानके प्रारम्भके लिये हम आधुनिक अनुसन्धानके ऋणी हैं। केवलमात्र बुद्धि-कौशल की उन प्रणालियोंकी अपेक्षा अधिक मनमौजी तथा नियम-रहित अन्य कुछ नहीं हो सकता, जो कि प्राचीन निरुक्तकारोंसे लेकर १८ वीं शताब्दी तक भी प्रयुक्त की गई हैं, चाहे वे योरोप में की गई हों, चाहे भारतमें। और जब यास्क इन प्रणालियोंका अनुसरण करता है तो हम सर्वथा उसका साथ छोडनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। नहीं वह किन्हीं अमुक अमुक मन्त्रों की अपनी व्याख्यामें उत्तरकालीन सायणके पाण्डित्यकी अपेक्षा अधिक विश्वासोत्पादक है।

सायणका भाष्य वेदपर मौलिक तथा सजीव पाण्डित्य-पूर्ण कार्य के उस युगको समाप्त करता है, जिसका प्रारंभक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थों के साथ में यास्क के निरुक्तको कहा जा सकता है। यह कोष [यास्कका निघण्टु निरुक्त] भारतीय मन के प्रारम्भिक उत्साह के दिनों में संगृहीत किया गया था, जब कि वह मौलिकता के एक नवीन उद्भव के लिये साधनों के रूप में प्रागैतिहासिक प्राप्तियों को संचित करने में लगा हुआ था, यह भाष्य [सायण का वेदभाष्य] अपने प्रकारका लगलग एक अंतिम महान् प्रयत्न है, जिसे पाण्डित्यपरम्परा दक्षिण भारत में अपने अन्तिम अवलम्ब और केन्द्र के रूप में हमारे लिये छोड गई थी, इससे पहले कि पुरातन संस्कृति मुस्लीम विजयके धक्केके द्वारा अपने स्थानसे च्युत हुई और टूटकर भिन्न भिन्न प्रादेशिक खण्डों में बंट गई। इसके बाद दृढ और मौलिक प्रयत्न कहीं कहीं फूट निकलते रहे, नई रचना और नवीन संघटन के लिये बिखरे हुए यत्न किये गये, पर बिल्कुल इस प्रकारका सर्वसाधारण, महान् तथा स्मारकभूत कार्य नहीं ही तय्यार हो सका।

भूत काल की इस महान् वसीयत की प्रभावशालिनी विशेषताएं स्पष्ट हैं। उस समय के विद्वान् से विद्वान् पण्डितों की सहायतासे सायणके द्वारा निर्माण किया गया, यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो पांडित्य के एक बहुत ही महान् प्रयासका द्योतक है, शायद ऐसे किसी भी प्रयाससे अधिक, जो उस काल में किसी अकेले मस्तिष्क के द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता था। फिर भी इस पर एक समकोटिमें ले आनेवाले मन की छाप दिखाई देती है। समूहरूपमें यह संगत है, यद्यपि विस्तार में जानेपर इसमें कई असंगतियाँ दीखती हैं, यह एक विशाल योजना पर बना हुआ है, तो भी बहुतही सरल तरीके पर, एक ऐसी शैलीमें रचा गया है जो स्पष्ट है, संक्षिप्त है और लगभग एक ऐसी साहित्यिक छटासे युक्त है जिसे कि भारतीय भाष्य करनेकी परम्परागत प्रणाली में कोई असम्भव ही समझता। इसमें कहीं पर भी विद्यावलेप का दिखावा नहीं है, मन्त्रोंमें उपस्थित होनेवाली कठिनाइयों के साथ जो संघर्ष होता, उसपर बडे चातुर्य के साथ पर्दा डाला गया है और इसमें एक स्पष्ट कुशाग्रता का तथा एक विश्वासपूर्ण, पर फिर भी सरल, प्रामाणिकता का भाव है, जो अविश्वासी पर भी अपनी छाप डाल देता है। यूरोप के पहले-पहल वैदिक विद्वानों ने सायण की व्याख्याओं में युक्तियुक्तता की विशेष रूप से प्रशंसा की है।

तो भी, वेद के बाह्य अर्थ के लिये भी यह संभव नहीं है कि सायण की प्रणाली का या उसके परिणामों का बिना बडे-से-बडे संकोचके अनुसरण किया जाय। यही नहीं कि वह अपनी प्रणाली में भाषा और रचना की ऐसी स्वच्छन्दता को स्वीकार करता है, जो कि अनावश्यक है और कभी कभी अविश्वसनीय भी होती है, न केवल यही है कि वह बहुधा अपने परिणामों पर पहुँचने के लिये सामान्य वैदिक परिभाषाओंकी और नियत वैदिक सूत्रों तककी अपनी व्याख्या में आश्चर्यजनक असंगति दिखाता है। ये ब्यौरे की त्रुटियां हैं, जो सम्भवतः उस सामग्री की अवस्था में जिस से उसने कार्य शुरू किया था, अनिवार्य थीं। परंतु सायण की प्रणालीकी केन्द्रीय त्रुटि यह है, कि वह सदा कर्मकाण्ड विधि में ही ग्रस्त रहता है और निरंतर वेदके आशयको बलपूर्वक कर्मकाण्डके संकुचित साँचे में डालकर वैसा ही रूप देनेका यत्न करता है। इसलिये वह उन बहुतसे मूल सूत्रों को खो देता है जो इस पुरातन धर्म पुस्तक के बाह्य अर्थ के लिये- जो कि, बिल्कुल वैसा ही रोचक प्रश्न है, जैसा कि इसका आन्तरिक अर्थ- बहुत बडे निर्देश दे सेकते हैं और बहुतही महत्त्व के हैं। परिणामतः सायणभाष्य द्वारा ऋषियों का, उनके विचारोंका, उनकी संस्कृति का, उन की अभीप्साओंका, एक ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है जो इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो वह वेदके सम्बन्ध में प्राचीन पूजाभावको, इसकी पवित्र प्रामाणिकताको, इसकी दिव्य ख्यातिको बिल्कुल अबुद्धिगम्य कर देता है, या उसे इस रूपमें रखता है कि इसकी व्याख्या केवलमात्र यही हो सकती है कि यह उस अवस्था की एक अन्धी और प्रश्न उठाये जानेके अयोग्य परम्परा है, जिसका कि प्रारम्भ एक मौलिक भूलसे हुआ है।

इस भाष्यमें अवश्य ही अन्य रूप और तत्त्व भी हैं, परन्तु वे मुख्य विचार के सामने गौण हैं या उसके ही अनुवर्ती हैं। सायण और उसके सहायकों को बहुधा परस्पर टकरानेवाले विचार और परम्पराओंके विशाल

समुदायपर जो कि भूतकाल से अब तक बचा रहा था, कार्य करना पडा था। इन के तत्त्वों में से कुछ को उन्हों ने नियमित स्वीकृति देकर कायम रखा, दूसरोंके लिये उन्हों ने छोटी छोटी छूटें देनेके लिये अपने बाध्य अनुभव किया। यह हो सकता है कि, पुरानी अनिश्चितता या गडबड तक में से एक ऐसी व्याख्या निकाल लेनेमें जिसकी कि स्थिर आकृति और स्थिति हो, सायणका जो बुद्धि-कौशल है, उसीके कारण उसके कार्य की यह महान् और चिरकाल तक अशंकित प्रामाणिकता बनी हो।

प्रथम तत्त्व जिससे सायणको वास्ता पडा और जो कि हमारे लिये बहुत अधिक रोचक है, श्रुति की प्राचीन आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक व्याख्याओंका अवशेष था, जो कि इसकी पवित्रताका असली आधार है। उस अंश तक जहाँ तक कि ये प्रचलित अथवा कट्टरपन्थी * [Orthodox] विचारमें प्रविष्ट हो चुके थे, सायण उन्हें स्वीकार करता है, परन्तु वे उसके भाष्य में एक अपवादात्मक रूप में हैं, जो मात्रा तथा महत्त्व की दृष्टिसे तुच्छ हो गये हैं। कहीं कहीं प्रसगवश वह अपेक्षया कम प्रचलित आध्यात्मिक अर्थोंका चलते-चलते जिक्र कर जाता है या उन्हें स्वीकृति दे देता है। उदाहरणत – उसने 'वृत्र' की उस प्राचीन व्याख्या का उल्लेख किया है, पर उसे स्वीकार करनेके लिये नहीं, जिसमें कि 'वृत्र' वह आच्छादक [आवरक] है, जो मनुष्यके पास पहुंचने [प्राप्त होने] से उसकी कामना की और अभीप्सा की वस्तुओंको रोके रखता है। सायणके लिये 'वृत्र' या तो केवलमात्र शत्रु है या भौतिक मेघरूपी असुर है, जो जलोंको रोक रखता है और जिसका वर्षा करनेवाले [इन्द्र] को भेदन करना पडता है।

दूसरा तत्त्व है गाथात्मक या इसे पौराणिक भी कहा जा सकता है–देवताओंकी गाथायें और कहानियाँ जो उनके बाह्य रूपमें दी गयी हैं, बिना उस गम्भीरतर आशय और प्रतीकात्मक तथ्यके जो कि समस्त पुराण+ के औचित्य को सिद्ध करनेवाला एक सत्य है।

तीसरा तत्त्व आख्यानात्मक या ऐतिहासिक है, प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कहानियों जो वेदके अस्पष्ट वर्णनों का स्पष्टीकरण करने के लिये ब्राह्मणग्रन्थोंमें दी गई हैं या उत्तरकालीन परम्परा के द्वारा आई हैं। इस तत्त्व के साथ सायणका बर्ताव कुछ हिचकचाहटसे युक्त है। बहुधा वह उन्हें मन्त्रो की उचित व्याख्या के रूपमें ले लेता है; कभी कभी वह विकल्पके तौरपर एक दूसरा अर्थ देता है, जिसके साथ कि स्पष्ट तौरसे वह अपनी अधिक बौद्धिक सहानुभूति रखता है, परन्तु उन दोनोंमेंसे किसे प्रामाणिक माने इस विषयमें वह दोलायमान हो जाता है।

इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है प्रकृतिवादी व्याख्याका तत्त्व। न केवल उसमें स्पष्ट या परम्परागत तद्रूपताएं हैं, इन्द्र है, मरुत हैं, त्रित अग्नि है, सूर्य है, उषा है, परन्तु हम देखते हैं कि मित्र को दिन का तद्रूप मान लिया गया है, वरुण को रात्रि का, अर्यमा तथा भग को सूर्यका और ऋभुओंको इसकी रश्मियोंका। हम यहाँ वेदके सम्बन्धमें उस प्रकृति-वादी सिद्धान्तके बीज पाते हैं, जिसे यूरोपियन पाण्डित्यने बहुतही बडा विस्तार दे दिया है। प्राचीन भारतीय विद्वान् अपनी कल्पनाओंमें वैसी स्वतन्त्रता और वैसी क्रमबद्ध सूक्ष्मता का प्रयोग नहीं करते थे। तो भी सायणके भाष्य में पाया जानेवाला यह तत्त्व ही योरोपके तुलनात्मक गाथा-शास्त्र के विज्ञान का असली जनक है।

परन्तु जो व्यापक रूपसे सारे भाष्यमें छाया हुआ है, वह है कर्मकाण्डका विचार, यही स्थिर स्वर है, जिस में अन्य सब अपने आपको खो देते हैं। वेदमन्त्र भलेही ज्ञानके लिये सर्वोच्च प्रमाण रूपसे उपस्थित हो, तो भी वे दार्शनिक मतों के अनुसार प्रधान रूपसे और सैद्धान्तिक रूपसे कर्मकाण्डके साथ कर्मोंके साथ, सम्बद्ध हैं और 'कर्मों'से समझा जाता था मुख्य रूपसे वैदिक यज्ञोंका कर्मकाण्डमय अनुष्ठान। सायण सर्वत्र इसी विचार के प्रकाश में प्रयत्न करता है।

* इस शब्द का मैं शिथिलता के साथ प्रयोग कर रहा हूँ। कट्टरपन्थी [Orthodox] और धर्मविरोधी [Heterdox] वे पारिभाषिक शब्द युरोपियन या साम्प्रदायिक अर्थ में भारत के लिये, जहाँ कि सम्मति हमेशा स्वतन्त्र रही है, सच्चे अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते हैं।

\+ यह मान लेना सयुक्तिक है कि पुराण [आख्यान तथा उपाख्यान] और इतिहास [ऐतिहासिक परम्परा] वैदिक संस्कृतिके ही अंग थे, उससे बहुत पूर्वकाल से जब कि पुराणों के और ऐतिहासिक महाकाव्यों के वर्तमान स्वरूपों का विकास हुआ।

इसी साँचे के अन्दर वह वेद की भाषा को ठोक-पीटकर ढालता है, इसके विशिष्ट शब्दों के समुदाय को कर्मकाण्ड-परक अर्थों का रूप देता है,- जैसे भोजन, पुरोहित, दक्षिणा देनेवाला, धन-दौलत, स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ, बलिदान।

धन-दौलत और भोजन- क्योंकि यही सबसे अधिक स्वार्थसाधक और भौतिकतम पदार्थ हैं, जो यज्ञके, प्राप्तियों के, बलके, शक्तिके, बालबच्चोंके, सेवकोंके, सोनेके, घोडोंके, गौओंके, विजयके, शत्रुओंके, वध तथा उनकी लूटके और प्रतिस्पर्धी तथा विद्वेषी आलोचक के विनाश के उद्देश्य के तौरपर प्रस्तावित किये गये हैं। जब कोई व्यक्ति पढता है और मन्त्र के बाद मन्त्र को लगातार इसी एक अर्थ में व्याख्या किया हुआ पाता है, तो उसे गीता की मनोवृत्तिमें ऊपरसे दिखाई देनेवाली यह असंगति और भी अच्छी तरह समझमें आने लगती है कि गीता एक तरफ तो वेद की एक दिव्य ज्ञान+के रूपमें प्रतिष्ठा करती है, फिर भी दूसरी तरफ केवलमात्र उस वेदवाद×के रक्षकोंका दृढताके साथ तिरस्कार× करती है जिसकी सब पुष्पित शिक्षायें केवल भौतिक धन-दौलत, शक्ति और भोगका प्रतिपादन करती हैं।

यह वेद का अन्तिम और प्रामाणिक बंधन बन गया है, जिसने वेद को सभी संभव अर्थोंमें से इस निम्नतम अर्थ के साथ बांध दिया है और यह सायण के भाष्य का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम है। कर्मकाण्डपरक व्याख्याकी प्रधानताने पहले ही भारतवर्षको अपने सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र (वेद) के सजीव उपयोगसे और उपनिषदोंके समस्त आशय को बतानेवाले सच्चे मूल सूत्र से वंचित कर रखा था। सायणके भाष्यने पुरानी मिथ्या-धारणाओंपर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी, जो कि कई शताब्दियोंतक नहीं टूट सकती थी। और इसके दिये हुए निर्देश, उस समय जब कि एक दूसरी सभ्यताने वेदको ढूढकर निकाला और इस का अध्ययन प्रारम्भ किया, युरोपियन विद्वानों के मन में नई-नई गलतियों के कारण बने।

फिर भी यदि सायणका ग्रन्थ एक ऐसी चाबी है, जिसने वेदके आन्तरिक आशयपर दोहरा ताला लगा दिया है, तो भी वह वैदिक शिक्षाकी प्रारम्भिक कोठरियों को खोलने के लिये अत्यन्त अनिवार्य है। युरोपियन पाण्डित्य का सारा का सारा विशाल प्रयास भी इसकी उपयोगिता का स्थान लेनेयोग्य नहीं हो सका है। प्रत्येक पगपर हम इस के साथ मतभेद रखने के लिये बाध्य हैं, पर प्रत्येक पगपर इसका प्रयोग करनेके लिये भी बाध्य हैं। यह एक आवश्यक कूदने का तख्ता है या एक सीढी है, जिसका कि हमें प्रवेश के लिये उपयोग करना पडता है, यद्यपि इसे हमें अवश्य पीछे ही छोड देना चाहिये, यदि हम आगे बढकर आन्तरिक अर्थ की गहराई में गोता लगाना चाहते हैं, मन्दिर के भीतरी भागमें पहुंचना चाहते हैं।

\+ गीता १५।१५ - वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

× गीता २।४२ - यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥

दो प्रकार के नक्षत्र और पंचांग।

(लेखक- श्री० मु० भि० पेंडसे, पुणें. अनुवादक-- श्री० द० ग० धारेश्वर, बी. ए.)

' दो प्रकार के नक्षत्र ' ऐसा शीर्षक देखते ही शायद बहुतसे पाठकों की ऐसी धारणा हो, भला यह कौन नया प्रकार है ? लेकिन इस में कोई नयी बात नहीं है और यह संपूर्णतया शास्त्रानुमोदित तथा सहस्त्रावधि वर्षों से प्रचलित प्रथा है। हाँ, इस विषय की ओर से अधिकांश विज्ञ जनता उदासीनसी रही है और इस ढंग की ओर पर्याप्त मात्रा में ध्यान आकर्षित न होने के कारण आज एक ही पंचांग के स्थानमें तीन या चार प्रकारके पंचांग प्रचलित हुए दीख पडते हैं। यह सचमुच लज्जास्पद बात है और इसका यथोचित निराकरण करने के लिए हमें सर्वप्रथम भली भाँति सोच लेना चाहिए कि दो प्रकारके नक्षत्र कौन हैं, किस वर्तुलपर वे अवस्थित हैं, यद्यपि दोनों नक्षत्रों के नाम एकही हैं, तो भी पंचांग के लिए उनमेंसे कौन नक्षत्र चुनने चाहिए और अन्य कार्य के लिए किन नक्षत्रों का ग्रहण करना उचित है। यह कार्य बडी सतर्कतापूर्वक कर लेना ठीक है। तभी पंचांगवाद का अन्त हो जायगा और शीघ्रही एकमेव पंचांग सभी जगह ग्राह्य समझा जायगा।

वैदिक नक्षत्रों के दो प्रकार उपलब्ध हैं। एक विभाग को ' तारकात्मक नक्षत्र ' नाम दिया जा सकता है और दूसरा विभाग ' सांपातिक नक्षत्र ' कहलाता है। तारकात्मक अश्विनी से आरंभ होनेवाले नक्षत्रों को ' तारकात्मक नक्षत्र-चक्र ' अभिधान दिया गया है और वसंत संपात से शुरु होनेवाले अश्विनी आदि नक्षत्र-दलको ' सांपातिक नक्षत्र-चक्र ' नामसे पहचानते हैं। ध्यानमें रहे कि 'तारकात्मक नक्षत्रदल ' समविभागात्मक नहीं है और इस चक्रमें छोटे बडे नक्षत्र हैं। परन्तु सांपातिक नक्षत्रचक्र समविभागात्मक है। यह विभिन्नता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये दोनों नक्षत्रचक्र परस्परविरुद्ध दिशाओंमें घूमते हैं, अतएव दोनों चक्रोंमें विद्यमान नक्षत्रोंके नाम एकही प्रकार के रखे गए हैं। अश्विनी, भरणी से रेवतीतक केवल सत्ताइस ही नाम हैं। तारकात्मक नक्षत्रचक्र बाहरी वर्तुल और सांपातिक नक्षत्रचक्र अन्तर्वर्तुल के रूपमें विद्यमान् है।

तारकात्मक नक्षत्र की अश्विनीका आरम्भबिंदु और सांपातिक नक्षत्र की अश्विनी का आरंभबिन्दु किसी एक वर्ष आमनेसामने हुए तो दूसरे वर्ष एकदूसरे के सम्मुख वे नहीं आते और दोनोंमें लगभग पचास विकला अन्तर पाया जाता है। हरसाल ऐसी भिन्नता बढते बढते लगभग एक हजार वर्षोंमें तारकात्मक अश्विनीके सामने सांपातिक भरणी आयेगी और दूसरे एक सहस्र वर्षोंमें कृत्तिका आयेगी। इस तरह होते होते लगभग सत्ताईस सहस्र वर्षों के उपरांत दोनों नक्षत्रचक्रोंके प्रारंभ पुनः एक बार आमनेसामने आ जायेंगे। इससे इतना तो सिद्ध हो चुका है कि दोनों नक्षत्रचक्र एक नहीं अपितु विभिन्न हैं। अतः यह भी माना जा सकता है कि उनपर अवलंबित दोनों नक्षत्र भी विभिन्न हैं। अब इस भाँति नक्षत्रों की विभिन्नता सिद्ध हो चुकनेपर यह सोचना चाहिए कि पंचांगके लिए उनमेंसे कौनसे चुनने चाहिए।

सूर्यके चारों ओर पृथ्वी की एक प्रदक्षिणा पूर्ण होनेके लिए एक वर्ष की अवधि लगती है और यही वैदिक प्रणाली का प्रमुख समय-परिमाण है। इसी नींवपर वैदिक अथवा भारतीय ज्योतिषप्रणाली और पंचांग की अट्टालिका खडी है। सभी विचारशील शास्त्रवेत्ता तथा विद्वान् ज्योतिःशास्त्रज्ञ इस बातको अवश्य मानते हैं।

जब सूर्य वसंतसंपातसे निकलकर पुनरपि उसके समीप आ पहुँचता है, तब पृथ्वी की एक सूर्यप्रदक्षिणा पूर्ण होती है। ऊपर कहा जा चुका है कि द्विविध नक्षत्र, तारकात्मक तथा सांपातिक स्वरूपमें विद्यमान हैं। सूर्यके वसन्तसंपात से निकल फिर उसीके समीप आजाने के मार्ग के सत्ताईस समान विभाग ही सांपातिक नक्षत्र हैं। वैसे ही, एक ऋतुपर्याय तथा सूर्यके वसन्त संपातसे निकल वहाँतक पुनरागमन भी समान हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि एक ऋतुपर्याय और सांपातिक नक्षत्र भी अभिन्नरूपी हैं। इस भाँति यह सिद्ध हुआ कि सांपातिक नक्षत्रचक्र, पृथ्वी की एक सूर्यप्रदक्षिणा तथा एक ऋतुपर्याय से संबद्ध है।

उसी प्रकार चूँकि सांपातिक नक्षत्र समविभागात्मक हैं, इसलिए सव्वादो नक्षत्रविभाग एक राशी कहलाते हैं। ध्यानमें रहे कि यह कोष्टक केवल सांपातिक नक्षत्रोंके लिए ही है। अतः सांपातिक नक्षत्रों से ही राशियाँ उत्पन्न होती हैं। एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि तारकात्मक नक्षत्र समविभागात्मक नहीं हैं, इसलिए इनसे राशियाँ उत्पन्न ही नहीं हो सकतीं।

वैदिक वर्षके सत्ताईस विभाग ही नक्षत्र हैं और नक्षत्रो के बारह विभाग राशियाँ हैं। राशीके दो विभाग अयन कहलाते हैं। कोई भी छाया की सहायतासे अयनों का दृक्प्रत्यय देख सकता है। राशियों के छहः विभाग ऋतु कहलाते हैं। ये सभी एक के ऊपर एक निर्भर हैं, इस कारण से पूर्ण कालविभाग सिद्ध हुए बिना पंचांग तैयार ही नहीं किया जा सकता। ये सभी समय-विभाग केवल सांपातिक नक्षत्रोंपर से ही सिद्ध हो सकते हैं, तारकात्मक नक्षत्रोंपरसे नहीं; क्योंकि यह बात शास्त्रसिद्ध है कि ऋतु कभी तारकात्मक नक्षत्रों से सदाके लिए मेल नहीं खाते हैं।

यज्ञकार्य तथा अन्य बहुतसे धार्मिक बातों के लिए निर्णयात्मक दिशा साधन की बड़ी आवश्यकता रहती है। शास्त्रमें ऐसा कहा है कि प्रतिवर्ष मेषारंभमें और तुलारंभमें सूर्यके विषुव-वृत्तपर आते ही यह दिशासाधन करना चाहिए। विषुववृत्तपर सूर्यके आनेके उपरांत मेष तथा तुला राशियोंका प्रारंभ होना केवल सांपातिक नक्षत्रोंके स्वीकार से ही सिद्ध हो सकता है। तारकात्मक नक्षत्रोंके अनुसार सूर्य विषुववृत्तपर केवल दो बार ही सत्ताईस सहस्र वर्षोंमें आसकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि पंचांगके लिए तारकात्मक नक्षत्रोंसे कुछ भी लाभ नहीं होता है।

सूर्यके चतुर्दिक् घूमनेमें पृथ्वी को जितना समय लगता है, उससे लगभग एक घटिका समय अधिक उसे तारकात्मक नक्षत्रोंके घूमनेमें लगता है। सूर्यके इर्दगिर्द पृथ्वीको घूमनेमें जो समय व्यतीत होता है, वही वैदिक वर्ष है। अतः यह निश्चित हुआ कि पृथ्वीको सभी तारकात्मक नक्षत्रोंमें से घूमनेके लिए जिस समयकी आवश्यकता होती है, उसे वैदिक वर्ष नहीं कहा जा सकता है। इससे भी, पंचांग की निगाहमें तारकात्मक नक्षत्रों की उपयोगिता नहीं है, यही सिद्ध होता है।

व्यवहार में हम एक रुपये के मूल्य को पाँच प्रकारों से जान लेते हैं– उदाहरण दो अठन्नियाँ, चार चवन्नियाँ, सोलह आने, चौसठ पैसे और १९२ पै। वैसे ही निम्निलिखित आठ प्रकारों से वैदिक वर्ष की जानकारी हो सकती है। १. सूर्यके चतुर्दिक् पृथ्वीकी एक प्रदक्षिणा। २. एक ऋतुपर्याय। ३. सत्ताईस सांपतिक नक्षत्र। ४. बारह राशियां। ५. दो अयन। ६. छहः ऋतुएँ। ७ उत्तर ध्रुव के सिरे पर एक अहोरात्र और ८. वसंतसंपात से वसंतसंपात तक का समय। इन आठों प्रकारों में से हरेक का संबंध सांपतिक नक्षत्रों से प्रस्थापित है, परन्तु तारकात्मक नक्षत्रों से एक का भी कुछ सरोकार नहीं। यह स्पष्टतया दर्शाता है कि, पंचांग के लिए ये निरुपयोगी हैं।

सांपातिक नक्षत्रों पर से रचे गये पंचांग ही उपादेय हैं। इस समय जो अन्य ग्रहलाघवी, केतकी तथा तिलक आदि पंचांग निरयन प्रचलित हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टिकोन से त्याज्य है, क्योंकि तारकात्मक नक्षत्र समविभागात्मक नहीं हैं, तथापि उन के यथार्थ मयार्थ के ढंग पर सत्ताईस समान विभाग कर उन पर ये पंचांग अवलम्बित बनाये हैं।

प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं कि, तारकात्मक नक्षत्र वैदिक नक्षत्र ही हैं। यह न भूलना चाहिए कि, यद्यपि वैदिक कालपरिमाण को निश्चित करने के लिए ये निरुपयोगी हैं, तो भी अन्य कई कार्यों में उन का उपयोग हो सकता है। सभी जानते हैं कि, भूतल पर तीन विभाग जलमय और एक विभाग स्थलात्मक है। इस स्थल के तिगुने जल-पृष्ठपर सहस्त्रावधि पोत संचार करते हैं और इन जहाजों पर रहनेवाले लोगों को दिशा-विज्ञान के लिए आकाशस्थ सितारे एवं ग्रहों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अंग्रेजी भाषामें हर वर्ष ' नॉटिकल अलमनाक ' नामक एक पुस्तक प्रसिद्ध की जाती है, वह तिथिज्ञान दर्शाने के लिए नहीं, अपितु इन अनगिनती जहाजोंपर रहनेवाले लोगों को जल-विभाग के पृष्ठपर तारों की सहायता से अपनी जगह निर्धारित करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझी जाती है। हमारे यहाँ प्राचीन काल से, इस प्रकार का उपयोग हो, अतः तारकात्मक नक्षत्रों की

प्रथा प्रचलित हुई। उन का यह एक प्रमुख उपयोग है। भारतीय समुद्र तट के निवासी मल्लाह, तारकात्मक नक्षत्रों तथा अन्य कई सितारों की अच्छी जानकारी रखते हैं और यह बात किसी से छिपी नहीं है।

हर तारकात्मक नक्षत्र-पुंज में उस नक्षत्र की प्रमुख तारका के नाते सत्ताईस नक्षत्रों की सत्ताईस योग-ताराएँ मानी हुई है। ऐसा जान पडता है कि, पहले पंचांग में सूचित किया जाता था कि, किस समय इन योगताराओं एवं चन्द्रमा की युति होती है। पर आजकल के पंचांग में यह सूचना नहीं दी जाती है और वस्तुतः ऐसी सूचना देने का सूत्रपात करना आवश्यक प्रतीत होता है।

यद्यपि तारकात्मक नक्षत्रों का पंचांग को कालपरिमाण की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं, तथापि पहले के लोगोंने अन्य अनेक प्रकारों से इन तारकात्मक नक्षत्रों का उपयोग किया है। एक विचारणीय उदाहरण नीचे दिया जाता है।

महाकवि कालिदास--विरचित विक्रमोर्वशीय नाटक के तीसरे अंक में, तारकात्मक रोहिणी नक्षत्र का तथा चंद्रमा का रोहिणी-चन्द्र--योग का उल्लेख पाया जाता है और वह वसंत ऋतु में वैशाख मास के कृष्ण पक्ष के प्रारम्भ के उपरान्त शीघ्र ही हुआ है। यह योग केवल तारकात्मक नक्षत्रों को पंचांग के लिए ग्राह्य समझकर सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। पंचांग के लिए भीतर वर्तुल पर अवस्थित सांपातिक नक्षत्रही लेने चाहिए और पश्चात्, उसके सम्मुख बाहरी वर्तुल के तारकात्मक नक्षत्र कौनसे आते हैं यह निर्धारित करना चाहिए। इसकी प्रणाली उपादेय मानने पर ही उपर्युक्त योग सिद्ध हो सकता हैं, अन्यथा नहीं।

ऊपर कहे अनुसार दो प्रकार के नक्षत्रों के अस्तित्व को मानकर उन दोनों के योग पर निर्भर अनेक बातों का उल्लेख पुराने ग्रन्थों में पाया जाता है। अतः हम इन दो नक्षत्रों को 'द्विविध वैदिक नक्षत्र' नाम देना चाहते हैं। इसलिए इन दोनों सांपातिक तथा तारकात्मक नक्षत्रों का भली भाँति वैज्ञानिक ढंग से सूक्ष्म विचार करना उचित है, क्योंकि ऐसा होने परही आज कल के दुराग्रही तथ कट्टरपन्थी पचांग-निर्माताओं की आँखें अच्छी तरह खुल जायेंगी और शीघ्रही शास्त्रानुमोदित एकमेव पंचांग का सृजन होगा।

—❋❋❋—

'दीपक'

(संपादक- तेगराम। साहित्य-सदन, अबोहर का मुखपत्र)

पंजाब के अबोहर से अब कौन अपरिचित होगा? इस वर्ष हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का ३० वाँ अधिवेशन अबोहर में बडी सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। हमारे सम्मुख 'दीपक' का जो द्वैमासिक अंक प्रस्तुत है, उसमें अनेक वाचनीय लेखोंका संग्रह है, जिनमें 'गीता की भूमिका' तथा 'अमेरिका का स्वातन्त्र्य-युद्ध और वहाँ की राज्य-व्यवस्था' एवं 'मजदूर का जीवन' शीर्षक कहानी पढने योग्य है।

इस अंक में 'साहित्य-सदन' संस्था एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ३० वें अधिवेशन के बारे में बहुत कुछ जानने योग्य बातें लिखी हैं। पंजाब में हिन्दी के प्रति लोगों का अनुराग कैसे बढ रहा है और उसके फलस्वरूप थोडे ही समय में अधिवेशन अनेक अडचनों को लाँघकर किस तरह वांछनीय ढंग से सुसंपन्न हुआ, इसकी अच्छी झलक इस अंक में देखने मिलती है।

पता- मंत्री, साहित्यसदन, अबोहर (पंजाब)

सदाचार।

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, गिरगांव, केलेवाडी- बम्बई)

(३)

वर्तमान समय में आमेरिकावासी अनेक सज्जन सनातन-हिन्दू धर्म की सत्यता सर्व प्रकार से अभ्रान्त तथा मंगल-जनक समझकर दिन-दिन हिन्दू धर्म की ओर विशेष रूप से आकर्षित हो रहे हैं। आजकल तो उस देश में तान्त्रिक साधना के लिए भी विशेष प्रयत्न चल रहा है।

कुलार्णव- तंत्र के अंगरेजी अनुवादक कलकत्ता हाइ-कोर्ट के जज महामती सार उडरफसाहेब महोदयको वर्तमान समय विद्वानों में प्रायः सभी सज्जन जानते हैं। वे स्वयं हिन्दू धर्म के अनेक विषय परीक्षा करके, उसकी सत्यता उपलब्ध कर अनेक बार उच्च- प्रशंसा के साथ-नाना पत्र पत्रिकामें प्रबंध लिखते थे।

हमारे पूर्व-पुरुष आर्य मुनि-ऋषिगण योगबल से सर्व तत्व ज्ञात होकर भूमण्डल के प्रत्येक मानव के उपयोगी करके सार्वभौम मतसे शरीर-तत्व, साधन-तत्व, भोज-तत्व सदाचार-तत्व, सामाजिक-तत्व आदि सर्व प्रकारके विषयों पर अनुभव-वाक्य लिपिबद्ध कर गये हैं। किसी भी जाति के कोई भी मानव इस विशाल सनातन धर्म के विषयों पर मानवत्व की बुद्धि लेकर सुविचार करेंगे, तो इसके प्रत्येक विषयों पर स्वतःसिद्ध ज्ञान प्राप्त कर, कृतघ्न न बन, कृतज्ञता से शिर नत करेंगे।

परंतु खेद की बात है कि, दूसरे जाति के सुज्ञ सज्जन शिर झुकाने पर भी हमारे ही स्वदेशवासी पाश्चात्य विद्या से विमोहित भाईयों स्वगृह के इन सब स्वतःसिद्ध विषयों पर अवज्ञा प्रकट करते हुए नाक--भौं सिकोड कर इनके रचयिता को नाना प्रकार की कटूक्ति से धन्यवाद देते हैं। तथापि आनन्द के विषय है कि, वर्तमान समय हवा बदल गई हैं, अब धीरे--धीरे हमारी जागृति के साथ, हमारे देश के अनेक मनीषीवृन्द सनातन--प्रथा को फिर से, हृदय पर ग्रहण कर रहे हैं। आशा है कि, परम मंगल-मय परमात्मा की परम अनुकम्पा से परपिण्डभोजी, पर-दाररत, परपदाश्रित, परविद्याविमोहित परस्व-अपहारी, पर-बुद्धिचलित भाईयों परम-कण्टकमय पथ से प्रत्या-वर्तन कर परमांगलिक पथ पर अग्रसर होंगे। अस्तु।

भोजन के पहले जलद्वारा हाथ, पैर, मुख, ललाट-देश, चक्षु आदि धोकर, सामाजिक नियमानुसार कपडादि बदल कर भोजन के लिए आसन पर बैठना उचित है। मनुजीने कहा है कि—

" आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुः प्रविन्दति।

आर्द्रपाद यानी गीले पैर से भोजन करने पर दीर्घायु-लाभ होती है।

जिसके पिता जिन्दा है, उसके लिए दक्षिण-दिशा में तथा पुत्रवान् व्यक्ति को उत्तर दिशा में बैठकर भोजन करना उचित नहीं है।

भोजन के पहले गण्डूषद्वारा एक चुल्लू जलपान करके भोजन शुरू करना चाहिए। इस एक चुल्लू जल-पान से नाना प्रकार के लाभ होते हैं। अंगरेज-लोक भोजन के पहले नियमित रूप से थोडासा जल या सोडा-वाटर (Soda-water) मिला हुआ सुरा (Wine) पान करते हैं। इससे उनकी जठराग्नि प्रज्वलित हो जाती है, यानी पित्त का प्रकोपित हो जाता है। पित्त ही हमारे सारे भोजन को जठर में पकाता है। परंतु हमारे देश में मद्यपान की व्यवस्था नहीं है-- शास्त्र-विरुद्ध भी होती है, तथा गर्म देश रहने के कारण मद्य हानिकारक भी है; इसी से हमारे पूर्वपुरुषों ने एक चुल्लू जल पीने की व्यवस्था कर दी है। इसी एक चुल्लू जल--पान से भी वही लाभ होता है, जो अंगरेज के मद्य-पान से होता है। दूसरी बात यह है कि, इस तरह जल--पान करने से गला भी तर हो जाता है; नहीं तो सूखे मुख से व्यस्त होकर अन्न का ग्रास जल्दी-जल्दी निगलने से विशेष

अनिष्ट होने की संभावना रहती है। यहाँ तक कि इससे मृत्यु भी हो सकती है। अतः हमारे गण्डूष (एक चुल्लू जलपान) की व्यवस्था विशेष मंगलजनक है।

भोजन के समय अन्न सामने आने पर इसके दर्शन से प्रफुल्लित हो, अन्न को ब्रह्म-स्वरूप चिन्तन कर मन ही मन उसे प्रणाम करना एवं भोजन-पात्र के चारों ओर जल-द्वारा वेष्टन कर कम से कम दश बार इष्ट-मंत्रद्वारा अन्न को अभिमंत्रित कर, जल का गण्डूष पान कर, आनन्दित चित्त से श्रद्धा के साथ भोजन करना चाहिए। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्णजीने कहा है कि—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
(३।१२-१३)

एकांत में मौनी हो भोजन करना ही उचित है। भावप्रकाश में कहा है कि—

आहार-निर्हार-विहार-योगाः।
सदैव सद्भिर्विजने विधेयाः ॥

अर्थात् भोजन, विण्मूत्रोत्सर्ग तथा स्त्री-प्रसंग साधु-सज्जन एकांत में ही करते हैं। तिथि-तत्त्व में लिखा है कि—

उच्चारे मैथुने चैव प्रस्रावे दन्तधावने।
स्नाने भोजनकाले च षट्सु मौनं समाचरेत् ॥

विण्मूत्रोत्सर्ग, स्त्री-प्रसंग, पेशाब, दन्तधावन, स्नान तथा भोजन के समय मौनावलम्बन करना विधेय (उचित) है।

नासन्दीसंस्थिते पात्रे नादेशे च नरेश्वर।
नाकाले नातिसंकीर्णेऽदत्त्वाग्रञ्च नरोऽग्नये ॥
(विष्णुपुराण)

भोजन-पात्र किसी भी आसन पर रखकर भोजन करना उचित नहीं है, तथा असमय, अति संकीर्ण स्थान पर एवं अग्रभाग अग्निदेव को समर्पण न करके भोजन करना उचित नहीं है। जो सज्जन अपने-अपने इष्ट देव को समर्पण करते हुए प्रसादस्वरूप अन्नभोजन करते हैं, उन्हें कोई दोष नहीं होता।

हो सके तो भोजन के समय हाथ में स्वर्णांगुरीय (सोने की अंगूठी) धारण करें। चरक-संहिता में लिखा है कि—

उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धं इष्टदेशे इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बित न जल्पन् न हसंस्तन्मना भुञ्जीत आत्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक् ।

अर्थात् पहले की भोजनवस्तुएँ जीर्ण होने पर परिमित भाव में अविरुद्ध, ईषदुष्ण, स्निग्ध (घृतादि युक्त) अन्न, पवित्र स्थान पर, प्रीतिकर व्यञ्जनादि (शाक, दाल, भाजी आदि) मिलाकर, न बहुत जल्दी न बहुत धीरे-धीरे भोजन करना चाहिए। उस समय वृथा गप्प तथा हँसी- ठट्टा परित्याग कर तद्गत चित्त से अपने शरीर तथा स्वास्थ्य की ओर विशेष लक्ष्य रखकर भोजन करें।

मुनिभिर्द्विरशनं प्रोक्तं विप्राणां मर्त्यवासिनां नित्यम् अहनि च तमस्विन्यां सार्द्धप्रहर-यामान्तः ॥ (छन्दोग्य-परिशिष्ट)

ऋषियों ने पृथ्वीस्थ ब्राह्मणों के सम्बन्ध में हर रोज दो बार भोजन की व्यवस्था दी है- दिन में आढाई प्रहर के भीतर एवं रात्रि के एक प्रहर के भीतर भोजन करे।

एक प्रहर के पहिले तथा तीसरे प्रहर के बाद भोजन करना मना है। क्योंकि आयुर्वेद में कहा है कि—

याममध्ये न भोक्तव्यं त्रियामन्तु न लङ्घयेत्।
याममध्ये रसद्विष्टत्रियामे तु रसक्षयः ॥

एक प्रहर के भीतर भोजन करने से शरीर में रस का भाग ज्यादा होता है तथा तृतीय प्रहर के बाद भोजन करने से रस का क्षय हो जाता है। अतः इन दोनों समय ही भोजन करना अनुचित है।

शरीर स्वस्थ रहने पर बिना स्नान किए भोजन नहीं करना चाहिए। स्नान न करने से पाचनाग्नि की वृद्धि नहीं होती तथा भोजन में भी आनन्द नहीं होता।

प्राग्द्रव्यं पुरुषोऽश्नन् वै मध्ये च कठिनाशनम्
पुनरन्ते द्रवाशी च बलारोग्ये न मुञ्चति ॥
(विष्णु-पुराण)

जो व्यक्ति प्रथम तथा अन्त में द्रव पदार्थ (जैसे जल आदि) एवं बीच में कठिन पदार्थ भोजन करता है,

कदापि उसका बल और स्वस्थता की हानि नहीं होती है। राजवल्लभ में भी लिखा है कि-

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैर्भागमेकं जलेन तु ।
वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

भक्ष्य वस्तु (भोजन की सामग्री) द्वारा उदर का अर्द्धांग पूर्ण करे और जलद्वारा एक भाग पूर्ण करे तथा श्वास-प्रश्वास आदि आवागमन के लिए चौथे भाग को शून्य रक्खें। मनुजी कहते हैं—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥

अति भोजन रोग का निदान, अल्पायु का कारण, धर्मकार्यादि में रुकावट स्टष्टिकारी, पापजनक तथा लोगों का विद्वेष (घृणा) का कारण है, अति भोजन त्याग करना चाहिए।

बंगाल में एक कहावत विशेष रूप प्रचलित है कि—

" अना खाइयाय दूना गुण,
भरा पेटे रसातले ॥

खाली उदर खाली रखकर भोजन करने से द्विगुण शक्ति लाभ होती है, तथा उदर अतिरिक्त पूर्ण करने से लोग अकर्मण्य (काम–काज के अयोग्य) हो जाते हैं। महाभारत में लिखा है कि-

गुणाश्च यस्मिन् भुक्तं भजन्ते ।
आरोग्यमायुश्च बलं सुखञ्च ॥
अनाविलञ्चास्य भवत्यपत्यं ।
न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति ॥

मिताहारी को रोग नहीं होता, तथा आयु बढ़ती है, बलपूर्ण रहता है, सुख-सम्पदा के साथ दिन व्यतीत होता है, एवं मिताहारी के पुत्र को आलस्यदोष नहीं होता है। मिताहारी को कोई भी व्यक्ति राक्षस कहकर अपमानित नहीं कर सकता। मिताहारी में ये छः गुण विद्यमान रहते हैं।

भोजन के समय जल-पान के विषय में भाव-प्रकाश में लिखा है कि—

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं ।
अनम्बुपानाच्च स एव दोषः ॥
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय ।
मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ॥

अत्यन्त जल-पान करने से तथा एकदम ही जल पान न करने से अन्न पेट में नहीं पचता है। अतः पाचकाग्नि की वृद्धि के लिए बार-बार थोड़ा-थोड़ा जलपान करना चाहिए।

आमं जलं जीर्यति याममात्रं ।
तदर्द्धमात्रं शृतशीतलञ्च ॥
तदर्द्धमात्रन्तु शृतं कदुष्णं ।
पयः प्रपाके त्रय एव कालाः ॥　　(आयुर्वेद)

अर्थात् कच्चा जल एक प्रहरमें हजम होता है। गर्म जल ठण्डा करके पान करने से अर्द्ध प्रहरमें तथा जल गर्म अवस्था में पान करने से चौथाई प्रहरमें परिपाक होता है। जलपरिपाक के लिए यह तीन काल निर्दिष्ट हैं। परन्तु

मूर्च्छापित्तौष्ण्यदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये ।
श्रमे भ्रमे विदग्धेऽन्ने तमके वमथौ तथा ।
अर्द्धगे रक्तपित्ते च शीतमंभः प्रशस्यते ॥
(आयुर्वेद)

मूर्च्छारोग, पित्तप्रकोप, तापादि हेतु, उष्णता, दाह, विष-दोष, रक्तदोष, मदात्यय, श्रम, भ्रम, भुक्तद्रव्य का विदग्धता, तमक श्वास, उल्टी, तथा अर्द्धगरक्तमें शीतल जल-पान करना उचित है। अधिकन्तु,

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे ।
आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धौ नवज्वरे ॥
अरुचि-ग्रहणीगुल्म-श्वासकासेषु विद्रधौ ।
हिक्कायां स्नेहपाने च शीताम्बु परिवर्जयेत् ॥

पार्श्वशूल, प्रतिश्याय, वातरोग, गलग्रह, उदराध्मान, स्तिमित कोष्ठ तथा सद्यवमनविरेचनादि शोधनक्रियाके बाद, नवज्वर, अरुची, ग्रहणी, गुल्म, श्वास, कास, विद्रधि और हिचकी प्रभृति रोगमें एवं घृतादि स्नेह-पानके बाद शीतल-जलपान नहीं करना चाहिए।

किस प्रकार का जलपान करना उचित है, उसके लिए भी शास्त्र में उक्त है।

अगन्धमव्यक्तरसं सुशीतं तर्षनाशनम् ।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥

जिस जलमें किसी प्रकार का गन्ध (बास) नहीं है एवं मधुराम्लादि कोई रस भी व्यक्त नहीं है, जो अति शीतल तृष्णानाशक, स्वच्छ, लघु तथा हृदयग्राही, ऐसा जल ही गुणकारक होता है।

ऐसा जल काल–विशेष में कहाँ मिल सकता है ? मास-भेद से कहा का जल उत्तम होता है, उसका भी उल्लेख है। यथा–

पौषे वारि सरोजातं माघे ..त् तु तडागजम्।
फाल्गुने कूपसद्भूतं चैत्रे चौञ्ज्यं हितं मतम् ॥
वैशाखे निर्झरं नीरं ज्यैष्ठे शस्तं तथोद्भिदम्।
आषाढे शस्यते कौपं श्रावणे दिव्यमेव च ॥
भाद्रे कौपं पयः शस्तमाश्विने चौञ्जमेव च।
कार्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्रं प्रशस्यते ॥

पौष महिनामें सरोवर–जल, माघ महिनामें तडाग–जल फाल्गुन में कूप–जल, चैत्रमें चौञ्जेय जल, वैशाखमें झरना-जल, ज्यैष्ठ में उद्भिद्–जल, आषाढ में कूप–जल, श्रावण में वर्षा–जल, भाद्रमें कूप–जल, आश्विन में चौंज–जल, तथा कार्तिक व मार्गशीर्षमें उपर्युक्त सर्व प्रकार जल ही उत्तम है।

हाँ,–भोजन के समय न होने तथा भूख न लगनेपर भी भोजन करना उचित नहीं है। भाव–प्रकाश में लिखा है, कि—

अप्राप्तकाले भुंजानोऽप्यसमर्थतनुर्नरः।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं चाधिगच्छति ॥

भोजन का समय उपस्थित न होनेपर भोजन करनेसे शरीर अकर्मण्य [काम करने के अयोग्य] हो जाता है, तथा शरीर में ऐसी कोई व्याधि उत्पन्न हो सकती है, जिस से मृत्युतक की संभावना रहती है।

भोजनाग्रे सदा पथ्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्।
अग्निसन्दीपनं हृद्यं लवणार्द्रकभक्षणम् ॥

भोजन के पहले आर्द्रक और नमक का सेवन करे। यह जिह्वा तथा कण्ठ को शोधन करता है, एवं अग्नि को दीप्त करनेवाला, हृद्य तथा सुपथ्य है।

हरीतकी तथा शुण्ठी भक्ष्यमाणा गुडेन च।
सैंधवेन युता वा स्यात् सातत्यनाग्निदीपनी–

हरीतकी और सुँठ, गुड या सैंधव नमकके साथ नित्य सेवन करने से अग्नि की दीप्ति होती है।

समयवक्षारमहौषधचूर्णं लीढं घृतेन गोसर्गे।
कुरुते क्षुधां सुखोदक पीतं विश्वौषध वैकम् ॥

प्रातःकाल में यवक्षार और सुँठचूर्ण अथवा केवल–मात्र सुँठचूर्ण घृत के साथ लेहन कर कुनकुना गर्म जल पीने से क्षुधा की वृद्धि होती है।

जठराग्नि ठीक रहने पर शरीर में कोई भी व्याधि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। आयुर्वेद में विशेष रूप में लिखा है कि, जिससे जठराग्नि बराबर ठीक रहे, इसके लिए मनुष्य का विशेष रूप से चेष्टा करना चाहिए, तथा सावधान रहे। मेरी उम्र जब १४–१५ वर्ष की थी, तब मैं अजीर्णरोग से इतना आक्रांत हो गया था कि, अच्छा होने की कोई भी आशा नहीं थी, इलाज भी बहुत कर चुका था। परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अंत में दैवादेश की भाँति एक दिन आयुर्वेद में आर्द्रक और लवण की बात पढकर उसी दिन से विशेष सावधानी के साथ उसे व्यवहार करने लगा। खाने-पीने पर भी विशेष लक्ष्य रक्खा। फलस्वरूप परम मंगलमय परमपिता की परम-अनुकम्पा से ३।४ महिने के भीतर आप ही आप मैं अच्छा हो गया। इसीसे मैं अपने सुधी पाठकों के लिए ये सब अनुभवी विषय लिख रहा हूँ। आप लोग एक बार इनका प्रयोग कर अवश्य देखें।

भोजन के बाद खुब अच्छी तरह से कुल्ले करके मुख को साफ करे, जिससे मुँह में उच्छिष्ट (झुटा) न रहने पावे। जो सज्जन वृद्धावस्था को प्राप्त कर चुके हैं या जिनके दाँतों में संधियाँ अलग हो गया है, वे कोई तृण से या धातुनिर्मित शलाका से दाँतों में लगा हुआ अन्नादि निकालकर आचमन करे। परन्तु जो वस्तु दाँत से नहीं निकलती हैं, उन्हे निकालने के लिए विशेष व्यस्त न होवे। आचमन के बाद दोनों हाथों को जल से भिगा कर दोनों चक्षुओं को स्पर्श करे तथा तथा मुँह में जितना जल आ सके, उतनी भर कर मुँह बन्दकर दूसरे जल से १०।१२ बार छीटा लगावे। जितनी बार मुँह में जल देवे, उतना ही बार आंख और कपोल को धोना चाहिये। इससे नेत्र की ज्योतिः बढेगी तथा नेत्र की कोई बीमारी

नहीं होगी। ×

उसके बाद वीरासन में बैठकर कङ्घीसे शिर पोंछ डाले। कङ्घी इस तरह फेरना चाहिए कि, जिससे उसके दांत शिर में जरा लगते रहे। १५ मिनट तक बैठना उत्तम है। रोज दोनों वक्त भोजन के बाद इसी तरह बैठने से कितने ही दिन का बात क्यों न हों, जरूर ही अच्छा हो जावेगा। इसी तरह बैठकर जिनको पान-तम्बाकु पीने की आदत है, वे पान-तम्बाकु का उपयोग कर सकते हैं। तन्दुरस्त व्यक्ति के लिए इस नियम का पालन करने से बात की बीमारी होने की शंका ही नहीं रहती। कहना वृथा है कि, रब र की कंघी काम में नहीं लाना चाहिए। ❀

भोजन के विषय में नव्य-शिक्षित सज्जन को और एक शास्त्रोक्त बात स्मरण रखने के लिए अनुरोध करता हूँ। महर्षि मनुजीने कहा है कि-

नाश्नीयात् भार्यया सार्द्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।

अर्थात् अपने धर्मपत्नी के साथ बैठकर भी भोजन न करना चाहिए तथा वह जब भोजन करने बैठती है; तब उसे भी न देखना चाहिए।

दिवा-निन्द्रा।

दिवा-निद्रा उचित नहीं है। परन्तु जिस को आदत पड़ चुकी है- उसकी बात दूसरी है। दिवा-निद्रा के बारे में आयुर्वेद में लिखा है कि-

ग्रीष्मे वातचयादान-रौक्ष्यराज्यल्पभावतः।
दिवास्वप्नो हितोऽन्यस्मिन् कफपित्तकरो हि सः
मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वः मद्यस्त्रीभारकर्म्मभिः।
क्रोधशोकभयैः क्लान्तान् श्वासहिक्वाति-
सारिण.॥
वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्शूलपीड़ितान्।
अजीर्णाभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि॥
सर्वे एते दिवास्वप्नं सेवेरन् सर्वकालिकम्।
धातुसाम्यं तथा ह्येषां श्लेष्मा चाङ्गानि पुष्यति॥

वायु का सञ्चय, आदानकाल (उत्तरायण) का रुक्षता तथा रात्रि छोटी होने के कारण ग्रीष्मऋतु में दिवानिद्रा हितजनक है। क्योंकि दिवानिन्द्रा के स्निग्धत्व के कारण वायु की शांति तथा रुक्षता-नाश हो जाती है, एवं रात्रि के अल्पता के कारण निद्रा भी सम्यक् रूप से नहीं होती है। ग्रीष्मऋतु के अतिरिक्त दूसरी ऋतुओं में दिवानिद्रा अहितकारी है यानी कफ और पित्त को बढ़ानेवाली है। तिस पर जो व्यक्ति अधिक बोलता है, अश्वादिकायाना-रोहन करता है, तथा पथपर्यटन, मद्यपान, स्त्रीसंग, बोझ उठाने एवं व्यायामादि से क्लान्त है. अथवा जो व्यक्ति क्रोध, शोक व भययुक्त है, जो व्यक्ति श्वास, हिक्का, अतिसाररोग से आक्रांत है या जो वृद्ध, बालक, दुर्बल, क्षीण, शस्त्रादि द्वारा क्षत, तृष्णार्त, शूल रोगयुक्त, अजीर्ण, लगुडादि द्वारा आहत, उन्मत्त और दिवानिद्राभ्यासी है; उसके लिए सभी ऋतुओं में ही दिवानिद्रा प्रशस्त है। क्योंकि दिवानिद्रा से उनकी धातुसाम्य हो जाती है, तथा दिवानिद्राजनित श्लेष्माद्वारा शरीरकी पुष्टि होती है। फिर

बहुमेदः कफाः सुप्यः स्नेहनित्याश्च नाहनि।
विषार्त्तः कण्ठरोगी च नैव जातु निशास्वपि॥

मेद तथा अधिक कफवाले व्यक्ति एवं जो व्यक्ति नित्य ही स्नेह पदार्थ सेवन करते हैं, उनके लिए ग्रीष्मऋतु में भी दिवानिद्रा अकर्तव्य है। फिर विष से रोगग्रस्त तथा कण्ठरोगी के लिए रात्रि में भी कदापि सोना उचित नहीं है।

अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता।
सुखायूषी परा कुर्यात् कालरात्रिरिवापरा॥

अकालनिद्रा, अतिनिद्रा तथा अल्पनिद्रा इन तीन प्रकारकी निद्रा को दुष्ट-निद्रा कहते हैं। इससे कालरात्रि

× भोजन के लिए कौन-कौनसी वस्तु विशेष लाभ-दायक है, तथा किस विधि से साधना करने से शरीर स्वस्थ, सदाचार की रक्षा एवं मन पवित्र होकर मनुष्य सदा नीरोगअवस्था लाभ कर सकता है और साधन-भजन करते हुए प्रेम भक्ति तथा मुक्तिलाभ हो सकती है, इन सब गहरी विषयों को देखना हो, तो सुधि पाठक "ब्रह्मचर्य-साधन" तथा "योगीगुरु" नामक पुस्तकद्वय का पाठ करे। इससे सर्वसाधारण का विशेष लाभ होगा। उसका प्राप्त स्थान सारस्वतआश्रम पो० हालिशहर, २४ पर्गना, बंगाल।

❀ योगीगुरु से

की भाँति, आरोग्य तथा जीवनका नाश होता है । अपि च

राात्रौ जागरण रुक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।
अरुक्षमनभिष्यन्दि त्वासीनप्रचलायितम् ॥

रात्रि जागरण करना यानी रात में न सोना रुक्ष तथा दिवानिद्रा स्निग्ध होने पर भी बैठकर झपकी लेना रुक्ष या श्लेष्माकर नहीं है । इससे जान पडता है कि, रुक्षत्व के हेतु रात्रि का जागरण करना वात-वृद्धि का कारण तथा स्निग्धत्व के हेतु दिवानिद्रा श्लेष्मा-जनक होती है । इसी प्रकार

अकालशयनान्मोहज्वरस्तैमित्यपीनसाः ।
शिरोरुक्‌शोथहृल्लासः स्रोतोरोधाग्निमन्दता ॥

अकाल में निद्रा लेने से मोह, ज्वर, स्तमित्य (शरीर में निरुत्साह) पीनस, शिरो-रोग, शोथ, वमनरोग, मल-मूत्रादिका पथ-रोध, तथा अग्निमान्द्य होता है ।

अगर किसी को अकालनिद्रा के कारण कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो

तत्रोपवासवमनस्वेदनावनमौषधम् ।

उपवास, वमन, स्वेद तथा स्नेहनस्य ही प्रतिकारक औषधि है । परन्तु

यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः ।
असात्म्याज्जागरादर्द्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ॥

रात्रि के समय अभ्यास के अनुसार निद्रा लेना चाहिए। यद्यपि रात्रि जागरण करने की आदत न रहे और रात्रि जागरण करने की आवश्यकता पड़े तो, जितने समय तक रात्रमें जागना हो, दूसरे दिन प्रातःकाल में उस से आधे समय तक भोजनके पूर्व निद्रा की सेवन करना उचित है । यह बात सदा ही याद रक्खे कि दिवा-निद्रा के बाद एक ग्लास ठंड जल पान करे । रात्रि-निद्रा के बाद भी ठंड जलपान करने से लाभ होता है । अब

तीसरे प्रहर के कर्तव्याकर्तव्य ।

की बात सुनिए । तीसरे प्रहर में अपने अभ्यास के अनुसार, अपना कर्तव्याकर्तव्य के हिसाब से कामकाज करना उचित है । उस समय आत्मिय स्वजन के साथ मिलना-झुलना, क्रिया (व्यायामादि) करना, तथा निर्दोष अमोद-प्रमोदादि द्वारा समय व्यतीत करना उचित है । इस समय भूख लगने पर चाय, काफि आदि स्वास्थ्य-हानिकारक वस्तुओं का उपयोग न कर दूध, फल-मूल अथवा हल्की मिठाई आदि लघु द्रव्य का स्वल्प भोजन करना उचित है । जिसे उस समय कोई वस्तु खाने-पीने की आदत नहीं है, उसे कुछ भी भोजन नहीं करना चाहिए । उस समय अति साधारण भोजन करने पर भी रात्रि के अन्नाहार के लिए कोई दोष नहीं होगा । किंतु सदैव के लिए यह बात स्मरण रक्खे कि सिर्फ दो बार अन्न-भोजन के लिए ही शास्त्रकर्ताओं ने उपदेश किया है ।

व्यायाम ।

सूर्यास्त के एक घण्टे पहिले व्यायाम करना चाहिए, परन्तु सूर्यास्त के पहिले ही व्यायाम त्याग करना उचित है । व्यायाम के सम्बन्ध में शास्त्र में लिखा है कि—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः ।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥

व्यायाम से देह हल्का, कर्म करने की सामर्थ्य, अग्नि की दीप्ति, मेद का क्षय तथा शरीर सुविभक्त एवं दृढ होता है ।

वातपित्तामयी बालो वृद्धोऽजीर्णी च तं त्यजेत् ॥

वातरोगी, पित्तरोगी अथवा वातपित्तरोगी इनको एवं बालक, वृद्ध (जिनकी अवस्था ७० वर्ष से ऊपर) तथा अजीर्णरोगी के लिए व्यायाम करना उचित नहीं है ।

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः ।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥

अधिक व्यायाम करने से तृष्णा, क्षय, प्रतमक (श्वास-रोग), रक्तपित्त, भ्रान्ति, क्लान्ति, कास, ज्वर तथा वमन उत्पन्न होती है ।

अर्द्धशक्त्या निषेव्यस्तु बलिभिः स्निग्धभोजिभिः।
शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततोऽन्यदा ।
तं कृत्वानुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः ॥

स्निग्धभोजी तथा बलवान् व्यक्ति अर्द्धबल पर यानि श्रान्ति अनुभव होने के पहिले ही व्यायाम को त्याग करे । शीत तथा वसन्त ऋतु ही व्यायाम के लिए प्रशस्त समय है । दूसरे ऋतु में स्वल्प परिमाण में व्यायाम करना उचित है । व्यायाम के बाद सर्व शरीर पर मर्दन करना चाहिए ।

जिन्हें व्यायाम की आदत नहीं है, वे पैदल हवाखोरी कर सकते हैं। परन्तु श्रान्ति आने से तथा पसीना निकलने से ही व्यायाम या टहलना छोड़ देना चाहिए।

उद्वर्तन तथा स्नान।

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलापनम्।
स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम्॥

व्यायाम के बाद उद्वर्तन करना चाहिए। (तैलाभ्यक्त शरीर में आँवला और हरिद्रादि मर्दन को उद्वर्तन कहते हैं) उद्वर्तनद्वारा कफ का नाश, मेद का विलय, अंग की दृढता, तथा त्वक् का वैमल्य सम्पादित होता है। उद्वर्तन के बाद स्नान करना उचित है। मैं पहले भी यह बात बता चुका हूं कि, जो सज्जन सूर्योदय के समय स्नान करते हैं, उनको तैल का मर्दन करना उचित नहीं है। परन्तु ९-१० बजे स्नान के समय तैल मर्दन कर उद्वर्तन करना अच्छा है, उस समय व्यायाम की आवश्यकता नहीं है। अनेक सज्जन प्रातःकाल में व्यायाम करते हैं, उनके लिए तैलमर्दन, उद्वर्तन करना अनुचित नहीं है। फिर जो व्यक्ति शाम को व्यायाम के बाद तैल का मर्दन तथा उद्वर्तन करते हैं, उनके लिए स्नान करना अच्छा है, इससे रात में सुनिद्रा होती है। उद्वर्तन के बाद स्नान करना चाहिए-

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्ज्जोबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेद-तन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्॥

स्नान अग्नि की दीप्तिकर, शुक्रवर्धक, उत्साह तथा बलप्रद है, एवं कण्डू, मल, श्रान्ति, स्वेद, तन्द्रा, तृष्णा, दाह तथा पाप-नाशक है।

अनेक सज्जन स्नान के लिए गर्म जल का उपयोग करते हैं। परन्तु ठण्ढ जल से शरीर का जितना उपकार पहुँचता है, गर्म जलसे इतना नहीं, वरना अर्द्धवाततरोगी, उन्मादरोगी, पित्ताधिक्यरोगी आदि के लिए गर्म जल से स्नान करना यानी बीमारी को आमंत्रण करना जैसा है। वर्तमान समय सबकालसदृश High Blood pressure रोग अनेक सज्जन को अपना आधिपत्य बताकर अकाल में ही काल के गाल में पहुँचा देता है। इस प्रकार के अनेक कठिन रोग की चिकित्सा करके मुझे काफी अनुभव हो चुका है कि, उपर्युक्त व्याधि-ग्रस्त व्यक्ति गर्म जल से स्नान करने से कभी भी रोगमुक्त नहीं हो सकते हैं, वरना दिन-दिन रोग बढ़ता ही जाता है, एवं अपना शरीर को औषधिपरीक्षा का प्रयोग-शाला बना रखता है। अतः जहाँ तक हो सके गर्म जल से स्नान करना अनुचित है। परन्तु जिनका जन्मभर की आदत ऐसी ही है, एवं जो मानसिक दुर्बलता के कारण गर्म जल त्याग करने में सदा भीतियुक्त रहते हैं, वे गर्म जल से ही स्नान करें। परन्तु सदा याद रक्खें कि गर्म जल शिर पर डालना सदा के लिए हानिकारक है। यह मेरा मनमानी बात नहीं है, शास्त्र में भी लिखा है कि—

उष्णाम्बुनाध कायस्य परिषेको बलावहः।
तेनैव चोत्तमांगस्य बलहृत् केशचक्षुषाम्॥

उष्ण जलद्वारा निम्नांग का परिषेक करने से शरीर की बल-वृद्धि होती है, परन्तु उससे मस्तक का परिषेक करने से केश तथा चक्षु का बलहानि होती है।

स्नानमर्दितनेत्रास्य कर्णरोगातिसारिषु।
आध्मानपीनसाजीर्ण भुक्तवत्सु च गर्हितम्॥

अर्दितरोग, नेत्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, अतिसार, उदराध्मान, पीनस और अजीर्णरोग एवं भोजन के बाद स्नान नहीं करना चाहिए।

सायंकाल की विधि।

सूर्यास्त यानी संध्याके समय सिवा परमपिता के चिंतन के अतिरिक्त और कुछ भी करना उचित नहीं है। संध्या-समय के लिए तिथि-तत्त्व में लिखा है कि—

'राक्षसी नाम सा वेला गर्हिता सर्वकर्मसु'

संध्याकाल को राक्षसी बेला कहते हैं। वह समय सभी कामकाज के अनुपयुक्त है। चरक-संहिता में लिखा है कि-

एतानि पंचकर्म्माणि संध्यायां वर्जयेत् बुधः।
आहारं मैथुनं निद्रां संपाठं गतिमध्वनि।
चिंतयेत् परमात्मानं चराचरपतिं विभुं॥

ज्ञानवान् व्यक्ति संध्याके समय ये पाँच प्रकार कर्म परित्याग करे-- आहार, मैथुन, निद्रा, अध्ययन, तथा अध्वगमन यानी पथमें चलना-फिरना। उस समय केवलमात्र जगत्पति परमात्मा-स्वरूप ईश्वर का चिंतन करें।

उस समय नगर या गावके नजदिक नदी, समुद्र तथा तलाव (सरोवर) आदि जलाशय होनेसे उसके पुलिन

(तट) पर उपस्थित हो तरङ्गवाही सौम्य समीरण (वायु) का सेवन करे, तथा प्राकृतिक सौंदर्य का सन्दर्शन करे, एवं तत् गतचित्त से सायं-संध्या सुसम्पन्न करे। अथवा सूर्यास्त के बाद घर पहुँच कर सर्व प्रकार शौचादिसे निवृत्त होकर, शुद्ध कापडादि पहन कर सिद्धासन या मुक्त-पद्मासन में बैठ एकाग्रचित्त से परम मंगलमय परम पिता के श्रीचरण-कमलों का ध्यान करना सर्वतोभावेन मंगल है। तदनन्तर सायं-संध्या करें।

रात्रि-भोजनविधि।

अनंतर चार दण्ड (एक दण्ड चौबीस मिनट है।) रात के बाद एक प्रहर रातके भीतर मध्याह्न [दो प्रहर] समय की भाँति रात्रिका भोजन समाप्त करे।

शास्त्र के अनुसार गृहस्थों के लिए रात्रि का भोजन अवश्य ही कर्तव्य है। परन्तु दिनके भोजन की अपेक्षा रात्रि के भोजन लघु होना चाहिए। उसके बाद कमसे कम एक घण्टे विश्राम कर सोना उचित है। सोनेके समय पहले बाईं करवट सोवे, उसके बाद थोडे समय चित् होकर सोवे, फिर दहिनी ओर थोडा समय करवट बदल कर पहिली की भाँति बाईं ओर करवट बदल कर सोना उचित है। सोने समय दाहिनी नथनेमें श्वास रहने अच्छी निद्रा आवेगी, तथा किसी बीमारी होने की भी सम्भावना नहीं रहेगी। यदि सारी रातभर दाहिने नथने में श्वासवायु चलेगा, तो कभी भी बीमारी नहीं हो सकता है। तदनुसार दिनके वक्त सारा दिन बाईं नथने में श्वास चलने से बीमारी नहीं होती है। जिसके दिनमें बाईं तथा रात में दाहिने नथने में श्वास चलता है- एक ओर जैसा उसकी बीमारी नहीं होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर उनकी सर्वेन्द्रियाँ चैतन्य होकर आध्यात्मिक उन्नति होगी। ×

सोने के सम्बन्ध में गर्गमुनी कहते हैं कि—

नमस्कृत्याव्ययं विष्णुं समाधिस्थः स्वपेन्निशि।
जपन्निष्टमनुं शान्तः सुखसुप्त्यै शताधिकम्॥

भगवान् नारायण को नमस्कारपूर्वक इष्टमंत्र अष्टोत्तर शत जप कर एकाग्र चित्त से परममंगलमय परमात्मा का ध्यान करते करते सो जाना चाहिए। ऐसा करने से ही सुख-जनक निद्रा होगी।

शयन।

निद्रा के समय पूर्व या दक्षिण दिशा में सिर (मस्तक) रखकर सोना चाहिए। यथा-

प्राच्यां दिशि शिरः शस्तं याम्यायामथवा नृपः।
सदैव स्वपतः पुंसो विपरीतन्तु रोगदम्॥
(विष्णु-पुराण)

मानव के शयनकार्य पूर्वदिशा में ही प्रशस्त है, द्वितीयतः दक्षिणदिशा भी ठीक है। इससे उल्टा करने से अवश्य ही रोग पैदा होगा।

राजपूताना, मध्यभारत, पञ्जाब, गुजरात आदि अनेक प्रान्तों के अनेक सज्जन शास्त्रोक्त बात जानने पर भी, वे पश्चिमदिशा में शिर रख कर शयन करते हैं। उन्हें ऐसी आदत ही हो गई है। उन्हें समझाने पर, वे पूर्व-दिशा के लिए तो आपत्ति नहीं करते हैं, परन्तु दक्षिण दिशा के लिए विशेष आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि, दक्षिण दिशा में रावण राजा की वासभूमि है- उस दिशा में शिर रखने से शारीरिक तथा आर्थिक हानि होती है। वास्तव में सो बात नहीं। शास्त्र भी इस बात को कबुल नहीं करता, दूसरी ओर विज्ञान भी दक्षिण-दिशा में सोने में कोई दोष नहीं बतलाता है।

वर्तमान समय में प्रायः सभी व्यक्ति को निद्रा में नाना-प्रकार के दुःस्वप्न आकर सुनिद्रा होने नहीं देता, एवं मनोविकार उत्पन्न कर देता। इसका हाथ से छुटकारा पाने के लिए प्रत्यक्ष अनुभूत एक सरल-योग लिखता हूँ। जिसे मैं अपने जीवन में तथा अनेक व्यक्ति से परीक्षा करके इसकी सत्यता पर पूर्ण विश्वास हो गया है। वह विधि ऐसी है- (क्रमशः)

× उपर्युक्त विधियाँ सब " पवन-विजय-स्वरोदय " शास्त्र की हैं। श्री श्री सद्गुरु महाराजने " योगीगुरु " नामक पुस्तक में इस विषय में विशेष रूप से प्रकाश डाले हैं। उन्होंने कृपा करके इस शास्त्र के बारे में थोडा कुछ ज्ञान मुझे भी प्रदान किए हैं।

मैं कौन हूँ ?

(लेखक- श्रीमत् ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, २१८ केकेवाडी, बम्बई नं० ४)

अन्तहीन काल पारावार, उसके अनंत लहरों में चल रहा है, कितने ही युग–युगांतरसे जीवनकी अविराम धारा। चल रहा है, वह अवश की भाँति, चल रहा है, वह यंत्रपुत्तलिकावत्, फिर भी सोच रहा है- मैं स्वाधीन हूँ ! मैं स्वतन्त्र हूँ ! ! मैं कर्ता हूँ ! ! ! निगूढ है यह रहस्य, आश्चर्य है यह व्यवहार ! यदि स्थिर चित्त से विचार किया जाय तो हम अपने विषय में कुछ भी नहीं जानते- कुछ भी नहीं समझते, तथापि स्वातन्त्र्य-ज्ञान कर्ताभिमान रहा है हम में यथेष्ट परिमाण से !

" मेरा-मेरा " पुकारते हुए सदा ही हम अपना " स्वामित्व " जाहिर कर रहे हैं, कर्तव्य प्रकट कर रहे हैं, परन्तु जिसके सम्बन्ध पर सम्बन्ध संयुक्त कर, वे सब को हमारे " उदरसात् " (पेट-प्रवेश) की व्यवस्था है, वहीं मैं कौन हूँ, यह हम नहीं जानते, यह हम नहीं समझते हैं ! इस से आश्चर्य की बात और क्या ही हो सकती है ?

' मैं ' एवं ' मेरा ' इसे लेकर ही यह संसार, इसे लेकर ही यह व्यावहारिक जगत् है । ' मेरा ' या ' हमारा ' इसकी जड में भी ' मैं ' ही हूँ । क्योंकि, मैं न रहने से फिर ' मेरा '-' हमारा ' कहकर कोई भी वस्तु ही नहीं रहता । अतः जब ' मेरा ' ' हमारा ' कहने का हमें दावी है, तब न्याय युक्ति के प्रमाण से प्रमाणित होता है कि, ' मैं ' कहकर भी प्रत्येक का कोई न कोई स्वतन्त्र सत्ता अवश्य ही है । फिर भी लाखों लोगों के भीतर एक व्यक्ति भी ' मैं ' का संधान रखता है या नहीं ये, बात संशयजनक है । ' मेरा ' संधान नहीं है, मै कौन हूँ इसका खोज खबर नहीं है, फिर भी सभी व्यक्ति ' मेरा–मेरा ' कहकर अपना गाँठरी बाँध रहे हैं । यह एक महान् रहस्य है । मेरे सुख के लिए, मेरी तृप्ति के लिए, सदा ही उपकरणसंग्रह का आयोजन हो रहा है, मेरा स्वत्व- स्वामित्व की गण्डी बढाने के लिए सदा ही एक ' मेरा ' के साथ दूसरे ' मेरा ' का द्वन्द्व लग ही रहा है, फिर भी आजतक ' मेरा ' का स्वरूपनिर्णय नहीं हुआ है, वह सुनिश्चित नहीं हुआ है । मै कौन हूँ ? सभी बोलते हैं-

" मैं-मैं " कीटाणु से ब्रह्म तक सभी की वाणी है- " मैं-मैं " । वास्तव में वही सत्य है; क्योंकि " मेरा " को छोडकर तो उन्हें और कोई भी सच्चा परिचय नहीं है । अंधेरा में पथिक अपना मन से विभोर (तन्मय) हो चल रहा है, अचानक उसे पूछिये कि, " तुम कौन हो ? " तत्काल ही वह विवश की भाँति उत्तर देंगे कि, " मैं " या " हम " ! पहले-पहल तो उसकी मुँह से किसी भी प्रकार से नहीं निकलेगा कि, मैं अमुक हूँ, या मेरा नाम अमुक है । क्योंकि जो नाम वह बोलेंगे, वह नाम तो उस का प्रकृत परिचय नहीं है; चिरकाल (बराबर-जन्म- जन्मांतर) तो वह उसी नाम के साथ युक्त नहीं था, इस देह का उद्भव के साथ ही साथ जो नाम अब चल रहा है, वह नाम तो उस के पितापितामहकर्तृक स्वकपोल-कल्पित सृष्ट नाममात्र है ! फिर ऐसा ही सुदूर अतीत यवनिका पर दृष्टि डालने से देखने में आता है कि, युग--युगांतर से उस के साथ जितने बार देह का संयोग हुआ है, उतने बार ही वह उतने नाम से परिचित हो आया है, देह का परिवर्तन के साथ ही साथ उस का नाम-रूप का भी परिवर्तन हो रहा है । ठीक इसी हिसाब से अनन्त नाम- रूप के भीतर से आने पर भी एक भाव उस का बराबर ठीक है— एक परिचय उस का अद्यापि विद्यमान है वह परिचय यह है कि, उस का अति प्रिय अपना अनंत जीवन के अनन्त काल के साथी " मैं " या " हम " ! यह " मैं " का नाश, " मैं " का परिवर्तन कभी भी नहीं हुआ है— होगा भी नहीं । अब दिखाना चाहिए कि, यह " मैं " कौन है ?

सही है कि सभी व्यक्ति बोल रहे हैं- ' मैं मैं । ' परन्तु ' मैं ' कौन हूँ ? वे 'मैं' बोल रहे हैं । यह बात यदि उससे पूछा जाय, तो कोई जवाब देगा कि ' यह देह ही

मैं हूँ।' तीसरे कई कहेंगे कि 'ये इंद्रिय-समुदाय ही मैं हूँ। तीसरे कोई सोच- समझ कर कहेंगे कि, 'चतुर्विंशति तत्त्वात्मक अवस्था ही मैं हूँ, '- फिर कोई सज्जन चकित होकर चुप रहेंगे। इसका कारण क्या है? सभी व्यक्ति मैं मैं करते हैं, फिर भी उसी मैं का परिचय देने के समय एक-एक व्यक्ति का जवाब एक-एक प्रकार के क्यों होता है? इसका उत्तर यों है कि हम हमारे 'मैं' को खो बैठे हैं; प्रकृति के गुणावरण से आवृत हो, उसके रंजन से रञ्जित हो, उस के मोह से मुग्ध हो, हम हमारे 'स्वरूप' को भुलकर 'विरूप' बन गए हैं, पौरुषत्व खोकर प्रकृति में लीन हो गए हैं। बहुत ही आश्चर्य की बात है- परन्तु कठोर सत्य है, कि हम हमारे सरताजा 'मैं' हूँ उसे सम्पूर्ण रूप से भुल गया हूँ। सनातन काल से अभ्यासके कारण हम 'मै-मैं' कर रहे हैं सही, 'मैं-मैं' कहकर जागतिक व्यवहार सम्पन्न कर रहे हैं सही, परन्तु सच्चा 'मै' कहाँ है? वही सच्चा मै का प्रतिध्वनि नकल मैं मैं घूम-घूम कर शब्द हो रहा है- परन्तु असल मैं तो उसमें दिखने में ही नहीं आती है !!!

प्रसंगवश एक कहानी स्मरण आ गई है, सुनिए। प्रातःस्मरणीय पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर महाशयन अपने बंधु-बांधव के पास यह गप्प करते थे। एय सज्जन को नित्य शाम के समय घूमने का आदत हो गया था। घूमते समय एक लकडी सदा ही पास में रखने थे। भ्रमण के बाद वापस लौटकर वह लकडी कमरेके एक कोणमें रखकर बिस्तरे के उपर लेटते थे। कोई-कोई दिन ऐसा भी हो जाता था कि, उसी प्रकार लेटने-लेटते ही सुदीर्घ-रजनी (रात) अन्त हो जाता था। एक रोज भुल वश वह लकडी को कोणमें न रखकर, उसी लकडी को बिस्तरे में सुलाया दिया, एवं स्वयं तत्स्थलाभिसिक्त हो तमाम रात उसी कोणे में खडा रहा। प्रातःकालमें उसके एक बंधु उसी घर में प्रवेशपूर्वक अपने मित्र का यह व्यापार देखकर चकित हो गया, तथा सारे व्यापार अनुमान से समझ कर अचिरात् उसका भुल संशोधन किया।

हमारी दशा भी ठीक वैसी ही हुई है। हम हमारे सच्चा मैं को विसर्जन देकर झूटा मैं को लेकर कारोबार कर रहे हैं। अपना आत्मस्वरूपता को भुल कर प्रकृति के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिए हैं; निर्गुण स्वरूपता को भुलकर गुण के भीतर गोता खाने लगे हैं। अतः प्रकृति से विभ्रांत हम एक बार यहीं मैं हूँ, एक बार यही मैं हूँ, इस प्रकार द्रव्य-द्रव्यान्तर में मैं मैं करते हुए अपना स्वामित्व कायम रखने के लिए इतना व्याकुल प्रयत्न चल रहा है।

वास्तव में "मैं कौन हूँ" इस का संधान करने से, इस विषय पर स्थिर-चित्त से विचार करने से, दिखने में आता है कि, जो सब दृश्यमान वस्तुओं के ऊपर देहेन्द्रियादि के ऊपर हम-मैं भाव स्थिर कर रहे हैं, वास्तव में वह मैं नहीं है, मैं का आभास मात्र छायामात्र है। सच्चा मैं का प्रतिबिम्ब लेकर, वर्तमान मैं चल रहा है- मिथ्या मैं का ही अभिनय। प्रकृति का चतुर्विंशति तत्व में फँस कर सच्चा मैं जो कहाँ, कैसे कब खो गया है, उस का कोई भी संधान मुझे मालूम नहीं है। फिर सच्चा मैं को पुनः प्राप्त करने हो तो- हमारे स्वरूप में पुनः प्रत्यावर्तन करने हो तो, हृदय में प्रबल अनुसंधित्सावृत्ति जगाना चाहिए कि, मैं कहाँ है? मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मैं कहाँ चला जाऊंगा? यदि मैं ही देह हूँ, तो फिर मेरा देह " क्यों कहते हैं? तद्रूप मत ही यदि मैं हूँ, तो "मेरा मन" क्यों कहते हैं? इसी प्रकार यदि मैं ही बुद्धि-चित्त-अहंकार हो तो, फिर "मेरी बुद्धि" "मेरा-चित्त" तथा "मेरा अहंकार" क्यों कहते हैं? "मैं" और "मेरा" ये दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं- यह बात जड बुद्धि-वाले का भी बोधगम्य है। "मेरा घर" ये बात कहने से क्या कोई व्यक्ति यह समझते हैं कि, "मैं घर हूँ?" अतः देह-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार आदि कोई भी वस्तु का अर्थ मैं नहीं हुआ, वे सभी मेरा है, मै इन के अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई सत्व हूँ।

पक्षांतर में यदि मैं ही देह हूँ, तो देह के जन्मके पहले 'मै' नहीं था, फिर देहनाश के बाद भी 'मैं' नहीं रहेगा। तब देह की उत्पत्ति के साथ ही साथ 'मैं' का उद्भव हुआ, फिर उसकी मृत्यु के साथ ही साथ, 'मैं' का विलय हो जायगा। फिर एसा ही हो, तो यह मैं अचानक आकर अचानक ही कहाँ चला जाता है? वह अपूर्व 'बहु-मैं' के भीतर इतने पार्थक्य (फर्क) क्यों दिखनेमें आता है?

जीवितकाल में देह क्यों चलता-फिरता है, बात क्यों करता है, मैं हूँ क्यों कहता है ? फिर मरने के बाद सारे बाह्य-इंद्रिय विद्यमान रहनेपर भी वह असाड़-जड़वत् क्यों पड़ा रहता है ? वही आँख रहता है फिर भी उसमें दृष्टिशक्ति क्यों नहीं रहती है ? वही कान रहता है, फिर भी उसमें श्रवणशक्ति क्यों नहीं रहती है ? वही जिह्वा नासिका, त्वचा रहते हैं, फिर भी उनमें रस-गंध-स्पर्श की शक्ति क्यों नहीं रहती है ? इनसे क्या यह प्रमाणित नहीं होता है, कि देह सच्चा मैं का एक अधिष्ठान-क्षेत्र-मात्र है- वास्तवमें देह का कई चेतनत्व नहीं है। जब-तक वह मैं देहके साथ युक्त रहता है, तबतक ही यह देह चेतनवत् प्रतिभात होता है- फिर मैं का अवर्तमान से यह जड़-शिव है।

फिर निद्रावस्था में स्वप्न के समय भी देखते हैं, कि देह जब गभीर-निद्रामें मग्न रहता है, तब केवल-मात्र प्राण के अस्तित्व संबोधक श्वास-प्रश्वास के अतिरिक्त देहकी दूसरी सारी क्रियाएँ सुप्त अथवा लुप्त रहती हैं; तब भी मैं अपने 'मैं-त्व' को कायम रखकर स्वप्नराज्य में जाग्रत-अवस्था की भाँति व्यवहारादि सम्पन्न करता है- देह के सिवाय भी वह देश-देशांतर, कार्य-कार्यांतर में घूमता-फिरता है।

फिर मैं ही यद्यपि इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि का समन्वय होता, तो वे सब का विलय (नाश) के साथ ही साथ तो उसका भी विलय होना चाहिए। परन्तु स्थान-स्थान पर यह भी देखनेमें आता है कि, इंद्रिय-मन प्रभृति के अतिरिक्त भी मैं वर्तमान रहता है। हमारे व्यावहारिक ज्ञान अनुभव के कारण इंद्रियवर्ग न रहनेपर भी ज्ञान स्वमहिमा में प्रतिष्ठित रहता है। योगी की समाधि-अवस्था एवं जन-साधारण की सुषुप्ति-दशा इसका प्रकृष्ट उदाहरण हैं। योगी की समाधि-अवस्था योगी का ही समाधिगम्य है; फिर भी शास्त्रादि में उसी अवस्था का वर्णन मिलता है कि, उस समय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि लय होकर केवल मात्र 'मैं' या 'ज्ञान' का स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। सुषुप्ति की अवस्था तो जनसाधारण जानता ही है।

उस समय देह की चंचलता, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि का प्रभाव कुछ भी नहीं रहता है। सभी लय होकर महा-प्रशांति में रहते हैं, फिर भी नींद टूटने के बाद सभी के मन में आता है कि, अच्छी सुखशांति से सो गया था। यह जो सुखशांति की बात कौन इसे स्मरण में रखता है ? जब सब ही सुषुप्त हैं, तब उसी सुषुप्ति के द्रष्टा कौन हैं ? यह "मैं" हमारा "आत्मज्ञान" है ! जब प्रकृति का सारी चांचल्य दूर हो जाती है- सारी विक्षेप महा-प्रशांति में आत्म-समर्पण करते हैं, तब ही मैं का स्वरूप "मैं" का प्रकाश फुट निकलता है- मैं कौन वस्तु हूँ ? तब ही हम उसे उपलब्ध कर सकते हैं, कि, 'मैं" कौन हूँ। वास्तव में मैं-मैं का स्वरूप निष्क्रिय, निरालम्ब, निर्विकार, गुणातीत है।

मैं के स्वरूप में कोई मालिन्य (मैल) नहीं है- विक्षेप नहीं है, अशांति नहीं है वहाँ चिरशांति, नित्य, आनन्द विद्यमान है। हम हमारे मैं को आत्म-स्वरूप को भुल गये हैं, इसी कारण जीवनका सुख-शांति, आशा, भरोसा, सब खो बैठ हैं। "मैं" को खोकर अब हम कई एक इंद्रियोंके क्रीडात्मक स्वरूप में परिणत हो गये हैं, उन्हीं का सुख को ही अपना सुख समझते हैं, उनकी परि-तृप्ति को ही अपनी परितृप्ति समझ कर रहे हैं। अब हम स्वतंत्र नहीं हैं- परतंत्र हैं। अतः दूसरे की सेवा के लिए जगत् के एक प्रांत से दूसरे प्रान्ततक दौड रहे हैं दौड रहे हैं, इंद्रियज शांतिकी संधान में, सुख की सधान में !!

जो कोई किसी भी कार्यमें प्रवर्तित क्यों न हो, कोई भी विषय पर लिप्त क्यों न हो, जरा-सोच-विचार कर देखनेसे प्रतीत होगा कि, सभी जीव सुख के भिखारी हैं, सुख की आशा से ही सभी जीव कर्म से कर्मान्तर में प्रवर्तित हो रहे हैं। चोरकी चौर्य-वृत्ति में, साधु साधना की त्याग में, माता-पिता अपत्यका स्नेहमें, यह सुख की लिप्सा (लालच) ही वर्तमान है। मरीचिका भ्रांत मृग जैसे तृष्णार्त हो, दिगन्त से दिगन्तर की ओर दौडते हैं समझते हैं कि, आगे तृष्णार्त जल मिलेगा; ठीक वैसा ही हम भी दौड रहे हैं, विषय से विषयांतर में सोच रहे हैं- शायद सामने में हमारे सुखका उत्स है !! परन्तु जब उस विषय को प्राप्त होते हैं, उसका रसास्वादन करते हैं, तब फिर वह और अच्छा नहीं लगता है। तब ही फिर उसे त्याग कर सुख की संधान में विषयांतर में दौडते हैं।

इसी प्रकार नित्य पुनः पुनः प्रतारित (धोखा) खाकर भी विषय से विषयांतरमें दौडनेमें हमारी विरक्ति नहीं है, शत लांछना (कष्ट) मिलने पर भी सुखकी बात सोचकर उसी लांछनादायक वस्तुको अपना कर लेनेके लिए हमारे औदास्य नहीं हैं। इसीका नाम ही महामाया का खेल है। समझ रहे हैं; सब जान रहे हैं, सब फिर भी उसके ही जादु-मंत्र से मुग्ध हो, हम पुनः पुनः एक ही विषय में लुब्ध हो रहे हैं, मुग्ध हो रहे हैं!!! उपलब्धि कर रहे हैं, प्रत्यक्ष कर रहे हैं कि, विषय के भीतर प्रकृत सुख नहीं है।

इन्द्रियाहृत विषयसंस्पर्शज सुख वास्तव में ही आक्षेपिक तथा अनित्य है; तथापि यह क्षणिक सुख की आशा से मुग्ध होकर, हम आत्म-केन्द्र से च्युत हो दूर रहे हैं। इसी प्रकार न मालूम और कितने दिनों तक हम इन्द्रियों का दास बन घूमते रहेंगे- कौन जानते हैं? राज-राजेश्वर यदि आत्म-विस्मृत (भुलना) हो, अपने को भिखारी समझ कर, स्वीय उदरपूरणार्थ दूसरे के द्वार-पर भिक्षार्थ जाय, तो जैसे उनका पूर्वानुभूत सुख-शांति लेश (बुन्द) मात्र भी मिलने की संभावना नहीं रहती है, वैसे ही हम आत्मस्वरूप को भुलकर हमारे सनातन 'मैं' को खोकर जितना ही इन्द्रिय-पथ में विषय से विषयांतर में भिक्षावृत्ति का अवलंबन कर क्यों न घूमें, उससे प्रकृत-सुख, प्रकृत शांति कभी भी लाभ नहीं कर सकते हैं।

हम हमारे सुख का विषय, आनन्द का उपकरण सारे ही बाहर से संग्रह करने के लिए चेष्टा कर रहे हैं- सोच रहे हैं कि, वही बाह्य-विषय में ही शायद हमारे जीवन के सारे सुख-शांति जमा है, परन्तु ये बातें कितने भ्रमजनक हैं, ये कितने बडे प्रतारणा हैं, उसे बोलने जैसी भाषा मुख मे नहीं है। वास्तव में जब तक 'मैं' का संधान नहीं मिलेगा, आत्मस्वरूप का साक्षात् (दर्शन) जब तक नहीं होगा, तब तक अपर्याप्त परिमाण में विषयसुख प्राप्त करने पर भी, वे हमें नित्य तृप्ति स्थायी आनन्द नहीं दे सकेगा। क्योंकि, सदा ही आँख के सामने में दिखने में आता हैं, कि सारे विषय अनित्य हैं। वे परिवर्तन-शील (बदलनेवाले) हैं, वे अशाश्वत हैं। आज जो विषय में मस्त हो गये हैं, कल ही उस का रूपांतर- भावांतर दिखने में आती है, आज जो विषय में मस्त हों, अचानक साधारण-ज्ञान उत्पन्न होते ही समझेंगे कि वह गायब हो गया है। एक वस्तु या एक विषय थोडे समय से ज्यादा समय के लिए आनन्द नहीं दे सकता है, क्योंकि, वे तो स्वयं ही मरणशील हैं। अतः इसी प्रकार से विषय से विषयांतर में दौड-धाप कर घूमते रहेंगे, तो हम सिर्फ थक जावेंगे- प्रकृत- शांति लाभ करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। तब क्या हमारे ऐसा कोई विश्वास-भूमि नहीं है, जहाँ पर पहुँचने से हमारे सारी आशा-आकांक्षा (प्रार्थना) की निवृत्ति हो सकें, सर्व प्रकार की प्रार्थना, सर्व प्रकार की आशा की इति हो जावे? हाँ, है, वह है हमारे आत्मज्ञान, वह है हमारे यह सनातन 'मैं'।

वर्तमान में हम जिसे 'मैं-मैं' कर रहे हैं, वह मिथ्या मैं है, वह भ्रांत 'मैं' है! उस मैं का कोई स्थिर भूमि का नहीं है- वह माया का विजृंभण मात्र है। नेति-नेति के हिसाब से विचार करते-करते पुनः हमारे आत्मचैतन्य को ये सब 'अनित्य-मैं' से उपसंहरण कर "सत्य मैं" में प्रतिष्ठित करने होगा। मिथ्या मैं को विसर्जन कर सत्य मैं का द्योतना जगाये उठाने पडेगा।

ईश्वर साकार या निराकार, वे स्त्री हैं या पुरुष हैं, वे हैं या नहीं- इत्याकार अनेक मतवाद, अनेक पथवाद, जगत् में प्रचलित रहकर विश्व-मानव को अनेक सम्प्रदाय में विभक्त कर रक्खे हैं। कोई सज्जन वेदांत के सोऽहं-वादी, कोई बौद्ध के शून्यवादी, कोई वैष्णव के द्वैतवादी, फिर कोई सज्जन अद्वैत-गर्भस्थ द्वैतवादी हैं!!! किसी के उपास्य God, किसी के उपास्य अल्ला, फिर किसी के उपास्य महाशक्ति, तथा किसी के उपास्य हरि- इत्यादि प्रकार से हैं! किसी के साथ, किसी का भी मत का मेल नहीं है- किसी के साथ किसी के पथ का भी सामञ्जस्य नहीं है। फिर कोई कोई सज्जन अपनी विज्ञता के घमण्ड से घमणाक्रांत हो बोलते हैं कि, ईश्वर की उपासना की आवश्यकता ही क्या है? ईश्वर न होने से क्या हमारे दिन नहीं बितते? इत्यादि।

यदि विचार किया जाय, विवेचना किया जाय, तो हमें दिखनेमें आता है कि, हमारे सभी विषय को छोड देनेके

थक सकता है, सभी कुछ अस्वीकार करनेसे भी कुछ हर्ज नहीं है; परन्तु हमारे ' मैं ' को हम किसी भी प्रकार छोड नहीं सकते हैं,– किसी भी प्रकार से उसका अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं । जो सज्जन घोर नास्तिक हैं. ईश्वर के अस्तित्व पर सम्पूर्ण रूप से अविश्वासी हैं, वे भी ' मैं ' का अस्तित्व सिर झुकाकर स्वीकार करते हैं । ' मैं ' को लांघने का साहस उनका भी नहीं है; क्योंकि मैं ही न रहा, तो फिर रहता ही क्या है ? मैं न रहा तो, इतने विद्रूपात्मक-वाणी इतने घमंडता, इतने पुरुषार्थ सभी वृथा हो जाता है !!!

सब सम्प्रदाय जैसे चल रहे हैं, चलने दीजिए । सब मत, सब पथ जैसा है– वैसा ही रहने दीजिए । कोई भी विषय-वस्तु बदलने की, तोडने की आवश्यकता नहीं है,– संभोजन करने की भी प्रयोजन नही है । सिर्फ सोचकर देखिए कि हमारे साथ निबिड-संबंधवाले यह ' मैं ' कौन है ? मैं कहाँ से आया हूँ– कहाँ-जाऊंगा ? मैं नित्य हूँ या अनित्य हू ? सभी सज्जन यदि सांप्रदायिक संस्कार तथा पारिपार्श्विक प्रभाव से मुक्त होकर शांत-समाहित-चित्तसे सोच विचार कर देखें कि ' मैं कौन हूँ ?– कहाँ से मेरा उद्भव हुआ है ? तो सारे द्वन्द्व, सारे विरोध (झगडा) एक दिन अपसृत हो विश्व-मानव को प्रशांति के एक महा-भूमिका में ले जाकर मिलावेंगे, तब अद्वैतानुभूति का आनन्द प्लावन से उन्हें परिप्लावित कर आनन्द दान करेंगे । अतः आज मैं इस युग-संधिक्षण में सभी सज्जन का अनुसंधान का विषय है कि, वास्तव में ' मैं कौन हूँ । ' *

धनुर्वेद-लेखमाला ।

(प्रथम लेखांक)

हिन्दुओंकी शस्त्रविद्या ।

[लेखक– श्री. गोविंदशास्त्री गाडगीळ । अनुवादक– श्री० द० ग० धारेश्वर, बी. ए ,]

युद्धशास्त्रास्त्रव्यूहादिरचनाकुशलो भवेत् ।
यजुर्वेदोपवेदोऽयं धनुर्वेदस्तु येन सः ॥३८॥
[शु नी. अ. ४ म. ३]

धनुर्वेद के सम्बन्ध में लिखित लेखों को ठीक समझने के लिए यह जानकारी आवश्यक है कि, धनुर्वेद किसे कहते हैं । क्योंकि इस समय जनता में धनुर्वेद अथवा धनुर्विद्या के बारे में जो धारणा फैली हुई है, वह ऊपर लिखे हुए श्लोक के भावार्थ से अत्यन्त ही भिन्न है । इसलिए धनुर्वेद किसे कहते हैं, यह भली भाँति निश्चित होना चाहिए । आजकल साधारणतया लोग समझ बैठते हैं कि, धनुष्यद्वारा किए जानेवाले चमत्कारही धनुर्वेद में वर्णित होंगे, क्योंकि बहुधा देखा जाता है, एक धनुर्धारी पुरुष धनुष्यपर बाण चढाकर कुछ आश्चर्यजनक तथा कुशलतापूर्ण कार्य कर दिखलाता है, जिस से जनसाधारण की धारणा होती है. यही धनुर्विद्या या धनुर्वेद है । आज जनता के सम्मुख धनुष्य का इतना ही दृश्य विद्यमान है । अतः लोग धनुर्विद्या का इतना ही संकुचित अर्थ मान लेते हैं । परन्तु यदि ऊपर दिए हुए श्लोकका अर्थ हम ध्यान में रखें, तो प्रतीत होगा कि, धनुर्वेद विभिन्न अर्थका द्योतक है । अस्तु । अब उपरिलिखित श्लोक का भावार्थ देखिए ।

" जिसके ज्ञानसे युद्धमें, शस्त्रोंके प्रयोगमें, अस्त्रोंके छोडनेमें व्यूहनिर्माण में और कूटयुद्ध में मानव निपुणता

---

* यह ' मैं ' आत्मा का नामान्तर है । आत्मज्ञानलाभ होनेसे इस ' मैं ' को स्वरूप में अनुभूत होता है । उसके लिए साधना करनी चाहिए । वैदिक धर्म के जून (१९४१) के अंक से इस साधन का ' आत्मज्ञानलाभ ' अर्थात् ' नादानुसंधान ' नामक लेख क्रमशः प्रकाशित हो चुका है ।

प्राप्त कर सके, उसे ही धनुर्वेद कहते हैं और यह यजुर्वेद का उपवेद है"। धनुर्वेद के अर्थ से पता चलता है कि प्राचीन कालके भारतीयों के युद्धशास्त्र को ही धनुर्वेद या धनुर्विद्या संज्ञा दी जाती थी। इस धनुर्वेदके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने तथा उसके विभागों की चर्चा करनेके लिए बहुत कुछ लिखना पडेगा। व्यायाम-ज्ञानकोश के द्वितीय खंडमें 'धनुर्वेद' शीर्षकवाले लेखमें हमने इसकी विस्तृत चर्चा की है। यद्यपि विस्तारभय के कारण हम यहाँपर अधिक नहीं लिख सकते, तो भी इतना कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि, धनुर्वेद में कई शास्त्रों का समावेश होता है। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि धनुर्वेदमें लगभग उन्नीस विभाग पाये जाते हैं। उनके नाम निम्नलिखित ढंग के हैं-

१ रथविद्या, २ अश्वविद्या, ३ हस्तिविद्या, ४ पदातिविद्या, ५ युद्धशिल्प, ६ शस्त्रविद्या, ७ पथविद्या, ८ भू-विद्या, ९ नदीविद्या, १० नगरविद्या, ११ दुर्गविद्या, १२ युद्धशास्त्र, १३ व्यूहशास्त्र, १४ माया, १५ इन्द्रजाल, १६ औपनिषदिकं, १७ राज्यसंपादनं, १८ राजोपनिषत्, और १९ चरविद्या।

प्राचीन भारतीयोंके कथनानुसार युद्धके चार प्रकार हैं और उन्हें जानना आवश्यक जान पडता है। इसलिए नीचे एक श्लोक दिया जाता है, जिसमें उनका वर्णन किया गया है।

उत्तमं मांत्रिकास्त्रेण यांत्रिकास्त्रेण मध्यमम्।
शस्त्रैः कनिष्ठ युद्धं च बाहुयुद्धं ततोऽधमम्॥
(जामदग्न्य धनुर्वेद)

अर्थ- मांत्रिक अस्त्रोंद्वारा युद्ध उच्च कोटिका युद्ध है। यंत्रों की सहायतासे लडना मध्यम श्रेणिका है और शस्त्रों से जूझना निम्न कोटिका तथा बाहुयुद्ध अर्थात् कुश्ती अंतिम एवं अधम स्तरका है।

अग्नि, वायु, हलकी वायु, अग्नितैल, पानी, शब्द, काष्ठ, लोष्ठ, भौतिक आदि पदार्थों का अन्तर्भाव अस्त्रविद्या में होता है, जिसमें कहा गया है कि इन वस्तुओं में कौनसी शक्तियाँ अन्तर्हित हैं और अपनी रक्षाके लिए तथा शत्रुओं के विनाशके लिए उनका कैसे उपयोग किया जाय। इस प्रकार भौतिक शक्तियोंकी सहायतासे लडना उच्च कोटिका माना जाता है। क्योंकि प्राकृतिक शक्तियोंकी मदद मिलने पर शत्रुदल का विनाश अधिक मात्रा में किया जा सकता है और शत्रुदल उसके परिणामों से अपरिचित रहता है, अतः अस्त्रयुद्ध सर्वोपरि श्रेष्ठ युद्ध है। आधुनिक युगके विमान, बमके गोले, धुआँ तथा गैस आदि अस्त्ररूप ही हैं। प्राचीन युग के धनुष्य आदि शस्त्र और वर्तमानकाल की तोपें, बंदूक आदि साधनोंसे युद्ध ठानना यांत्रिक तथा मध्यम कोटिका युद्ध है। तलवार, भाला जैसे शस्त्रों से लडना निम्न कोटिका एवं अन्तमें कुश्ती को भी हेच समझना चाहिए।

इस उपरिलिखित श्लोक के अर्थ को मन में रखकर भारत के इतिहास का अवलोकन करनेपर पता लगेगा कि, विगत दो सहस्र वर्षों से हिन्दु जाति कनिष्ठ लडाइयाँ लडती रही है। इतिहास दर्शाता है कि, महाभारतकालीन समर में तथा उस के पहले राम-रावण के संग्राम में अस्त्रों का उपयोग योद्धाओंने किया था। परन्तु आगे चलकर ईसवी सन के प्रारम्भ से १८५७ ई० स० तक भारतीय योद्धा लडाइयों में अधिकतया शस्त्रों से ही लडते थे, यह बात निस्संदेह सब को विदित है। भारतीय युद्ध से लेकर ईसवी सन के प्रारम्भ तक के लगभग १५०० वर्षों में अस्त्रयुद्धों तथा यंत्रयुद्धों का अस्तित्व धीरेधीरे मिट गया। भारत के इतिहास में यह सुतरां शांततापधान युग था, जिस में देश अत्यन्त धनधान्यसम्पन्न रहा और इसी कारण देश में वेदान्त आदि का आविर्भाव हुआ। लेकिन शत्रुओं की विनाशकरी ये विद्याएँ भी धीरेधीरे लुप्त हुईं और अहिंसा का सिद्धांत अधिक प्रभावशाली ठहरा।

सिकन्दर के हमलों से हिन्दु जाति को विदित हुआ कि, वह युद्धकला में पिछडी हुई थी। इस के पश्चात् भारत के पश्चिमवर्ती यवनदेश में तथा उस के परले युरप में यंत्रयुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ और इसी काल में हिन्दु जाति भारत की चहारदीवारी में बन्द-सी रही। इस के दुष्परिणाम हिन्दुओं को अवश्य भोगने पडे। यांत्रिक एवं नयी युद्धप्रणाली मुसलमानों के साथ ही भारत में चली आयी और विशेषतया बाबर के उत्तरकाल से ही भारत में तोपों एवं बन्दुकों का अच्छा प्रचार हुआ।

जब हिन्दू जाति पर इनका आतंक छाने लगा, तो हिन्दुओंने भी इन यंत्रों की शरण ली, लेकिन दुर्भाग्यवश वे इस सम्बन्ध में परतन्त्र ही रहे। हिन्दू-नरेश दूसरों से तोपें, बंदूक तथा बारूद मोल लिया करते थे। जब तक है

यंत्रसाधन बेचनेवाले लोग वणिक् थे, तब तक काम ठीक चलता रहा, पर ज्योंही इन्होंने तराजू छोड कर हाथ में तलवार उठा ली, पराधीन हिन्दूजाति को लडाई में पराजित होना पडा और इस तरह यांत्रिक समर की श्रेष्ठता सिद्ध हुई। इस का बहुत बुरा परिणाम, हिंदुओं की राजसत्ता के विनाश में दीख पडा, जिस के परिणामस्वरूप हिंदू जाति शस्त्रों से वंचित रखी गयी। बस फिर क्या, अंतिम अधम युद्ध जो कुश्ती वही हिंदुओं के पल्ले पडी। वर्तमानकाल में हिंदुओं की जो यह दयनीय दशा हुई है, उस का चित्रण इस तरह किया जा सकता है। आकाश में सरकारी एयरोप्लेन सुसज्ज हो मँडरा रहे हैं और भारत के अवनीतलपर हिन्दू लोग, वनस्थली में चरनेवाले पशुओं की तरह, इधरउधर घूम रहे हैं।

शास्त्रकारोंने तो कुश्तीको केवल अधम कोटिका ठहराया, लेकिन हिंदुओंने उस के लिये भी शरीर सुदृढ करना छोड दिया, जिस के फलस्वरूप हिंदुओं की गिरावट और अधिक हुई। हिंदूजाति इस तरह अधःपतन की चरम सीमा तक पहुँची और इस का भीषण नतीजा यह हुआ कि, हिन्दू लोग दुर्बल तथा अल्पायुषी होने लगे। दूसरे लोग हिंदुओंको लूटने लगे और हिन्दु नारियाँ भगाई जाने लगीं। इस प्रकार जीवनयात्रा में हिंदुओंको चतुर्दिक् मुँहकी खानी पडी। अब कहीं कहीं हिंदुओं में जागृति के शुभ चिह्न दिखाई दे रहे हैं और यदि हिन्दू लोग धनुर्वेद अथवा युद्धशास्त्र की चार सीढियाँ तय कर लेंगे, तो ही विद्यमान संसार के अन्य राष्ट्रों के समकक्ष रहेंगे। यह चर्चा इसलिए की गयी है कि, वर्तमान संसार में हिन्दूजाति की दशा कैसी है, यह भारतीयों को विदित होवे और वे भली भाँति जान लेवें कि, उन्हें उन्नति की कितनी सीढियाँ अभी चढनी हैं।

धनुर्वेदके स्वरूपको, अब हम देख चुके हैं और आगे इस लेख के विषय का प्रतिपादन किया जायेगा। लेख का शीर्षक "हिन्दुओंकी शस्त्रविद्या" ऐसा है। शस्त्र केवल जनता पर अत्याचार करने के लिए है, ऐसी धारणा आजकल बहुत कुछ फैली हुई है। इस धारणा की जड में योरप के लोगों की करतूत है। वे नित नये नये शस्त्रास्त्रों का आविष्कार तथा सृजन करते हैं, जिस से मानवजाति का संहार किया जा रहा है, दूसरों की स्वतंत्रता छीन ली जाती है और विगत चार शताब्दियों से योरपीय लोग बराबर यही कार्य करते आ रहे हैं। अत यह बात स्वाभाविक जान पडती है कि, कुछ लोग शस्त्र तथा अस्त्रोंकी चर्चासे नाकभौं सिकोड लें और विशेष रूप से जो जाति दासता में निमग्न हुई है, वह इसे कभी पसंद न करेगी। यद्यपि योरपके राष्ट्रोंने इस तरह शस्त्रोंका दुरुपयोग किया है, तथापि शस्त्रोंकी सहायतासे केवल अत्याचार ही किए जाते हों, ऐसी बात नहीं। भारतीय आर्योंने इस भाँति शस्त्रों के उपयोग का प्रतिपादन कभी नहीं किया और शस्त्रों के बारे में उन्होंने उच्च कोटिका ध्येय अपने सम्मुख रखा है।

रक्षणाय च लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम् ॥

(महाभा० शांति० अ० १६६।४३)

जनता की रक्षा के लिए और जो अपना द्वेष करते हों, अर्थात् अपने देशपर हमले चढाने आते हों, या अपनी स्वाधीनता छीन लेनेके लिए आते हों, ऐसे शत्रुओं का विनाश करनेके लिए शस्त्र बनाये गए हैं। राजनीतिपर शास्त्ररचना करनेवालोंने भी शस्त्रों के संबंधमें यही आदर्श स्वीकृत किया है। राष्ट्रमें लोग कैसे हों, उन्हें किस तरह का ज्ञान दिया जाय, आदि विषयोंपर राजनीतिमें जो नियम कहे गए हैं, उनमें जनता की शिक्षाके संबन्ध में कहा है– '**सानुरागो रिपुद्वेषी**' लोग अपना संरक्षण एक दूसरे की सहायतासे करें और अपने शत्रुको पहचान कर उसका विनाश करनेके लिए कटिबद्ध रहें। यहाँपर लोगोंसे ऐसा नहीं कहा कि, दूसरोंके देश लूटने के लिए शस्त्र हैं। इस बातको ध्यानमें रखनेसे पाठक समझ लेंगे कि शस्त्रों के बारेमें पाश्चात्य लोग भारतीय आर्यों की अपेक्षा अत्यन्तही विभिन्न सिद्धांतों एवं आदर्शों से प्रेरित हुए हैं। इसलिए पाठक, वर्तमान काल में शस्त्रों के बारेमें प्रचलित धारणासे अलिप्त रह, भारतीय आर्योंके ध्येय को अपने सम्मुख रखें। शस्त्रोंके संबंधमें हमारे पूर्वजोंने दूसरे महत्त्वपूर्ण दो सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं, जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक है। पहले सिद्धांतके अनुसार शस्त्रास्त्र परिवर्तनशील हैं और विभिन्न परिस्थितिके अनुसार लोग अपने शस्त्रास्त्र बदलकर व्यवहार चलाएँ।

लघुदीर्घाकारधाराभेदैश्शस्त्रास्त्रनामकम् ।
प्रथयन्ति नवं भिन्नं व्यवहाराय तद्विदः ॥

(शुक्र० अ० ४, प्र० ७।१९४)

व्यवहार की सुगमता के लिए लोग शस्त्रोंकी धारा तथा आकार को बदलते रहते हैं और समय समय पर नये नये शस्त्रसंघका सृजन भी करते रहे हैं । अपने धनुर्वेद के अंत में श्री वैशंपायनने इसी आशय के वचन कहे हैं। दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि, जिन शस्त्रास्त्रों की आवश्यकता होती हो, वे अपने ही राष्ट्रमें तैयार किये जायँ, बाहरसे बिना राजाकी आज्ञा के शस्त्र राष्ट्रमें घुसने न पाये और यदि कोई बाहर से उन्हें ले आये, तो सीमान्तप्रदेश के अधिकारी उनकी कुर्की करा लेव या वापिस लौटा दें । अर्थशास्त्र का एक वाक्य इसी आशय को व्यक्त करता है ।

सार्थिकानां शस्त्रावरणं अन्तपाला गृह्णीयुः
समुद्र अवचारयेयुर्वा ॥ (अधि० ५-३-४४)

शस्त्रोंके सम्बन्ध में ऐसे महत्वपूर्ण सिद्धान्तों के रहते भारतीयों ने अपने स्वराज्य में उधर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया और वर्तमान समय में उस असावधानी के कडवे फल भोगने पड रहे हैं । अस्तु । ऊपर कहा जा चुका है कि, अपनी रक्षा के लिए तथा अपने शत्रुओं के विध्वंस के लिए शस्त्रों की आवश्यकता है और जनता उसी तरह उनका उपयोग करे। इस का तात्पर्य यही है लोग स्वसंरक्षणक्षम बनें और समय पर प्रतिकार भी कर सके। इसके लिए लोगों को शस्त्रविद्या सिखानी चाहिए और प्राचीन काल में शस्त्रविद्या की शिक्षा अनिवार्य की गयी थी । हर देहात अपनी रक्षा करने की क्षमता प्राप्त करे ऐसी नीति का वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है ।

शूद्रकर्षकप्रायं...ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानं
अन्योन्यरक्षं निवेशयेत् ॥ (अधि० २-१-२)

शास्त्रकारोंने जो नगर की व्याख्या लिखी है, उसमें ऐसा कहा है कि, नगरके लोग अपना संरक्षण स्वयं कर लेवें ।

नगरं राजवरालयसर्वजनावासरक्षकैः सहितम् ।
(मय-संहिता)

नगर का प्रबन्ध करने के लिए कार्यालय- राजवरालय अर्थात् कचहरी नगर में प्रस्थापित किया जाय । नगर में सभी प्रकार के लोग निवास करें और नागरिकहि नगर-रक्षण का कार्य करें । प्राचीन काल में इस प्रकार नियम था कि लोग अपनी रक्षा स्वयं कर लेते थे और इसीलिए उस समय शस्त्रशिक्षा अनिवार्य समझी जाती थी। इस प्रकार की शिक्षा देने के लिए पहले देहातों में तथा नगरों में व्यायामशालाएँ प्रस्थापित हुआ करती थीं । इन पाठशालाओं में नवयुवकों को व्यायाम के प्राथमिक पाठ मिला करते थे और पश्चात् सैन्य के सेवानिवृत्त लोग सैनिक शिक्षाकी जानकारी दिया करते थे । इस भाँति शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर वे लोग अपने अपने नगरों तथा ग्रामों की रक्षा करते थे । जो लोग इस कार्यमें निपुणता दर्शाते थे, उन्हें सरकार की ओर से पारितोषिक तथा उपाधियाँ मिला करती थीं । प्राचीन काल में ऐसा भी एक नियम था कि, लोककल्याण के कुछ अन्य कार्य भी करनेवालों को राजा की ओरसे उत्तेजन एवं प्रोत्साहन अवश्य मिले ।

राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि संक्रमात् ।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत् ॥१६॥
(अधि० ३-१०)

अर्थ- देशहितकी बुद्धिसे मार्गपर, नदियोंपर जो लोग पुल बँधवाते हैं, ग्रामकी शोभा बढाते हैं और जो ग्रामकी रक्षा करते हैं, राजाको उचित है कि वह ऐसे लोगोंपर कृपापूर्ण निगाह रखे । अर्थात् उनका कल्याण करे और देशभक्तिके लिए उन्हें प्रोत्साहन दें ।

शास्त्रनिर्माताओंने केवल शस्त्रविद्याकी शिक्षाकाही ऐसा प्रबंध नहीं किया, अपितु वे सतर्क रहे कि किस ढंगसे जनता में प्रतिकारशक्ति बढे और वह प्रतिकार के लिए सदैव उद्यत रहे, दैनंदिन व्यवहार में जनताका शस्त्रोंसे नित संपर्क रहे, इस लिए उन्होंने व्यवस्था बना रखी है । वैयक्तिक एवं सामाजिक ढंगसे जनता शस्त्रोंसे सम्बद्ध रहे, ऐसा प्रबन्ध बना डाला है । जबतक व्यवहारमें शस्त्रोंसे नित संपर्क न रहेगा, तबतक लोग शस्त्रोंके महत्त्व को नहीं जानेंगे और यदि लोग शस्त्रोंके महत्त्वसे अपरिचित रहें, तो उनकी बडी दुर्दशा होगी । इस कारण से उन्होंने शस्त्रोंको धर्ममें ही समाविष्ट किया और उसके फलस्वरूप हिंदु पुरुष शस्त्रोंसे सम्बद्ध रह जीवन बिता सका ।

आरम्भमें हम वैयक्तिक दृष्टिकोणसे शस्त्रोंके बारेमें सोच लेंगे और पश्चात् सामाजिक निगाहसे उनका विचार करेंगे । वैयक्तिक दृष्टिसे शस्त्रोंके संबंधमें कहा जा सकता है कि हरेक हिंदु जन्मसे ले मृत्युतक शस्त्रोंके संपर्कमें रहता है। अगले लेखांकमें इस संबंध की चर्चा करेंगे ।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि॰ सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा॰व्य॰
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१।
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
" सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।		
१ द्वितीय का ड ,,	२)	॥)
२ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
४ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
५ षष्ठ काण्ड ,	२)	॥)
६ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
७ अष्टम काण्ड ,	२)	॥)
८ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
९ एकादश का ड ,	२)	॥)
१० त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
११ चतु श काण्ड	१)	॥)
१२ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना । (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ प्राणविद्या ।	॥)	
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
यजु अ ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	।)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
९ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१० वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
११ वेदमें लोहेके कारखाने	।)	-)
१२ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१४ इंद्र शक्तिका विकास	॥)	=)
१५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)
उपनिषद् माला । १ ईशोपनिषद्	१)	-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेद परिचय । भाग १-२	२॥)	॥)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ वेदोपदेश ।	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ यज्ञोपवीत संस्कार रहस्य	१॥)	॥)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

ऋग्वेद में 'देवकामा' ही पद है

'गुरुकुल-कांगडी' से 'आर्य' पत्र प्रकाशित होता है। इस पत्र के पूज्य संपादकजीके पास हमने 'देवकामा पद ही ऋग्वेद में है' इस विषय के लेख भेजे थे, पर उसके संबंध में श्री० संपादकजी ने कुछ भी नहीं लिखा और न वे लेख छापे। पर गत दो अंकों में (अर्थात् ३१ और ३२ इन दो अंकों में) श्री पं० धर्मराजजी वेदालंकार उपाध्याय, गुरुकुल कांगडी के दो लेख आर्यमें छपे हैं। ये दोनों लेख 'उपाध्याय गुरुकुल कांगडी' के हैं, इसी लिये हम इनकी अल्प समालोचना करना चाहते हैं।

ऋषिकालमें जो गुरुकुल थे, वे विद्याकी उन्नति करने में पूर्ण स्वतंत्र थे। इस समय के कॉलेज और युनिवर्सिटियाँ सरकार के नियन्त्रण के अधीन हैं। विद्याकी उन्नति करने में पूर्ण स्वतंत्र होने के कारण ही ऋषिकाल के गुरुकुल वंदनीय माने जाते थे और इस समय के कालेज अथवा युनिवर्सिटियाँ सरकार के अधीन कार्य करते हैं और वे स्वतंत्रता से विद्याकी उन्नति कर नहीं सकते, इसलिये निंदनीय और गर्हणीय हैं, तथा इनसे मानवता की उन्नति होना असंभव हुआ है। इसीलिये गुरुकुलों की आवश्यकता प्रतीत होती है।

गुरुकुल संस्था यद्यपि सरकारी नियंत्रणा में नहीं है, तथापि दान देनेवाले दाताओं की मर्जी संतुष्ट करने की समस्या सब गुरुकुलों में सदा बनी रहती है, नहीं तो दान नहीं मिलता, यह भी डर सदा संचालकों के मन में रहता है। इसलिये यदि किसी विद्याकी संस्था के मनमें ऐसा डर रहा, तो वहां भी स्वतंत्रतापूर्वक खोज का कार्य नहीं हो सकता।

हमारे मन के अन्दर जिस गुरुकुल के विषय में बडा आदर है, वह गुरुकुल पूर्ण स्वतंत्रता के साथ वेदविद्या की खोज करनेवाला ही है। हमारा पूर्ण विश्वास है, कांगडी गुरुकुल वेदविद्याकी खोज पूर्ण स्वतंत्रता के साथ करनेवाली संस्था ही है। इसीलिये इस संस्थाके उपाध्यायजी के लेख की समालोचना करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। क्योंकि ऐसी समालोचना से ही सत्य प्रतीत हो सकता है।

(१) लेख के प्रारंभ में श्री प० धर्मराजजी उपाध्याय ने यह स्पष्ट लिख दिया है कि, "१०० में ९९ प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि, ऋग्वेद में 'देवकामा' ही पाठ है।"

इतना लिखने पर उपाध्यायजी लिखते हैं कि- "लेकिन जबतक एक भी प्राचीन ग्रंथ में 'देवृकामा' पाठ मौजूद है, उसका निराकरण बिना अन्तःसाक्षी के नहीं किया जा सकता।"

कौनसा प्राचीन ग्रंथ ?

हम यहां श्री उपाध्यायजीसे पूछना चाहते हैं कि, किस प्राचीन ग्रंथमें ऋग्वेदमें 'देवृकामा' पद है, ऐसा लिखा है? किस प्राचीन ग्रंथ से यह सिद्ध हुआ कि, ऋग्वेद में 'देवृकामा' पद है? कृपा करके इस विषय का एक भी तो प्रमाण दीजिये। हम यहां स्पष्ट कहना चाहते हैं कि एक भी प्राचीन ग्रंथ में यह नहीं मिलेगा कि, ऋग्वेद का पाठ 'देवृकामा' है।

प्राचीन से प्राचीन ग्रंथ 'ब्राह्मणग्रंथ' हैं और 'धर्मसूत्र' ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में से एक भी ग्रन्थ ने इस मंत्र में 'देवृकामा' पद माना नहीं है, प्रत्युत सर्वत्र इन ग्रंथों में 'देवकामा' ही पद है। इसलिये प्राचीन ग्रन्थसे 'देवकामा' की सिद्धि होती है। 'देवृकामा' की नहीं।

'ब्राह्मणग्रंथ और धर्मसूत्र' ग्रंथों को छोडकर ऋग्वेद का पदपाठ प्राचीन ग्रंथ कहनेयोग्य है। इस पदपाठ में भी 'देवकामा' ही पद माना है।

यदि इनको छोडकर श्री उपाध्यायजी के पास कोई 'प्राचीन ग्रंथ' कहनेयोग्य ग्रंथ हो, तो उस का नाम वे प्रकाशित करें। उससे हम देखेंगे कि, उसमें देवृकामा ऋग्वेद में है, ऐसा किस तरह सिद्ध होता है। श्री उपा-

ध्यायजीने केवल ' प्राचीन ग्रंथ ' में देवृकामा है, ऐसा लिखा। इस स्थान पर वे उस प्राचीन ग्रंथ का नाम लिख देते, तो उन की बडी कृपा होती और खोज में सहायता भी होती।

अस्तु, हमारे पास जितने प्राचीन ग्रंथ हैं, वे ' ब्राह्मण-ग्रंथ, सूत्रग्रंथ और पदपाठ ' इतने ही हैं। इनमें ऋग्वेद में पद ' देवृकामा ' है, ऐसा किसी स्थान पर नहीं लिखा। इसलिये श्री उपाध्यायजीने जिस ग्रंथ के आधार पर यह लिखा कि, ' जब तक एक भी प्राचीन ग्रंथ में ' देवृकामा पद है, ' इ० उस ग्रंथ का नाम वे प्रकाशित करें और पता भी दें।

भाष्य, अनुवाद, सूचियां आदि ग्रंथों में ऋग्वेद का पद ' देवकामा ' ही मिलता है, पर इनको कोई भी ' प्राचीन ग्रंथ ' कहने का साहस नहीं कर सकता। पर इनकी सहायता भी ली जायगी, तो ऋग्वेद का पद 'देवकामा ' ही सिद्ध होगा।

क्या ' सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी ' को तो गुरुकुल के पूजनीय उपाध्याय ' प्राचीन ग्रंथ ' नहीं कह रहे हैं? यदि यही उन का प्राचीन ग्रंथ है, तब तो बडी हैरानी की बात है!!

केवल ' सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी ' में ही ऋग्वेदका पद ' देवृकामा ' लिखा है। पर इस युरोपनिर्मित कोश को अब कोई भी प्रमाण नहीं मानता। वह एक साधारण-सा कोश है और इसका प्रामाण्य शून्य जितनाही माना जाता है। यदि गुरुकुल के पूज्य उपाध्याय इस युरोप-निर्मित कोश को ' प्राचीन ग्रंथ ' मानने लग जायगे और इस कोश के प्रमाण से हमारे वेदों में शुद्ध पाठ का निश्चय करेंगे, तब तो इससे अधिक दुर्दशा दूसरी कोई भी नहीं हो सकती '

हम नम्रतापूर्वक श्री पूजनीय उपाध्याय गुरुकुल कांगडी से कहना चाहते हैं कि, यदि उनका यही प्राचीन ग्रंथ है, तब तो वह प्रमाण माननेयोग्य नहीं है। इस विषय में श्री० बटकृष्ण घोषजीने Indian Culture के अप्रैल १९४१ के अंक में जो लिखा है वह हम श्री उपाध्यायजी के विचारार्थ उनके सम्मुख रख देते हैं-

"I am not going to list here the mistakes in quoting and translating the texts, for that will be doing injustice to an author who does not claim to be a Sanskritist. But I cannot pass over in silence the cases in which through sheer inadvertence, the author has landed himself in ugly errors. Author's elaboration on the word देवृकामा is a case in point. Not content with widow-remarriage and levirate, he has calmly declared that after the death of her husband the wife ' could not remain a widow even for a day ' (p. 94), and he repeats the substance of this statement in a more piquant form on p. 97. But the fact is that the word देवृकामा does not occur at all in the ऋग्वेद. In the passage (ऋ० १०।८५।४४) referred to by Mr. Upadhyaya in this connection, I read only देवकामा, and that in all editions of the ऋग्वेद known to me. Oldenberg too in his Textkrititche ... (Vol. II, p. 289) decided in favour of this (देवकामा) reading. Rigvedic देवृकामा is in fact a fiction of Bohtlingk-Roth, accepted by generations of uncritical writers."

—Indian Culture
p. 499-500.

इससे बोथलिंग-राथ के अशुद्ध पाठ स्वीकार करने के विषय में अन्य विद्वान् क्या लिखते हैं, सो देखिये। हम श्री धर्मराजजी वेदालंकार उपाध्याय, गुरुकुल कांगडी को यह उपहार देते हुए प्रार्थना करते हैं कि, युरोपीयनों ने जो अशुद्ध पाठ माना होगा, वह पडताल करके ही लेना चाहिये। इसलिये सेंट पिटर्सबर्ग कोश के प्रमाण से यदि गुरुकुल के उपाध्याय हमारे ऋग्वेद को शुद्ध करने लग जायंगे, तो उससे ' वेद ' वेद नहीं रहेगा। इस कोश को

युरोप में भी आज कोई मानता नहीं और न ऋग्वेद में देवृकामा आज कोई मानता है। गुरुकुल के वेदविभाग में इससे अधिक शुद्ध प्रमाणों का विचार होना योग्य है।

कम से कम गुरुकुल के उपाध्याय से तो हम यह नहीं चाहते कि, युरोपभर में जिस ग्रंथ का प्रामाण्य स्वीकारा नहीं जाता, उसी कोश को शिरोधार्य प्रमाण मानकर उसके आधार से ऋग्वेद के पाठ में परिवर्तन किया जाय। कृपा करके श्री उपाध्याय ऐसा कभी न करें। यदि श्री उपाध्यायजीने इसी कोश के आधार से ऋग्वेद में देवृकामा पद होने का स्वीकार किया हो, तो ही यह हमारा कहना है, अन्यथा यदि कोई दूसरा प्राचीन ग्रन्थ उनके पास होगा, तो उसके नाम का निर्देश वे करें।

नियोगसे देवृकामा की सिद्धि !!!

ऋग्वेद में 'देवृकामा' पद की सिद्धि करने के पश्चात् इस पद से नियोग सिद्ध होता है, ऐसा कोई सिद्ध करने का यत्न करेगा, तो उसका वह कथन विचार करनेयोग्य होगा। पर श्री पूजनीय उपाध्यायजी वेद में नियोग है, इसलिये इस मंत्र में 'देवृकामा' पद ही ठीक उतरता है, ऐसा द्वितीय लेख के प्रारम्भ में ही लिखते हैं। हम यहां इतनाही कहना चाहते हैं कि, यह उलटा कथन है।

वेद में नियोग है, इसलिये 'अघोरचक्षु' (ऋ० १०।८५।४४) आदि मंत्र में 'देवृकामा' पद ही होना चाहिये, ऐसा कथन कार्यकारणसम्बन्ध से विरुद्ध है। मंत्र में कौनसा पद है और कौनसा नहीं, इसकी सिद्धता करनेके लिये "(१) प्राचीन लिखित पुस्तक, (२) ब्राह्मण-ग्रंथ, (३) धर्मसूत्रग्रंथ, (४) भाष्य, (५) टीका, (६) अन्यत्र उद्धृत मंत्रभाग, (७) सूचियां, (८) पदपाठ, (९) वेदपाठक" इत्यादि प्रमाण हैं। इनमें से एक भी प्रमाण ऋग्वेद में 'देवृकामा' की सिद्धि करने की सहायता नहीं कर रहा है। ऐसी अवस्था में वेद में नियोग है, इतने मात्र से 'अघोरचक्षु०' वाले ऋग्वेद-मंत्र में 'देवृकामा' पद ही है, ऐसा लिखना साहस-मात्र है।

किसी ग्रंथ में कौनसा पाठ शुद्ध है और कौनसा पाठ अशुद्ध है, इसका निर्णय करनेका बडा भारी शास्त्र है। ऐसी अवस्था में एक बडी संस्था के उपाध्याय ऐसा विना प्रमाण ही लिखने लगे, तो उन के शिष्यों को किस मार्ग का अवलम्बन करना होगा, यह एक विचारणीय बात है।

उपाध्यायजीकी चिंता!

इसी द्वितीय लेख के प्रथम स्तंभ में श्री पूजनीय उपाध्यायजी निम्नलिखित वाक्य लिखते हैं- "अगर विवाह के समय ही पति स्त्री को नियोग का अधिकार न देगा, तो पति के चिर प्रवास में अथवा रुग्ण नपुंसक होनेपर या परलोकगत होने पर स्त्री किस बूतेपर नियोग आदि द्वारा पुत्रोत्पादन कर देश की शक्ति को बढा सकेगी? और फिर 'दशास्यां पुत्राना धेहि' का क्या होगा?"

श्री पूजनीय उपाध्यायजी को यह चिन्ता लगी है कि-

१. पति चिरप्रवास में रहा,

२. पति चिरकाल रोगी रहा,

३. पति नपुंसक रहा, या पीछेसे हुआ, अथवा

४. पति परलोक को गया,

तो पत्नी क्या करे? यह गुरुकुल के उपाध्यायजी का प्रश्न है। चिरप्रवास और चिरकाल रोगी की कालमर्यादा ये कह देते, तो अच्छा हो जाता। एक पुरुष यूरोप में गया, वहां कार्यव्यवहार करता रहा, पश्चात् महायुद्ध शुरू हुआ और ४।५ वर्ष उसे वहां रहना पडा। तो इधर उस की स्त्री नियोग करे और संतति उत्पन्न करती रहे, यही आदर्श इस पूजनीय उपाध्यायजी के सम्मुख होगा, तब तो इन के लेख का विचार करने की भी जरूरत नहीं होगी। इसलिये हम उपाध्यायजी से प्रार्थना करते हैं कि, उक्त अवस्था में प्रत्येक स्त्री नियोग करती रहे, ऐसा यदि श्री उपाध्यायजी का कथन है, तब तो हम स्पष्ट कहना चाहते हैं कि, यह वैदिक धर्म नहीं है।

उक्त अवस्थाओं में पत्नी ब्रह्मचारिणी रहेगी, तो ही वह वैदिक धर्म में वंदनीय समझी जायगी। सीतादेवी या रामचन्द्रजी नियोग कर के संतानोत्पत्ति करते, तो उन की यह पूजा नहीं होती, जो नियोग न करने से उन की आज हो रही है।

'दशास्यां पुत्रानाधेहि' का क्या होगा? ऐसा श्री पूजनीय उपाध्यायजी पूछ रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजीको और सीतादेवी को दस पुत्र नहीं हुए, इसलिये क्या उन का बडा कम हुआ? 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' यह मर्यादा-

विधि है । दस तक संतान हों, अधिक नहीं । इस का अर्थ यह नहीं है कि, घर में पति दो साल बीमार रहे, तो उसी समय में पत्नी नियोग करके जरूर लडका उत्पन्न कर दे और दस लडकों की भरती अवश्यही कर दे । श्री धर्मराज वेदालंकार गुरुकुल के उपाध्याय हैं और 'आर्य' पत्र गुरुकुल से प्रकाशित होता है और इस पत्रमें स्वयं उपाध्याय ही ऐसे लेख लिख रहे हैं !!! यह बात शोक करनेयोग्य ही है !!! कम से कम गुरुकुल से ऐसा लेख प्रकाशित होना नहीं चाहिये था, पर यह तो गुरुकुल के उपाध्यायजी का ही लिखा लेख है !!! किया क्या जाय ?

नियोग किस अवस्था में करना चाहिये, यह एक विचारणीय प्रश्न है । कभी भी नियोग सार्वदेशिक और सार्वकालिक धर्म नहीं था । हम किसी समय स्वतंत्र लेख में बतावेंगे कि, बडी भारी आपत्ति में ही नियोग का उपाय बताया था । यह कभी सब का धर्म नहीं था, जो विवाह-समय की ही प्रतिज्ञा में अवश्य ही बोला जाय ! यह नियोग इस समय प्रचलित नहीं है, यह एक अच्छी बात है और भविष्यकाल में भी वह प्रचलित नहीं होगा, यह भी अच्छीहि बात है ।

इस समय विधवापुनर्विवाह शुरू है, यह विधवाओं के दुःखों को दूर करने के लिये पर्याप्त है । श्री उपाध्यायजीने कुछ भी लिख दिया, तो भी समीप के भविष्य में नियोग प्रचलित नहीं होगा । और उपाध्यायजीने शुरू किया, तो उस से इतने अनर्थ होंगे कि, उन का वर्णन न करना ही अच्छा है ।

'**दशास्यां पुत्रानाधेहि**' का डर श्री उपाध्यायजी बता रहे हैं । इन का यह ख्याल है कि, हर एक विवाहित स्त्रीपुरुष को दस पुत्र तो अवश्य ही होने चाहिये, अथवा दस पुत्र न हुये, तो उन का उत्तरदायित्व विवाहित स्त्री-पुरुषों पर है । पर हम इनसे निम्नलिखित प्रश्न पूछते हैं, उन का उत्तर श्री उपाध्यायजी दें—

१. विवाहित स्त्रीपुरुष नीरोग रहने पर, प्रवास में न जाने पर, घर में हि रहनेपर अल्प संततियुक्त हुए तो उस अवस्था में उक्त 'दस पुत्र उत्पन्न करने के वेदवचन' का क्या किया जाय ?

ऐसे हम पतिपत्नी देखते हैं कि, जिनको एकदोही संतान होते हैं, अधिक नहीं । इस दम्पतिने अपना दस पुत्र उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व किस तरह निभाना है ?

२. क्या हरएक वधूवर को विवाह के समय अवश्यही नियोग करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये ?

३. संतति न होनेपर, पति या पत्नी मरने पर, रोगी होने पर, परदेश में जानेपर अथवा नपुंसक होनेपर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहेंगे, तो वे पापी होंगे ? या निर्दोष समझे जायंगे ?

इसका उत्तर यही है कि **उक्त आपत्तियों में पति या पत्नी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करेंगे, तो उनको किसी तरह दोष लगने की संभावना नहीं है** । वैदिक धर्म की इच्छा ब्रह्मचर्यपालन की ओर ही झुकनेवाली है । दस संतान उत्पन्न करने की आज्ञा 'संतानोंकी मर्यादा' बतानेवाली है । इस आज्ञा का अर्थ इससे अधिक संतान न हों यही है । अवश्यही दस संतान उत्पन्न करने ही चाहियें, यह इस आज्ञा का अर्थ कदापि नहीं है । गृहस्थाश्रम २५ वर्षों का है । प्रति डेढ वर्षमें संतान उत्पन्न होना संभव है, अर्थात् इस तरह १६ संतान हो सकते हैं । ऐसे यहां कइयों को हुए भी हैं । इतने संतान न हों और अधिक से अधिक प्रति ३ वर्षों में एक ही संतान हो, इस तरह दस संतति होनेपर पतिपत्नी ब्रह्मचर्य पालन करें, यह आशय '**दशास्यां पुत्रानाधेहि**' का है । इस वेदवचन का आशय (१) पतिग्रामान्तर जानेपर, (२) रोगी होनेपर, (३) अथवा पतिसे संतानोत्पत्ति न होनेपर तुरन्त ही स्त्री नियोग करे और अवश्य ही संतान उत्पन्न करे, ऐसा नहीं है । श्री उपाध्यायजी इसका अच्छा मनन करें और सोचें कि, उन्होंने क्या लिखा और वास्तव में वेदमें क्या है ।

पंडितों की गोलमाल ।

आगे श्री पूजनीय उपाध्यायजीने बताया है कि, संस्कारविधिके प्रथम संस्करणसे ही '**अघोरचक्षु०**' आदि मंत्र '**देवृकामा**' पद के साथ ही छपता आया है और प्रथम वारके मुद्रण में '**देवकामा**' छपा था, उसका शुद्धीकरण '**देवृकामा**' किया गया और यह श्रीस्वामिजी के सामने की बात है । अतः श्रीस्वामिजी को इस मंत्रमें '**देवृकामा**' पाठ ही स्वीकृत था ।

हमें इस विषय में पता नहीं कि श्रीस्वामिजी का क्या अभीष्ट था । हमें इस बात का पता है कि, श्रीस्वामिजी के सामने उनके साथवाले पण्डित गोलमाल छापते थे । इस विषय में उनकी बडी शिकायतें थीं । (देखो स्वा० **दयानन्द-पत्रव्यवहार**, महात्मा मुन्शीरामजी द्वारा मुद्रित) यहांतक इन पण्डितों ने गडबड मचायी थी कि, प्रथमवार मुद्रित सबका सब सत्यार्थप्रकाश श्रीस्वामिजी को रद्द करना पडा और अपने सामने नया छापना पडा । यह भी उनके जीते जीहि हुआ, ऐसा सब कहते हैं । जहां सत्यार्थप्रकाश जैसा सब ग्रंथ रद्द करना पडा, वहां संस्कारविधि में '**देवकामा**' के स्थानपर '**देवृकामा**' मुद्रित हुआ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

पर इस विषय में हम श्री पूज्य उपाध्यायजी के कथन को मानते हैं । उन्होंने ऐसा लिखा है कि, ' देवृकामा का पण्डितों का किया प्रक्षेप नहीं है, वह स्वयं श्री स्वामिजी का ही लेख है । " हम मानते हैं कि, ऐसा ही हुआ होगा । यद्यपि हमारा विश्वास यही है कि, यह गोलमाल उस समय के पण्डितों की है, क्योंकि श्रीस्वामिजी कभी वेदमें अशुद्धि करनेवाले नहीं थे । तथापि श्री पूज्य उपाध्यायजी के संतोष के लिये जैसा वे लिखते हैं, वैसा हम स्वीकार करते हैं । क्योंकि वे गुरुकुल के उपाध्याय हैं और इस विषय में उन के पास अधिक प्रमाण होंगे ।

इस के मानने से यही सिद्ध होगा कि, संस्कारविधि के प्रथम वार के मुद्रण से ही यह अशुद्ध पाठ छपता चला आया है और इक्कीस वार ही यह अशुद्ध पाठ ऐसा ही छपता रहा है । कोई अशुद्ध पाठ बीस वार अथवा पचास वार छपता रहा, तो वह शुद्ध नहीं हो सकता । अशुद्ध पाठ एक वार छापा या सौ वार छापा गया, तो जो अशुद्ध है, वह अशुद्ध ही कहलायेगा ।

वैदिक यंत्रालयने २१ वार अशुद्ध छापा, और श्रीस्वामिजी के जीते जी भी ऐसा ही छपता रहा, इस से ऋग्वेद का पाठ ' देवृकामा ' सिद्ध नहीं हो सकता। अधिक से अधिक इस से इतना ही सिद्ध होगा कि, वैदिक यंत्रालयवाले पण्डितों का ध्यान इस अशुद्धि की ओर गया नहीं और न श्रीस्वामिजी के सामने किसीने इस अशुद्धि का जिक्र किया ! यदि श्रीस्वामिजी के सामने यह बात आती, तो वे अपने प्रथम सत्यार्थप्रकाश के समान इस को भी त्याज्य ही मानते । क्योंकि वे सत्यग्रहण और असत्य को त्यागने के लिये सदैव सिद्ध थे । उन के प्रथम सत्यार्थप्रकाश के त्यागनेसे उनकी सत्यप्रियता ही सिद्ध होती है । पर उनके अनुयायियों में वह सत्यप्रियता रही नहीं है और गुरुकुल जैसी संस्था के विद्वानों में भी वह दीखती नहीं; इसीलिये ऐसी बातें और ऐसे लेख लिखे जा रहे हैं !

सरल मार्ग यह है ।

इस के स्थान पर यदि ये ही उपाध्याय " इतने प्रमाण देखकर ऋग्वेद का पद **देवकामा** है, " इतना मानते और वैदिक यंत्रालयवालों को उन के ऋग्वेद में और संस्कारविधि में इन अशुद्धियों की शुद्धि करने को लिखते, तो सब मामला ठीक हो जाता और वेद के विद्वानों में प्रतिष्ठा भी बढ जाती । पर ऐसा न करते हुए वेद के अपपाठ और अशुद्ध पाठ का संपूर्ण उत्तरदायित्व श्रीस्वामिजी पर लगा कर अशुद्ध को ही शुद्ध सिद्ध करने का यत्न ये उपाध्यायजी कर रहे हैं । इस को देख कर गुरुकुल के प्रौढ ब्रह्मचारी क्या कहेंगे ? यह विचार हमारे मन में आकर हमें बडा दुःख हो रहा है ।

मनुस्मृति में प्रक्षेप ।

इस के आगे उपाध्यायजीने मनुस्मृति का वह श्लोक, जिस में कि, '**विवाहसंस्कार में नियोग के मंत्र पढने का निषेध किया है,**' प्रक्षिप्त ठहराने का यत्न किया है । हम अति नम्रतापूर्वक श्री पूजनीय उपाध्यायजी से कहना चाहते हैं कि, किसी ग्रंथ का वचन प्रक्षिप्त है या नहीं, इस का निर्णय करने का बडा शास्त्र है । केवल अपने मन से ही प्रक्षिप्त या अप्रक्षिप्त ठहराना साहसमात्र है ।

प्रक्षिप्त या अप्रक्षिप्त ठहरानेके लिये सबसे प्रथम भारतवर्षके विविध प्रांतोंसे जितने लिखित ग्रंथ मिलते हैं, उतने इकट्ठे करने चाहिये, उनके सब टीकाग्रंथ इकट्ठे करने चाहिये । सब मूल ग्रंथों और टीकाग्रंथों के वचनों की तुलना करनी चाहिये । किस प्रांत के किस ग्रंथ में कौनसा श्लोक है और किस प्रांत के किस ग्रंथ में वह नहीं है, इस की पडताल करनी चाहिये । इसी तरह अन्यान्य स्मृति के उस प्रकरण

में उस विषय के कौन से उल्लेख हैं और कौन से नहीं है, इस की पड़ताल करने से स्पष्ट हो जाता है कि, कौनसा श्लोक प्रक्षिप्त है और कौनसा नहीं। इस शास्त्रीय विधिको छोडकर एक लेखनी के वाक्य से ही स्मृतिवचनों को एकदम प्रक्षिप्त या अप्रक्षिप्त ठहराने का जो यत्न श्री पूजनीय उपाध्यायजीने किया है, वह यदि उन को योग्य प्रतीत होता होगा, तो इस विषय में हमें कुछ भी अधिक कहना नहीं है। खोज करनेके शास्त्रको जाननेवाले विद्वान् जानेंगे कि, इन के कथन का मूल्य क्या है।

आप सब कुछ कर सकते हैं।

इसके आगे श्री उपाध्यायजी लिखते हैं कि- (१) "यदि ऋग्वेद में देवकामा पाठको ही मान लें, फिर कोई विद्वान् देवृकामावाले अथर्ववेद के मन्त्र का विवाह संस्कारमें विनियोग कर दे, तो क्या आपत्ति हो सकती है? (२) क्या अथर्ववेद के मंत्र से विवाहसंस्कार नहीं हो सकता? (३) क्या नवीन और अर्वाचीन विद्वान् नई विधियां नहीं कर सकते?"

इन प्रश्नों के उत्तर में हमारा कथन इतना ही है कि-

(१) आप की इच्छा हो, तो अथर्ववेद के देवृकामावाले मंत्र का उपयोग आप विवाहसंस्कार में कर सकते हैं, (२) अथर्ववेद के मंत्र से विवाहसंस्कार हो सकता है और (३) आप जैसे विद्वान् जिस तरह चाहिये, उस तरह की नई संस्कारविधियां भी बना सकते है, तथा आप देवृकामा का अर्थ देवर से नियोग करनेवाली, ऐसा भी कर सकते हैं, और प्रत्येक विवाह में नियोग की प्रतिज्ञा भी करवा सकते हैं।

यह सब आप जैसों से हो सकता है, इसमें हमें कभी सन्देह नहीं था। जब आप के पास ऐसे पण्डित मौजूद हैं कि, जो बिना प्रमाण दिये ही ऋग्वेद में ' देवृकामा ' पद है, ऐसा सिद्ध करनेका साहस कर सकते है, तो उक्त बातें तो उससे अल्प साहस से होनेवाली हैं। आप यह सब कर सकेंगे और विरुद्ध पक्ष को स्वामिजी के नाम से जमीन में गाड भी देंगे, यह सब आप से होगा, इसमें हमें कभी सन्देह नहीं था!

पर विचार कीजिए।

पर ऐसा करने में हमारे सामने यही आपत्ति है, वह यह है कि—

(१) एक भी प्राचीन धर्मसूत्रकारने विवाहसंस्कार में देवृकामावाला मंत्र स्वीकारा नहीं है और सबने देवकामावाला ही मंत्र स्वीकार किया है।

(२) अथर्ववेद के धर्मसूत्रकार भी देवृकामा पाठ को नहीं मानते और देवकामा पाठ को ही विवाह-विधि में मानते हैं।

(३) विवाह में नियोग के मंत्र बोलने के लिये स्मृति-ग्रंथों का विरोध है।

हमारे सामने यह प्रश्न है कि, सब धर्मशास्त्र का इतना प्रबल विरोध होने पर विवाह जैसे मंगल कार्य में नियोग का उच्चार जानबूझकर और अनवश्यक होने पर क्यों करें?

आपत्काल आने पर पुनर्विवाह हैं हि। विवाहसंस्कार में अवश्य ही नियोग का उल्लेख करना चाहिये, ऐसा हमारा मत नहीं है और उसका हेतु ऊपर दिया है।

श्री उपाध्याय जी गुरुकुल कांगडी जैसी उच्च संस्था के उपाध्यायपद पर बिराजते हैं, इसीलिये इनके लेख की यहां अल्प समालोचना की है, अन्यथा इस लेख में जैसे अपसिद्धान्त यहां बताये वैसे और भी हैं। पर स्थाली-पुलाक न्याय से यहां थोडासा नमूना बताया है। इससे पाठक जान सकते हैं।

वैदिक खोजका कार्य बडी जिम्मेवारीसे होगा और खोज करनेवाला पूर्ण स्वतन्त्र होगा तब वह हो सकेगा। तब तक ऐसा ही मखौल होता रहेगा। इसमें पं० धर्मराजजीका दोष वह नहीं, उन पर जिस संस्था का भार पडा है, उसका ही सर्वथा यह दोष है!



मरुत् देवता का परिचय ।



मरुतों के विषय में कोशोंमें (wind, air, breeze) वायु, हवा, पवन, (vital air or breath, life-wind) प्राण, (the god of wind) वायु का देवता, (a kind of plant) मरुवक, मरुत्तक, ग्रंथपर्णी वनस्पति, (storm-gods) आंधी, प्रचंड वायु, आंधी का देवता इतने अर्थ दिये हैं ।

वैद्यक कोशों में ' मरुत् अथवा मरुतः ' का अर्थ ' घण्टापाटला, मरुवक वृक्ष, मरुत्तक वनस्पति, ग्रंथिपर्णी वनस्पति, पृक्का नामक साग (पिडिंग साग) [हिंदी भाषा में इस का नाम ' पुरी ' है] इतने अर्थ मरुत् के लिखे हैं । ' मरवा ' नामक सुगंध पौधा । मरुत् का यह अर्थ वैद्यकसंबंधी है ।

मरुत् का अर्थ विश्व में ' वायु ' और शरीर में ' प्राण ' है और ये वनस्पतियां प्राणधारण में सहायक होती हैं, प्राण का बल बढाती हैं । इस तरह इनकी संगति होना संभव है ।

निघण्टु में ' मरुत् ' शब्द का पाठ निम्नलिखित गणों में किया है-

१. ' मरुत् ' शब्दका पाठ ' हिरण्य ' नामोंमें (निघंटु० १।२ में) किया है, अतः ' मरुत् ' का अर्थ ' हिरण्य ' अर्थात् ' सुवर्ण ' है ।

२. ' मरुत् ' पदका पाठ ' रूप ' नामों में (निघंटु० ३।७ में) किया है, इसलिये इस का अर्थ ' रूप ' अथवा ' सुन्दरता ' होता है ।

३. ' मरुत् ' पद का पाठ ' ऋत्विक् ' नामों में (निघंटु. ३।१८ में) किया है, इसलिये इस का अर्थ ऋत्विज् अथवा याजक होता है ।

४. ' मरुतः ' पदका पाठ ' पद नामों ' में (निघंटु. ५।५) में किया है ।

निघंटुकार ' मरुत् ' के ये ही अर्थ देता है । निरुक्तकार श्री यास्काचार्य मरुत् के अर्थ निम्नलिखित प्रकार करते हैं-

अथातो मध्यमस्थाना देवगणाः । तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति । मरुतो मितराविणो वा मितरोचनो वा महद् द्रवन्तीति वा ।

(निरु. ११।२।१)

' मध्यम स्थान में जो देवगण हैं, उन में मरुत् पहिले आते हैं । मरुत् का अर्थ (मित-राविण) मित-भाषी होता है, वे (मित-रोचनः) परिमित प्रकाश देते हैं, (महद्-द्रवन्ति) बडी गति से जाते हैं, अथवा बडे वेग से जलप्रवाह छोड देते हैं । '

ये इस के अर्थ निरुक्तकार के दिये हैं । पर इस निरुक्त के वाक्य का इस से भिन्न पदच्छेद करने से निम्नलिखित अर्थ होता है-

मरुतोऽमितराविणो वाऽमितरोचनो वा महद् रवन्तीति वा । (निरु० ११।२।१)

' मरुत् (अ-मित-राविण) अपरिमित शब्द करनेवाले, (अ-मित-रोचनः) अपरिमित प्रकाश देनेवाले, (महत् रवन्ति) बडा शब्द करते हैं, वे मरुत् हैं । '

पाठक यहां ये दो प्रकार के निरुक्त के एक ही वचन के परस्परविरोधी अर्थ देखेंगे, तो आश्चर्य से चकित होंगे । पर ऐसे ही टीकाकार मानते आये हैं । इसलिये इस विषय

में हम कुछ नहीं कह सकते।

इसी तरह और भी ' मरुत् ' पद के अर्थ किये गये हैं और हो सकते हैं-

१. मरुत् (मा-रुद्) = न रोनेवाले, अर्थात् युद्ध में न रोते हुए अपना कर्तव्य करनेवाले।

२ मरुत् (मा-रुत्) = न बोलनेवाले, बकबक न करनेवाले, बहुत न बोलनेवाले।

३. मरुत् (मर-उत्) = मरनेतक उठकर खडे हो कर युद्ध करनेवाले।

इस तरह विविध अर्थ मरुत् शब्द के किये जाते हैं। अब इस ' मरुत् ' के अर्थ ब्राह्मणग्रंथों में कैसे किये हैं, देखिये-

मरुतो रश्मयः। (तांड्य ब्रा० १४।१२।९)

ये ते मारुताः रश्मयस्ते। (श० ब्रा० ९।३।१।२५)

मरुतः... देवाः। (श० ब्रा० ५।१।४।२, अमरकोश १।१।५८)

गणशो हि मरुतः। (ताण्ड्य ब्रा० १९।१४।२)

मरुतो गणानां पतयः। (तै० ब्रा० ३।११।४।२)

सप्त हि मरुतो गणाः (श० ब्रा० ५।४।३।१७)

सप्त गणा वै मरुतः (तै० ब्रा० १।६।२।३; २।७।२।२)

सप्त सप्त हि मारुता गणाः। (वा० य० १७।८०-८५; ३९।७; श० ब्रा० ९।३।१।२५)

मारुत सप्तकपालः (पुरोडाशः)। (ताण्ड्य ब्रा० २१।१०।२३, श० ब्रा० २।५।१।१२; ५।३।१।६)

मरुतो ह वै देवविशोऽन्तरिक्षभाजना ईश्वराः। (कौ० ब्रा० ७।८)

विशो वै मरुतो देवविशः। (तां० ब्रा० २।५।१।१२)

मरुतो वै देवानां विशः। (ऐ० ब्रा० १।९; तां. ब्रा. ६।१०।१०; १८।१।१४)

अहुतादो वै देवानां मरुतो विट्। (श. ब्रा. ४।५।२।१६)

विट् वै मरुतः (तै. ब्रा. १।८।३।३; २।७।२।२)

विशो मरुत्। (श. ब्रा. २।५।२।६, २७; ४।३।३।६; ३।९।१।१७)

मारुतो वैश्यः। (तै. ब्रा. २।७।२।२)

कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः। (तै. ब्रा. २।४।८।७)

पशवो वै मरुतः। (ऐ. ब्रा. ३।१९)

अन्नं वै मरुत। (तै. १।७।३।५; १।७।५।२; १।७।७।३)

प्राणा वै मारुता। (श. ब्रा. ९।३।१।७)

मारुता वै ग्रावाणः। (तां ब्रा. ९।९।१४)

मरुतो वै देवानामपराजितमायतनम्। (तै. ब्रा. १।४।६।२)

अप्सु वै मरुतः श्रिताः। गौ. ब्रा. उ. १।२२, कौ. ब्रा. ५।४)

आपो वै मरुतः। (ऐ. ब्रा. ६।३०; कौ. ब्रा. १२।८)

मरुतो वै वर्षस्येशते। (श. ब्रा. ९।१।२।५)

इन्द्रस्य वै मरुतः। (कौ. ब्रा. ५।४.५)

मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिन्द्रं आगतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः। (श. ब्रा. २।५।३।२०)

इन्द्रस्य वै मरुतः क्रीडिनः। (गो. ब्रा. उ. १।२३; कौ. ब्रा. ५।५)

" किरण मरुत् हैं, देव, समूह में रहनेवाले, सात मरुतों का एक गण है, मरुतों का पुरोडाश सात पात्रों में होता है, प्रजा ही मरुत् है, दैवी प्रजा मरुत् है, वैश्य मरुतों से उत्पन्न है, उत्तम दान देनेवाले किसान मरुत् हैं, अन्न ही मरुत् हैं, प्राण मरुत् हैं, पत्थर मरुत् हैं। देवों का पराजयरहित स्थान मरुत हैं। मरुत् जल के आश्रय से रहते हैं, जल ही मरुत् हैं। मरुत् वृष्टि के स्वामी हैं। मरुत् इन्द्र के (सैनिक) हैं। जब इन्द्र वृत्र का हनन करता था, तब मरुतों ने खेलते हुए उसका गौरव किया था। "

मरुतों के सम्बन्ध में ब्राह्मणग्रंथों के वचनों का यह तात्पर्य है। ये अर्थ पाठक मरुतों के सूक्तों में देख सकते हैं।

पाठकों की सुविधा के लिये यहां मरुतों के वर्णनों के मन्त्रोंमेंसे कुछ विशेष मंत्र उद्धृत करके रखते हैं, उन्हें पाठक देखें और मरुद्देवता के मंत्रों के विज्ञान को जानें-

मरुतों के शस्त्र ।

(कण्वो घौरः । गायत्री ।)

ये पृषतीभिः ऋष्टिभिः साकं वाशीभिः अञ्जिभिः ।
अजायन्त स्वभानवः ॥ ६ ॥
इहेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
नि यामञ्चित्रमृञ्जते ॥ ३ ॥ (ऋ० १।३७)

" (ये) जो (पृषतीभिः) चित्रविचित्र (ऋष्टिभिः) भालों के साथ (वाशिभिः अञ्जिभिः) शस्त्रों और भूषणों के साथ (स्वभानवः) अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होनेवाले मरुत् (अजायन्त) प्रकट हुए हैं । (एषां कशा) इनके चाबुक इनके (हस्तेषु वदान्) हाथों में आवाज करते हैं, (यत् इह एव शृण्वे) जो शब्द मैं यहीं सुनता हूं, (यामन् चित्रं नि ऋञ्जते) संग्राम में विचित्र रीतिसे यह चाबूक मरुतोंको शोभित करता है । "

इन मंत्रों में कहा है कि, मरुतों के पास भाले, कुल्हाड कुठार, आभूषण और चाबूक हैं । इनसे ये मरुत शोभावान् हुए हैं ।

(सोभरिः काण्वः । प्रगाथः = ककुप् + सतोबृहती ।)

समानमञ्ज्येषां विभ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु ।
दविद्युतत्यृष्टयः ॥ ११ ॥

त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे ।
स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेष्वधि
श्रियः ॥ १२ ॥ (ऋ० ८।२०)

"(एषां अञ्जि समानं) इन सबके आभूषण समान हैं । इनके (ऋष्टयः दविद्युतत्) भाले चमक रहे हैं, (बाहुषु अधि रुक्मासः विभ्राजन्ते) बाहुओं पर सोने के भूषण चमकते हैं । (ते) वे (उग्रासः) शूर वीर (उग्रबाहवः) बडे बाहुओंवाले (वृषणाः) सुख की वर्षा करनेवाले, (तनूषु) अपने शरीर के विषय में (न किः येतिरे) कुछ भी यत्न नहीं करते । (वः रथेषु) आप के रथ पर (स्थिरा धन्वानि आयुधा) स्थिर धनुष्य और शस्त्र हैं तथा (अनीकेषु अधि श्रियः) सैन्य की धुरा में विजय निश्चित है । "

इन मंत्रों में मरुतों के शस्त्रों और आभूषणों का वर्णन देखनेयोग्य है । भाले, बाहुभूषण और कण्ठे तो हैं, पर इनके (रथेषु स्थिरा धन्वानि आयुधा) रथों में स्थिर धनुष्य और स्थिर आयुध हैं । यह वर्णन विशेष महत्त्व का है । स्थिर धनुष्य और चल धनुष्य ऐसे धनुष्यों के दो भेद हैं । चल धनुष्यों को ही धनुष्य कहते हैं, जो हाथों में लेकर इधर उधर वीर ले जा सकते हैं । प्राय. धनुर्धारी वीर इसी धनुष्य का उपयोग करते हैं । इसको हम ' चल धनुष्य, ' ' धनुष्य ' अथवा ' छोटा धनुष्य ' कहेंगे ।

पर इस मंत्र में मरुतों के रथों पर ' **स्थिर धनुष्य** ' रहते हैं, ऐसा कहा है । रथों पर ध्वजदण्ड खडा रहता है, उस दण्ड के साथ ये धनुष्य बांधे रहते हैं, ये हिलाये नहीं जाते, एक ही स्थान पर पक्के किये होते हैं । ये बडे प्रचण्ड धनुष्य होते हैं और इन पर से जो बाण फेंके जाते हैं, वे मामूली बाणों से दुगने तिगुने बडे भाले जैसे होते हैं । ये धनुष्य भी बहुत ही बडे होते हैं और इनकी रस्सी दोनों हाथों से खींची जाती है । इसलिये इनको रथ में ही सदा रहनेवाले ' स्थिर धनुष्य ' कहा है । मरुतों के रथों की यह विशेषता है । रथों में ' चल धनुष्य ' भी रहते हैं और स्थिर भी होते हैं । इसी तरह अन्यान्य आयुध भी रथ में स्थिर रहते हैं ।

ये रथ चार घोडों से खींचे जानेवाले बडे मजबूत होते हैं । मरुतों के रथों को घोडे या हरिनियां जोती जाती थीं, ऐसा मंत्रों में लिखा है और ये घोडे या हरिनियां जिनके पीठपर श्वेत धब्बे होते हैं, ऐसी हैं, ऐसा वर्णन इन मन्त्रों में पाठक देख सकते हैं ।

ये मरुत् (तनूषु न किः येतिरे) अपने शरीरों की बिलकुल पर्वा न करते हुए युद्ध करते हैं । यह वर्णन भी यहां इन मंत्रों में देखनेयोग्य है ।

(श्यावाश्व आत्रेयः । पुर उष्णिक् ।)

ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः ।
स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु ।
श्राया रथेषु धन्वसु ॥ ४ ॥
शर्धं शर्धं व एषां व्रातं व्रातं गणं गणं सुशस्तिभिः ।
अनुक्रामेम धीतिभिः ॥ ११ ॥ (ऋ० ५।५३)

" हे मरुतो ! (ये स्वभानवः) जो आप के प्रकाश (अञ्जिषु) अलंकारों पर, (ये वाशीषु) जो हथियारों पर, (स्रक्षु) मालाओं पर, (रुक्मेषु) छाती के भूषणों

पर, (खादिषु) पांवों के भूषणों पर (रथेषु) रथों पर और (धन्वसु) धनुष्यों पर (आया) आश्रय पाये हैं।"

"हे मरुतो (वः शर्धं शर्धं) आप के बल, (एषां व्रातं व्रातं) इनके समुदाय, (गणं गणं) और संघ की (सुशस्तिभिः) प्रशंसा के साथ और (धीतिभिः) कर्मोंके साथ अनुसरण करते हैं । "

अर्थात् मरुतों के हाथों में शस्त्र हैं, गले में मालाएं हैं, कमर में हथियार, तलवार, जंबिया आदि हैं, छाती पर आभूषण हैं, पावों और हाथों में कटक आदि जेवर हैं, रथों में धनुष्य हैं । इन शस्त्रों और भूषणों से ये वीर युक्त हैं ।

आगे के मंत्र में ' हम (अनुक्रामेम) आप का अनुसरण करते हैं, ' ऐसा कहा है । मरुतोंके जो बलसे होनेवाले कर्म हैं, समूह से और संघ से होनेवाले कर्म हैं, उन सब का अनुसरण हम करते हैं, अर्थात् उनके समूहों के समान हम अपने संघ बनाते हैं, उनके गणों के समान हम अपने गण बनाते हैं, उनके पराक्रमों के समान हम पराक्रम करते हैं, उनकी बुद्धियों के समान हम अपनी बुद्धि के कर्म करते हैं । मरुतों जैसे हम पराक्रम करते हैं और वैसे हम स्वयं शूर वीर बनने का यत्न करते हैं ।

मरुतों के संघों का यहां वर्णन है और आगे भी वर्णन बहुत ही है । मरुत् देवता संघ से रहनेवाले हैं । ये सात के संघ हैं, देखिये—

o o o o o o o
o o o o o o o
o o o o o o o
o o o o o o o
o o o o o o o
o o o o o o o
o o o o o o o

यहाँ सात सैनिकों की एक पंक्ति ऐसी सात पंक्तियां हैं। यहां ये ७×७=४९ मरुद्गण होते हैं । न्यूनसे न्यून सातोंकी एक पंक्ति है, ऐसी सात पंक्तियों का ' मारुत गण ' अथवा ' मरुतों का संघ ' होता है । इस तरह ४९ मरुतों का एक संघ, अथवा सेना का छोटे से छोटा विभाग होता है ।

ऐसे ४९ विभागों की मरुतों की सेना को ' वाहिनी ' कहते हैं । इस वाहिनी में ४९×४९=२४०१ मरुद्गण होंगे। इस तरह यह संख्या सातों के घात से, अथवा ४९ के घात से बढती है । छोटी से छोटी मरुद्वीरों की संख्या ७ होगी, उस से बढ कर ४९ होगी, उस के बाद २४०१ होगी और इस के आगे ७ अथवा ४९ के घात से जितनी सेना रखनी होगी, उतनी सेना हो सकती है । इस की कल्पना पाठक कर सकते हैं ।

ये मरुत् पैदल (पदाती), रथी (रथमें बैठे), घुडसवार (अश्वी) और विमानों में चढ कर ऐसे विभिन्न पथकों में रहते हैं । पर किसी भी पथक में क्यों न हों, इनकी संख्या ७ और ४९ के प्रमाण से रहेगी । मरुतों की सेना का विचार करने के समय यह तत्व जानना आवश्यक है ।

(नोधा गौतमः । जगती ।)

युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगावः
पर्वता इव । दृळ्हा चिद्विश्वा भुवनानि पार्थिवा
प्रच्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना ॥ ३ ॥
चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि
येतिरे शुभे । अंसेष्वेषां नि मिमिक्षुर्ऋष्टयः
साकं जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः ॥ ४ ॥

(ऋ. १।६४)

" (रुद्राः) शत्रु को रुलानेवाले मरुत् (युवानः) जवान (अजरा) वृद्धावस्था को न प्राप्त हुए, (अभोग्घनः) देवों को हविर्भाग न देनेवालों का वध करनेवाले, (अध्रिगावः) अप्रतिहत गतिवान् अर्थात् जिन की गति को कोई रोक नहीं सकता, ऐसे मरुत् (पर्वता इव ववक्षुः) पर्वतों के समान सुदृढ होकर इष्ट सुख उपासकों को देने की इच्छा करते हैं । ये (मज्मना) अपने सामर्थ्य से (विश्वा पार्थिवा भुवना) सब पार्थिव भुवनों और (दृळ्हा दिव्यानि) सुदृढ दिव्य भुवनों को भी (प्रच्यावयन्ति) हिला देते हैं । अर्थात् इनके विरोध में कोई ठहर नहीं सकता । "

" ये मरुत् (चित्रैः अञ्जिभिः) विचित्र भूषणों से (वपुषे व्यञ्जते) अपने शरीरों को भूषित करते हैं । (शुभे) शोभा के लिये (रुक्मान् वक्षःसु) सोने की मालाएं छाती पर (अधि येतिरे) धारण करते हैं । (एषां अंसेषु) इन के कंधों पर (ऋष्टयः निमिमिक्षुः) भाले चमक रहे

हैं । ये (नरः) नेता वीर मरुत् (स्वधया साकं) अपनी धारणशक्तिके साथ (दिवः जज्ञिरे) द्युलोकसे जन्मे हैं । ''

मरुतों की सेना में तरुण ही भरती होते हैं । बूढों (अजराः) का इन में स्थान नहीं है । सब (युवानः) जवान ही होते हैं । इनकी गतिको कोई रोक नहीं सकता । ये सैनिक जहां जाते हैं, वहां के प्रबल शत्रुओं को भी अपने स्थान से उखाड देते हैं । ये स्वयं जहां रहते हैं, वहां पर्वतों के समान स्थिर रहते हैं ।

इनके शरीरों पर सोने की मालाएं रहती हैं, छाती पर विविध भूषण पहने होते हैं, बाहुओंपर सोनेके आभूषण रहते हैं, तीक्ष्ण भाले इन के हाथों में रहते हैं, अन्यान्य तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्र सदा इन के पास रहते हैं। ये दिव्य नेता लोग दिव्य और शुभ कार्य के लिये सदा तैयार रहते हैं, कभी पीछे नहीं हटते ।

अपने शरीरों की पर्वाह न करते हुए ये लडते हैं और जो अपना अन्न यज्ञ में नहीं अर्पण करते, उन स्वार्थी लोगों को ये यथायोग दण्ड देते हैं । इसलिये इनसे सब डरते हैं और ये अपने यज्ञमार्ग में दत्तचित्त रहते हैं ।

(गोतमो राहूगणः । प्रस्तारपंक्तिः ।)

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः । आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥ १ ॥ (ऋ० ११८८)

" हे (सु-मायाः) उत्तम कुशल कर्मों को करनेवाले मरुतो ! (विद्युन्मद्भिः) बिजली से चलनेवाले, (स्वर्कैः) तेजस्वी (अश्व-पर्णैः) घोडों के समान पंखवाले (ऋष्टिमद्भिः) उत्तम शस्त्रों से युक्त (रथेभिः) रथों से (आ यात) आओ, (वयो न) पक्षियों के समान (पप्तत) उडते हुए आओ और साथ (वर्षिष्ठया इषा न) उत्तम अन्नों के साथ (आ) आओ । "

यहां भी पक्षियों के समान आकाशमार्ग से उडते हुए मरुत् आते हैं और उन के विमानों में भरपूर अन्न, पर्याप्त शस्त्र होते हैं और गमन के लिये अश्व के समान पक्ष रहते हैं, ऐसा कहा है ।

मरुतों के ये रथ निःसन्देह विमान ही हैं । क्योंकि ये (वयः न) पक्षियों के समान आकाश में उड कर आते हैं और (अश्व-पर्णैः) अश्वशक्तिवाले पंख इनको लगे होते हैं । (सुमायाः) उत्तम कारीगरी से ये बने हैं, तथा (विद्युन्मद्भिः) बिजली की शक्तिसे ये चलाये जाते हैं । पक्षी के समान आकाश में उडना, बिजली के साधन से गति मिलना, अश्वशक्ति से पक्षों का काम होना, आदि वर्णन इनका विमान होना ही निश्चित करता है ।

मरुतों के ये विमान ही हैं । मरुतों की सेना के पास घोडे, रथ तथा विमान भी होते हैं, यह बात हम वर्णन से सिद्ध होती है । इन मरुतोंके विमानों में (ऋष्टिमद्भिः) पर्याप्त शस्त्र तथा पर्याप्त (इषा) अन्न होता है । ये वर्णन देखने से मरुतों के विमानों की कल्पना आ सकती है ।

(श्यावाश्व आत्रेयः । जगती ।)

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः
सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः
स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥ २ ॥
ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि
सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम् ।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो
विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे ॥ ६ ॥
(ऋ० ५।५७)

" हे मरुतो ! (वाशीमन्तः) बरछियां धारण करनेवाले, (ऋष्टिमन्तः) भाले बर्तनेवाले, (सुधन्वानः) उत्तम धनुष्यों से युक्त, (निषंगिणः) तर्कस धारण करनेवाले, (सुरथाः) उत्तम रथ जिनके पास है तथा (स्वश्वाः) उत्तम घोडोंवाले, (स्वायुधाः) उत्तम आयुधों का उपयोग करनेवाले (पृश्निमातरः) मातृभूमि के उपासक आप (मनीषिणः स्थः) बुद्धिमान् हैं । हे मरुतो ! आप (शुभं याथन) सबके हित करनेवाले मार्गसे चलो । "

" हे मरुतो ! (वः अंसयोः अधि) आप के कंधों पर (ऋष्टयः) भाले हैं, (वः बाह्वोः) आप के बाहुओं में (सहः ओजः बलं हितं) बल, ओज और सामर्थ्य रखा है, (शीर्षसु नृम्णा) सिरोंपर सुन्दर साफे हैं, (वः रथेषु आयुधा) आप के रथों पर आयुध हैं, (वः तनूषु) आप के शरीरों पर (विश्वा श्रीः) सब शोभा (अधि



वीर मरुत्।

पिपिशे) विराजमान हुई है।''

इन मंत्रों में मरुतों के शरीरों पर कैसे शस्त्र और कपडे रहते हैं, यह बताया है। बरछे, भाले, धनुष्य, बाण, तर्कस, तलवार आदि शस्त्र इनके पास हैं। सिर पर साफे अथवा मुकुट हैं। इनके रथ, घोडे आदि सब उत्तम हैं। शरीर सुडौल हैं। बाहुओं में प्रचण्ड बल है और ये (पृश्निमातरः) मातृभूमि की उपासना स्वकर्म से करते रहते हैं, मातृभूमि के लिये आत्मसमर्पण करते रहते हैं।

(वसिष्ठो मैत्रावरुणिः। त्रिष्टुप्।)

अंसेष्वा मरुतः खादयो वो
वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना
अनु स्वधामायुधैर्यच्छमानाः॥१३॥ (ऋ० ७।५६)

"हे (मरुतः) मरुतो ! आप के (अंसेषु) कंधों पर आभूषण हैं, (वक्षःसु रुक्मा) छाती पर मालाएं (उपशिश्रियाणाः) शोभती हैं, (वृष्टिभिः) वृष्टि के साथ चमकती (विद्युतः न) बिजली के समान (विरुचानाः) आप चमक रहे हैं, (आयुधैः) और हथियारों के साथ (स्वधां अनुयच्छमानाः) अन्न को अनुकूलता के साथ आप देते हैं।"

यहां भी मरुतों के हथियारों और भूषणों का वर्णन है।

(श्यावाश्व आत्रेयः। जगती।)

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा
मरुतो रथे शुभः। अग्निभ्राजसो विद्युतो
गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः ११
(ऋ० ५।५४)

"हे मरुतो! (वः अंसेषु ऋष्टयः) आप के कंधों पर भाले हैं, (पत्सु खादयः) पावों में भूषण हैं, (वक्षःसु रुक्माः) छाती पर मालाएं हैं और (रथे शुभः) रथ में सब शुभ साधन हैं। (अग्निभ्राजसः) अग्नि के समान तेजस्वी (विद्युतः गभस्त्योः) चमकदार और किरणों से युक्त हैं और आप के (शीर्षसु) सिर पर (हिरण्ययी वितता शिप्राः) सोने के फैले हुए साफे हैं।

यहां भी मरुतों के शस्त्रों और अलंकारों का वर्णन है। इस समय तक मरुतों के शस्त्रों, अलंकारों और वस्त्रों का वर्णन आया है, इससे विदित होता है कि-

सिर में-

(१) शीर्षन् नृम्णा (ऋ. ५।५७।६); शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः (ऋ ८।७।२५); हिरण्यशिप्राः (ऋ. २-३४-३),

सिर पर साफे या मुकुट धारण किये हैं। ये सोनेके हैं, अर्थात् साफे होंगे, तो कलाबतू के होंगे।

कंधों पर-

(२) अंसेषु ऋष्टयः (ऋ. १-६४-४; ५-५४-११); ऋष्टयो...अंसयोरधि (ऋ ५-५७-६); ऋष्टिमन्तः (ऋ. ५-५७-२); अंसेषु खादयः (ऋ. ७-५६-१३);

अंसेषु प्रपथेषु खादयः (१-१६६-९); ऋष्टिविद्युतः (ऋ. १-१६८-५; ५-५२-१३); भ्राजद्-ऋष्टयः (ऋ. १-८७-३).

मरुतों के कंधों पर भाले रहते हैं, इन कंधों पर बाहुभूषण होते हैं। ये भूषण भी बडे चमकवाले होते हैं और भाले भी बडे तेजस्वी और चमकनेवाले होते है। ऋष्टि-शस्त्र भाले जैसा लंबा होता है, भाले के फाल विविध प्रकार के होते हैं। बडे तीक्ष्ण नोकवाले, अनेक मुखवाले, कांटोंवाले तथा अन्यान्य छेदक नोकवाले होते हैं और इस कारण इनके नाम भी बहुत होते हैं। ' खादी ' नामक एक आभूषण है, जो पावों में तथा बाहुओं में रखे जाते हैं।

हाथों में-

(३) हस्तेषु कशा वदान् (ऋ. १।३७।३) हाथों में चाबूक जो आवाज करता है। चाबूक का आवाज छिटकने से होता है, यह पाठक जान सकते हैं।

छाती पर-

(४) वक्षःसु रुक्माँ (ऋ. १-६४-४; ७-५६-१३; ५-५४), रुक्मासः अधि बाहुषु (ऋ. ८-२०-११); तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः (ऋ. १ ८५-३)

छाती पर और बाहुओं पर तथा शरीरों पर रुक्म नामक सुवर्ण के भूषण धारण करते हैं। रुक्म मोहरों जैसे भूषण होते हैं, जिनकी माला बना कर कण्ठ में छाती पर रखते हैं और अन्यान्य अवयवों पर उस स्थान के योग्य अलंकार किया होता है।

इस तरह का वर्णन मंत्रों में देखनेयोग्य है।

बल से विजय।

(कण्वो घौरः । सतोबृहती।)

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे । युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ २ ॥ (ऋ. १-३९)

" (वः आयुधा स्थिरा सन्तु) आप के शस्त्र सुदृढ हों, (पराणुदे) शत्रु को दूर भगाने के लिये और (प्रति-स्कभे) शत्रु का प्रतिकार करने के लिये आप के शस्त्र (वीळू) सामर्थ्यवान् अर्थात् शत्रु के शस्त्रों से अधिक प्रभावी हों। (युष्माकं तविषी) आप का बल (पनीयसी अस्तु) प्रशंसनीय रहे, वैसा (मायिनः मर्त्यस्य मा) आप के कपटी शत्रु का बल न हो, अर्थात् शत्रु से आप का बल अधिक रहे।"

विजय तभी होगा, जब शत्रु से अपने साधन अधिक प्रभावी होंगे। अपने शस्त्रास्त्र शत्रु से प्रभाव में, परिणाम में, संख्या में, तथा अन्य सब प्रकारों से अधिक अच्छे रहेंगे, तभी विजय होगा, इसलिये विजय की इच्छा करनेवाले वीर अपना ऐसा उत्तम प्रबन्ध रखें।

जनता की सेवा।

(नोधा गौतमः । जगती।)

**रोदसी आ वदता गणश्रियो नृषाचः शूराः शवसाऽहिमन्यवः ।
आ वन्धुरेष्वमतिर्न दर्शता विद्युन्न तस्थौ मरुतो रथेषु वः ॥ ९ ॥ (ऋ. १।६४)**

" हे (गणश्रियः) समुदाय की शोभा से युक्त मरुतो ! हे (नृ-षाचः शूराः) मानवोंकी सेवा करनेवाले शूर, (शवसा अ-हि-मन्यवः) बल के कारण प्रबल कोप से युक्त मरुतो ! (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वी में (आवदत) अपनी घोषणा करो। हे मरुतो ! (वः रथेषु) आप के रथों में (वन्धुरेषु) बैठकों में (दर्शता अमतिः न) दर्शनीय रूप के समान अथवा (विद्युत् न) बिजली के समान (आ तस्थौ) आप का तेजस्वी रूप ठहरा है।"

अर्थात् आप जनता की सेवा करनेवाले स्वयंसेवक वीर जब रथों में बैठकर जाते हैं, उस समय बडी शोभा दीखती है।

साम्यवाद।

(श्यावाश्व आत्रेयः। जगती।)

अज्येष्ठास अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः । सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥६॥ (ऋ. ५-५९)

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय । युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥ ५ ॥ (ऋ० १-६०)

" मरुतों में कोई श्रेष्ठ नहीं और कोई कनिष्ठ नहीं और कोई मध्यम भी नहीं। ये सब समान हैं। ये अपनी शक्ति से बढते हैं। ये (सुजातासः) कुलीन हैं और (पृश्निमातरः) भूमि को माता माननेवाले हैं। ये दिव्य नरवीर हैं।"

" ये अपने आप को (भ्रातरः) भाई कहते हैं और (सौभगाय सं वावृधुः) सौभाग्य के लिये मिलकर यत्न करते हैं। इनकी माता (पृश्निः सुदुघा) मातृभूमि इनके लिये उत्तम पोषण करनेवाली है।"

इन मंत्रों में मरुतो का साम्यवाद अच्छी तरह कहा है। ये अपने आपको भाई मानते हैं। यह भी साम्यवादियों के लिये योग्य ही है।

ये सैनिक हैं। सेना में कोई लडका नहीं भरती होता, कोई वृद्ध भी नहीं भरती होता। प्रायः सब तरुण ही भरती होते हैं। इसलिये न इन में कोई बडा है और न छोटा है, सब समान ही रहते हैं। ये सभी मातृभूमि के लिये प्राणों का अर्पण करनेवाले होनेके कारण सब समान-तया सन्मान्य होते हैं।

इस समय तक के वर्णन से मरुत् ये सैनिक हैं, यह बात पाठकों के ध्यान में आ चुकी होगी। सैनिकों के पास शस्त्र होते हैं, उन के शरीर सुडौल होते हैं, सब प्रायः समान ऊंचाई के होने के कारण समान होते हैं। सब के सिरों पर साफे, मुकुट या शिरस्त्राण समान होते हैं, सब का रहनासहना समान होता है। सब सैनिक उक्त कारण अपने आप को भाई कहते हैं। सब मातृभूमि के लिये प्राणों का अर्पण करते हैं, अपने शरीरों की पर्वाह न करते हुए, देश के लिये लडते हैं, सब ही शत्रु को रुलानेवाले होते हैं, सब सैनिक सांघिक जीवन में ही रहते हैं, संघ के विना ये कभी रहते नहीं, कतार में चलते हैं, सब के शस्त्र समान होते हैं। यह सब वर्णन सैनिकों का है और मरुतों का भी है। अतः पाठक मरुतों को सैनिक समझें और मंत्रों का आशय जान लें।

मरुतों की शोभा।

(गोतमो राहूगणः। जगती।)

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो
यामन् रुद्रस्य सूनवः सुदंससः।
रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे वृधे
मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः॥ १॥
गोमातरो यच्छुभयन्ते अंजिभिः
तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मतः।
बाधन्ते विश्वं अभिमातिनं अप
वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम्॥ ३॥
वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः
प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा
वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम्॥ ४॥

(ऋ० १.८५)

" (ये मरुतः) जो मरुत् (जनयः न) स्त्रियोंके समान (यामन्) बाहर जाने के समय (प्र शुंभन्ते) विशेष अलंकार धारण करते हैं। ये मरुत् (रुद्रस्य सूनवः) रुद्र के अर्थात शत्रु को रुलानेवाले वीर के पुत्र (सु-दंससः) उत्तम कर्म करनेवाले और (सप्तयः) शीघ्रगामी हैं। मरुतों ने (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वी को (वृधे) अपनी वृद्धि के लिये साधन (चक्रिरे) बनाया, ये (घृष्वयः) शत्रु का घर्षण करनेवाले (वीराः) वीर (विदथेषु) युद्धों में (मदन्ति) आनन्दित होते हैं।"

" (गो-मातरः) गौको अथवा पृथ्वीको माता मानने-वाले मरुत् (यत्) जब (अंजिभिः शुभयन्ते) अलं-कारों से शोभित होते हैं, तब (तनूषु) वे अपने शरीरों पर (शुभ्राः विरुक्मतः) तेजस्वी और चमकनेवाले शस्त्र (दधिरे) धारण करते हैं। वे (विश्वं अभिमातिनं) सब शत्रु को (अप बाधन्ते) पराभूत करते हैं, प्रतिबन्ध करते हैं। (एषां वर्त्मानि) इनके गमन के मार्ग पर (घृतं अनु रीयते) घी आदि भोग्य पदार्थ (अनुरीयते) अनु-कूलता के साथ मिलते हैं।"

"(ये सुमखासः) जो उत्तम यज्ञ करनेवाले मरुत् (ऋष्टिभिः वि भ्राजन्ते) अपने भालों से शोभते हैं। जो (ओजसा) अपने बल के साथ (अच्युता) न हिलने-वालों को भी (प्रच्यावयन्ते चित्) निश्चयपूर्वक हिला देते हैं। हे मरुतो! (यत्) जब आप अपने (रथेषु पृषतीः) रथों को विचित्र रंगोंवाली हरिणों या घोडियों

को जोतते हैं तब (वृष-वातासः) वीर्यवान् समूह करनेवाले आप (मनो-जुवः) मन जैसे वेगवान् होते हैं।"

इन मंत्रों में कहा है कि मरुत् वीर स्त्रियों के समान अलंकारोंसे सजते हैं, शत्रुका धर्षण करते हैं, युद्धों से आनंदित होते हैं, मातृभूमि को माता मानते हैं, भाले-बर्चियों को धारण करते हैं, सब शत्रुओं को स्थानभ्रष्ट करते हैं, समूहोंमें रहनेसे इनका बल बढा रहता है। शत्रु पर ये समूह से ही हमला करते हैं।

मरुत् वीर स्त्रियों के समान अपने आप को सजाते हैं। पाठक यहां सैनिकों की सजावट की ओर देखें। सैनिक अपनी वेषभूषा, शस्त्र, बूटसूट, साफे आदि सब जितना सुंदर रखा जा सकता है, उतना सुंदर, स्वच्छ और सुडौल रखते हैं। सैनिक जितने अच्छे सजते हैं और जितना सजावट का ख्याल करते हैं, उतना कोई और नहीं करता। इस सजावट में ही इनका प्रभाव रहता है। इसलिये यह सजावट बुरी नहीं है।

यहां के '**गो-मातरः, पृश्नि-मातरः**' ये शब्द मातृभूमि और गौ को माता मानने का भाव बताते हैं। गोरक्षा करना इस तरह मरुतों का कर्तव्य दीखता है। गोरक्षण, मातृभूमिरक्षण, स्वभाषारक्षण आदि भाव '**गोमातरः**' में स्पष्ट दीखते हैं।

(अगस्त्यो मैत्रावरुणः । जगती ।)

विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वो
मिथस्पृध्येव तविषाण्याहिता ।
अंसेष्वा वः प्रपथेषु खादयो-
ऽक्षो वश्चक्रा समया वि वावृते ॥ ९ ॥

(ऋ. १-१६६)

" हे मरुतो ! (वः रथेषु) आप के रथों में (विश्वानि भद्रा) सब कल्याणकारक पदार्थ रहते हैं। (मिथस्पृध्या इव) परस्पर स्पर्धा के (तविषाणि आहिता) सब शस्त्र रखे हैं। (अंसेषु) बाहुओं में तथा (वः प्रपथेषु) आप के पांवों में (खादयः) आभूषण रहते हैं और आप के चक्र का (अक्षः) अक्ष (चक्रा समया) चक्रों के समीप साथ साथ (वि वावृते) रहता है।"

मरुतों के रथों पर भरपूर अन्नादि पदार्थ और शस्त्र रहते हैं।

३

(गोतमो राहूगणः । जगती ।)

शूरा इवेद् युयुधयो न जग्मयः ।
श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे ।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो
राजान इव त्वेषसंदृशो नरः ॥ ८ ॥

(ऋ. १।८५)

" (शूरा इव इत्) ये शूरों के समान (जग्मयः युयुधयः न) शत्रु पर दौड़नेवाले योद्धाओं के समान (श्रवस्यवः न) यश की इच्छा करनेवालों के समान (पृतनासु येतिरे) लड़ाइयों में युद्ध करते हैं। (मरुद्भ्यः) मरुतों से (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (भयन्ते) डरते है। ये मरुत् (राजानः इव) राजाओं के समान (त्वेष-संदृशः) क्रोधित दीखनेवाले (नरः) ये नेता हैं। "

युद्ध में मरुतों को आनन्द होता है। ये ऐसा पराक्रम करते हैं कि, जिससे सब विश्व इनसे डरता है। ऐसे पराक्रमी ये वीर हैं।

(अगस्त्यो मैत्रावरुण । जगती ।)

को वोऽन्तर्मरुतो ऋष्टिविद्युतो
रेजति त्मना हन्वेव जिह्वया ।
धन्वच्युत इषां न यामनि
पुरुप्रैषा अहन्यो नैतशः ॥ (ऋ. १-१६८-५)

"हे (ऋष्टिविद्युतः) विद्युत् का शस्त्र बर्तनेवाले मरुतो ! (वः अन्तः कः) आप के अन्दर कौन (रेजति) प्रेरणा करता है? अथवा (जिह्वया हन्वा इव) जिह्वा से हनु को प्रेरणा मिलती है, वैसी (त्मना) स्वयं हि तुम प्रेरित होते हो ? अथवा तुम्हारे अन्दर रहकर कोई दूसरा तुम्हें प्रेरणा देता है ? (इषां यामनि) अन्नों की प्राप्ति के लिये (धन्वच्युतः न) अन्तरिक्ष से चूनेवाले उदक की जैसी इच्छा करते हैं अथवा (अ-हन्यः एतशः न) शिक्षित घोडे के समान (पुरु-प्रैषाः) बहुत दान देनेवाला याजक तुम्हें बुलाता है।"

(अगस्त्यो मैत्रावरुणः । गायत्री ।)

आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः ।
आरे अश्मा यमस्यथ ॥ (ऋ. १।१७२।२)

"हे (सुदानवः मरुतः) हे दानशील मरुतो ! (वः सा ऋञ्जती शरुः) आप का वह तेजस्वी भाला (आरे)

हम से दूर रहे, तथा (यं अस्यथ) जिस को तुम फेंकते हो, वह (अश्मा) पत्थर भी हमसे (आरे) दूर रहे । "

अर्थात् तुम्हारा शस्त्र और तुम्हारा पत्थर शत्रु पर गिरे, हम उस से दूर रहें । यहां पत्थर भी एक मरुतों का शस्त्र कहा है । ये पत्थर हाथ से, पांव से और रस्सी से फेंके जाते हैं । हाथ से आगे, पांव से पीछे और 'क्षेपणी' नामक पत्थर फेंकनेवाली रस्सी से बडी दूरी पर फेंका जाता है । इस रस्सी को 'गोफन' (क्षेपणी) बोलते हैं, इस से आध सेर वजन का पत्थर सौ गज पर ऐसे वेगसे फेंका जाता है कि, जिससे शत्रुका हाथ भी टूट जाय।

प्रतिबंधरहित गति !

(श्यावाश्व आत्रेयः । जगती ।)

न पर्वता न नद्यो वरन्त वो
यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत् ।
उत द्यावापृथिवी याथना परि
शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥७॥ (ऋ. ५।५५)

" हे मरुतो ! (न पर्वता) न पर्वत और (न नद्यः) न नदियां (वः वरन्त) आप के मार्ग को प्रतिबन्ध कर सकते है, (यत्र आचिध्वं) जहां जाना चाहते हैं, (तत् गच्छथ इत् उ) वहां तुम पहुंचते ही हो । तुम द्युलोक और पृथ्वी पर पहुंचते हो और (शुभं यातां) शुभ स्थान को पहुंचनेवाले आप के रथ आगे बढते हैं । "

यहां लिखा है कि, नदी और पर्वत से मरुत् वीरों को किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं होता है । वे जहां जहां पहुंचना चाहते हैं, पहुंचते ही हैं और वहां यश भी कमाते हैं ।

बीच में पर्वत आ जाय, नदियाँ आ जायँ, बीच में जलाशय हों अथवा रेतीले मैदान हों, इन सब प्रतिबंधों को ये गिनते नहीं । इन के रथ ऐसे होते हैं कि, वे जहां चाहे वहां जाते और शत्रु को घेर लेते हैं ।

जहां मरुत् जाना चाहते हैं, वहां वे पहुंचते हैं और जिस शत्रु को पराजित करना चाहते हैं, उस को पराजित कर छोडते हैं ।

इनकी गति को रोकनेवाला पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में कोई नहीं है । शत्रु पर विजय प्राप्त करना हो, तो ऐसा ही सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिये । अपना हरएक शस्त्र शत्रुसे अधिक प्रभावी रहना चाहिये, हरएक रथ शत्रु से अधिक सामर्थ्यशाली रहना चाहिये और अपना हरएक वीर शत्रुसे शक्ति, बुद्धि और युक्ति में श्रेष्ठ रहना चाहिये । तब विजय मिलता है । यह बात मरुतोंके वर्णनमें पाठक देख सकते हैं ।

(कण्वो घौरः । सतोबृहती ।)

असाम्योजो बिभृथा सुदानवोऽसामि धूतयः शवः । ऋषिद्विषे मरुतः परिमन्यव इषुं न सृजत द्विषम् ॥ (ऋ. १-३९-१०)

" हे (सुदानवः) उत्तम दान देनेवाले मरुतो ! (असामि ओजः बिभृथः) अतुल बल आप धारण करते हैं । हे (धूतयः) शत्रुको कंपानेवाले मरुतो ! (असामि शवः) अतुल सामर्थ्य आप के पास है । (ऋषिद्विषे) ऋषियों का द्वेष करनेवाले (परिमन्यवे) कोपकारी शत्रु के वध के लिये (द्विषं) विनाशक शस्त्र (इषुं न) बाण के समान (सृजत) छोड दो ।

मरुतों का बल बहुत है, उस की तुलना किसी के साथ नहीं हो सकती । ज्ञानियों का द्वेष करनेवाले का नाश करने के लिये आप ऐसा शस्त्र छोडिए कि, जिस से उस शत्रु का पूर्ण नाश हो जावे ।

धूम्रास्त्रप्रयोग ।

(ब्रह्मा । त्रिष्टुप् ।)

असौ या सेना मरुतः परेषां
अस्मानैत्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन
यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥६॥ (अथर्व० ३।२)

" हे मरुतो ! यह जो (परेषां) शत्रुओंकी सेना है, जो (अस्मान्) हम पर स्पर्धा करती हुई, (ओजसा एति) वेग से आ रही है, (तां) उस सेना को (अपव्रतेन तमसा) घबराहट करनेवाले तमसास्त्र से (विध्यत) वेध लो (यथा) जिस से इन में से कोई किसी को (न जानात्) न जान सके । "

यहां अंधेरा उत्पन्न करनेवाला धूवांरूप शस्त्र का वर्णन है । इस से एक दूसरे को जान नहीं सकता ।

यहां 'अपव्रत तम' नामक अस्त्र का प्रयोग शत्रु की

सेना के ऊपर करने को कहा है। 'अपव्रत' का अर्थ यह है कि, जिस से कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान नहीं होता, शत्रुसैन्य घबरा जाता है और जो नहीं करना चाहिये वही करने लगता है। इस घबराहट के कारण शत्रु की सेना का निश्चय से पराभव होता है।

'तमस्' नामक अस्त्र अन्धेरा उत्पन्न करनेवाला है। यह धूवें जैसा ही होगा। आजकल इस को 'गैस' (Gas) कहते हैं। धूवें का पर्दा जैसा खडा करते हैं और उस की ओट में रह कर शत्रु को सताते हैं।

'तमस्' और 'अपव्रत तमस्' ये दो विभिन्न अस्त्र होंगे। अधिक घबराहट करनेवाला तम ही अपव्रत कहलानेयोग्य हो सकता है। यह मरुतों का अस्त्र यहां कहा है। पूर्वोक्त अन्यान्य आयुधों के साथ पाठक इस का भी विचार करें।

(गृत्समदः शौनकः। जगती।)

उक्षन्ते अश्वाँ अत्याँ इवाजिषु
नदस्य कर्णैस्तुरयन्त आशुभिः।
हिरण्यशिप्रा मरुतो दविध्वतः
पृक्षं याथ पृषतीभिः समन्यवः ॥२॥
इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिः
अध्वस्मभिः पथिभिर्भ्राजदृष्टयः।
आ हंसासो न स्वसराणि गन्तन
मधोर्मदाय मरुतः समन्यवः ॥५॥
ते क्षोणीभिररुणेभिर्नाञ्जिभी
रुद्रा ऋतस्य सदनेषु वावृधुः।
निमेघमाना अत्येन पाजसा
सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम् ॥३॥
(ऋ २-३४)

"हे (हिरण्यशिप्राः) सोने के मुकुट धारण करनेवाले (दविध्वतः) शत्रुको कंपानेवाले मरुतों ! (आजिषु) संग्रामों में (अत्यान् अश्वान्) चपल घोडों को (उक्षन्ते इव) जैसे स्नान कराते हैं, वैसे जो स्नान करते हैं और (नदस्य कर्णैः आशुभिः) हिनहिनानेवाले घोडों के कानों के समान चपल घोडोंके साथ (तुरयन्त) दौडते हैं, आप (समन्यवः) उत्साह वाले (पृषतीभिः) बिंदुवाली हरिणियों के साथ (पृक्षं याथ) हविष्यान्न के पास, यज्ञ के पास, जाओ।"

"हे (भ्राजद्-ऋष्टयः) चमकनेवाले भालों को धारण करनेवाले (समन्यवः) उत्साह से परिपूर्ण मरुतो ! (इन्धन्वभिः) प्रदीप्त, तेजस्वी (रप्शद्-ऊधभिः) भरपूर दुग्धाशयवाली (धेनुभिः) धेनुओं के साथ रहते हुए (अध्वस्मभिः पथिभिः) अविनाशी मार्गों से (हंसासः न) हंसों के समान (मधोः मदाय) मधुर सोमरसपान के आनन्द के लिये (स्वसराणि गन्तन) यज्ञस्थानों के पास जाओ।"

"(रुद्राः) शत्रुको रुलानेवाले मरुत (ऋतस्य सदने) यज्ञ के मण्डप में (क्षोणीभिः अरुणेभिः न अञ्जिभिः) शब्द करनेवाले, चमकनेवाले अलंकारों के समान (वावृधुः) बढते हैं। (निमेघमानाः) मेघके समान (अत्येन पाजसा) गमनशील बल से युक्त (सुश्चंद्रं वर्णं सुपेशसं) चमकनेवाला आनन्ददायक वर्ण (दधिरे) धारण करते हैं।"

विवरमार्ग।

(श्यावाश्व आत्रेयः। अनुष्टुप्। १७ पंक्तिः।)

आपथयो विपथयोऽन्तस्पथा अनुपथाः।
एतेभिर्मह्यं नामभि. यज्ञं विष्टार ओहते ॥१०॥
य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः।
तमृषे मारुतं गणं नमस्या रमया गिरा ॥१३॥
सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधि श्रुतं उद्राधो गव्यं मृजे निराधो
अश्व्यं मृजे ॥ १७ ॥ (ऋ. ५।५२)

"(आपथयः) सीधे मार्गसे, (विपथयः) प्रतिकूल मार्ग से, (अन्तस्पथा) अन्दर के गुप्त मार्ग के, विवर के मार्ग से, (अनुपथाः) साथवाले अनुकूल मार्ग से अर्थात् (एतेभिः नामभिः) इन सब प्रसिद्ध मार्गोसे (विष्टारः) यज्ञों का विस्तार करते हुए (यज्ञं ओहते) यज्ञ के पास आते हैं।"

"जो (ऋष्वा) दर्शनीय (ऋष्टिविद्युतः) शस्त्रों से विशेष प्रकाशित, (कवयः) ज्ञानी और (वेधसः) वेध करनेवाले (सन्ति) हैं, हे ऋषे ! (तं मारुतं गणं) उन मरुतों के गणों को (नमस्या गिरा) नमन करने की वाणी से (रमय) आनंदित कर।"

" (ते शाकिनः सप्त सप्ताः) वे समर्थ सातसातों के संघ (एकं एका शता ददुः) एक एक सौ दान देते रहे। (यमुनायां अधिश्रुतं) यमुना के तीर पर यह प्रसिद्ध है कि, (गव्यं राधः उदृजे) गौओं का धन दान में दिया और (अश्व्यं राधः निमृजे) घोडोंका धन दानमें दिया। "

इस में चार मार्गों का वर्णन है। मरुत् चारों मार्गों से यज्ञ के प्रति आते हैं, इन मार्गों में अन्तस्पथ अर्थात् भूमि के अन्दर का विवरमार्ग भी है। ये मरुत् गौओं और घोडों का दान देते हैं, इत्यादि बातें इन मंत्रों में मननीय हैं।

मरुतों का सामर्थ्य।

(श्यावाश्व आत्रेयः। जगती।)

विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो
वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः।
अब्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृतः
स्तनयदमा रभसा उदोजसः ॥ ३ ॥

न स जीयते मरुतो न हन्यते
न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय
ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥ ७ ॥

नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरो-
ऽर्यमणो न मरुतः कबन्धिनः।
पिन्वन्त्युत्सं यदिनासो अस्वरन्
व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसा ॥ ८ ॥

(ऋ. ५।५४)

" ये (नरः मरुतः) नेता मरुत (विद्युन्महसः) बिजुली के समान महातेजस्वी, (अश्म-दिद्यवः) उल्का के समान प्रकाशमान, (वात-त्विषः) वायु के समान वेगवान्, (पर्वतच्युतः) पर्वतों को भी स्थान से भ्रष्ट करनेवाले, (अब्दया चित् मुहुः आ) पानी देने की अर्थात् वृष्टि की इच्छा वारंवार करनेवाले, (ह्रादुनीवृतः) बिजुली को प्रेरित करनेवाले, (स्तनयद्-अमाः) गर्जना में भी जिन की शक्ति प्रकट होती है, ऐसे ये मरुत् (रभसा उत् ओजसः) वेग और सामर्थ्य से युक्त हैं। "

"हे मरुतो! जिस (ऋषिं) ऋषिको (वा यं राजानं वा) अथवा जिस राजा को तुम (सुषूदिथ) प्रेरित करते हो, वह (न सः जीयते) पराजित नहीं होता, (न हन्यते) न मारा जाता, (न स्रेधति) न पीछे हटता है, (न व्यथते) पीडित नहीं होता और (न रिष्यति) नाश को प्राप्त नहीं होता। (अस्य रायः न उपदस्यन्ति) इसके धन क्षीण नहीं होते (न ऊतयः) न उसकी रक्षाएं कम होती हैं। "

" (यथा ग्रामजितः नरः) जैसे नगर को जीतनेवाले नेतालोग गर्व से चलते हैं, वैसे (नियुत्वतः) घोडों पर सवार हुए ये मरुत् (अर्यमणः कबन्धिनः) सूर्य के समान तेजस्वी होकर जल देने लगते हैं। (इनासः) ये स्वामी (यत् अस्वरन्) जब शब्द करते हुए (उत्सं पिन्वन्ति) हौज को जल से भर देते हैं, तब (मध्वः अन्धसा) मधुर जल से (पृथिवीं व्युंदन्ति) पृथ्वी को भर देते हैं। "

मरुत् विजयी वीर हैं। सर्वत्र (क-बन्धिनः) ये पानी का प्रबन्ध सुरक्षित रखते हैं। (मध्वः अन्धसा) मधुर अन्न का प्रबन्ध भी सुरक्षित रखते हैं। अन्न और जल का प्रबन्ध सुरक्षित रखने के कारण इनका विजय होता है। सैनिकों का विजय पेट की पूर्ति से होता है। पाठक विजय का यह कारण अवश्य देखें और अपने सैनिकों के प्रबंध में ऐसी सुव्यवस्था रखें।

(कण्वो घौरः। बृहती।)

परा ह यत् स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु।
वि याथन वनिनः पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम् ॥

(ऋ १।३९)

"हे (नरः) शूर नेताओ! (यत् स्थिरं परा हथ) जो स्थावर पदार्थ है, उसको तुम तोड देते हो, और (गुरु वर्तयथः) जो बडा भारी पदार्थ हो, उसको तुम हिलाते हो, (पृथिव्याः वनिनः वि याथन) पृथ्वी पर के बडे वृक्षों को तुम उखाड देते हो और (पर्वतानां आशाः वि) पर्वतों को फाडते हो। "

शूर सैनिक स्थिर पदार्थों को अपने मार्ग से हटा देते हैं, बडे भारी पदार्थों को तोडकर चूर्ण करते हैं, वनों में बडे बडे वृक्षों को तोडकर वहां उत्तम मार्ग बनाते हैं और पर्वतों को भी फाडकर बीच में से मार्ग निकालते हैं। अर्थात् शूरों को किसी का प्रतिबंध नहीं होता। शूरों को सब मार्ग खुले रहते हैं।

(कण्वो घौरः। सतोबृहती।)

नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशादसः। युष्माकमस्तु तविषी तनायुजा रुद्रासो नू चिदाधृषे ॥ ४॥ (ऋ. १।३९)

" हे (रिशादस.) शत्रु का नाश करनेवाले मरुतो! (अधि द्यवि) द्युलोक में (वः शत्रुः न विविदे) आप के लिये कोई शत्रु नहीं है, (न भूम्यां) पृथ्वी पर भी आप के लिये कोई शत्रु नहीं है। हे (रुद्रासः) शत्रु को रुलानेवाले मरुतो! (युष्माकं युजा) आप की संघटना से (आधृषे) शत्रु पर आक्रमण करने के लिये (तना तविषी अस्तु) विस्तृत सामर्थ्य आपके पास हो। "

आप के सामने ठहरनेवाला कोई शत्रु नहीं है और आप का परस्पर आपस का संगठन ऐसा है कि, आप शत्रु पर हमला करते हैं और शत्रु को रुला देते हैं।

(पुनर्वत्सः काण्वः। गायत्री।)

वि वृत्रं पर्वशो ययुः वि पर्वताँ अराजिनः।
चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥ २३॥
अनु त्रितस्य युध्यत शुष्ममावन्नुत क्रतुम्।
अन्विन्द्रं वृत्रतूर्ये ॥ २४॥
विद्युद्धस्ता अभिद्यवः शिप्राः शीर्षन् हिरण्ययीः।
शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥ २५॥
आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः।
देवास उप गन्तन ॥ २६॥
सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः।
स्तुषे हिरण्यवाशिभिः ॥ ३२॥ (ऋ. ८-७)

"(अ-राजिन.) राजाको न माननेवाले, अराजक (वृष्णि पौंस्यं चक्राणा) बल के साथ पराक्रम करनेवाले मरुत् (वृत्रं पर्वशः विययुः) वृत्र को जोडजोड में काटते रहे॥ (युध्यतः त्रितस्य) युद्ध करनेवाले त्रितका (शुष्मं अनु आवन्) बल बढाया (उत क्रतुं) और कर्म की शक्ति भी बढायी और (वृत्रतूर्ये इंद्रं अनु) वृत्र के युद्ध में इन्द्र की रक्षा की॥ (अभिद्यवः विद्युत्-हस्ताः) तेजस्वी बिजली जैसा शस्त्र हाथ में लेकर खडे हुए मरुत् (हिरण्ययीः शिप्राः) सोनेके शिरस्त्राण (शीर्षन्) सिर पर धारण करते हैं, (शुभ्राः श्रिये व्यंजते) जो (शुभ्राः) शोभासे चमकते हैं। हे (देवासः) देव मरुतो! (नः मखस्य दावने) हमारे यज्ञ के प्रति तुम (हिरण्यपाणिभिः अश्वैः) सोने के आभूषणों से युक्त घोडों के साथ (उप आगन्तन) आओ। (वज्रं हस्तैः) वज्र हाथ में धारण करनेवाले (हिरण्य-वाशिभिः) सोने की कुठार हाथ में लिये (मरुद्भिः) मरुतों के साथ अग्नि की भी (सहः) बल के लिये (कण्वासः) हे ज्ञानियो! (स्तुषे) प्रशंसा करो। "

इन मंत्रों में मरुतों के शस्त्र बिजुली जैसे चमकनेवाले, सोनेकी नकशी किये कुठार और भाले हैं। मरुतोंके सिर पर सोने के मुकुट हैं, श्वेत पोषाख किये हैं। और ये शक्ति के कामों के लिये प्रसिद्ध हैं, ऐसा वर्णन है।

सिर पर सोने के मुकुट, अथवा जरतारी के साफे हैं, सोने के भूषण हाथों में धारण किये हैं, सोने की नकशी के कुठार हाथों में धारण किये हैं। यह वर्णन मरुतों का है। इन्द्र के ये सैनिक हैं।

(सोभरिः काण्वः। सतो बृहती।)

गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये। गोबन्धवः सुजातास इषे भुजे महान्तो नः स्परसे नु ॥ (ऋ. ८-२०-८)

"(हिरण्यये रथे कोशे) सोनेके रथके बीचमें (सोभरीणां गोभिः) सोभरीयों की प्रशंसा के साथ (वाणः अज्यते) वाणनामक वाद्य बजने लगा। (गो-बन्धवः) गौओं के भाई (सुजातासः) उत्तम जन्मे हुए, उत्तम कुल में जन्म जिन का हुआ है। अतः (महान्त) बडे मरुत् (नः इषे भुजे) हमारे अन्न का भोग करने के लिये (स्परसे नु) शीघ्र आ जांय। "

यहां मरुतों को गौओं के भाई कहा है। गौओं के साथ इन का इतना सम्बन्ध है। इन की बहिने गौवें हैं। ये मरुत् अपने रथ में वाण नामक वाद्य बजाते हैं। वाण वाद्य १०० तारों का है और छोटे ढोल जैसा चमडे का भी होता है।

औषधी ज्ञान।

(सोभरिः काण्वः। सतोबृहती।)

विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत। क्षमा रपो मरुत् आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ (ऋ ८।२०।२६)

" हे मरुतो! (विश्वं पश्यन्तः) सब कुछ जाननेवाले

आप (नः तनूषु) हमारे शरीरों के पास (बिभृथः) औषध ले आओ और (तेन अधि वोचत) उस से हमें नीरोग होने का उपदेश करो। (नः आतुरस्य) हमारे में जो रोगी हो, उस के पास से (रपः क्षमा) दोष दूर करो और (विन्हुतं पुनः इष्कर्ता) टूटेफूटे या जखमी को फिर निर्दोष करो।"

मरुत् सैनिक हैं, पर वे औषधिविद्या को जानते हैं, जखमियों की सेवा करना उन को मालूम है, पहिले से नीरोग रहने के लिये जो सावधानी रखनी चाहिये, वह भी उन को मालूम है। सैनिकों को दवाइयों का थोडा ज्ञान चाहिये।

(गोतमो राहूगणः । जगती ।)

उपह्वरेषु यदचिध्वं ययिं
वय इव मरुतः केनचित् पथा ।
श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा
घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते ॥२॥
प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते
भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे ।
ते क्रीळयो धुनयो भ्राजदृष्टयः
स्वयं महित्वं पनयंत धूतयः ॥३॥ (१-८७)

"हे (मरुतः) मरुतो ! (वयः इव) पक्षियोंके समान (केन चित् पथा) जिस चाहे उस मार्ग से (उपह्वरेषु) आकाश में (यत्) जब (ययिं अचिध्वं) गमनमार्ग निश्चित करते हैं, तब (वः रथेषु) आप के रथों में (कोशाः उप आ श्चोतन्ति) खजाने खुले होते हैं और आप (अर्चते) उपासक के लिये (मधुवर्ण घृत) शुद्ध घी (उक्षता) सींचते हैं।"

"(यत् ह) जब मरुत् (शुभे युञ्जते) शोभाके लिये रथ जोतते हैं, तब (एषां) इन के (अज्मेषु यामेषु) घुडदौड के गमनों से (भूमिः) भूमि (विथुरा इव) पति से वियुक्त स्त्री के समान (रेजते) कांपती रहती है। ये मरुत् (क्रीळयः) खेलों में प्रवीण (धुनयः) हिलानेवाले (भ्राजत्-ऋष्टयः) चमकनेवाले भाले धारण करनेवाले (धूतय) चलानेवाले (स्वयं महित्वं) अपना ही महत्त्व स्वयं (पनयन्त) व्यवहार से बताते हैं।"

इन मंत्रों के वर्णन से स्पष्ट है कि, आकाश में जिस चाहे उस मार्ग से जानेवाले मरुतों के विमान पक्षियों जैसे भ्रमण करते हैं। तथा इन के वाहन जब भूमि पर से घूमने लगते हैं, तब भूमि कांपने लगती है। यह वर्णन बडी गाडियों का है और निःसंदेह विमानों का है, पक्षी जैसे जो आकाश में घूमते हैं। ये निःसंदेह विमान ही हैं।

वीरता और धन।

(गृत्समदः शौनकः । जगती ।)

तं वः शर्धं मारुतं सुम्नयुर्गिरा
उप ब्रुवे नमसा दैव्यं जनम् ।
यथा रयिं सर्ववीरं नशामहा
अपत्य-साचं श्रुत्यं दिवे दिवे ॥ (ऋ. २-३०-११)

"हे मरुतो ! मैं (सुम्नयुः) सुख की इच्छा करनेवाला उपासक (तं वः मारुतं शर्धं) उस आप के मरुत्समूह-रूपी बल को तथा (दैव्यं जनं) दिव्य जनों को (नमसा गिरा) प्रणाम से और वाणी से (उप ब्रुवे) प्रशंसित करते हैं। हमें (दिवे दिवे) प्रतिदिन (सर्ववीरं) सब वीरों से युक्त (अपत्यसाचं) संतानों से युक्त और (श्रुत्यं) यश से युक्त (रयिं) धन (नशामहै) प्राप्त हो।"

धन ऐसा चाहिये कि, जिस के साथ हमें वीरता, संतान और यश मिले। वीरता के विना धन मिलना असंभव है और सुरक्षित रखना भी असंभवही है।

मरुतों के विशेषणों का विचार।

अब मरुत्सूक्तों में जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उन का विचार करते हैं। यहां विचारार्थ थोडेसे ही विशेषण लिये हैं और इन के स्थान के निर्देश पाठक सूची में देख सकते हैं, इस लिये यहां दिये नहीं हैं—

भाई मरुत्।

ये मरुत् आपस में समान भाई हैं, न इन में (अज्येष्ठासः) कोई बडा है, न इनमें कोई (अमध्यमासः) मध्यम है और न इनमें कोई (अकनिष्ठासः) कनिष्ठ है, (अवरमाः) नीच भी इन में कोई नहीं है, तथापि गुणों से ये (ज्येष्ठासः) श्रेष्ठ हैं, और (वृद्धाः) गुणों से ये बडे भी है। ये (अन्-आनताः) किसीके सामने नमते भी नहीं, उग्र वृत्ति से रहते हैं, ये (सु-जातासः) कुलीन हैं और ये सब मरुत् आपसमें (भ्रातरः) भाई भाई हैं। ये आपस में परस्पर भाई ही अपने आप को कहते हैं।

जनता के सेवक।

मरुत् (नृ-साचः) जनता की सेवा करनेवाले है, (नरः, वीराः) ये नेता हैं, वीर हैं, जनता की (त्रातारः) रक्षा करनेवाले हैं। ये (मानुषासः, विश्वकृष्टयः) मनुष्य है, सब मानव ही मरुत हैं। ये (अद्वेषः) किसी का द्वेष नहीं करते, (अमवन्तः) ये बलवान् होते हैं। ये (घोरवर्पसः) बडे शरीरवाले होते हैं और (पूत-दक्षसः) पवित्र कार्यों में अपने बल का अर्पण करनेवाले होते हैं।

ये (प्रक्रीडिनः) विशेष खेलनेवाले अथवा खेलों में प्रेम रखनेवाले हैं, (अदाभ्याः) ये कभी दबे नहीं जाते और (अधृष्टासः) कोई इनको डर भी नहीं बता सकता।

ये मरुत् (अच्युता ओजसा प्रच्यावयंतः) स्वयं अपने स्थान से भ्रष्ट नहीं होते, पर अपनी शक्ति से सब शत्रुओं को स्थानभ्रष्ट करते हैं।

गोसेवा करनेवाले।

मरुत् (गो-मातरः, पृश्निमातरः, पृश्नेः पुत्राः) गौ को माता माननेवाले, भूमि को माता माननेवाले, मातृभूमि की सेवा करनेवाले हैं, (गो-बंधवः) गौ के भाई जैसे ये वर्तते हैं।

घोडे पास रखते हैं।

मरुत् वीर (अश्वयुजः) घोडों को अपने रथों को जोतनेवाले होते हैं, तथा (स्वश्वाः) उत्तम घोडोंवाले, (अरुणाश्वाः रोहितः) लाल रंगोंवाले घोडों को पास रखनेवाले, (पृषतीः) धब्बोवाले घोडोसे युक्त, (आशवः) त्वरा से दौडनेवाले घोडों से युक्त, (सुयमाः) शिक्षित घोडोंवाले ऐसे मरुतों के घोडों का वर्णन हैं। इसलिये मरुतों को (अनर्वाणः) कहा है, यहां घोडों को अपने पास न रखनेवाले ऐसा अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वोक्त विशेषणों से यह अर्थ विरुद्ध है। इसलिये (अन्-अर्वाणः) का अर्थ हीन भावों को अपने पास न रखनेवाले, झगडालु वृत्तियों से रहित आदि अर्थ इस शब्द का करना योग्य है।

मरुतों का रथ।

मरुतों का रथ (हिरण्यरथाः, हिरण्ययाः) सोने का है, रथ के पहिये भी (हिरण्यचक्राः) सोने के हैं। ये रथ बडे (सुरथाः) सुंदर हैं, (सुखाः) अन्दर बैठने से सुख होता है, (विद्युन्मन्तः) बिजली की युक्ति इनके रथों में हैं। (ऋष्टिमंतः) शस्त्र इनके रथों पर होते है। (अश्वपर्णाः) घोडे ही इनके रथों के पंख हैं, अर्थात् अश्वशक्ति से ही ये रथ दौडते है। इस तरह इन के रथों का वर्णन है।

शत्रुनाश।

मरुतों के पास तेजस्वी शस्त्रास्त्र भरपूर हैं, इस के वर्णन पूर्वस्थान में आ गये है। इन शस्त्रों से ये (रिशादसः) शत्रु का नाश करते हैं और जनता की रक्षा करते हैं।

मरुतों के विशेषणों का विचार करने से इस तरह ज्ञान होता है।

स्वरूप।

मरुतों का स्वरूप अध्यात्म में ' प्राण ' है, अधिदैवत में ' वायु ' है और अधिभूत अर्थात् मानवों में ' वीर ' है। अतः मरुतों के मंत्रों में ' प्राण, वीर, और वायु ' के वर्णन हम देखते हैं।

प्रचण्ड वायु, आंधी, बादल, मेघ, ओले, वृष्टि आदि का वर्णन मरुतों के सूक्तों में है, पर वह इस ढंग से है कि, जिससे वीरों का ही वह है, ऐसा प्रतीत होता है। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत में मिलकर सामान्यतः मरुतों का वर्णन इन सूक्तों में है, इसी लिये ' प्राण, वीर और वायु ' का वर्णन इन सूक्तों में सूक्ष्म दृष्टि से प्रतीत होता है। पाठक इस तरह इन सूक्तों का विचार करें और वीरभाव का लाभ प्राप्त करें।

औंध, (जि. सातारा) २४।५।४२ } श्री० दा० सातवलेकर, अध्यक्ष-स्वाध्याय-मण्डल।

वेद का रहस्य।

चौथा अध्याय।

आध्यात्मिक वाद के आधार।

[लेखक- श्री० योगी अरविंद घोष; अनुवादक- श्री स्वामी अभयदेवजी]

वेदों के अर्थ के विषय में कोई वाद निश्चित और युक्तियुक्त हो सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसे आधारपर टिका हो, जो कि स्पष्ट तौरपर स्वयं वेद की ही भाषा में विद्यमान हो। चाहे वेद में जो सामग्री है, उसका अधिक भाग प्रतीकों और अलंकारोंका एक समुदाय हो, जिसका आशय कि खोज कर पता लगानेकी आवश्यकता है, तो भी मंत्रोंकी स्पष्ट भाषामेंही हमें साफ साफ निर्देश मिलने चाहियें, जो कि वेद का आशय समझने में हमारा पथप्रदर्शन करें। नहीं तो, क्योंकि प्रतीक स्वयं संदिग्ध अर्थ को देनेवाले है, इसलिये यह खतरा है कि, ऋषियोंने जिन अलंकारों को चुना है, उनके वास्तविक अभिप्राय को ढूंढ निकलनेके बजाय कहीं हम अपनी स्वतंत्र कल्पनाओं और पसन्दगी के बलपर कुछ और ही वस्तु न गढ डालें। इस अवस्थामें, हमारा सिद्धान्त चाहे कितनाही बुद्धिपूर्वक और पूर्ण क्यों न हो, यह हवाई किले बनानेके समान होगा, जो कि बेशक शानदार हो, पर उसमें कोई वास्तविकता या सार नहीं होगा।

इसलिये हमारा सबसे पहिला कर्तव्य यह है कि, हम इस बात का निश्चय करें कि, अलंकारों और प्रतीकों के अतिरिक्त वेदमन्त्रो की स्पष्ट भाषा में आध्यात्मिक विचारों का पर्याप्त बीज विद्यमान है या नहीं, जो कि हमारी इस कल्पनाको न्यायोचित सिद्ध कर सके कि, वेद का जंगली और अनघड अर्थकी अपेक्षा एक उच्चतर अर्थ है। और इसके बाद हमें, जहां तक हो सके स्वयं सूक्तों की अन्तःसाक्षीके ही द्वारा, प्रत्येक प्रतीक और अलंकार का वास्तविक अभिप्राय क्या है, तथा वैदिक देवताओंमेंसे प्रत्येकका अलग अलग ठीक ठीक आध्यात्मिक व्यापार क्या है, यह मालूम करना होगा। वेदकी प्रत्येक नियत भाषाका एक स्थिर, न कि इच्छानुसार बदलता रहनेवाला, अर्थ पता लगाना होगा, जिसकी कि प्रामाणिकता ठीक ठीक भाषाविज्ञान से पुष्ट होती हो और जो कि उस प्रकरणमें जहां कि वह शब्द आता है, स्वभावतः ही बिल्कुल उपयुक्त बैठता हो। क्योंकि जैसा कि पहलेही कहा जा चुका है, वेदमंत्रों की भाषा एक नियत तथा अपरिवर्तनीय भाषा है, यह सावधानी के साथ सुरक्षित तथा निर्दोष रूपसे आदर पाई हुई वाणी है, जो कि या तो एक विधिविधानसम्बन्धी सम्प्रदाय और याज्ञिक कर्मकांड को अथवा एक परम्परागत सिद्धांत और सतत अनुभूतिको संगतिपूर्वक अभिव्यक्त करती है। यदि वैदिक ऋषियों की भाषा स्वच्छन्द तथा परिवर्तनीय होती, यदि उनके विचार स्पष्ट तौरसे लचकीले, अस्थिर और अनियत हालतमें होते, हम जो ऐसा कहते हैं, कि उनकी परिभाषाओं में जैसा चाहो वैसा अर्थ कर लेने की सुलभ छूट और असंगति है, यह बात तथा उसके विचारोंमें जो सम्बन्ध हम लगाते हैं, वह सब न्याय्य अथवा सह्य हो सकता था। परन्तु वेदमंत्र स्वयं बिल्कुल प्रत्यक्षही ठीक इसके विरुद्ध साक्षी देते हैं। इसलिये हमें यह मांग उपस्थित करनेका अधिकार है कि व्याख्याकार को अपनी व्याख्या करते हुए वैसीही सचाई और सतर्कता रखनी चाहिये, जैसे कि उस मूलमें रक्खी गई है जिसकी कि वह व्याख्या करना चाहता है। वैदिक धर्म के निमित्त विचारों और वेदकी अपनी परिभाषाओंमें स्पष्ट ही एक अविच्छिन्न सम्बन्ध है, उनकी व्याख्या में यदि असंगति और अनिश्चितता होगी, तो उससे केवल यही सिद्ध होगा कि, व्याख्याकार ठीक ठीक सम्बन्ध को पता लगाने में असफल रहा है, न कि यह कि वेद की प्रत्यक्ष साक्षी भ्रान्तिजनक है।

इस प्रारम्भिक प्रयासको सतर्कता तथा सावधानी के साथ कर चुकने के पश्चात् यदि मन्त्रोंके अनुवाद के द्वारा यह दिखाया जा सके कि, जो अर्थ हमने निश्चित किये थे

वे स्वाभाविकतया और आसानी के साथ किसीभी प्रकरणमें ठीक बैठते हैं, यदि उन अर्थोंको हम ऐसा पायें कि, उनसे धुंधले दीखनेवाले प्रकरण स्पष्ट हो जाते हैं और जहां पहिले केवल असंगति और अव्यवस्था मालूम होती थी, वहां उनसे समझमें आनेयोग्य और स्पष्ट स्पष्ट संगति दीखने लगती है; यदि पूरे के पूरे सूक्त इस प्रकार एक स्पष्ट और सुसम्बद्ध अभिप्राय को देने लग जायें और क्रमबद्ध मन्त्र सम्बद्ध विचारोंकी एक युक्तियुक्त शृङ्खला को दिखाने लगें, और कुल मिलाकर जो परिणाम निकले, वह यदि सिद्धान्तों का एक गम्भीर, संगत तथा पूर्ण समुदाय हो, तो हमारी कल्पना को यह अधिकार होगा कि, वह दूसरी कल्पनाओं के मुकाबलेमें खड़ी हो और जहां वे इसके विरोधमें जाती हों, वहां उन्हें ललकारे या जहां वे इसके परिणामोंसे संगति रखती हों, वहां उन्हें पूर्ण बनाये। न ही उस अवस्था में हमारी स्थापना की संभवनीयता अपेक्षाकृत कम होगी, बल्कि इसके विपरीत इसकी युक्तियुक्तता पुष्ट ही होगी। यदि यह पता लगे कि इस प्रकार वेद में जो विचारों और सिद्धान्तों का समुदाय प्रकट हुआ है, वह उस उत्तरवर्ती भारतीय विचार और धार्मिक अनुभूति का एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूप है, जो कि स्वभावतः वेदान्त और पुराणके जनक हैं।

ऐसा बड़ा और सूक्ष्म प्रयास इस छोटीसी और संक्षिप्त लेखमाला के क्षेत्रसे बाहर की बात है। इन अध्यायोंको लिखने का मेरा प्रयोजन केवल यह है कि उनके लिये जो कि उस सूत्र का अनुकरण करना चाहते हैं, जिसे कि मैंने पाया है, उस मार्ग का और उसमें आनेवाले मुख्य मुख्य मोड़ोंका दिग्दर्शन कराऊं-उन परिणामोंका दिग्दर्शन कराऊं, जिनपर कि मैं पहुंचा हूं और उन मुख्य निर्देशोंका जिनके द्वारा कि वेद स्वयमेव उन परिमाणों तक पहुंचनेमें हमारी सहायता करता है। और सबसे पहिले, यह मुझे उचित प्रतीत होता है कि, मैं यह स्पष्ट कर दूं कि, यह कल्पना मेरे अपने मनमें किस प्रकार उदय हुई, जिससे कि पाठक जिस दिशाको मैंने अपनाया है, उसे अधिक अच्छी प्रकार समझ सकें, अथवा हो सकता है कि, मेरे कोई पूर्वपक्षपात या मेरी अपनी वैयक्तिक अभिरुचियां हों, जिन्होंने कि इस कठिन प्रश्नपर होनेवाली युक्ति-शृङ्खला के यथोचित प्रयोग को सीमित कर दिया हो या उसे प्रभावित किया हो, तो उसको, यदि पाठक चाहे, निवारण कर सकें।

जैसा कि अधिकांश शिक्षित भारतीय करते हैं, मैने भी स्वयं वेद को पढ़नेसे पहलेही बिना परीक्षा किये योरोपियन विद्वानों के परिणामोंको कुछ भी प्रतिकार किये बगैर वैसा का वैसा ही स्वीकार कर लिया था, जो परिणाम कि प्राचीन मन्त्रों की धार्मिक दृष्टि तथा ऐतिहासिक व जाति--विज्ञानसम्बन्धी दृष्टि दोनों के विषय में थे। इसके फलस्वरूप, फिर आधुनिक रंगमें रंगे हिन्दु--मतसे स्वीकृत सामान्य दिशाकाही अनुसरण करते हुए, मैने उपनिषदोंकोही भारतीय विचार और धर्मका प्राचीन स्रोत, सच्चा वेद, ज्ञान की आदि पुस्तक समझ लिया था। ऋग्वेद के जो आधुनिक अनुवाद प्राप्त हैं, केवलमात्र वही सब कुछ था जो कि मैं इस गम्भीर धर्मपुस्तक के विषयमें जानता था और इस ऋग्वेद को मैं यही समझता था कि, यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण लेखा है, परन्तु विचारके इतिहास के रूपमें या एक सजीव आत्मिक अनुभूति के रूपमें मुझे इसका मूल्य या इसकी महत्ता बहुत थोड़ी प्रतीत होती थी।

वैदिक विचारके साथ मेरा प्रथम परिचय अप्रत्यक्ष रूपसे उस समय हुआ, जब कि मैं भारतीय योग की विधि के अनुसार आत्मविकास की किन्हीं दिशाओंमें अभ्यास कर रहा था। आत्मविकासकी ये दिशाएं स्वतः ही हमारे पूर्व पितरोंसे अनुसृत, प्राचीन और अब अनभ्यस्त मार्गों की ओर मेरे अनजानेही प्रवृत्ति रखती थीं। इस समय मेरे मनमें प्रतीकरूप नामोंकी एक शृङ्खला उठनी शुरू हुई, जो प्रतीक कि किन्हीं ऐसी आध्यात्मिक अनुभूतियोंसे सम्बद्ध थे, जो अनुभूतियां नियमित रूपसे होनी आरंभ हो चुकी थीं, और उनके बीचमें तीन स्त्रीलिङ्गी शक्तियां इळा, सरस्वती, सरमाके प्रतीक आये, जो कि अन्तर्ज्ञानमय बुद्धि की चार शक्तियों में से तीन की—क्रमशः स्वतःप्रकाश (Revelation), अन्तःप्रेरणा (Inspiration) और अन्तर्ज्ञान (Intuition) की द्योतक थीं। इन नामोंमें से दो मुझे इस रूपमें सुपरिचित नहीं थे कि, ये वैदिक देवियों के नाम हैं, बल्कि इससे कहीं अधिक इनके विषयमें मैं

यह समझता था कि, ये प्रचलित हिन्दुधर्म या प्राचीन पौराणिक कथानकोंके साथ सम्बन्ध रखती हैं, अर्थात् 'सरस्वती विद्या की देवी है और 'इळा' चन्द्रवंशकी माता है। परन्तु तीसरी 'सरमा' से मैं पर्याप्त रूप से परिचित था। तथापि इसकी जो आकृति मेरे अन्दर उठी थी, उसमें और उस स्वर्ग की कुतिया ('सरमा') में मैं कोई सम्बन्ध निश्चित नहीं कर सका, जो कि 'सरमा' मेरी स्मृतिमें आर्गिव हेलन (Argive Helen) * के साथ जुडी हुई थी और केवल उस भौतिक उषा के रूपक की द्योतक थी, जो खोई हुई प्रकाश की गौओं को खोजते खोजते अन्धकार की शक्तियों की गुफामें घुस जाती है। एक बार यदि मूल सूत्र मिल जाता, इस बात का सूत्र कि भौतिक प्रकाश मानसिक प्रकाश को निरूपित करता है, तो यह समझ जाना आसान था कि, स्वर्ग की कुतिया ('सरमा') अन्तर्ज्ञान हो सकता है, जो कि अवचेतन मन (Subconcious mind) की अन्धेरी गुफाओंके अन्दर प्रवेश करता है, ताकि उन गुफाओं में बन्द पडे हुए ज्ञान के चमकीले प्रकाशों को छुटकारा दिलाने की और छूटकर उनके जगमगाने की तैयारी करे। परन्तु वह सूत्र नहीं मिला, और मैं प्रतीकके किसी सादृश्य के बिना, केवल नामके सादृश्य को कल्पित करनेके लिये बाध्य हुआ।

पहिले पहल गंभीरतापूर्वक मेरे विचार वेद की ओर तब आकृष्ट हुए जब कि मैं दक्षिण भारतमें रहता था। दो बातोंने जो कि बलात् मेरे मनपर आकर पडीं, उत्तरीय आर्य और दक्षिणीय द्रविडियों के बीच जातीय विभाग के मेरे विश्वासपर, जिस विश्वास को मैंने दूसरोंसे लिया था, एक भारी आघात पहुंचाया। मेरा यह जातीय विभागका विश्वास पूर्णत: निर्भर करता था, उस कल्पित भेदपर जो कि आर्यों तथा द्रविडियोंके भौतिक रूपोंमें किया गया है, तथा उस अपेक्षाकृत अधिक निश्चित विसंवादिता पर जो कि उत्तरीय संस्कृतजन्य तथा दक्षिणीय संस्कृतभिन्न भाषाओं के बीच में पाई जाती है। मैं उन नये मतों से तो अवश्य परिचित था, जिनके अनुसार कि भारतके मुख्य-द्वीपपर एकही सवर्णजाति, द्रविडजाति या भारत-अफगान (Indo-Afghan) जाति, निवास करती है, परन्तु अब तक मैंने इनको कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया था। पर दक्षिण भारतमें मुझपर यह छाप पडनेमें बहुत समय नहीं लगा कि, तामिल जातिमें उत्तरीय या 'आर्यन' रूप विद्यमान है। जिधर भी मैं मुडा, एक चकित कर देनेवाली स्पष्टता के साथ मुझे यह प्रतीत हुआ कि मैं न केवल ब्राह्मणोंमें किंतु सभी जातियों और श्रेणियोंमें महाराष्ट्र, गुजरात, हिंदुस्थान के अपने मित्रों के उन्हीं पुराने परिचित चेहरों, रूपों, आकृतियों को पहिचान रहा हूं, बल्कि अपने प्रान्त बंगाल भी, यद्यपि यह समानता अपेक्षाकृत कम व्यापक रूपमें फैली हुई थी। जो छाप मुझपर पडी, वह यह थी कि मानों उत्तर की सभी जातियां, उपजातियां की एक सेना दक्षिण में उतरकर आई हो और आकर जो कोई भी लोग वहां पहिलेसे बसे हुए हों, उनमें हिल मिल गई हों। दक्षिणीय रूप की एक सामान्य छाप बची रही, परन्तु व्यक्तियों की मुखाकृतियों का अध्ययन करते हुए उस रूप को दृढताके साथ स्थापित कर सकना असम्भव था। और अन्तमें यह धारणा बनाये बिना मैं नहीं रह सका कि जो कुछ भी संकर हो गये हों, चाहे जो भी प्रादेशिक भेद विकसित हो गये हों, सब विभेदोंके पीछे सारे भारतमें एक भौतिक और सांस्कृतिक रूप + (Type) की एकता अवश्य है। बाकी, यह है परिणाम जिसकी ओर पहुंचनेकी स्वयं ×जाति-विज्ञान-

* ग्रीक गाथाशास्त्र की एक देवी।

\+ मैंने यह पसन्द किया है कि यहां जाति (Race) शब्द का प्रयोग न करूं क्योंकि जाति एक ऐसी चीज है जो जैसा कि इसके विषय में साधारणतया समझा जाता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक अस्पष्ट है और इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। 'जाति' के विषयमें सोचते हुए सर्वसाधारण मनमें जो तीव्र भेद प्रचलित है, वे यहां कुछ भी प्रयोजन के नहीं हैं।

× यह यह मानकर कहा है कि जातिविज्ञानसम्बन्धी कल्पनाएं सर्वथा किसी प्रमाणपर आश्रित हैं। पर जातिविज्ञान का एक मात्र दृढ आधार यह मत है कि मनुष्य का कपाल वंशपरम्परा से अपरिवर्तनीय है जिस मतको कि अब ललकारा जाने लगा है। यदि यह असिद्ध हो जाता है तो इसके साथ यह सारा का सारा विज्ञानही असिद्ध हो जाता है।

सम्बन्धी विचार भी बहुत अधिक प्रवृत्ति रखता है।

परन्तु तो फिर उस तीव्र भेद का क्या होगा, जो कि भाषाविज्ञानियोंने आर्य तथा द्रविड जातियों के बीचमें बना रक्खा है? यह समाप्त हो जाता है। यदि किसी तरह आर्यजातिके आक्रमण को मानही लिया जाय, तो हमें या तो यह मानना होगा कि इसने भारत को आर्योंसे भर दिया और इस तरह बहुत थोडेसे अन्य परिवर्तनोंके साथ इसीने यहांके लोगों के भौतिक रूप को निश्चित किया, अथवा यह मानना पडेगा कि एक कम सभ्य जाति के छोटे छोटे दलही यहां आ घुसे थे, जो कि बदल कर धीरे धीरे आदिम निवासियों जैसे हो गये। तो फिर आगे हमें यह कल्पना करनी पड़ती है कि, ऐसे विशालप्राय द्वीप में आकर भी जहां कि सभ्य लोग रहते थे, जो कि बडे बडे नगरों को बनानेवाले थे, दूर-दूर तक व्यापार करनेवाले थे, जो मानसिक तथा आत्मिक संस्कृतिसे भी शून्य नहीं थे, उनपर वे आक्रान्ता अपनी भाषा, धर्म, विचारों और रीतिरिवाजों को थोप देनेमें समर्थ हो सके। ऐसा कोई चमत्कार तभी संभव हो सकता था, यदि आक्रान्ताओं की बहुतही अधिक संगठित अपनी भाषा होती, रचनात्मक मनकी अधिक बडी शक्ति होती और अपेक्षया अधिक प्रबल धार्मिक स्वरूपता और भावना होती।

और दो जातियोंके मिलाने की कल्पना को पुष्ट करनेके लिये भाषाके भेद की बात तो सदा विद्यमान रहतीही है। परन्तु इस विषयमें भी मेरे पहिलेके बने हुए विचार गडबड और भ्रान्त निकले। क्योंकि तामिल शब्दोंकी परीक्षा करनेपर, जो कि यद्यपि देखनेमें संस्कृतके रूप और ढंग से बहुत अधिक भिन्न प्रतीत होते थे, मैंने यह पाया कि वे शब्द या शब्द-परिवार जो कि विशुद्ध रूपसे तामिलही समझे जाते थे, संस्कृत तथा इसकी दूरवर्ती बहिन लैटिनके बीचमें और कभी कभी ग्रीक तथा संस्कृत के बीचमें नये सम्बन्धों की स्थापना करनेमें मेरा पथप्रदर्शन करते थे। कभी कभी तामिल शब्द केवल शब्दोंके परस्पर सम्बन्ध का पता देते थे, बल्कि सम्बद्ध शब्दोंके परिवार में किसी ऐसी कडीको भी सिद्ध कर देते थे, जो कि मिल नहीं रही होती थी। और इस द्राविड भाषा के द्वाराही मुझे पहिले पहल आर्यन भाषाओंके नियम का, जो कि मुझे अब सत्य नियम प्रतीत होता है, आर्यन भाषाओंके उत्पत्ति-बीजोंका, या यों कहना चाहिये कि, मानो इनकी गर्भविद्या का, पता मिला था। मैं अपनी जांच को पर्याप्त दूरतक नहीं ले जा सका, जिससे कि कोई निश्चित परिणाम स्थापित कर सकता, परन्तु यह मुझे निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि द्राविड और आर्यन भाषाओंके बीचमें मौलिक सम्बन्ध उसकी अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ और विस्तृत था, जितना कि प्रायः माना जाता है और संभावना तो यह प्रतीत होती है कि, वे एकही लुप्त आदिम भाषा से निकले हुए दो विभिन्न परिवार हों। यदि ऐसा हो, तो द्राविड भारतमें आर्यन आक्रमण होनेके विषयमें एकमात्र अवशिष्ट साक्षी यही रह जाती है कि, वैदिक सूक्तोंमें इसके निर्देश पाये जाते हों।

इस लिये मेरी दोहरी दिलचस्पी थी, जिससे कि प्रेरित होकर मैंने पहिले-पहल मूल वेद को अपने हाथमें लिया, यद्यपि उस समय मेरा कोई ऐसा इरादा नहीं था कि, मैं वेदका सूक्ष्म या गम्भीर अध्ययन करूंगा। मुझे यह देखनेमें अधिक समय नहीं लगा कि, वेदमें कहे जानेवाले आर्यों और दस्युओं के बीचमें जातीय विभागसूचक निर्देश तथा यह बतानेवाले निर्देश कि दस्यु और आदिम भारत-निवासी एकही थे, जितनी कि मैंने कल्पना की हुई थी, उससे भी कहीं अधिक निःसार हैं। परन्तु इससे भी अधिक दिलचस्पी का विषय मेरे लिये यह था कि, इन प्राचीन सूक्तोंके अन्दर उपेक्षित पडे हुए जो गम्भीर आध्यात्मिक विचारों का बडा भारी समुदाय है और जो अनुभूति है, उसका पता लगना। और इस अंगकी महत्ता तब मेरी दृष्टिमें और भी बढ गई जब कि पहिले तो, मैंने यह देखा कि वेद के मन्त्र एक स्पष्ट और ठीक प्रकाशके साथ मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रकाशित करते हैं, जिनके लिये कि न तो योरोपियन अध्यात्म-विज्ञानमें, न ही योगकी या वेदान्त की शिक्षाओंमें जहांतक मैं इनसे परिचित था, मुझे कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण मिलता था। और दूसरे यह कि वे उपनिषदोंके उन धुंधले सन्दर्भों और विचारोंपर प्रकाश डालते थे, जिनका कि पहिले मैं कोई ठीक ठीक अर्थ नहीं कर पाता था, और इसके साथही इनसे पुराणोंके भी बहुतसे भाग का एक नया अभिप्राय पता

लगता था।

इस परिणामपर पहुंचनेमें, सौभाग्यवश मैंने जो सायण के भाष्य को पहिले नहीं पढा था, उसने मेरी बहुत मदद की। क्योंकि मैं स्वतन्त्र था कि वेदके बहुत से सामान्य और बार बार आनेवाले शब्दों को उनका जो स्वाभाविक आध्यात्मिक अर्थ है, वह उन्हें दे सकूं, जैसे कि 'धी' का अर्थ विचार या समझ, 'मनस्' का अर्थ मन, 'मति' का अर्थ विचार, अनुभव या मानसिक अवस्था, 'मनीषा' का अर्थ बुद्धि, 'ऋतम्' का अर्थ सत्य, और मैं स्वतंत्र था कि शब्दोंको उनके अर्थकी वास्तविक प्रतिच्छाया दे सकूं, 'कवि' को द्रष्टा की, 'मनीषी' को विचारक की, 'विप्र' 'विपश्चित्' को प्रकाशित-मनस्क की, इसी प्रकारके और, भी कई शब्दोंको, और मैं स्वतंत्र था कि, ऐसे शब्दों का एक आध्यात्मिक अर्थ- जिसे कि मेरे अधिक व्यापक अध्ययनने भी युक्तियुक्तही प्रमाणित किया था- प्रस्तुत करूं जैसे कि 'दक्ष' जिसका कि सायण के अनुसार 'बल' अर्थ है और 'श्रवस्' जिसका सायणने धन, दौलत, अन्न या कीर्ति यह अर्थ किया है। वेद के विषयमें आध्यात्मिक अर्थ का सिद्धान्त इन शब्दोंका स्वाभाविक अर्थही स्वीकार करनेके हमारे अधिकार पर आधार रखता है।

सायणने 'धी' 'ऋतम्' आदि शब्दोंके बहुतही परिवर्तनशील अर्थ किये हैं। 'ऋतम्' शब्द का, जिसे कि हम मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक व्याख्या की लगभग कुञ्जी कह सकते हैं, सायणने कभी कभी सत्य, अधिकतर 'यज्ञ' और किसी किसी जगह 'जल' अर्थ किया है। आध्यात्मिक व्याख्याके अनुसार निश्चित रूपसे इसका अर्थ सत्य होता है। 'धी' के सायणने 'विचार', 'स्तुति' 'कर्म', 'भोजन' आदि अनेक अर्थ किये हैं। आध्यात्मिक व्याख्या के अनुसार नियत रूपसे इसका अर्थ विचार या समझ है। और यही बात वेदकी अन्य नियत संज्ञाओं के सम्बन्ध में है। इसके अतिरिक्त, सायणकी प्रवृत्ति यह है कि, वह शब्दोंके अर्थों की छायाओं को और उनमें जो सूक्ष्म अन्तर होता है, उसे बिल्कुल मिटा देता है और उनका अधिकसे अधिक स्थूल जो सामान्य अर्थ होता है, वही कर देता है। सारे के सारे विशेषण जो कि किसी मानसिक क्रिया के द्योतक हैं, उसके लिये एकमात्र 'बुद्धि' अर्थ को देते हैं, सारे के सारे शब्द जो कि शक्तिके विभिन्न विचारों के सूचक हैं- और वेद उनसे भरा पडा है- बलके स्थूल अर्थमें परिणत कर दिये गये हैं। इसके विपरीत, वेदाध्ययन से मुझपर तो इस बातकी छाप पडी कि वेदके अर्थों की ठीक ठीक छाया को नियत करने तथा उन्हें सुरक्षित रखने की और विभिन्न शब्दों के अपने ठीक ठीक सहचारी सम्बन्ध क्या हैं, उन्हें निश्चित करनेकी बडी भारी महत्ता है, चाहे वे शब्द अपने सामान्य अभिप्रायमें परस्पर कितनाही निकट सम्बन्ध क्यों न रखते हों। सचमुच, मैं नहीं समझ पाता कि हमें यह क्यों कल्पना कर लेनी चाहिये कि, वैदिक ऋषि, काव्यात्मक शैलीमें सिद्धहस्त अन्य रचयिताओं के विसदृश, शब्दोंको अव्यवस्थित रूपसे और अविवेकपूर्णताके साथ प्रयुक्त करते थे, उनके ठीक ठीक सहचारी सम्बन्धोंको बिना अनुभव किये ही और शब्दोंकी श्रृङ्खला में उन्हें उनका ठीक ठीक और यथोचित बल बिना प्रदान कियेही।

इस नियमका अनुसरण करते करते मैंने पाया कि शब्दों और वाक्य-खण्डोंके सरल, स्वाभाविक और सीधे अभिप्राय को बिना छोडे ही, न केवल पृथक् पृथक् ऋचाओंका बल्कि सम्पूर्ण सन्दर्भों का एक असाधारण विशाल समुदाय तुरन्त ही बुद्धिगोचर हो गया, जिसने कि पूर्ण रूपसे वेद के सारे सारे स्वरूपकोही बदल दिया। क्योंकि तब यह धर्म-पुस्तक वेद ऐसी प्रतीत होने लग गई कि, यह अत्यन्त बहुमूल्य विचार-रूपी सुवर्ण की एक स्थिर रेखा को अपने अन्दर रखती है और आध्यात्मिक अनुभूति इसके अंश अंश में चमकती हुई प्रवाहित हो रही है, जो कि कहीं छोटी छोटी रेखाओं में, कहीं बडे बडे समूहों में, इसके अधिकांश सूक्तों में दिखाई देती है। साथ ही, उन शब्दों के अतिरिक्त जो कि अपने स्पष्ट और सामान्य अर्थसे तुरन्तही अपने प्रकरणों को आध्यात्मिक अर्थकी सुवर्णीय रंगत दे देते हैं, वेद अन्य भी ऐसे बहुतसे शब्दोंसे भरा पडा है, जिनके लिये यह सम्भव है कि, वेदके सामान्य अभिप्राय के विषयमें हमारी जो भी धारणा हो, उसी के अनुसार, चाहे तो उसे बाह्य और प्रकृतिवादी अर्थ दिया जा सके, चाहे एक आभ्यन्तर और आध्यात्मिक अर्थ। उदाहरणार्थ, इस प्रकारके शब्द जैसे कि राये, रयि, राधस्, रत्न केवलमात्र भौतिक

समृद्धि या धनदौलत के वाचक भी हो सकते हैं और आन्तरिक ऐश्वर्य तथा समृद्धिके भी । क्योंकि वे मानसिक जगत् और बाह्य जगत् दोनों के लिये एक से प्रयुक्त हो सकते हैं; धन, वाज, पोष का अर्थ बाह्य धनदौलत, समृद्धि और पुष्टि भी हो सकती है अथवा सभी प्रकार की सम्पत्तियां चाहे वे आन्तरिक हों चाहे बाह्य, उनका बाहुल्य और व्यक्ति के जीवन में उनकी वृद्धि। उपनिषद्में ऋग्वेद के एक उद्धरणकी व्याख्या करते हुए 'राये' को आध्यात्मिक सम्पत्तिके अर्थमें प्रयुक्त किया है, तो फिर मूल वेदमें इसका यह अर्थ क्यों नहीं हो सकता? 'वाज' बहुधा ऐसे सन्दर्भ में आता है, जिसमें कि अन्य प्रत्येक शब्द आध्यात्मिक अभिप्राय रखता है, जहां कि भौतिक समृद्धि का जिक्र समस्त एकरस विचार के अन्दर असंगति का एक तीव्र व्याघातरूप होगा। इसलिये, सामान्य बुद्धि की मांग है कि, वेदमें इन शब्दों के प्रयोग को आध्यात्मिक अभिप्राय-देनेवाला ही स्वीकार करना चाहिये।

परन्तु यदि यह संगतिके साथ किया जा सके, तो इससे न केवल सम्पूर्ण ऋचाएं और सन्दर्भ, बल्कि सारे के सारे सूक्त तुरन्त आध्यात्मिक रंगतसे रंग जाते हैं। एक शर्तपर वेदों का यह आध्यात्मिक रंगमें रंगा जाना प्रायः पूर्ण होगा, एक भी शब्द या एक भी वाक्यखण्ड इससे प्रभावित हुए बिना नहीं बचेगा, वह शर्त यह है कि, हमें वैदिक 'यज्ञ' को प्रतीकरूपमें स्वीकार करना चाहिये। गीतामें हम पाते हैं कि, 'यज्ञ' का प्रयोग उन सभी कर्मोंके प्रतीक के रूपमें किया गया है, चाहे वे आन्तर हों चाहे बाह्य, जो देवों को या ब्रह्म को समर्पित किये जाते हैं। इस शब्द का यह प्रतीकात्मक प्रयोग क्या उत्तरकालीन दार्शनिक बुद्धिका पैदा किया हुआ है, अथवा यह यज्ञके वैदिक विचारमें पहिलेसे अन्तर्निहित था? मैंने देखा कि स्वयं वेदमेंही ऐसे सूक्त हैं, जिनमें कि 'यज्ञ' का अथवा बलि का विचार खुले तौरपर प्रतीकात्मक है, और दूसरे कुछ सूक्तोंमें यह प्रतीकात्मता अपने ऊपर पड़े आवरणमें से स्पष्ट दिखाई देती है। तब यह प्रश्न उठा कि क्या ये बादकी रचनायें थीं जो कि पुराने अन्धविश्वासपूर्ण विधि-विधानों में से एक प्रारंभिक प्रतीकवाद को विकसित करती थीं अथवा इसके विपरीत यह एक अवसर प्राप्त स्पष्टतर स्थापन था, उस अर्थ का जो कि अधिकांश सूक्तों में कम-अधिक सावधानी के साथ अलंकार के पर्देसे ढका हुआ रखा है- यदि वेदमें आध्यात्मिक सन्दर्भ सतत रूप से न पाये जाते, तो निस्सन्देह पहिले स्पष्टीकरणकोही स्वीकार किया जाता। परन्तु इसके विपरीत, सारे सूक्त स्वभावतः एक आध्यात्मिक अर्थ को लिये हुए हैं, जिनमें कि एकसे दूसरे मन्त्र में एक पूर्ण और प्रकाशमय संगति है, अस्पष्टता केवल वहां आती है, जहां कि यज्ञ का उल्लेख है या हवि का अथवा कहीं कहीं यज्ञ-संचालक पुरोहित का, जो कि या तो मनुष्य हो सकता था या देवता। यदि इन शब्दों को प्रतीक मानकर व्याख्या की जाती थी, तो मैं हमेशा यह देखता था कि विचार की श्रृंखला अधिक पूर्ण, अधिक प्रकाशमय, अधिक संगत हो जाती है और पूरे के पूरे सूक्त का आशय उज्ज्वल रूप से पूर्ण हो जाता है। इसलिये स्वस्थ्य समालोचना के प्रत्येक नियम के द्वारा मैंने इसे न्यायोचित अनुभव किया कि, मैं अपनी कल्पना के अनुसार आगे चलता चलूं और इसमें वैदिक यज्ञ के प्रतीकात्मक अभिप्राय को भी सम्मिलित कर दूं।

तो भी यहीं पर आध्यात्मिक व्याख्या की सर्वप्रथम वास्तविक कठिनाई आकर उपस्थित हो जाती है। अब तक तो मैं एक पूर्ण रूपसे सीधी और स्वाभाविक व्याख्या पद्धति से चल रहा था, जो कि शब्दों और वाक्योंके ऊपरी अर्थ पर निर्भर थी। पर अब मैं एक ऐसे तत्त्व पर आ गया जिसमें कि एक दृष्टिसे, ऊपरी अर्थ को अतिक्रमण कर जाना पड़ता था, और यह ऐसी पद्धति थी जिसमें कि प्रत्येक समालोचक और बिलकुल निर्दोषता चाहनेवाला मत अवश्य अपने आप को निरन्तर सन्देहों से आक्रान्त पावेगा। न ही कोई, चाहे वह कितनी भी सावधानी रक्खे, इस तरह सदा इस बातमें निश्चित हो सकता है कि उसने ठीक सूत्र को ही पकड़ा है और उसे ठीक व्याख्या ही सूझी है।

वैदिक यज्ञ के अन्तर्गत- एक क्षण के लिये देवता और मन्त्र को छोड़ दें तो- तीन अङ्ग हैं, हवि देनेवाले, हवि और हविके फल। यदि 'यज्ञ' एक कर्म है जो कि देवताओं को समर्पित किया जाता है तो 'यजमान' को, हवि देनेवाले को मैं यह समझे बिना नहीं रह सकता कि वह उस कर्म का कर्ता है। 'यज्ञ' का अभिप्राय है कर्म, वे कर्म आन्तरिक

हों या बाह्य, इसलिये 'यजमान' होना चाहिये। आत्मा अथवा वह व्यक्तित्व जो कि कर्ता है। परन्तु साथही यज्ञ-संचालक, पुरोहित भी होते थे, होता, ऋत्विज्, पुरोहित, ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि। इस प्रतीकवादमें उनका कौनसा भाग था? क्योंकि एक बार यदि यज्ञके लिये हम प्रतीकात्मक अभिप्राय की कल्पना कर लेते हैं, तो इस यज्ञ-विधिके प्रत्येक अङ्ग का हमें प्रतीकात्मक मूल्य कल्पित करना चाहिये। मैंने पाया कि देवताओंके विषयमें सतत रूपसे यह कहा गया है कि, वे यज्ञके पुरोहित हैं और बहुतसे सन्दर्भोंमें तो प्रकट रूपसे यह एक अमानुषी सत्ता या शक्ति है, जो कि यज्ञका अधिष्ठान करती है। मैंने यह भी देखा कि सारे वेदमें हमारे व्यक्तित्व को बनानेवाले तत्त्व स्वयं सतत रूपसे सजीव शरीरधारी मानकर वर्णन किये गये हैं। मुझे इस नियम को केवल अभ्यास से प्रयुक्त करना था और यह कल्पना करनी थी कि बाह्य अर्थमें जो पुरोहित का व्यक्ति है, वह आभ्यन्तर क्रियाओंमें अलङ्कारिक रूपसे एक अमानुषी सत्ता या शक्ति को अथवा हमारे व्यक्तित्व के किसी तत्त्व को सूचित करता है। फिर अवशिष्ट रह गया पुरोहितसम्बन्धी भिन्न भिन्न कार्यों के लिये आध्यात्मिक अभिप्राय नियत करना। यहां मैंने पाया कि वेद स्वयं अपने भाषासम्बन्धी निर्देशों और दृढ उक्तियों के द्वारा मूल सूत्र को पकडा रहा है, जैसे कि 'पुरोहित' शब्द का प्रतिनिधि के भाव के साथ अपने असमस्त रूपमें, पुरो-हित "आगे रखा हुआ" इस अर्थ के प्रयुक्त होना और प्रायः इससे अग्निदेवताका संकेत किया जाना, जो अग्नि कि मानवतामें उस दिव्य संकल्प या दिव्य शक्ति का प्रतीक है, जो यज्ञरूपसे किये जानेवाले सब पवित्र कर्मोंमें क्रियाको ग्रहण करनेवाला होता है।

हवियोंको समझ सकना और भी अधिक कठिन था। चाहे सोम सुराभी जिन प्रकरणोंमें इसका वर्णन है, उनके द्वारा, अपने वर्णित उपयोग और प्रभाव के द्वारा और अपने पर्यायवाची शब्दोंसे मिलनेवाले भाषा विज्ञानसम्बन्धी निर्देश के द्वारा स्वयं अपनी व्याख्या कर सकती थी, पर यज्ञके घी, 'घृतम्', का क्या अभिप्राय लिया जाना सम्भव था? और तो भी वेद में यह शब्द जिस रूपमें प्रयुक्त हुआ है, वह इसी पर बल देता था कि इसकी प्रतीकात्मक व्याख्याही होनी चाहिये। उदाहरणार्थ, अन्तरिक्षसे बूंदरूपमें गिरनेवाले घृत का या इन्द्रके घोडोंमें से क्षरित होनेवाले अथवा मनसे क्षरित होनेवाले घृत का क्या अर्थ हो सकता था? स्पष्टही एक बिल्कुल असंगत और व्यर्थ की बात होती, यदि घी अर्थ को देनेवाले 'घृत' शब्द का इसके अतिरिक्त कोई और अभिप्राय होता कि यह किसी बात के लिये एक ऐसा प्रतीक है, जिसका कि प्रयोग बहुत शिथिलताके साथ किया गया है, यहांतक कि विचारक को बहुधा अपने मनमें इसके बाह्य अर्थ को सर्वांशमें या आंशिक रूपसे अलग रख देना चाहिये। निःसन्देह यह भी सम्भव था कि, आसानी के साथ इन शब्दों के अर्थ को प्रसंगानुसार बदल दिया जाय, 'घृत' को कहीं घी और कहीं पानी के अर्थ में ले लिया जाय तथा 'मनस्' का अर्थ कहीं मन और कहीं अन्न या अपूप कर लिया जाय। परन्तु मुझे पता लगा कि 'घृत' सतत रूप से विचार या मन के साथ प्रयुक्त हुआ है, कि वेदमें 'द्यौ' मन का प्रतीक है, कि 'इन्द्र' प्रकाशयुक्त मनोवृत्ति का प्रतिनिधि है और उसके दो घोडे उस मनोवृत्ति की द्विविध शक्तियां हैं और मैंने यहां तक देखा कि वेद कहीं कहीं साफ तौर से बुद्धि (मनीषा) की शोधित घृतके रूप में देवों के लिये हवि देने को कहता है, घृतं न पूतं मनीषाम्। 'घृत' शब्द की भाषाविज्ञान की दृष्टि से जो व्याख्यायें की जाती हैं, उनमें भी इसका एक अर्थ अत्यधिक या उष्ण चमक है। इन सब निर्देशों की अनुकूलताके आधारपर ही मैंने अनुभव किया कि 'घृत' के प्रतीक की यदि मैं कोई आध्यात्मिक व्याख्या करता हूं, तो मैं ठीक रास्तेपर हूं। और इसी नियम तथा इसी प्रणाली को मैंने यज्ञके दूसरे अङ्गों में भी प्रयुक्त करनेयोग्य पाया।

हविके फल देखनेमें विशुद्ध रूपसे भौतिक प्रतीत होते थे-- गौएं, घोडे, सोना, औलाद, मनुष्य, शारीरिक बल, युद्धमें विजय। यहां कठिनाई और भी दुस्तर हो गई। पर यह मुझे पहिलेही दीख चुका था कि, वेदका 'गौ' बहुतही गूढ अर्थ रखनेवाला है और यह पार्थिव जापही नहीं है। 'गो' शब्द के दोनों अर्थ हैं, गाय और प्रकाश और कुछ एक सन्दर्भोंमें तो, चाहे हम गायके अर्थ को अपने सामने रखलें भी, तो भी स्पष्टही इसका अर्थ प्रकाश ही होता था। यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम सूर्य की गौओं होमर (Homer) कवि की हीलियस की

गौओं और उषाकी गौओंपर विचार करते हैं। आध्यात्मिक रूप में, भौतिक प्रकाशज्ञान के- विशेष कर दिव्य ज्ञान के- प्रतीक के रूप में अच्छी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु यह तो केवल संभावनामात्र थी, इसकी परीक्षा और प्रमाण से स्थापना कैसी होती? मैंने पाया कि ऐसे सन्दर्भ आते हैं, जिनमें कि आसपास का सारा ही प्रकरण अध्यात्मपरक है और केवल 'गो' का प्रतीक ही है, जो कि अपने अड़ियल भौतिक अर्थ के साथ बीच में आकर बाधा डालता है। इन्द्र का आह्वान सुन्दर (पूर्ण) रूपोंके निर्माता 'सुरूपकृत्नु'के तौरपर किया गया है कि वह आकर सोमरस को पिये; उसे पीकर वह आनन्द में भर जाता है और गौओं को देनेवाला (गोदा) हो जाता है, तब हम उसके समीपतम या चरम सुविचारों को प्राप्त कर सकते हैं, तब हम उससे प्रश्न करते हैं और उसका स्पष्ट विवेक हमें हमारे सर्वोच्च हित को प्राप्त कराता है+। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के सन्दर्भों में गौएं भौतिक गायें नहीं हो सकतीं, नहीं 'भौतिक प्रकाश को देनेवाला' यह अर्थ प्रकरणमें किसी अभिप्राय को लाता है। कम से कम एक उदाहरण मेरे सामने ऐसा आया, जिसने मेरे मनमें यह निश्चित रूपसे स्थापित कर दिया कि, वहां वैदिक गौ आध्यात्मिक प्रतीकही है। तब मैंने इसे उन दूसरे सन्दर्भों में प्रयुक्त किया जहां कि 'गो' शब्द आता था और सर्वदा मैंने यही पाया कि परिणाम यह होता था कि इससे प्रकरणका अर्थ अच्छे से अच्छा हो जाता था और उससे अधिक से अधिक संभवनीय संगति आ जाती थी।

गाय और घोडा, 'गो' और 'अश्व' निरन्तर इकट्ठे आते हैं। उषाका वर्णन इस रूपमें हुआ है कि वह 'गोमती अश्वावती' है, उषा यज्ञकर्ता (यजमान) को घोडे और गौएं देती है। प्राकृतिक उषा को लें, तो 'गोमती' का अर्थ है प्रकाश की किरणों से युक्त या प्रकाश की किरणों को लाती हुई और यह मानवीय मनमें होनेवाली प्रकाश की उषा के लिये एक रूपक है। इसलिये 'अश्वावती' विशेषण भी एकमात्र भौतिक घोडों का निर्देश करनेवाला नहीं हो सकता, साथ में इसका कोई आध्यात्मिक अर्थ भी अवश्य होना चाहिये। वैदिक 'अश्व' का अध्ययन करनेपर मैं इस परिणामपर पहुंचा कि 'गो' और 'अश्व' वहां प्रकाश और शक्ति के, ज्ञान और बल के दो सहचर विचारों के प्रतिनिधि हैं जो कि वैदिक और वेदान्तिक मन के लिये सत्ता की सभी प्रगतियों के द्विविध या युगलरूप होते थे।

इसलिये यह स्पष्ट हो गया है कि वैदिक यज्ञके दो मुख्य फल, गौओंकी सम्पत्ति और घोडोंकी सम्पत्ति, क्रमशः मानसिक प्रकाशकी समृद्धि और जीवन-शक्ति की बहुलताके प्रतीक हैं। इससे परिणाम निकला कि वैदिक कर्म (यज्ञ) के इन दो मुख्य फलोंके साथ निरन्तर सम्बद्ध जो दूसरे फल हैं उनकी भी अवश्यमेव आध्यात्मिक व्याख्या हो सकनी चाहिये। अवशिष्ट केवल यह रह गया कि उन सब का ठीक ठीक अभिप्राय नियत किया जाय।

वैदिक प्रतीकवाद का एक दूसरा अत्यावश्यक अङ्ग है लोकों का संस्थान और देवताओं के व्यापार। लोकोंके प्रतीकवाद का सूत्र मुझे 'व्याहृतियों' के वैदिक विचार में, "ओ३म् भूर्भुवः स्वः" इस मन्त्रके तीन प्रतीकात्मक शब्दोंमें और चौथी व्याहृति 'महः' का आध्यात्मिक अर्थ रखनेवाले 'ऋतम्' शब्द के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें मिल गया। ऋषि विश्व के तीन विभागोंका वर्णन करते हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष या मध्यस्थान और द्यौ, परन्तु साथही एक आध्यात्मिक बडा द्यौ, (बृहत् द्यौ) भी है, जिसे विस्तृत लोक (बृहत्) भी कहा गया है। और कहीं कहीं जिसे महान् जल, 'महो अर्णः' के रूपमें भी वर्णित किया है। फिर इस 'बृहत्' का 'ऋतम् बृहत्' इस रूपमें अथवा 'सत्यं ऋतम् बृहत्' इन तीन शब्दों की परिभाषाके रूपमें वर्णन मिलता है और क्योंकि तीन लोक प्रारंभिक तीन व्याहृतियों से सूचित होते हैं, इसलिये 'बृहत्' के और 'ऋत' के इस चौथे लोक का सम्बन्ध उपनिषदों में उल्लिखित चौथी व्याहृति 'महः' से होना चाहिये। पौराणिक सूत्रमें ये चार तीन अन्य-'जनः' 'तपः' 'सत्य' से मिलकर पूर्ण होते हैं, जो तीन कि हिन्दु विश्व-विज्ञानके तीन उच्च लोक हैं। वेदमें भी हमें तीन सर्वोच्च लोकोंका उल्लेख मिलता है, यद्यपि उनके नाम नहीं दिये गये हैं। परन्तु वेदान्तिक और पौराणिक समुदायमें ये सात लोक सात आध्यात्मिक तत्त्वों या सत्ताके सात रूपों-सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, प्राण, मनः, अन्न—को सूचित करते हैं। अब यह मध्य का लोक, विज्ञान, जो कि 'महः' का लोक है, महान् लोक है, वस्तुओंका सत्य है, और यह तथा वैदिक 'ऋतम्' जो कि 'बृहत्' का लोक है, दोनो एकही हैं, और जहां कि पौराणिक सम्प्रदायमें 'महः' के बाद यदि नीचे से ऊपर का क्रम ले तो, 'जनः' (जो कि आनन्द का, दिव्य सुख का लोक है) आता है, वहां वेदमें भी 'ऋतम्' अर्थात् सत्य ऊपर की ओर 'महः' तक, सुख तक ले जाता है। इसलिये, हम उचित रूपसे इस निश्चय पर पहुंच सकते हैं कि (पौराणिक तथा वैदिक) ये

+ यह ऋक् १।४ के आधारपर है। -अनुवादक।

दोनों सम्प्रदाय इस विषय में एक है और दोनोंका आधार इस एक विचारपर है कि अन्दर अपनी चेतनाके सात तत्त्व हैं जो कि बाहर सात लोकोंके रूपमें अपने आपको प्रकट करते हैं। इस सिद्धान्तपर मैं वैदिक लोकों की तदनुसारी चेतना के आध्यात्मिक स्तरों के साथ एकता स्थापित कर सका और तब साराही वैदिक संस्थान मेरे मनमें स्पष्ट हो गया।

जब इतना सिद्ध हो चुका, तो जो बाकी था वह स्वभावतः और अनिवार्य रूपसे होने लगा। मैं यह पहिलेही देख चुका था कि वैदिक ऋषियों का केन्द्रभूत विचार था कि, मिथ्या का सत्यसे, विभक्त तथा सीमाबद्ध जीवन का सम्पूर्णता तथा असीमता से परिवर्तन करके, मानवीय आत्माको मृत्युकी अवस्थासे निकालकर अमरता की अवस्था तक पहुचा देना। मृत्यु है मन और प्राणसहित शरीर की मर्त्य अवस्था, अमरता है असीम सत्ता, चेतना और आनन्द की अवस्था। मनुष्य द्यौ और पृथ्वी, मन और शरीर इन दो लोको, 'रोदसी' से ऊपर उठकर सत्यकी असीमता में, 'मह.' में और इस प्रकार दिव्य सुखमें पहुंच जाता है। यही वह 'महा-पथ' है, जिसे ऋषियोंने खोजा था।

देवोंके विषयमें मैंने यह वर्णन पाया कि, वे प्रकाश से उत्पन्न हुवे हैं, 'अदिति' के, अनन्तता के पुत्र हैं, और बिना अपवादके उनका इस प्रकार वर्णन आता है कि, वे मनुष्यकी उन्नति करते हैं, उसे प्रकाश देते हैं, उसपर पूर्ण जलों की, द्यौ के ऐश्वर्य की वर्षा करते हैं, उसके अन्दर सत्य की वृद्धि करते हैं, दिव्य लोकों का निर्माण करते है, सब आक्रमणोंसे बचाकर उसे महान् लक्ष्य तक, अखण्ड समृद्धि तक, पूर्ण सुख तक पहुंचाते हैं। उनके पृथक् पृथक् व्यापार उनकी क्रियाओंसे, उनके विशेषणोंसे, उनसे सम्बद्ध कथानकोंका जो अध्यात्मपरक आशय होता था, उससे उपनिषदों और पुराणों के निर्देशो से तथा ग्रीक गाथाओं से कभी कभी पडनेवाले आंशिक प्रकाशोंसे निकल आते थे। दूसरी ओर दैत्य जो कि इनके विरोधी हैं, सबके सब विभाग तथा सीमा की शक्तियां, वे जैसा कि उनके नाम सूचित करते हैं, आच्छादक हैं, विदारक हैं, हडप लेनेवाले हैं, घेरनेवाले हैं, द्वैध पैदा करनेवाले है, प्रतिबन्धक है, वे ऐसी शक्तियां हैं, जो कि जीवनकी स्वतंत्र तथा एकीभूत सम्पूर्णताके विरुद्ध कार्य करती हैं। ये वृत्र, पणि, अत्रि, राक्षस, शम्बर, बल, नमुचि कोई द्राविड राजा और देवता नहीं हैं, जैसा कि आधुनिक मन अपनी अति को पहुंची हुई ऐतिहासिक दृष्टि से चाहता है कि वे हों; वे एक अधिक प्राचीन विचारके द्योतक हैं, जो कि धार्मिक तथा नैतिकही विचारों-कृत्योंमें मुख्यतया व्यापृत रहनेवाले हमारे पूर्व पितरों के लिये अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त था। वे उच्चतर भद्र की तथा निम्नतर इच्छा की शक्तियों के बीचमें होनेवाले संघर्ष के द्योतक हैं और ऋग्वेद का यह विचार तथा पुण्य और पाप का इसी प्रकार का विरोध जो कि अपेक्षाकृत कम आध्यात्मिक सूक्ष्मताके साथ तथा अधिक नैतिक स्पष्टता के साथ पारसियों के--हमारे इन प्राचीन पडौसियो और सजातीय बन्धुओंके--धर्मशास्त्रों में दूसरे प्रकारसे प्रकट किया गया है, सम्भवतः एकही आर्य--संस्कृति के प्रारंभिक नियन्त्रण से प्रादुर्भूत हुआ था।

अन्तमें मैंने देखा कि वेदका नियमित प्रतीकवाद बढकर कथानकों में भी पहुंचा हुआ है, जो कि देवोंके- तथा उन देवोंके प्राचीन ऋषियों के साथ के- सम्बन्धमें है। इन गाथाओं में से यदि सब का नहीं, तो कुछ का मूल तो, इसकी पूर्ण सम्भावना है कि, प्रकृतिवादी तथा नक्षत्रविद्या-सम्बन्धी रहा हो, पर यदि ऐसा रहा हो तो, उनके प्रारंभिक अर्थ की आध्यात्मिक प्रतीकवाद के द्वारा पूर्ति की गई थी। एक वार यदि वैदिक प्रतीकों का अभिप्राय ज्ञात हो जाय, तो इन कथानकों का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट तथा अनिवार्य हो जाता है। वेदका प्रत्येक तत्त्व उसके दूसरे प्रत्येक तत्त्व के साथ अपृथक्करणीय रूपसे गुंथा हुआ है और इन रचनाओं का स्वरूप ही हमें इसके लिये बाध्य करता है कि, हमने एक बार व्याख्या के जिस नियमको स्वीकार कर लिया है, उसे हम अधिकसे अधिक युक्तिसंगत दूरी तक ले जायें। उनकी सामग्रियां बडी चतुराई के साथ दृढ हाथों के द्वारा मिलाकर ठीक की गई हैं और उनपर हमारे काम करने में यदि कोई असंगति उत्पन्न होगी तो उससे उनके अभिप्रायका और उनकी संगत विचार-श्रृंखलाका सारा ताना बाना ही टूट जायगा।

इस प्रकार वेद, मानो अपनी प्राचीन ऋचाओंमेंसे अपने आपको प्रकट करता हुआ, मेरे मन के सामने इस रूप में निकल आया कि यह सारा का सारा ही एक महान् और प्राचीन धर्म की, जो कि पहिलेसे ही एक गम्भीर आध्यात्मिक नियन्त्रण से सुसज्जित था, धर्म पुस्तक है, ऐसी धर्मपुस्तक नहीं जो कि गडबड विचारोंसे भरी हो या उसकी प्रतिपाद्य सामग्री आदिम हो, यह भी नहीं कि वह कोई परस्पर-विरुद्ध तथा जंगली तत्त्वों की खिचडी हो, बल्कि ऐसी धर्मपुस्तक है जो अपने लक्ष्य और अपने अभिप्राय में पूर्ण है तथा अपने आपसे अभिज्ञ है; यह अवश्य है कि यह एक दूसरे और भौतिक अर्थके आवरणसे ढकी हुई है, जो आवरण कि कहीं घना है और कहीं स्पष्ट है, परन्तु तो भी यह क्षण भर के लिये भी अपने उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तथा प्रवृत्ति की दृष्टि को ओझल नहीं होने देती है।

वेद क्या है ?

(लेखक - स्व० डाक्टर शंकर आबाजी भिसे, डी. एस्सी.; अनुवादक - श्री० द० ग० धारेश्वर, बी. ए.)

दिव्य वेदों की शिक्षा तथा उनके उपदेश वैज्ञानिक सिद्धांतों पर निर्भर हैं और विज्ञान के तौर पर उनका अध्ययन करना चाहिए। वेदों की महत्ता समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि, हम उनके आदिस्रोत की तथा जिस वैज्ञानिक सिद्धान्तपर वे अवलम्बित हैं, उस की भी जानकारी प्राप्त करें और हम यह भी जान लें कि, किस ढंग से और क्योंकर वैदिक सूक्तों के पठन करनेवाले तथा श्रवण करनेवाले उन से लाभ उठाते हैं।

वेदों का उद्भव।

वेदों के रचयिता के बारे में कोई भी कुछ नहीं जानता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि, वेद दिव्य अथवा गूढ या अज्ञात आदिस्रोत से पृथ्वी पर मानवों को प्राप्त हुए। इस विश्वास को निराधार नहीं कह सकते हैं।

हमारा जीवन चार विभागों में विभक्त है, जैसे बाल्यावस्था, युवकदशा, अधेडपन और बुढापा। बचपन में बालकों का पथप्रदर्शन उनके मातापिता करते हैं और जब लडके विचार करने की क्षमता प्राप्त करते हैं, तब इस मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं रहती है। मानवजाति का प्रथम बुद्धिमान् विभाग, जो आगे चलकर आर्य नाम से विख्यात हुआ, उत्तर ध्रुव के प्रदेशों में निवास करता था। मेरी यह धारणा है कि, वह मानवसमूह बाल्यावस्था में था। तथा विशुद्ध मानसिक दशा में समय बिताता था, अतः उसे आध्यात्मिक जगत् के महान् आत्माओं से लगातार सहायता एवं मार्गदर्शन मिलता था और इन्हीं महात्माओं ने उस नवजात मानवसंघ को विभिन्न वैदिक सूक्त पढाये थे। इन वैदिक सूक्तों में सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र एवं वरुण को लक्ष्य में रखकर की हुई प्रार्थनाएँ अंतर्भूत थीं और ये देव विश्व के निर्माता सर्व शक्तिमान् के अभिव्यक्त स्वरूप में पहचाने जाते थे। वे लोग अपनी दैनिक प्रार्थनाओं में इन सूक्तों का पठन करते थे और इनकी परंपरा कई पीढियों तक प्रचलित रही। पश्चात् वे लिखित संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध किये गये।

आन्दोलन।

इस संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे निर्जीव या सजीव, छोटी या बडी, सदैव आन्दोलितावस्था में रहती है और इस आन्दोलन के अनुपात में उस वस्तु का रंग, रूप या आकृति निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ, जल को लीजिए। इसकी चार विभिन्न अवस्थाएँ या आकृतियाँ दीख पडती हैं। ये विकंपन के अनुपात में उत्पन्न होती हैं, जैसे घनीभूत (हिम), द्रवीभूत (जल), गैसमय (बाष्प) और भाप के स्वरूप में अदृश्य। विश्व का लघुतम अणु एक अदृश्य विकंपन की इकाई है– सर्वशक्तिमान् का एक अंश है। वह विकंपित होता हुआ और अन्य विकंपनों से तादात्म्य पाकर विकंपन की मात्रा बढाता हुआ अंत में सर्वशक्तिमान् में विलीन हो जाता है। अणु या वस्तु के विकंपन की मात्रा जितनी ज्यादह हो, उतने अनुपात में वह सूक्ष्म तथा अधिकाधिक अदृश्य बनता है और जब वह असाधारणतया विकंपन की चरम सीमा पहुँचता है, तब वह प्रकाशित या उद्द्योतित होने लगता है।

ध्वनि।

हमारे शरीर का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विभाग कंठ है और इसे जो रुद्र (शंकर) का आसन ऐसा नाम मिला, वह उचित जान पडता है। कंठ से विकंपनों का एक समुदाय जब बाहर निकलता है, तब एक विशिष्ट विकंपन के अनुपात से युक्त ध्वनि का सृजन होता है। कंठ से ऐसी ध्वनियाँ ६० से भी अधिक संख्या में निकाली जा सकती हैं और प्रत्येक ध्वनि का विकंपनप्रकार विभिन्न है।

विचार।

संसारभर में आजकल लोग अपने घरों में रेडियो रखकर लाभ उठाते हैं और जगत् के विभिन्न विभागों से व्याख्यान या गायन सुनते हैं। वे लोग सर्वसाधारण

सिद्धांतों से परिचित हैं कि, सुदूरवर्ती रेडियो के प्रेषक स्थान से ईथर में जो लहरियाँ उत्पन्न की जाती हैं, वे घर में रखे रेडियोसंग्राहक यंत्रद्वारा इकट्ठी की जाती हैं, जब कि, वह यंत्र उस के लिए तैयार किया जाता है। पश्चात् वे लहरियाँ ध्वनियों में परिवर्तित होती हैं। ईथर के जिस वर्तुल में लहरियों का विकम्पन हो सकता है, उस का अर्ध व्यास तरंगों का सृजन करनेवाले प्रेषक स्थान की शक्ति पर निर्भर है। मानवी मन को भी यह नियम लागू है, जो विचार का सृजन करता है। ध्वनि के समान ही विचार भी विकंपनों का समूह है और वह ईथर में लहरों का निर्माण करता है।

हमारे मस्तिष्क का जो भूरा भाग है, वह संग्राहक विद्युद्यंत्र (Storage Battery) के समान है। जब मानवी मन विचार के लहरों से आन्दोलित होने लगता है, तब दिमाग के भूरे विभाग से विद्युत्प्रवाह निकलना शुरू होता है, जिस के फलस्वरूप ईथर के वर्तुल में विचार के तरंग फैलते हैं। इस वर्तुल का अर्ध व्यास मन की शक्ति पर अवलंबित है, क्योंकि मन ही प्रेषक स्थान के (Transmitting Station) रूप में है और उसी प्रकार दिमाग के भूरे विभाग की शुद्धता एवं निर्दोषिता पर भी वह बहुत कुछ निर्भर है।

मन के द्वारा प्रवर्तित विचारतरंग सूक्ष्म आकाश में हिलनेवाली गति का वर्तुल उत्पन्न कर देते हैं और इस वर्तुल का आकार व्यक्ति के मन की स्थिति पर तथा उस मानव के मगज में विद्यमान भूरे विभाग पर अवलंबित है। ऐसा वर्तुल मानव को घेरे रहता है और इस का व्यास साधारणतया लगभग दो फीट का होता है, तथा आन्दोलनों से परिपूर्ण होता है। मन के विकंपनों का जो प्रमाण है, तदनुसार यह बढता रहता है। इस वर्तुल को, जो मन के आन्दोलनों के अनुपात में अपना रूप बदलता रहता है, दिव्यचक्र (An Aura) कहते हैं। जो पुरुष दिव्यदृष्टि से या असाधारण आत्मिक शक्ति से युक्त होते हैं, वे इस दिव्यचक्र को देख सकते हैं। मुझे आशा है कि, किसी दिन विद्वान, अति सामर्थ्ययुक्त तथा परिश्रमसाध्य वैज्ञानिक उपकरणोंद्वारा, ऐसे दिव्यचक्र में विद्यमान इस प्रकार की लहरों को उल्लिखित कर सकेगा, जिस के फलस्वरूप विचार-तरंग का स्वरूप ज्ञात होगा। यह वास्तविक सत्य है कि, विचार स्थानान्तरित किया जा सकता है और यह सुतरां सम्भव है कि, दो मानव यदि ठीक ग्रहणयोग्य दशा में हों, तो एक दूसरे के विचारों का आदानप्रदान कर सकते हैं। प्रस्तुत लेखक जब भारत में था, तब सन १८९५-१८९७ ई० में वह विचारों के स्थानांतरित करने तथा विचारों के पठन के बारे में प्रयोग करता था और उसे इस विषय के कई अनुभव प्राप्त हुए थे।

वेद के सूक्तों तथा मंत्रों के पठन से या सस्वर उच्चारण से दिव्य चक्र का रंग एवं रूप बढ जाता है। वैदिक सूक्तों तथा मंत्रों के सस्वर गायन का उद्देश यह है कि, मानसिक आंदोलनों का क्रम वृद्धिंगत करके मन की शक्ति बढाई जाय। यह कार्य, विशिष्ट ढंग के गुनगुनाने से अथवा उच्च स्वर से मंत्र पढते समय जो सकंप ध्वनि निकल आती है, उस से होता है। केवल एक के पश्चात् एक श्लोक पढते जाने मात्र से इस कार्य में अच्छी सफलता नहीं मिलती है। अत्यन्त उपयुक्त एवं सफल उपाय यह है कि, उसी सूक्त या मन्त्र को लगातार चन्द मिनिटोंतक दुहराने से जो गुनगुनाने की ध्वनि पैदा होती है, वह अधिक प्रभावकारक होती है और इसी से विकंपनात्मक शक्ति पैदा होती है, जिस से मन के आंदोलन का क्रम बढ जाता है। मेरा यह विश्वास है कि, हम में प्रचलित जपप्रणाली की शक्ति का रहस्य इसी में सन्निहित है। उदाहरणार्थ- गायत्रीसदृश उस एक ही मन्त्र को लगातार दुहराया जाता है। मन्त्र हों या सूक्त हों, वे सभी प्रार्थना के विभिन्न रूप हैं। परन्तु सूक्तों की अपेक्षा मन्त्र अधिक शक्तिशाली होते हैं, क्योंकि लगातार दुहरानेसे वे अधिकतया केन्द्रित तथा परिपूर्ण बनते हैं।

वैदिक सूक्त।

समय समयपर विभिन्न संगीतज्ञ सभी प्रकार के गीतों का निर्माण करते हैं। उनमें से कुछ गीतों की ओर हमारा ध्यान थोडी देर तक ही आकृष्ट होता है, लेकिन कुछ गीत ऐसे भी होते हैं कि वे हमें मन्त्रमुग्ध कर डालते हैं और उन्हें हम स्पष्ट रूपसे याद कर लेते हैं, तथा उनकी सराहना करते हैं, क्योंकि वे गीत हम में उन्मादक मनोवेगों का सृजन करते हैं, या हमारी चित्तवृत्तियोंको- देशप्रेम, दार्श-

मिक या आध्यात्मिक- ऊँचे स्तरपर उठा ले जाते हैं। अच्छा, इस का क्या रहस्य या कारण है? यह केवल कुछ शब्दों की तुकबन्दीमात्र नहीं है, अपितु शब्दों का चयन तथा वाक्य की विशेषतापूर्ण रचना है, जिससे जब वह वाक्य बार बार पढा या दुहराया जाता है, तो आंदोलनयुक्त ध्वनिलहरियों का एक ताँतासा बँध जाता है और इसी के फलस्वरूप मन की जो साधारण आंदोलितावस्था रहती है, वह वृद्धिंगत हो उठती है। अतः मन में ऊँचे उठ जाने के, आनन्द के तथा संतृप्ति के भावों का सृजन होता है। हमारे वैदिक मंत्रों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है कि, उन्हें ऊँचे स्वर से पढने से अंतस्तल में कुछ ऐसी शक्ति की अनुभूति उत्पन्न होती है कि, जिस से किसीपर विजय पाने की लालसा हो जाती है। एक विख्यात अमरीकन डाक्टर ने प्रात्यक्षिक प्रयोग-द्वारा ऐसा सिद्ध किया है कि, जब शरीर के विकंपनों का (Vibrations) प्रमाण बढाया या घटाया जाता है, तो कुछ रोग उत्पन्न या विलीन होते हैं। अतः कहा जा सकता है कि, हमारे जीवन में विकंपन के अनुपात का महत्त्वपूर्ण स्थान है; अर्थात् हमारे मन के आंदोलन के क्रमानुसार हम कार्य करते हैं। वह विकंपन या आंदोलन जितना उच्च कोटिका हो, उतना ही हमारा आध्यात्मिक विकास उच्चतर बन जाता है।

वैदिक सूक्तोंकी रचना, जो सूक्त कि गूढ या दिव्य आदि स्रोत से आए हुए हैं, मनके आंदोलन के अनुपातको बढानेके लिए उचित रूप से हुई है। इसी कारण उन के उच्चारण से मानसिक विकपन की मात्रा बढ जाती है। यदि आप कुछ गंभीर श्वास लें और पश्चात् चंद मिनिटों-तक गुनगुनाने के साथ ॐकार का जप या उच्चारण लगातार करते रहें, तो आप को विदित होगा कि आपके शरीर या मन के आंदोलन का अनुपात, उस गुनगुनाहट ध्वनि के द्वारा उत्पन्न विकंपनात्मक शक्ति की सहायता से अत्यधिक मात्रा में बढ गया है, जिस के परिणामस्वरूप शरीर के हलकेपन तथा ऊँचे स्तरपर चले जाने की अनुभूति आप को प्राप्त होगी। वैदिक सूक्तों तथा मन्त्रों के उच्च पठन से भी ऐसा ही प्रभाव पडता है, क्योंकि उन की रचना बडे अच्छे ढंग से इसी कार्य के लिए आत्मिक संसार के विशुद्ध मानवाके महान् आत्माओंने की है।

हमारा मन चन्द्र के समान है। चन्द्र के पीछे जैसे समुद्र में ज्वार आती है, उसी तरह मनकी क्रिया से रक्त-प्रवाह प्रवर्तित होता है। जिस स्थान पर मन केन्द्रित हो, उसी शरीर के विभाग में रुधिर बहना शुरू होता है। इसी लिए यह अत्यावश्यक माना गया है कि, शरीर के दुःखित भाग से मन हटाया जाय। जिस समय ॐकार का जप या वैदिक सूक्तों का बारबार पठन अंतःकरण में आन्दोलित होने लगता है, उस समय हृदयदेश की ओर नूतन रुधिरप्रवाह आने लगता है और हृदय का वह भाग जिसे Diaphragm कहते हैं, वेगपूर्वक हिलोरे लेने लगता है। मन और हृदय के बीच बडाही घनिष्ठ सपर्क है, अतः हृदयप्रदेश में जो विकंपन होता हो, वह दूसरी विकंपन-मालिका का निर्माण करता है, जिससे मानसिक आन्दोलन की मात्रा बढ जाती है।

लहरियों का पुनर्निर्माण।

प्रत्येक सजीव या निर्जीव, छोटी या बडी वस्तु में भीतर ही अपने तुल्य दूसरी लहर का सृजन करने की क्षमता प्रत्येक तरंग में होती है। यह दूसरी लहर समीपस्थ वायुमंडल के वर्तुल में या रेडियो के समान आकाश में विचरती है और इस वर्तुल का व्यास उद्गमस्थान की प्रबलता पर या मूलस्थान की शक्ति पर निर्भर है। उस वर्तुल में विद्यमान हरएक पदार्थ को ऐसी दूसरी या उत्पादित या प्रेरित हिलोर प्राप्त हो सकती है अगर वे वस्तुएँ उन हिलोरों के आदान करनेयोग्य दशा में हों। तदुपरांत ये तरंगें, अन्य युक्ति के द्वारा जैसा कि, रेडियो में हम देखते हैं, ध्वनि-लहर में परिवर्तित होती है। ये केवल सिद्धांतमात्र नहीं हैं, अपितु सचाइयाँ हैं जैसा कि रेडियो-द्वारा दिखलाया जा चुका है।

यदि हम वैदिक सूक्तों को येही तत्त्व लागू करें, तो ऐसा कहा जा सकता है कि, इन सूक्तों के पठन से पठन-कर्ता के मानसिक आन्दोलनों की मात्रा बढ गयी और उसके मन की शक्ति के अनुसार वर्तुल में विद्यमान लोगों के चित्त में तुल्य हिलोरें उमडने लगीं तथा तदनुसार उन के मानसिक आन्दोलन के अनुपात की मात्रा बढ गयी। अब यदि मानसिक आन्दोलन अधिकाधिक परिमाण में होने लगे, तो चित्त की आध्यात्मिकता बढ जाती है और

चूँकि वेद के पठन एवं श्रवण से पाठक तथा श्रवणकर्ता को लाभ पहुँचता है, इसलिए वेदों की महानता सिद्ध होती है ।

कौन वैदिक सूक्तों का पठन करें ?

ध्वनितरंगों की उचित मालिका प्रवर्तित करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि, सूक्तों का पठन भली भाँति ठीक विरामचिह्नोंसहित तथा उच्चारसहित किया जाय। ऐसा करने के लिए पठनकर्ता को चाहिए कि, वह निर्दोष एवं धार्मिक मनोवृत्ति का हो, उसमें आध्यात्मिकता रहे, सूक्तों का अर्थ भली भाँति समझ ले । तभी वह प्रभावशाली ढंग से तथा ज्ञानपूर्वक मंत्रों का पठन एवं उच्चारण कर सकता है । वह मानो रोडियो का दूरध्वनिक्षेपक स्थान जैसे है और यदि प्रभावजनक ढंगसे कार्य करना हो, तो उस स्थान की रचना योग्य ढंग से करनी चाहिए । वैदिक युग में वंशपरंपरा जातियों का सृजन नहीं हुआ था, तो भी विद्वान् और आध्यात्मिक मनोवृत्ति के कुछ लोगों की श्रेणि अस्तित्वमें थी, जिसे ब्राह्मण नाम प्राप्त हुआ। क्योंकि वे लोग ब्रह्म को जानते थे, अतएव ऐसे कार्य के लिए वे सर्वथैव योग्य थे । इसी कारण से सूक्तों का पठन जैसे आध्यात्मिक कार्य ब्राह्मणों के लिए रखे गये । ध्यान में रहे कि, उन दिनों बिना किसी रुकावट के कोई भी सुयोग्य पुरुष उस पद तक पहुँच सकता था और सभी लोग वेदों को बिना किसी प्रतिबंध के सुन सकते थे, लेकिन शर्त यह थी कि, वे वेद की पवित्रता एवं महनीयता को समझ लें तथा वेदपठन के लिए आवश्यक क्षमता और योग्यता को जान लें ।

ये दिव्य वेद दो विभागों में विभक्त हुए हैं । एक विभाग सूक्तों से सम्बन्ध रखता है, जो प्रार्थना के लिए हैं और दूसरा विभाग शैक्षणिक विषयों के बारे में है । इसके तीन उपविभाग ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद नाम से प्रसिद्ध हैं । इस लेख में केवल प्रथम विभाग अर्थात् वैदिक प्रार्थनात्मक सूक्तों का विचार किया है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद केवल शिक्षाविषय के हैं और सभी इनका अध्ययन कर सकते हैं, क्योंकि मानसिक ज्ञानविकास से इनका सरोकार है । आध्यात्मिकता के ऊँचे स्तरपर मन को चढाने के लिए मानसिक आन्दोलनों के अनुपात को बढाना दूसरी बात है ।

मैं इस बात को फिर दुहराना चाहता हूँ कि, वेद विज्ञानमय हैं, वैज्ञानिक सिद्धांतों की दृढ भित्ति पर वे निर्भर हैं जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है और विज्ञानात्मक होने के कारण सत्य पर अवलंबित हैं । यह सत्य अविनाशी सनातन एवं सार्वत्रिक है, अतः हम कह सकते हैं कि, पुरातन युग में जैसे वेदों से मानवजाति का कल्याण हुआ, वैसे ही आधुनिक युगमें भी हित हो सकता है । मेरे कुछ मित्र जब यह प्रश्न उठाते हैं कि, "वेद क्यों कर महान् एवं सनातन हैं ?" मेरा यही विनम्र उत्तर है ।

विज्ञानरूपी होने के कारण दिव्य वेद समूचे संसार के हैं, क्योंकि ये सार्वत्रिक उपयुक्तता के हैं । निःसन्देह आर्य या हिन्दु जाति को यह गौरव प्राप्त है कि, वही प्रथम वेदों के इस दिव्य प्रदान का आदान कर सकी है और सहस्रावधि वर्षोंतक मानवजाति के हित तथा कल्याण के लिए इस दिव्य देन' को सुरक्षित रख सकी है । अतः इस के लिए गर्व होना उचित है ।

अनेक बार हमारी जटिल समस्याएँ हल हो जाती हैं, जब हम प्रकृति पर ध्यानपूर्वक सोचने लगते हैं, क्योंकि प्रकृति परमात्मरूपी है ।

एक काशीनिवासी योगी की
६ मास टिकनेवाली समाधि।

दीर्घ समाधि का एक आश्चर्यकारक प्रयोग जिस की परख विद्वानोंने की है।

[लेखक- प्राध्यापक द० अ० कुलकर्णी, M. Sc., आयुर्वेदाचार्य, बनारस.]

[अनुवादक- श्री. द० गा० धारेश्वर, B. A., औंध]

१९४१ के सितंबर मास में, काशी से प्रकाशित होनेवाले दैनिक समाचारपत्रों में एक विज्ञापन प्रसिद्ध हुआ, जिस से जनता में कुतूहल तथा आश्चर्य का संचार हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालय से लगभग एक मील की दूरीपर अवस्थित काशी के विख्यात दुर्गाकुंड के समीप एक साधु ६ महीनों तक भूमि में खोदे हुए गड्ढे में रह कर समाधि लगायेगा और पश्चात् ज्यों का त्यों बाहर आयेगा। चूंकि यह विज्ञापन अधिक चमत्कृतिपूर्ण प्रतीत हुआ, इसलिए जैसे का तैसा नीचे दिया जा रहा है।

छपा हुआ पत्रक।

परमपूज्य श्री ब्रह्मचारी रामस्वरूपजी योगीराज की ६ महिनेतक समाधि।

श्री १०८ दण्डी स्वामी मधुसूदन आश्रमजी के शिष्य श्रीब्रह्मचारी रामस्वरूपजी योगीराज आश्विन शुक्ल पंचमी गुरुवार तारीख २५-९-१९४१ को दिन में तीन बज के ४१ मिनिटपर ६ महिनेतक समाधि लगानेके लिए बैठेंगे। जो दर्शनाभिलाषी हों, दर्शन कर सकते हैं। योगिराज की आज्ञा है कि, साक्षात् भगवतीजी के अनुग्रह से समाधि-स्थान बन रहा है और इसलिए कोई भी इस विषयमें एक कौडी भी द्रव्य देने की कोशिश न करें। अगर कोई व्यक्ति समाधिसमय में या समाधि के बाद भी द्रव्य चढाने का प्रयत्न करेगा, वह नरक का भागी होगा। इस आज्ञा का पालन करना सब के लिए मंगलकारक है।

समाधिस्थान- पसियारी टोला, दुर्गाकुण्ड, भदसी मोहल्ला, बनारस-सिटी।

निश्चित दिन अर्थात् दिनांक २५-९-१९४१ को दुपहर लगभग तीन बजने के समय दुर्गाकुण्ड के समीप लोगों की एक बडी भारी भीड इकट्ठी होने लगी। पुलिस की व्यवस्था भी समाधानकारक थी और छात्र, प्राध्यापक एवं अन्य विद्वान् लोगों की उपस्थिति भी पर्याप्त मात्रामें थी। जिला मैजिस्ट्रेट के प्रतिनिधि की हैसियत से एक पुलिस कर्मचारी वहाँपर उपस्थित रहा। इसने तथा अन्य दसपाँच उच्चपदाधिष्ठित व्यक्तियोंने बिजली के दिएकी सहायता से पहले ही तैयार किए हुए समाधिस्थान की बहुत सूक्ष्मेक्षिकासे जाँच की और उन्हें पर्याप्त विश्वास हुआ कि, इस में भुलावे या धूर्तता की कोई बात नहीं थी।

गर्त में बनाया हुआ समाधि का स्थान।

समाधि की यह जगह नीचे लिखे ढंग से बनवाई गयी थी। दुर्गामन्दिर के आग्नेय कोनेपर यह स्थान विद्यमान था और सडक से डेढ सौ पग अंतरपर पहुँचनेयोग्य था। इसकी बनावट यों थी- समतल भूमिपर एक चतुष्कोणात्मक गड्ढा खुदवाया गया, जिस की लंबाई ६ फीट, चौडाई ४ फीट और गहराई ८ फीट थी। इसके ऊपर लंबे तथा चौडे पतले पत्थरों से छत बनवाया था। इस गर्त को केंद्र में रखकर ऊपर सुदृढ ईंटोंसे एक कमरा बनाया था; जिस की लंबाई १२ फीट, चौडाई १२ फीट और ऊँचाई ८ फीट थी। उस कमरे का एक दरवाजा ६ फीट ऊँचा और तीन फीट चौडा था। इस कमरे की दीवारें डेढ फीट चौडी थीं और ऊपर का छत पक्की ईंटों से पाट दिया गया, जिस पर चूने का स्तर बैठाया गया। इस कमरे के चारों ओर तीन फीट चौडा कूचा था, जिसके इर्दगिर्द डेढ फीट चौडी दीवार बनी थी और इस दीवार की ऊँचाई कमरे की ऊँचाई के बराबर थी। केवल एक ओर अर्थात् बडे कमरे के द्वार के

सामने ही इस प्रकार का दरवाजा बनाया था। प्रमुख गर्त में दो फीट ऊँचाई पर और दो फीट अंतर पर समान्तर दो सागवानी लकडी के सोटे रखे गये थे। इन सोटों का व्यास तीन इंचों का था। ऐसा कहा गया कि, इन सोटों के सहारे सीधे बैठने में सहायता मिलेगी। इस गड्ढे में योगीराज पश्चिम की ओर मुँह करके बैठनेवाले थे और उनके सामनेवाली दीवार में पानी का लोटा रखने के लिए एक कोना बनवाया गया था।

आश्विन सुदी पंचमी गुरुवार दिनांक २५-९-१९४१ को दुपहर ठीक तीन बज चुकने पर लगभग ४१ मिनिट बीतते ही वहाँपर इकट्ठे हुए लोगोंने योगिराज के नाम से प्रचंड जयघोष करना शुरू किया। पश्चात् कुछ प्रमुख नागरिक एवं डी. एस्. पी. के सम्मुख योगिराज गर्त में उतर पडे और आसन जमा कर बैठ गये। बाद में निर्धारित प्रणाली के अनुसार उन्होंने पानी का लोटा मँगवाया और उस जल को अभिमंत्रित कर वे करीब आध लोटा पानी पी गये। बचे हुए जल के साथ वह लोटा उन्होंने ही सम्मुखस्थ कोण में धर दिया। तदुपरान्त गर्त का मुँह तैयार रखे हुए फर्शों से पूरी तरह पाट दिया गया और अन्दर गये हुए लोग बाहर निकल आये। उन लोगोंने कमरे का दरवाजा ईंटों से और गीली मिट्टी से अच्छी तरह बंद कर दिया। अन्त में बाह्य प्राकार के दरवाजे को भी उन्होंने बंद कर रखा। सब उपस्थित जनता को पूर्ण विश्वास हुआ कि, गर्त में और वहाँ के कमरे में कहीं भी सूराख नहीं रहा। इस बात का निश्चय कर चुकने पर लोग लौटने लगे। आगे चल कर कई दिनों तक अनेक लोग दर्शनार्थ वहाँ पर जा कर द्वार तथा दीवार की जाँच कर लिया करते थे। कमरे की और प्राकार की दीवारें मिट्टी तथा पक्की ईंटों की सहायता से बँधवाई गयी थीं, लेकिन उन की दरारों में चूना या सिमेंट नहीं लगवाया था। सभी काम ईंटों तथा मिट्टी से पूर्ण किया गया था। हाँ, केवल छत की बनावट पूरी तरह से पक्की की गयी थी।

समाधिस्थान के पडौस में ही लगभग पचास फीट दूरी पर योगिराज के एक गुरु की मठिका थी, जिस के इर्दगिर्द तनिकसी बस्ती पाई जाती थी।

६ मास के उपरान्त !

भारतीय पंचांग के अनुसार ठीक ६ महीने बीत चुकने पर चैत्र शुद्ध पंचमी दिनांक २१-३-४२ को दुपहर तीन बजने के समय प्राकार एवं अंतर्विद्यमान कमरे के द्वार पर जो दीवार खडी की गयी थी, वह हटाई गयी और निश्चित वेला के उपस्थित होते ही गर्त के ऊपर रखे हुए पत्थर दूर किये गये। अन्दर झाँक कर देखा, तो लोटे में बचा हुआ पानी ज्यों का त्यों था और योगिराज पूर्ण रूप से समाधि में तल्लीन हो चुके थे। पश्चात् धीरेधीरे समाधि उतर आयी और वे बाहर उपस्थित किये गये। उस वक्त वहाँ पर लगभग पचास सहस्र लोगोंकी भीड थी। जनताने प्रचंड जयजयकार का घोष किया और योगिराज को देखने में सुविधा हो, इस हेतु वे ऊँचे आसन पर बैठाये गये थे। जिस दशा में योगीराज समाधि में लीन हुए थे, बिलकुल उसी दशा में अंतिम दिन लोगोंने उन्हें पाया था। हाँ, केवल लकडी को दीमक लग आयी थी और उस दीमक की कुछ मिट्टी योगीराज के बाँह एवं ग्रीवापर लग चुकी थी, जो एक ओर गालतक बढ गयी थी। केश या नाखून की वृद्धि तनिक भी न होने पायी थी। कृशता या मोटेपन का कुछ भी लक्षण नहीं था, मानों वे हालही में अन्दर जाकर बाहर निकल आये हों, ऐसा उन्हें देखने से प्रतीत होता था। जिस दिन वे समाधि लगाने बैठे थे, उस दिन जो लोग उपस्थित थे, उन में से अधिकांश लोग समाधि उतरने के दिन तो उपस्थित थे ही लेकिन इन के अतिरिक्त अन्य अनेक चिकित्सक बुद्धिसंपन्न विद्वान् लोग भी आ चुके थे। हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक डॉक्टर भीखनलाल आत्रेयजी, M. A., D. Litt. इनमें प्रमुख थे और इन्होंने सब घटनाओं की पहले तथा पश्चात् भली भाँति जाँच करवायी थी, जिस के फलस्वरूप इन्हें पूर्ण विश्वास हो चुका था कि, कहीं भी धोखे या धूर्तता या कपट की तनिक भी गुंजाइश नहीं थी। बाद में भी अनेक वैज्ञानिक तथा चिकित्सक विद्वानों ने उस स्थान पर पहुँच कर निर्णय कर लिया कि, कपट करने का लेशमात्र भी संभव नहीं था। प्राध्यापक श्री० गुणताम्बेकरजी तथा प्रस्तुत लेखक को भी इस विषय में संपूर्ण विश्वास हो गया है। अस्तु।

यह सब कैसे संभव है ? विवश हो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि, इस उलझन को कोई सुलझा नहीं सकता है। कपट तो नहीं है, परन्तु आधुनिक चिकित्सक बुद्धि का समाधान भी न होने पाता। यह है वास्तविक स्थिति।

उसके बाद परसों कुछ दिन पहले एक भावुक अध्यापक महोदयजी ने उन्हें अपने घर बुलवाया ताकि योगीराज के मुख से ही सारी घटना का सच्चा सच्चा हाल विदित हो। उस अवसर पर प्रस्तुत लेखकने उनकी मुलाकात लेकर लगभग दो घंटों तक चर्चा का पूरा श्रवण किया। इस सम्मेलन के मौके पर भी अन्य सातआठ विद्वान् प्राध्यापक उपस्थित थे और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि, योगीराज स्वयं अत्यन्त विनयशील, स्वार्थरहित और उच्च कोटि के भगवद्भक्त हैं। उनमें अहंकार की मात्रा तनिक भी नहीं पायी जाती है। उनसे कई प्रश्न पूछे गये थे और उनके दिये उत्तरोंका सारांश नीचे दिया जाता है।

योगीराज का पूर्वेतिहास।

इस समय योगीराजजी श्री ब्रह्मचारी रामस्वरूपजी नाम से विख्यात हैं। आप की जन्मभूमि देहली के उत्तर में करनाल जिले में अवस्थित है। आप जाति के ब्राह्मण हैं और छुटपनसे ही भगवत्प्राप्ति के लिए लालायित थे। सतर्कतापूर्वक विशुद्ध आचरण करके भली भाँति उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर, उसे निभाया और लगभग पाँच वर्ष बीत गये हैं, जबसे उन्होंने घर एवं परिवार का त्याग किया था। प्रारम्भिक अवस्था में वे निर्गुणनिराकार परमात्मा के भक्त रहे और लगातार ॐकार का जप कर लिया करते थे। यह जप वे प्राणायाम के साथ साथ करते थे। लगभग बीस वर्ष हुए उन्होंने यह अभ्यास बढाना शुरू किया और इसकी प्रणाली यों थी। जितने ओ३म्-कारों का पूरक करना हो, उनकी दुगुनी संख्या में कुंभक करना और उसी प्रकार जप करते करते पूरक की संख्या के अनुपात में जप करते करते वे रेचक कर लिया करते थे। रात्री की वेला में घर से बाहर जाकर जंगल में बैठकर वे यों अभ्यास करते थे। दिनभर गृहस्थी के कामों में लगे रहते और रात्री का बहुतसा समय इस भाँति तपस्या करने में बिताते। उनके कथनानुसार ऐसा करने से उनके पाप विनष्ट हुए होंगे। इन्द्रियों के व्यापार को वश में रखकर इस प्रकार जप करने का अभ्यास जब बहुत कुछ बढ चुका, तो वे लालायित हो उठे कि, समाधिसुख का अनुभव ले, परमात्मप्राप्तिसंपन्न हो और इसी कारण उन्होंने पाँच वर्षों से गृह का परित्याग किया तथा चित्रकूट में निवास करना शुरू किया। वहाँपर सिरार्भगा नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है और इस समय वहाँ श्री रामनाथ गुरुजी का आश्रम विद्यमान है। इस जगह वे आ पहुँचे। श्री रामनाथगुरुजीने उन्हें योगविद्या की दीक्षा देकर समाधि में पैठना सिखलाया। आरम्भ में उन्होंने बहुत से दिन तृण एवं पेड के पत्ते खाकर बिता दिये और पश्चात् तैयारी हो चुकने पर उनके गुरुजी उन्हें एक पर्वत की गुहा में ले चले और उनकी समाधि लगवायी। उनके कथनानुसार चित्रकूट के इर्दगिर्द ऐसी बहुतसी गुहाएँ अस्तित्व में हैं, जिन में कई तो पर्वत में मील आध मील तक अन्दर चली गयी हैं। ऐसे ही एक स्थान पर उन्होंने प्रारम्भ में चार महिने तक टिकनेवाली समाधि लगवायी थी और दूसरी बार चालीस दिनों तक वे समाधि लगाये बैठे रहे। यह तीसरी बार काशी में षाण्मासिक समाधि सफलतापूर्वक लगाई जा चुकी है।

समाधि में बैठ जाने का कारण।

उन से प्रश्न पूछा गया कि, 'आप की इस समाधि से संसार का कौनसा कल्याण हुआ ?' उत्तर में उन्होंने कहा कि, 'पंच महा भूतों से बनी इस सृष्टि के परे परमात्मा-नामक एक विभिन्न शक्ति है और इस परमात्मा की शक्ति सचमुच अतर्क्य है। मानवी बुद्धि के दायरे के बाहर रहनेवाली अनेक बातें इस जड सृष्टि में विद्यमान हैं। अतएव वेदपर विश्वास रखकर और परमात्मा पर श्रद्धा रखकर मानव अपना कर्तव्य करता रहे, उसी प्रकार आस्तिकता की वृद्धि हो, लोग इन बातों को ठीक तरह समझ लें, इसी उद्देश से उन्होंने मानवी समाजमें आकर यह प्रयोग कर दिख लाया। वास्तव में देखा जाय, तो वन में निवास करके परमात्मचिंतन करते हुए ही योगी लोग ऐसे कार्य कर लेते हैं।' उन्हों ने अपना स्पष्ट मत इसी प्रकार है, ऐसा बतलाया।

समाधि–क्रिया।

उन की राय है कि, समाधि में लीन होना अतीव

सरल है और कोई भी साधक सुगमता से उस का अभ्यास कर सकता है। गृहस्थाश्रम में रह कर ही उन्होंने इस क्रिया का अच्छा अभ्यास प्रचलित रखा। उन की धर्मपत्नी अभीतक जीवित है और उन के चार पुत्र एवं चार कन्याएँ हैं। संवत् १९४० में उन का जन्म हुआ और अब उन की अवस्था लगभग ५८ वर्ष की है। उन की धारणा है कि, सचाई के साथ गृहस्थाश्रम का संचालन कर और परनारी को माता के समान मान कर गृहस्थाश्रमी पुरुष भी उच्च कोटि की आध्यात्मिकता प्राप्त कर सकता है। जब अपने पाप विनष्ट होते हैं, तब सद्गुरु का दर्शन हो, अपने मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। इस में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती है और गुरु से मिलन होने पर ही समाधिशास्त्र की जानकारी हो परमात्मप्राप्ति होना संभव है। समाधिक्रिया का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यों है कि, यद्यपि समाधि के कई प्रकार हैं, तो भी एक प्रकार उन्हें विदित है। पहले आठ दिन पथ्य का पालन किया जाय, अर्थात् अन्न न खाते हुए दिन भर केवल एक सेरभर दूध और एकाध नारिंगीका फल खाया जाय। ऐसा करने से शरीर में मैल नहीं जमने पाता। पश्चात् सुमुहूर्त निर्धारित कर एक मिट्टी का गड्ढा खोदना चाहिए, जिस का आकार आदि का वर्णन ऊपर दिया जा चुका है। ऐसे गर्त में उतरकर आसन लगाकर बैठना चाहिए और पश्चात् एक बार यथेष्ट जल का पान करना चाहिए। प्रथम ही यह जल मंत्र की सहायता से पवित्र कर लेना चाहिए। जल पी चुकने पर पसीना आ जाता है और शरीर के छिद्र उन्मुक्त होते हैं। उस दशा में जिह्वाग्र को तालु के मार्ग से ऊपर चढाकर भ्रूमध्य के अन्दर के हिस्सेतक पहुँचाना चाहिए और आँखे मूँदकर परमात्मस्वरूप का चिंतन करना उचित है। उस अवसर पर प्रकाश पहले पहले इतना तीव्र प्रतीत होता है कि, मानों सैकडों सूर्य चमकते हों और उसी में एक तरह की अकथनीय आनन्द की अनुभूति हो जाती है। इस प्रकाश में एक काले बिन्दु का दर्शन होता है, जिसे अपने संकल्प का चिह्न समझना चाहिए। ऐसी दशा में यदि शरीर रहे, तो हृदय की गति रुक जाती है, श्वास का अवरोध हो जाता है, रुधिर का अभिसरण थम जाता है, केश तथा नख बढने नहीं पाते और प्यास, भूख या शौच तथा शुद्धि किसी की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। चूँकि शरीर के सभी व्यापार बंद हो जाते हैं, इसलिए शरीर की क्षतिपूर्ति की आवश्यकता नहीं होती है। इसी कारण से मानव को दुर्बलता या कृशता का कोई भी भय नहीं होता। जल पीने के कारण जब पसीना आवे, तो ऊपर के लोग फर्श के पत्थरों को इकट्ठे जमा लेते हैं और जनता के बाहर निकल आने पर पहले प्रमुख कमरे का द्वार, बाद में बाह्य प्राकार का दरवाजा बंद किया जाता है। जल के पीते ही तुरन्त पसीना आने लगता है और लगभग आध घंटे के अन्दर ही शरीर के सभी व्यापार बंद होने लगते हैं। पश्चात् आत्मा एवं मन एक स्थान पर आ जाते हैं और सच्चिदानन्दस्वरूप में विलीन हो रहते हैं। यदि ६ मास का चिरकाल बीत गया, तथापि ऐसा जान पडता है कि, मानों दसपाँच मिनिट ही बीत गये हों।

समाधि-भंग।

यदि हमें ऐसी आदत लगे कि, अपने मन का संकल्प भली भाँति हो जाय, तो निद्रा में से हम ठीक समय पर बिना घडी का शब्द सुने उठ जाते हैं, उसी प्रकार संकल्प के अनुकूल समय बीत जाने पर स्वयं ही जागृत दशा में आने की तैयारी होने लगती है। उस वक्त अगर बाहर के लोग दरवाजों की दीवारें तोड कर और ऊपर के पत्थर हटा कर दूर न फेंक दें, तो पुनरपि समाधि में निमग्न होना पडता है। जो पुरुष इस समाधिक्रिया को कर सकता है, उसे इस में कठिनाई प्रतीत नहीं होती है। परन्तु यदि संकल्पित समय के पहले ही समाधिभंग हो जाय, तो प्राणसंकट का संभव हो जाता है। इसीलिए ऐसे भय से मुक्त स्थान में जाकर ही समाधि में तल्लीन होना आवश्यक है।

यदि नियत समय पर समाधि खुल जाय, पर तो भी ऐसा दीख पडे कि, स्वयं ही समाधि नहीं उतरती है, तो समाधि की समाप्ति करने के लिए निम्नलिखित उपचार करने पडते हैं। आरंभ में उरद के आटे की मोटी रोटी तैयार कर सिर पर बाँध देनी चाहिए। पश्चात् आवश्यकतानुसार गर्दन और पीठ की कुछ नसों को दबाना

चाहिए। यदि इस पर भी समाधि न उतर जाय, तो मस्तक पर और शरीर पर हिमवत् शीतल जल या हिम रख कर, मुँह में हाथ डाल कर भ्रूमध्य के पिछले हिस्से में लगा कर रखी हुई जिह्वा नीचे खींच लेनी पड़ती है। अगर इस पर भी समाधिविच्छेद की अनुभूति न हो, तो समझ लेना चाहिए कि, शरीर निर्जीव हो चुका है और आवश्यक क्रियाकर्म कर लेने चाहिए।

लोटे में रखे हुए जल को सूँघकर जाँच की जा सकती है कि, शरीर मृत है या जीवित दशा में विद्यमान है। यदि वह पानी बिगड कर दुर्गन्धी से भरा हो, तो समझना चाहिए कि शरीर भी निर्जीव हो चुका है और अगर वह जल अच्छा रहे, तो निश्चय है कि, शरीर जीवित है तथा उसे सचेत करने के लिए चेष्टा करनी चाहिए। परन्तु अनुभव से कह सकते हैं कि, संकल्पित अवधि पूर्ण होते ही स्वयमेव जागृति के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

योगीराज के मंतव्यानुसार समाधि लगाना अध्यात्म-ज्ञानका श्रीगणेशमात्र है। इसमें आश्चर्य करने योग्य या असंभवनीय कोई बात नहीं है। वे ऐसा बिलकुल नहीं मानते हैं कि, उन्होंने कुछ असाधारण महान् कृत्य किया है। समाधि में तल्लीन होने के पहले या पश्चात् भी उन्हों ने किसी से एक कौडी भी नहीं ले ली और वे किसी भी वस्तु की अपेक्षा भी नहीं करते हैं। उनकी राय है कि, परमात्मप्रेम तथा सांसारिक चीजों का मोह एक स्थान पर टिक नहीं सकते हैं, क्योंकि दोनों में आकाशपाताल का अन्तर है। वे सुतरां नहीं चाहते हैं कि, विलक्षण एवं अद्भुत शक्ति का प्रदर्शन कर धन कमाया जाय, या मठ आदि की प्राणप्रतिष्ठा कर जनता में अंधविश्वास की मात्रा बढाने के लिए सम्प्रदाय का सृजन कर दिया जाय। हाँ, धार्मिक जनता में आस्तिक बुद्धि को पल्लवित करने के लिए किसी भी स्थान पर पुनरपि समाधि लगाये बैठने के लिए वे सिद्ध हैं। शायद आगामी सितंबर मास में हिन्दू विश्वविद्यालय के परिसर में वे यह प्रयोग फिर कर दिखायें।

गृहस्थी लोगों को उपदेश।

सांसारिक कार्यों में व्यस्त लोग अपना बर्ताव कैसे रखें, इस सम्बन्ध में पूछने पर इन्होंने कहा कि, मानव-

धर्म के अनुसार आचरण रखे। खुद मिहनत उठाकर सचाई से धन कमायें और बालबच्चों का पालनपोषण जहाँ तक हो सके, वहाँ तक करें। यदि अपने परिवार के लिए कुछ संपत्ति की मात्रा शेष न रख सके, तो तनिक भी पर्वाह नहीं, लेकिन कर्ज का बोझ बिलकुल बालकों पर न रहे। यह आशा कभी न करनी चाहिए कि, बालबच्चे बडे होने पर हमें सुख देंगे। संतान का भी यह कर्तव्य है कि, अपने मातापिता को ईश्वरस्वरूप समझ, उन्हें सुखी रखने का प्रयत्न करे। ब्रह्मचर्य का पालन उचित है। अगर परमात्म-प्राप्ति की इच्छा हो, तो इन्द्रियद्वारा प्रतीयमान भोगों पर जो आसक्ति है, वह कम करनी चाहिए। जिस अनुपात में यह लालसा घट जायेगी, उसी अनुपातमें साधक महोदय परमात्मप्राप्ति की राह में आगे बढ सकेंगे।

नमकीन, मिर्चयुक्त, खट्टी और मीठी चीजें खाना महा पाप है। इन वस्तुओं के मोहसे छुटकारा पाकर यदि मनुष्य कन्दमूल एवं पर्णपत्तियों का सेवन करने लगे, तो उसका तमोगुण घट जायेगा और सत्त्वगुण बढ जायेगा। अगर मनुष्य जन्मभर नमकीन एवं मिर्चमसालेयुक्त वस्तुओं का सेवन न करे, तो उसे सर्पविष की बाधा न होगी। ध्यान में रहे कि, " न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति "। नीम के पत्ते या जास्वंद वनस्पति की पत्तियों और फूलों का आहार अतीव सात्विक तथा पुष्टि-कारक है, आदि आदि।

तपश्चर्या करनेवाले अन्य अनेक योगी।

योगीराज को शिक्षा अधिक प्राप्त नहीं हुई। केवल हिन्दी भाषा में लिखना और पढना ही वे जानते हैं। तुलसीदासकृत रामायण और भगवद्गीता उन्हें कंठस्थ है। यदि किसी अन्य विषय के या शास्त्रों के बारे में पूछा जाय, तो वे नम्रतापूर्वक जवाब देते हैं, मैं तो एक सादा आदमी हूँ, मुझे अधिक ज्ञान नहीं। मैं केवल इस समाधि-क्रिया को जान लेता हूँ। मेरे गुरु श्रीरामनाथजी भाँति-भाँति के चमत्कार करने की क्षमता रखते हैं, वायुमंडल में वे आसन जमाकर बिना आधार के रह सकते हैं। पर उन्हें तनिक भी यह इच्छा नहीं कि, जनता को अपनी योगसामर्थ्य का परिचय दिया जाय या प्रदर्शन कर लें। बहुत दूर तक अन्दर घुस जाने पर चित्रकूट जंगल बिलकुल

निर्मनुष्य है। उस स्थान पर बहुत से योगी तपश्चर्या कर रहे हैं, लेकिन वे सांसारिक झंझटों में फँसे हुए लोगोंको नहीं दिखाई पडते हैं। जो लोग योगसामर्थ्य से युक्त होते हैं वे ही उनका दर्शन पा सकते हैं। अस्तु।

ऊपर श्री योगीराज की विचारधारा का संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। कह नहीं सकते, इससे कितने लोग सहमत होंगे, लेकिन वे ६ महिनों तक समाधि में लीन हुए थे, यह एक सत्य घटना है, जिससे सब को अचंभा हो गया है। इसमें लेशमात्र भी कपट नहीं है, ऐसा विश्वास प्रत्येक चिकित्सक बुद्धि के विद्वान् को हो चुका है। हिन्दू विश्वविद्यालय से सिर्फ एक मील की दूरी पर समाधिकी जगह है, इसलिए " चक्षुर्वै सत्यम् " की अनुभूति अनेक लोगों को हो चुकी है। पर हरएक को यह स्वीकार करना पडता है कि, आधुनिक वैज्ञानिकों की कुशाग्र बुद्धि भी यह कैसे संभव है, इस प्रश्न का उत्तर देने में कुण्ठित हो जाती है। यदि कोई पाठक इस प्रश्न पर अधिक उजाला डाल सके, तो प्रस्तुत लेखक उसका अत्यन्त उपकृत रहेगा।

('आरोग्य-मन्दिर' से अनूदित)

मूर्तिपूजन और मूर्ति-अवलम्बन।

(लेखक- कुलपति स्वामी सत्यभक्त, संस्थापक सत्याश्रम वर्धा सी. पी.)

मूर्तिपूजन और मूर्ति-अवलम्बन का भेद न समझ पाने का असर हमारे जीवन पर हमारे समाज पर, और हमारे राष्ट्र पर बहुत भयंकर हुआ है। दिखने में ये दोनों एक-सरीखे मालूम होते हैं, पर दोनों में जमीनआसमान का अन्तर है। मूर्तिपूजन एक अज्ञान है। मूर्ति-अवलम्बन एक तरह की चतुरता है। मूर्ति का उपयोग करनेवालों में भी ऐसे लोग काफी हैं जो इसका अन्तर नहीं समझते, पर मूर्ति का उपयोग न करनेवालों में ऐसे लोग उनसे कई गुणे हैं, जो मूर्तिपूजन और अवलम्बन का भेद नहीं समझते।

मूर्तिपूजन में या तो मूर्ति को देव मान लिया जाता है, या उसमें उस देव का विशेष रूप में निवास मान लिया जाता है जब कि मूर्ति-अवलम्बन में मूर्ति किसी बात, किसी भाव या किसी व्यक्ति की याद दिलानेवाली मानी जाती है, मूर्ति का स्थान एक तरह की किताबसरीखा होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, शुरुशुरुमें मूर्तिका उपयोग मूर्तिपूजन के तरीके पर ही हुआ था। हिन्दुस्थान में करीब ढाई तीन हजार वर्ष पहले और अरब आदि में करीब डेड हजार वर्ष पहले मूर्तिपूजन का दौरदौरा था मूर्ति-अवलम्बन का रहस्य लोग नहीं समझते थे।

पहिले यहाँ यक्ष आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं, उन्हें सिर्फ मूर्तियाँ ही नहीं समझा जाता था, बल्कि यह भी माना जाता था कि, इन मूर्तियों में यक्ष रहता है। अगर पूजाविधि वगैरह में कोई गडबडी हो जाय या किसी तरह से मूर्ति का अपमान हो जाय, तो यक्ष पुजारी के या अपमान करनेवाले के प्राण ले लेगा। इस प्रकार की कहानियाँ पुराने साहित्य में बहुत मिलती हैं कि, अमुक महात्मा रात में यक्षमन्दिर में ठहरा था, उस ने मूर्ति का विनय नहीं किया, इसलिये यक्ष ने उस महात्मा को खूब सताया। ये सब कहानियाँ मूर्तिपूजन की मान्यता पर खडी हुई हैं। इनमें मूर्ति को एक प्रकार की भावना जगाने का साधन नहीं समझा गया है, किन्तु देव या देव का शरीर या देव का निवासस्थान समझा गया है।

इसी प्रकार जब किसी महापुरुष या महामहिला का देहान्त हो जाता था, तब उसकी चितापर एक स्मारक बनाया जाता था, जिसे चैत्य कहते थे। उस चैत्य के विषय में भी लोगों की यह मान्यता रहती थी कि, इसमें उस महापुरुष या महामहिला का आत्मा रहता है, जो कि अपने महत्व और स्वभाव के अनुसार निग्रह और अनुग्रह कर सकता है। इससे चैत्य से लोग डरते रहते थे। यह भी मूर्तिपूजन का एक नमूना था।

हजरत मुहम्मदसाहब के जमाने में भी अरब में इस प्रकार की मूर्तिपूजा होती थी। बल्कि वहाँ तो इस मूर्ति-पूजा को लेकर खूनखराबी तक हो जाती थी। इस प्रकार सब देशों में किसी न किसी तरह मूर्तिपूजन होता रहा है, जिसे उस समय के मनुष्य के अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

हजरत मुहम्मदसाहबने इस अज्ञान को हटाने की पूरी कोशिश की और इस काम में वे आशा से अधिक सफल हुए। इस अज्ञान से और खून खराबी से पिंड छुडाने का उस समय वहां कोई दूसरा रास्ता सम्भव नहीं था। मूर्तिपूजन छुडाकर मूर्ति-अवलम्बन का पाठ पढाना अशक्य था।

भारतवर्ष में मूर्तिपूजन का विरोध करीब ढाई हजार वर्ष पहिले शुरु हुआ। म० महावीर, म० बुद्ध आदि महान् पुरुषों के उपदेशों और उनके व्यक्तित्व का जनता पर बडा जबर्दस्त प्रभाव पडा। चैत्यों और यक्षमन्दिरों का जो भय लोगों के दिल में घुसा हुआ था, वह दूर हो गया। अब यक्षमन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण और उपयोग कम हो गया और ऐसी मूर्तियाँ बनने लगीं जो लोगों को डराती नहीं थीं, किन्तु किसी महात्मा की याद दिलाती थीं, उसके जीवनकी तरफ लोगों का मन खींचती थीं। यह मूर्ति-अवलम्बन था, जो मूर्तिपूजन हटाकर लाया

गया था। मूर्तिपूजन में जो अज्ञान या मिथ्यात्व था, वह इस में नहीं था।

मूर्ति-अवलम्बन एक ऐसा सुन्दर तरीका था, जिस में मूर्तिपूजन के दोष बिलकुल नहीं थे, साथ ही मानव-हृदय की प्यास बुझाई गई थी और सदाचार तथा जीवनविकास का पाठ पढाने के लिये एक सहारा दिया गया था।

मूर्ति अवलम्बन के लिये म० महावीर, म० बुद्ध आदि की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं और फिर वैदिक धर्म के स्थान पर जो पौराणिक मत आया, उस में भी इस मूर्ति-अवलम्बन की प्रथा को जगह मिली, वहाँ भी आदर्श जीवन का पाठ पढने के लिये राम, कृष्ण, हनुमान् आदि की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। पहिले जिस प्रकार यक्षादि की मूर्तियों को यक्षादि का शरीर मानते थे, या उनमें यक्षादि का निवास मानते थे, उस प्रकार राम, कृष्ण आदि की मूर्तियों में राम, कृष्ण आदि का निवास न माना गया, न उन मूर्तियों को उनका शरीर कहा गया। इस प्रकार मूर्तियों के रहने पर भी हिन्दुस्थान से मूर्तिपूजन करीब करीब उठ गया।

हां, यह बात अवश्य है कि, कहीं कहीं टूटे-फूटे भग्नावशेष आज भी पाये जाते हैं। पूजा की विधियों में आज भी ऐसे रिवाज हैं, जिन्हें हम मूर्तिपूजा का भग्नावशेष कह सकते हैं, जैसे पूजा करते समय देव का आह्वान करना और अन्त में यह कहकर विसर्जन करना कि, सब देव अपना अपना भाग लेकर चले जावें। निसन्देह यह उसी अज्ञान या मिथ्यात्व का अवशेष है, जो यहाँ ढाई हजार वर्ष पहिले मौजूद था। निःसंदेह मूर्तिपूजारूप इन कलंकों को दूर करने की जरूरत है।

दूसरी बात यह है कि, आज भी कहीं कहीं मूर्ति में देवत्व या विशेष अतिशय माना जाता है, वह सिर्फ किसी महात्मा के जीवन का स्मरण करानेवाला प्रतीक ही नहीं है, किन्तु स्वयं भी अपना कुछ विशेष महत्व रखती है। मूर्ति के बदल जाने पर महापुरुष की स्मारकता तो ज्यों की त्यों रह सकती है, फिर भी भक्त लोग उस नई मूर्ति को वह महत्व देने के लिए तैयार नहीं हैं। यह मूर्ति-अवलम्बन नहीं, मूर्तिपूजन है और मूर्तिपूजन तो मूर्खता ही है।

पर इस प्रकार के भग्नावशेष हिन्दुस्थान में ही नहीं रह गये हैं, किन्तु उस इस्लामी दुनियाँ में भी रह गये हैं, जिस में मूर्तिपूजन को हटाने के लिए मूर्तियों को भी हटा दिया गया है और मूर्ति-अवलम्बन को जगह नहीं दी गई है। संगे असवद का आदर एक तरह की मूर्तिपूजा ही है। उस पत्थर को हटाकर कोई दूसरा पत्थर, जो संगे असवद से अच्छा हो, रख दिया जाय, तो इस्लामी दुनिया उस नये पत्थर को वह सम्मान देने को तैयार नहीं होगी, जो संगे असवद को दिया जाता है। यह भी मूर्तिपूजा का भग्नावशेष है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, मूर्तिपूजा को हटाने के लिए जहाँ मूर्तियों को हटाया गया, वहाँ और जहां मूर्तिपूजा को हटाने के लिए मूर्ति-अवलम्बन का रिवाज डाला गया, वहाँ मूर्तिपूजा के हटाने में करीब करीब बराबर ही सफलता मिली है। और दोनों जगह विकार भी करीब करीब बराबर ही आये हैं। इन विकारों को हटाने की हमें दोनों जगह कोशिश करना है।

आवश्यकता इस बात की है कि, जहाँ मूर्ति-अवलम्बन में मूर्तिपूजन घुसा हुआ है, वहाँ हम मूर्तिपूजन हटाने की कोशिश करें और जहाँ मूर्तिपूजन के विरोध के लिए मूर्तियाँ भी हटाई गई हैं, वहाँ मूर्ति-अवलम्बन का पाठ पढावें। पहली बात के लिए हमें निम्नलिखित कार्य करना चाहिये।

(१) किसी मूर्ति में सुन्दरता आदि के सिवाय और किसी प्रकार का अलौकिक अतिशय न माना जाय।

(२) पूजाविधि में ऐसी कोई क्रिया न की जाये और न ऐसा कोई पाठ पढा जाये, जिस का अर्थ देवता बुलाया गया और देवता विसर्जित किया गया है।

(३) किसी ऐतिहासिक महत्व के सिवाय किसी कारण मूर्ति बदलने की आवश्यकता हो और वह सम्भव हो, तो मूर्ति के विषय में दिव्यता आदि की कल्पना इस काम में बाधक न हो।

(४) मूर्ति के टूटने फूटने पर आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उस की क्षति का हिसाब लगाया जाय, किसी अलौकिकता के आधार पर नहीं।

(५) मूर्ति के सामने प्रार्थना करते समय ऐसा कोई पाठ न पढा जाय, जिस का मूर्ति के गुणों से ही सम्बन्ध

हो, जिस की वह मूर्ति हो, उस के गुणों से नहीं।

साधारणतः मूर्तिपूजन का रिवाज दूर हो गया है, पर थोड़े बहुत अंश में जो मूर्तिपूजन का दोष रह गया है, उसे हटाने के लिये उक्त पांच सूचनाओं का पालन करना चाहिये।

पर जो लोग मूर्तिपूजन के डरसे मूर्ति का अवलम्बन भी छोड़ चुके हैं, जैसे मुसलमान, आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी, स्थानकवासी, जैन आदि उन्हें पूजन और अवलम्बन का भेद समझ कर मूर्ति-अवलम्बन की तरफ झुकना चाहिये।

हजरत मुहम्मद साहब के जमाने में पूजन को हटा कर अवलम्बन का विधान चलाना कठिन था, इसलिये उन्होंने नहीं चलाया, पर परिस्थिति अनुकूल हो जाने पर भी किसी चीज को न अपनाया जाय, यह तो मुहम्मदसाहब का अनुकरण नहीं है। उन्होंने तो देशकाल देखकर जमाने के अनुसार अपनी जिन्दगी में ही काफी परिवर्तन किये थे। फिर उन्होंने मूर्तिपूजनका निषेध किया था, उसके अवलम्बन का नहीं। अवलम्बन तो उन्होंने रक्खा ही, बल्कि संगे असवद आदिको भी कायम रक्खा। किब्ला की दिशा और मक्का की पवित्रता भी कायम रक्खी, इस से साफ मालूम होता है कि, वे मूर्तिपूजन के विरोधी थे, मूर्ति-अवलम्बन के नहीं। आज जो अवलम्बन का विरोध किया जाता है, इस से मुसलमानों की और इसलाम के सिद्धांतों की काफी दुर्दशा ही हुई है।

कोई न कोई सहारा मनुष्य ढूंढा ही करता है। मुसलमानों में मूर्ति का उपयोग न करने पर भी ताजिया और कब्रों की भरमार हो गई है, दिल की प्यास उन्होंने किसी दूसरे तरीके से बुझाई है। और इस ढंग से बुझाई है कि, उस में मूर्तिपूजन का दोष तक आ गया है। अगर उन्हें मूर्ति-अवलम्बन का पाठ पढ़ाया जाय, तो यह दोष भी दूर हो जाय और दिल की प्यास भी बुझ जाय।

कहीं कहीं तो इस बारे में बड़ी विचित्र मनोवृत्ति देखी जाती है। एक चित्रकार मेरे मित्र थे, इसी विषय के वे अध्यापक थे। वे एक दिन मुझ से बोले कि, मेरी क्लासमें एक मुसलमान विद्यार्थी है, जो मेरे पीरियड में आता, तो है, पर आदमी का या चिड़ियों वगैरह का चित्र बनाना नहीं सीखता। उस का कहना है कि, किसी जानदार चीज का चित्र या मूर्ति बनाना शरियत के खिलाफ है।

मैं मानता हूं कि, इसलामने चित्रकला सीखने की मनाई नहीं की है, पर मूर्तिपूजन के विरोध को मूर्ति-अवलम्बन का भी विरोध समझने से इस प्रकार के काफी भ्रम लोगों के दिल में घुस गये हैं। जैसे वह विद्यार्थी चित्रकला न सीखने में अपने को धर्मात्मा समझता है, इसी प्रकार हजारों मुसलमान समझते होंगे और लाखों मुसलमान उस के इस कार्य को श्रद्धा की नजर से देखेंगे।

यह ठीक है कि, आज लाखों मुसलमान अपने और अपने स्नेहियों के चित्र खिंचाते हैं और नहीं तो सिनेमा की नटियों के चित्र रखते हैं, चित्रपट देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं, इस प्रकार वे मूर्ति अवलम्बन के विरोधी नहीं है, पर दुर्भाग्य यह है कि, वे स्वार्थ के मामले में ऐसा करते हैं, परमार्थ के मामले में नहीं। मैंने अनेक मुसलमानोंके यहाँ रद्दी रद्दी लोगों के चित्र देखे, पर हजरत मुहम्मदसाहब का चित्र देखने में नहीं आया। किसी नवाब या किसी बुजुर्ग या सिनेमा की नटी से प्रेम दिखाने के लिये अगर उन के चित्रों का अवलम्बन लिया जाता है, तो हजरत मुहम्मदसाहब के चित्र का अवलम्बन क्यों नहीं लिया जाता? यह बात नहीं है कि, मुसलमानों के दिल में अपने प्यारे पैगम्बरसाहब के बारे में यह बात न आती हो, जब वे मामूली लोगों के चित्रों से अपनी बैठक सजाते हों, तब यह नहीं हो सकता कि, ऐसे महान् पुरुष के बारे में उन का दिल न जाता हो, जिसे वे सब से अधिक आदर देते हैं। पर मूर्तिपूजन के बदले में मूर्ति-अवलम्बन को न अपनाने से वे अपने दिल की प्यास नहीं बुझा पाते या और रद्दी चीजों से बुझाते हैं।

इस का सब से बुरा पहलू तो यह है कि, इसलामने जो दुनिया को सर्वधर्मसमभाव का पाठ पढ़ाया था, वह पाठ बेकार गया। हर मुल्क और हर कौम में पैगम्बर हुए हैं और मुसलमानों का फर्ज है कि, वे उन पैगम्बरों को एक समान समझें, इस बात पर कुराननें जैसे साफ शब्दों में जोर दिया है, वैसा उस के पहले के किसी धर्मग्रंथ में नहीं पाया जाता, इस दृष्टि से उसे मंदिर मसजिद गिरजाघर सब एक से हैं। पर चूंकि इन में मूर्तियों का उपयोग किया जाता है, इसलिये मुसलमान मन्दिर और गिर-

जावरों के उपयोग से दूर भागता है। वह हिन्दुस्थान के पैगंबरों के बारे में सन्मान प्रगट नहीं कर पाता, दूसरे पैगम्बरों के उत्सवमें भाग नहीं ले पाता। इस प्रकार कुरान शरीफ की एक महत्वपूर्ण शिक्षा बेकार हो गई है। इतना ही नहीं, किन्तु इस छोटीसी बातने करोडों लोगों की जिन्दगी बदल दी है, देश का इतिहास बदल दिया है, जहां बहिश्त की झाँकी दिखाई दे सकती थी, वहाँ आज दोजख दिखाई दे रहा है।

मूर्तिपूजन के हट जाने के बाद अगर मुसलमानोंने मूर्ति-अवलम्बन किया होता, तो पहले पहले मन्दिर आदि तोडने का काम जो मुसलमानों के द्वारा हो गया, वह न हुआ होता। इस का परिणाम यह होता कि, हिन्दू और मुसलमानों में जो सांस्कृतिक संघर्ष हुआ और दुर्भाग्यवश आज भी जो बडे बुरे रूप में बना हुआ है, वह सब न होता। मुसलमानोंने कुरान के सर्वधर्मसमभाव के पालन के लिये यहां के धर्मस्थानों का उपयोग शुरू कर दिया होता और हिन्दुओं के रामकृष्ण आदि के साथ मुहम्मद भी मिल गये होते। दोनों की एक संस्कृति और एक व्यापक धर्म बन गया होता।

आज जो मंदिरों और मसजिदों को नापाक करने की कुचेष्टा की जाती है, उस का स्वप्न भी न आता। पर मूर्ति-अवलम्बन न होने से न हिन्दू मसजिद को अपना सके, न मुसलमान मन्दिरों को। कब्र और ताजिया में थोडेबहुत अंश में मूर्ति का अवलम्बन होनेसे हिन्दु इन्हें काफी अपना सके, पर मसजिद में वह बात नहीं थी, इस लिये उसे न अपना सके। इस प्रकार एक छोटीसी बातने एक महान् राष्ट्र के दो टुकडे कर दिये, प्रेम और सहयोग जो धर्म के असली रूप हैं, उन्हें न पनपने दिया, मानव-हृदय की जो साधारण प्यास है, उससे वंचित रक्खा।

इसलामी प्रभाव के कारण इस देश में आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज, स्थानकवासी आदि मूर्तिविरोधी सम्प्रदाय हुए, और सिक्ख, तारनपंथ आदि अर्ध मूर्तिवाले सम्प्रदाय हुए, यह सब स्वाभाविक तो था, पर इससे समस्या का हल न हुआ। राष्ट्र में एकता लाने, सच्चे लोकहितकारी, व्यापक मानवधर्म के निर्माण करने में इन्होंने हाथ न बटाया। बल्कि बहुत अंशों में तो प्रतिक्रिया ही हुई।

आर्यसमाजी मुसलमानों के समान ही एकेश्वरवादी हैं, उन्हीं के समान मूर्तिविरोधी हैं, उन्हीं के समान जाति-पांति नहीं मानते, फिर भी दोनों में एकता नहीं है, बल्कि अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा आर्यसमाजियों से मुसलमानों का विरोध अधिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि, मूर्ति-विरोध ने राष्ट्र को सुखशान्ति, प्रेम और सत्य नहीं दिया।

पर जब मूर्ति-उपयोग का विरोध नहीं किया गया, तब हम मानवधर्म का निर्माण देखते हैं- सांस्कृतिक, समन्वय देखते, हैं प्रेम और एकता देखते हैं। मूल में आर्यलोग मूर्ति का उपयोग नहीं करते थे। कोल द्रविड, नाग आदि मूर्ति का उपयोग करते थे। आर्यों ने कोल, द्रविड, नाग आदि के रिवाज को अपना लिया। फल यह हुआ कि, सब का समन्वय करके एक हिन्दूधर्म बन गया। यह मूर्ति-उपयोग का परिणाम था।

इसके बाद हम शक, हूण, आदि को भी यहाँ आया हुआ पाते हैं, पर मूर्तिउपयोग के जरिये उनका और उनकी सभ्यता का भी सम्मिलन हुआ। दोनों ही लाभ में रहे।

मूर्तिपूजन की बुराई मैं समझता हूं, उसका मैं विरोधी भी हू, पर उसको हटाने का तथा सच्चे और व्यापक धर्म का उपाय मूर्ति-अवलम्बन है न कि मूर्ति-विरोध। मानव-स्वभाव की दृष्टि से भी इसकी आवश्यकता है। आज भी हरा झंडा मुसलमानोंमें उल्लास भर देता है। तिरंगे झंडे के वंदन से राष्ट्रीय व्यक्ति का दिल उछलने लगता है। यह सब मूर्ति-अवलम्बन है। हरएक व्यक्ति को कभी न कभी किसी न किसी अवलम्बन की जरूरत मालूम होती है। हम इसे हटा नहीं सकते, हटाने की जरूरत भी नहीं है, बल्कि इसका अच्छा से अच्छा उपयोग किया जा सकता है, इसलिये इसके रखने की ही जरूरत है।

सत्यसमाज मूर्तिपूजा का सख्त विरोधी है, पर मूर्ति-अवलम्बन का पूरा हिमायती है। इससे मानवजाति को निम्न लिखित लाभ होंगे—

(१) मूर्तिपूजा से पिंड छूटना।

(२) मानवहृदय की प्यास बुझाने के लिये पेय मिलना।

(३) धर्मसमभाव को प्राणवान् और सशरीर बनाना।

(४) अभी तक बहुतसे स्थानों में मूर्तिपूजा के दोष

पाये जाते हैं। सत्यसमाज के धर्मालय में मूर्ति का जिस तरह उपयोग किया जाता है, उसमें न तो कोई आडम्बर बढ़ता है, न मूर्ति की पूजा हो पाती है और मूर्तिसे लाभ पूरा उठाया जाता है। मूर्ति के उपयोग के दोष मूर्ति का निर्दोष उपयोग करके ही हटाये जा सकते हैं, मूर्ति को हटाकर नहीं।

(२) मूर्ति अवलम्बन का विरोध करने से धार्मिक मूर्तियों और चित्रों का उपयोग नहीं होता, पर उसकी प्यास बनी रहने से अन्य बाजारू चित्रों और मूर्तियों का उपयोग होने लगता है, जैसे मुसलमानों के घर में हजरत मुहंमदसाहब का चित्र न मिलेगा, पर नटियों और नवाबों के चित्र मिल जायँगे।

(३) सर्वधर्मसमभाव के लिये इतना कहना ही बस नहीं है कि, हम सबको समान समझते हैं। हमारा व्यवहार भी उसके अनुसार होना चाहिये और धर्म का व्यावहारिक रूप भी उसी तरह का होना चाहिये। हम सर्वधर्मसमभाव के गीत गायें, पर मन्दिर-मस्जिद-चर्च आदि में जाने से घबरावें, तो हमारे कहने का कोई अर्थ न होगा। अगर हम सब धर्मों को समान समझते हैं, तो हमें ऐसे धर्मस्थान बनवाने होंगे जहाँ सब धर्मों के प्रतीक बराबरी से रक्खे हों। तभी सर्वधर्मसमभाव दुनिया की चीज बनेगा।

जो लोग मूर्ति का नाम सुनकर नाक, मुँह सिकोडने लगते हैं अथवा मूर्ति तो एक झंझट है, ऐसा कह बैठते हैं, उन्हें मूर्तिपूजा और मूर्ति-अवलम्बन का भेद समझना चाहिये। जनता की रुचि देखना चाहिये और अपने और अपने कुटुम्बियों के जीवन में किस किस बात में किस किस तरह मूर्ति-अवलम्बन हो रहा है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिये। वे देखेंगे कि किसी न किसी तरह के मूर्ति-अवलम्बन के बिना उनका काम ही नहीं चल सकता है, तब धर्म में उसका विरोध क्यों! फिर भी अगर मूर्ति की आवश्यकता उन्हें न मालूम होती हो, तो वे उसका उपयोग न करें, पर उपयोग न करनेवालों का सम्प्रदाय न बनावें, जो अपने लिये अनावश्यक है, वह कुटुम्बियों को या दूसरों को अनावश्यक होना ही चाहिये, ऐसा भ्रम न रक्खें। उन स्थानों में जाने से या वहाँ का शिष्टाचार पालन करने से न घबरावें, जहाँ मूर्तियाँ हैं। मूर्ति का उपयोग करनेवाले वहाँ भी आखिर जाते ही हैं, जहाँ मूर्तियाँ नहीं हैं, तब मूर्ति का उपयोग करनेवाले इतने उदार क्यों न बनें! वे वहाँ भी क्यों न जाँय, जहाँ मूर्तियाँ हैं।

मूर्ति पर उपेक्षा करनेवालों की बात दूसरी है, पर जो मूर्ति का विरोध करते हैं, वे सचमुच कुफ्र करते हैं। मूर्ति को शैतान समझते हैं। मूर्ति को शैतान समझना वैसा ही कुफ्र है, जैसा कि, मूर्ति को ईश्वर, अल्लाह या देव समझना। जो मूर्ति का अवलम्बन करते हैं, वे दोनों तरह के कुफ्र से बचे रहते हैं।

अन्त में मैं फिर कहता हूं कि, मैं यह नहीं चाहता कि, लोग मूर्ति की पूजा करें। मूर्ति की पूजा तो हर हालत में जाना चाहिये, पर यह जरूर चाहता हूं कि, लोग मूर्ति का अवलम्बन लें। जिस से सब को सब के धर्मस्थानों का उपयोग करने में बाधा न हो, धर्मालयद्वारा सब धर्मों की एकता का पाठ पढ सकें, पढा सकें और हमारी भद्र भावुकता को अच्छी खुराक मिलती रहे।

शुद्ध वेद ।

वद की चार सहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय सस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥)
३ सामवेद	३)	॥)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद द्वितीय सस्करण	५)	१)	॥)	१॥)
(छप रहा है)	१५)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों सहिताओंका पेशगी म० आ० स सहूलियतका मू० ७॥) रु० हैं, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मगानेवाले १०॥) साढे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों सहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है ।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) तैयार है)	३)	॥।)	।≈)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।≈)	५॥।)

वेदकी इन चारों सहिताओं का मूल्य १८) है, परतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंग, उनको ये चारों सहिताए ९) नौ रु० में दी जायगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्त यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहूलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार सहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद् वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" य चारों सहिताए भी सहूलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य-सेही मिलेगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहूलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री- स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। (यजु० ४०।१५)

(सोने के बर्तन से सत्य का मुख ढंका हुआ है।)

तो क्या कभी हम सत्य बोल ही नहीं सकते?

श्री० सम्पादक 'आर्य-भानु' उत्तर दें!

(लेखक- श्री० गणपतराव आर्य्य, औंध, जि० सातारा.)

श्री सम्पादक आर्य-भानु, नागपुर ने १० मई के अंकमें श्री 'सार्वदेशिक सभा से' जो अपील की है, उस से प्रत्येक सत्य का अभिलाषी प्रसन्न होगा। आप लिखते हैं-

"श्री सार्वदेशिक सभा श्री पं. सातवलेकरजी तथा उनके विरोधियों के लेखों को प्राप्त करके निर्पक्ष विद्वानों की एक सम्मति बना, विचार करवा कर एक फैसला दे दे- अन्यथा यह भेद अन्दर बुरे रूप धारण करते जाते हैं।"

इस अपील से प्रत्येक व्यक्ति संतुष्ट होगा, और मैं भी हूं। परन्तु श्री सार्वदेशिक सभा के फैसले की प्रतीक्षा न करते हुए, आपने जो अपना निर्णय श्री पं० सातवलेकरजी के विरुद्ध सुना दिया है, उस पर जितना शोक किया जाय, उतना थोडा! क्या यह निर्णय श्री सार्वदेशिक सभा को अपने पक्ष में प्रभावित करने के उद्देश्य से दिया गया है? न्यायाधीश को निर्णय देनेकी अपील करते श्रीसम्पादकजी स्वयं ही न्यायाधीश बन बैठे और अपना फैसला भी सुना दिया!!! क्या ही विचित्र दशा है! अब सम्पादकजी का निर्णय देखिये—

१. "जहां तक हमें पक्षविपक्ष के लेखों को देखने का अवसर मिला है, श्री पं. सातवलेकरजी के पक्ष में कम तथा उनके विरोध में अधिक लेख लिखे गये हैं।

२. श्री पं. सातवलेकरद्वारा ही १९३७ में वैदिक देवतावाद का विवाद उठाया गया था, जिसके विरोध में श्री पं. ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, श्री स्वामी वेदानन्दजीतीर्थ आदि के विद्वत्तापूर्ण लेख निकले। यहां तक कि पञ्जाब-प्रतिनिधि सभा के तात्कालीन मासिकपत्र 'आर्य' ने अपना एक अंक ही (अप्रैल १९३९) 'देवताबोधांक' करके निकाला था, जिसमें श्री पं. सातवलेकर के पक्षका पुष्ट प्रमाणों से खण्डन किया गया था।

३. श्री पं. सातवलेकरजी का विश्वास है कि, वे वेदों को बहुत खोज के साथ तथा परिश्रम से ठीक ठीक छपवा रहे हैं।

४. इसी बात के कारण, ऐसा सुना है कि, उन्हें पर्याप्त धन भी मिला है।

५. और इस में सन्देह नहीं कि, उन के स्वाध्याय-मण्डल में छपे वेदों की छपाई और कागज इत्यादि बहुत सुन्दर हैं। परन्तु दुर्भाग्य से वे जो भी ऐसा कदम उठाते हैं, उस से प्रायः आर्यसमाजियों को असन्तोष हो जाता है।"

यह है श्री सम्पादकजी 'आर्यभानु' का १० मई के के अंक में दिया हुआ निर्णय! प्रत्येक धारा से श्री संपादकजी का अज्ञान, साम्प्रदायिकता और पक्षपात टपक रहा है! इसी कारण मैं उक्त लेख की आलोचना निम्न प्रकार करने के लिये बाधित हुवा हूं—

१. विरोधी दल की बहुसंख्या यदि किसी पक्ष की सत्यता की निर्णायक हो सकती हैं, तो विज्ञानियों के विरोधी अज्ञानी संसार में अधिक हैं, अतः श्री सम्पादक, आर्य-भानु अज्ञानियों के पक्ष को ही सत्य समझते होंगे!

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के विरोधी ऋषि के

जीवनकाल में भी और आज भी बहुसंख्या में हैं, अतः श्रीसम्पादकजी की युक्ति अनुसार श्री सार्वदेशिक सभा को घोषणा कर देनी चाहिए कि, आर्यसमाज का पक्ष निर्बल और असत्य है !!! श्री आर्य-प्रतिनिधि सभा, हैद्राबाद स्टेट को चाहिए कि, ऐसी जबरदस्त युक्ति के शोधनार्थ श्री सम्पादकजी को पारितोषक दे !

२. ' देवतावाद पर श्री. पं० सातवलेकरजी के विरुद्ध ' विद्वत्तापूर्ण ' लेखों का निकलना यदि सत्य होता और ' आर्य ' के 'देवतावोधांक' से उन के पक्ष का पुष्ट प्रमाणों से यदि सचमुच खण्डन हो चुका होता, तो फिर श्री सम्पादकजी श्री० सार्वदेशिक सभा से फैसला करवाने की अपील करते ही क्यों ? और सभा के फैसले से पूर्व अपना फैसला देते ही क्यों ?

हकीकत यह है कि, येन-केन प्रकारेण आर्यसमाज रूपी सम्प्रदाय का बचाव करना है ! इसीलिये श्री सम्पादकजी ऐसे अनर्गल लेख लिख रहे हैं ! आप के हार्दिक भाव तो वैदिक धर्म वर्ष २३ के अंक २ में निम्न प्रकार प्रकट हो चुके हैं—

श्री सम्पादकजी " आर्य-भानु " सोलापुर की सम्मति।

(पत्र, सं० १३२४ । सोलापुर ता० १५-११ ४१)

आप का ' देवकामा या देवृकामा ' वाला लेख मिला। एतदर्थ अनुगृहीत हूं। नवबर के वैदिक धर्म में पढकर इससे पूर्व ही इस लेख की ओर मेरा ध्यान गया था; और मैंने इसे कुछ विद्वानों को दिखाया भी था। इस लेख के लिखने में आपने कितनी गवेषणा की है और आपको कितना प्रयत्न करना पडा है, यह देख पाठक श्रद्धा से नत हो जाता है। लेख को उचित सम्मतियों के साथ प्रकाशित किया जायगा।

विनीत, " **सतीश विद्यालंकार** "

अब पाठक उक्त ५ धाराओं में दिए हुवे उन के निर्णय की तुलना इस पत्र से करें, और देखें कि उन के हार्दिक भावों और निर्णय में कितना अन्तर है !! क्यों ? इसलिए कि **सत्य का मुख सोने के ढक्कन से ढका हुआ है !**

३. श्री० पं० सातवलेकरजीका ही नहीं, आप का भी यही विश्वास है। फिर से पढिए अपना पत्र १५।११।४१ का।

४. केवल सुनी बातोंको समाचारपत्रों में लिख मारना श्री सम्पादक, आर्यभानु को ही शोभा देता है। परन्तु जरा खुलकर कहिए, कि क्या शुद्ध वेदमुद्रण में सहायता लेना पाप है ? या देना पाप है ? क्या सम्पादक, आर्यभानु को पता नहीं कि भारत की आर्यसमाजें और उन की प्रतिनिधिसभाएं आदि प्रति वर्ष लाखो रुपया जनता से ' वेदप्रचार ' तथा अन्यान्य निधियों के निमित्त दान लेती हैं ? और इन लाखो रुपयों से जो वेदप्रचार होता है, वह भी श्री सम्पादकजी से छुपा नहीं ! आर्यसमाज की ही नहीं, परन्तु सभी मतमतान्तरों की धार्मिक, सामाजिक अथवा राजकीय संस्थाएं दानबल पर ही चल रही हैं। फिर यदि शुद्ध वेदमुद्रण के लिए श्री पं० सातवलेकरजी को सहायता मिली, तो इस में अनर्थ क्या हुआ ?

५. छपाई और कागज ही सुन्दर नहीं, अपितु यदि आप साम्प्रदायिक भाव से परिपूर्ण पक्षपातरूपी ऐनक उतार कर देखेंगे, तो जिस ऋग्वेद का आपने अपने लेख में वर्णन किया है, उसी ऋग्वेद में आप को वे सब कारण फिर से दृष्टिगोचर होंगे, जिन को देखकर एक **निष्पक्ष पाठक का सिर ' श्रद्धा से नत हो जाता है ' !**

फिर आप को दीखने लगेगा, कि श्री० पं० सातवलेकरजीने कितनी गवेषणा, अथक परिश्रम और कितने समय और आर्थिक व्ययके पश्चात् वेद-कंठस्थ ब्राह्मणों को सारे भारतमें से ढूंढ ढूंढ कर, उनकी सहायता तथा हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों के आधारसे प्रत्येक वेदमंत्रके ऋषि, देवता, छन्द, स्वर, शब्दादि शुद्ध छापे ! इन बातों का मूल्य तो संस्कृत तथा वेद के महान् पण्डित अथवा वेद की खोज करनेवाले (Research Scholars) ही लगा सकते हैं। परन्तु ऋग्वेद में निम्न सूचियों आदि को देख कर ही मेरे मुख से तो सहसा यही निकल जाता है कि, **ऐसा शुद्ध और गवेषणापूर्ण ऋग्वेद संसार के आरंभ से लेकर आजतक यह पहली बार ही छपा है !!!**

श्री सम्पादक आर्य-भानु तथा पाठकों के लाभार्थ मैं उन ऋग्वेद की २३ सूचियों आदि के नाम देना उचित समझता हूं - यथा—

१. ऋग्वेदमुद्रणस्य प्रस्तावः।

२. मण्डलानुक्रमणिका।

३. अष्टकानुक्रमणिका।

४. ऋग्वेदमंत्राणामृषिदेवतासूची।

५. ऋग्वेदीय-सर्वानुक्रमण्यनुक्त-देवता-तद्विशेष-सूची।

६. ऋषिसूची।

७. अनुवाकसूत्रम्।

८. अनुवाकानुक्रमणी।

९. अध्यायानुक्रमणी।

१० अथ ऋग्वेदीयः सांख्यायन-संहिताक्रमः।

११. अथ ऋग्वेदीयो बाष्कल-संहिताक्रमः।

१२. ऋग्वेदे मण्डलानुसारेण मंत्रसंख्या।

१३. ,, अष्टकानुसारेण ,, ।

१४. ,, गायत्र्यादिच्छन्दसां ,, ।

१५. ,, वालखिल्यादि सूक्तानां छन्दसां ,, ।

१६. अथ परिशिष्टानि। (अथ खिलसूक्तानि)।

१७ अष्टौ विकृतयः।

१८. अथ भगवत्कात्यायनविरचिता ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी।

१९. अथ शौनकाचार्यकृतानुवाकानुक्रमणी।

२०. अथ छन्दःसंख्या।

२१. परिभाषाखण्डौ।

२२. अथ छन्दसामुदाहरणानि।

२३. ऋग्वेद-मन्त्राणां वर्णानुक्रमसूची।

उपरोक्त २३ सूचियां आदि श्री. पं. सातवलेकरद्वारा सम्पादित ऋग्वेद का मानो बहिरंग स्वरूप ही है। परन्तु इसी को देखकर मुझ जैसे असंस्कृतज्ञ व्यक्ति पर भी वैदिक खोज की पराकाष्ठा प्रकाशित होती है, जिसका अनुभव करके मैं मारे खुशी के उछल पड़ता हूं!

हृदयाकाश से शब्द उठते हैं और मुझे कहते हैं कि, ऋषि दयानन्द अभिलषित वेद-उद्धार, वेद की खोज, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग और वेदप्रचारकार्य, औंध से ही आरम्भ हो रहा है !!! परन्तु ऋग्वेद के केवल बहिरंग स्वरूप को देखकर इतनी तरङ्गें मेरे जिस हृदय में उठती हैं, उसी ऋग्वेद के अंतरङ्ग और बहिरंग दोनों स्वरूपों को जाननेवाले, गुरुकुल के सुसंस्कृतज्ञ स्नातक **श्री सम्पादक आर्य-भानुजी को ऋग्वेद में केवल छपाई और कागज ही सुन्दर नजर आते हैं- और कुछ नहीं !!!** कदाचित् यह मेरा अपना ही दृष्टिदोष हो, अतः यह मामला वैदिक धर्म के पाठकों के सामने ला रहा हूं कि, वे ही फैसला करें।

उस बात में तो मैं सम्पादकजी से सर्वथा सहमत हूं कि, श्री. पं॰ सातवलेकरजी के शुद्ध वेद-मुद्रण और वेद की खोजसे आर्यसमाज में असन्तोष फैल जाता है। इस का कारण यही है कि, **कुछ आर्यसमाजी वेद का शुद्ध मुद्रण चाहते ही नहीं ! ऐसोंने एक नया मन्तव्य घड लिया है, कि वैदिक यंत्रालय, अजमेरके मुद्रित वेदों के जिस जिस संस्करण में जैसा जैसा भी छपता जाय, वही ऋषि दयानन्दाभिप्रेत होनेसे आर्यसमाजियों को मान्य होना चाहिए।** इस दशा में वेद की खोज और शुद्ध वेद-मुद्रण आर्यसमाज से तो कदापि हो नहीं सकते !

लोग मुसलमानों को कट्टर समझते हैं, परन्तु उन में इतनी सहिष्णुता है कि, वे सर सय्यद अहमद खान, मिरजा गुलाम अहमद कादियानी, मिस्टर महम्मद अली आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा की गई कुरान की नईसे नई तफसीर (व्याख्यासहित अनुवाद) को सहन कर चुके हैं ! परन्तु हम आर्यसमाजी "ऋग्वेद में देवकामा पद है या देवृकामा" इस एक शब्द पर आपे से बाहर हो रहे हैं ! इस एक पद के कारण श्री प्रबन्धकर्ता वैदिक पुस्तकालय, अजमेर मुझे लिख सकते हैं कि, "आर्यसमाज पं॰ सातवलेकरजी के वेदों को नहीं मानता !" इसी कारण एक आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथी पंडितने ६ अप्रैल को मुझसे कहा कि, "पं॰ सातवलेकरजी आर्यसमाजके दुश्मन

है !!! ऐसे वातावरण में वेदों की खोज आर्यसमाज से होना, तो असंभवही है !!! अतः अब आर्यसमाजमें "सत्यके ग्रहण और असत्य के त्याग" वाले ४ थे नियम के लिये भी कोई स्थान नहीं रहा !!

श्री. पं० सातवलेकरजी का कहना सत्य है कि, ऋषि दयानन्द आर्यसमाज को सार्वभौमिक बनाना चाहते थे, परन्तु आर्यसमाज अब एक सम्प्रदाय बन चुका है।" कट्टरता और संकीर्णता सम्प्रदायों में ही रहती है! तो क्या कभी हम सत्य बोल ही नहीं सकते? वेद का उत्तर है-

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(य० ४०-१५)

अर्थात् सत्यधर्म का दर्शन सोने के ढक्कन को दूर करने के पश्चात् ही हुआ करता है। अतः आर्यसमाज के वेतन-धारी उपदेशकों में से कोई भाग्यवान् ही सत्य धर्म को देख सकेगा! धियो यो नः प्रचोदयात्! परमात्मा ही हमें सुबुद्धि दें।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
२ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
४ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
५ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
६ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
७ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
८ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
९ एकादश काड ,,	२)	॥)
१० त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
११ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१२ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ संध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ प्राणविद्या ।	॥)	
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≤)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≤)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	=)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≤)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	=)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
९ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१० वेदमें रोगजंतुशास्त्र	≡)	-)
११ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१२ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१४ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
१५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≋)	-)
उपनिषद्-माला । १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय । भाग १-२	२॥)	॥)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ वेदोपदेश ।	१।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (मायानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य	१॥)	॥)

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक
पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

सहसंपादक
पं० दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.

स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २३] [अङ्क ७

विषयानुक्रमणिका

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २७१

वर्ष २३ : : : : अङ्क ७

आषाढ संवत् १९९९

जून १९४२

सुख की प्राप्ति ।

एतावतश्चिदेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः ।
अदाभ्यस्य मन्मभिः ।

(ऋ० ८।७।१५)

"(मर्त्यः) मनुष्य (एतावतः अदाभ्यस्य चित्) ऐसे न दब जानेवाले वीर के (मन्मभिः) मननीय काव्यों से (एषां सुम्नं भिक्षेत) इनसे उत्तम मन अर्थात् सुख को माँगे, (इसी से उनको सच्चा आनन्द मिलेगा ।) "

शत्रु के सामने जो नहीं दबता, उसी वीर के काव्य मनुष्य गाते रहें। ऐसे वीरों के काव्यों से ही शुद्ध अन्तःस्फूर्ति मिलती है । इस रीति से अपना मन (सु - मन) शुभ संस्कारयुक्त करें। इस से ही सच्चा (सु - म्नं) सुख प्राप्त होगा । सुखप्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकांड का

पूर्वार्ध प्रसिद्ध हुआ।

स्वाध्याय-मण्डल की ओर से महर्षि वाल्मीकिविरचित रामायणका प्रकाशन हो रहा है। प्रथम भाग '**बालकाण्ड**' पहले ही प्रसिद्ध हो चुका था और गत मास दूसरा विभाग '**अयोध्याकाण्ड, पूर्वार्ध**' प्रकाशित हो गया है। यह अयोध्याकांड दो विभागों में प्रकाशित किया जायगा। इस नूतन प्रकाशित विभाग में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया है।

दशरथ की ३०० स्त्रियां, तीन प्रमुख रानियाँ, **दशरथ की पारिवारिक दशा**, युवकों की शिक्षा का क्रम, आदर्श युवराज कैसे उत्पन्न हुआ, **रामायणकालीन शिल्पकला, वस्तुनिर्माणशास्त्र**, सात खण्डवाले प्रासाद, चौडी सडकें, भव्य उपवन, चूनेसे लीपे मकान, राजप्रासाद के सात चौक, दशरथ का बृहदाकार प्रासाद, राजपुत्रों के निवासगृह और रानियों के महल, कैसे और कितने थे? रथ, **ब्राह्मणों के लिए बैठनेयोग्य रथ**, विभिन्न कार्यों के लिए अलग अलग रथ, कैसे बनाये जाते थे और कैसे थे? किष्किन्धा में वानरों के सातसात मंजिल के ऊंचे, सुथरे तथा चूने से लीपे हुए प्रासाद, लंका के राक्षसों के गगनचुम्बी प्रासाद, आर्य, वानर तथा राक्षसोंके रहनसहनकी तुलना। **देवल, देवगृह तथा उपासना की प्रणाली।** महिलाएँ भी प्राणायाम तथा ध्यानधारणा कर चुकने पर उपासना कर लिया करती थीं। हवन स्वयं करती थीं और दूसरों से करवाती थीं। देवलों और देवगृहों में जनार्दन की मूर्ति रखी जाती थी, जिस के निकट हवनकुण्ड हुआ करता था। देव की पूजा कर लेने पर निकटवर्ती अग्नि में आहुति दी जाती थी। नारायण, विष्णु तथा जनार्दन की मूर्तियाँ विद्यमान थीं और इनकी पूजा एवं अर्चा की जाती थी। प्रातःकाल एवं सायंकाल नियमपूर्वक संध्योपासना की जाती थी। **घोर कष्ट झेलने का मौका आनेपर भी रामचन्द्रजी की संध्या यथावत् निभायी गयी थी।** नगरी के अन्य घरों की अपेक्षा देवालय बहुत ऊँचे रहा करते थे। सोलह उपचारों से देवपूजा निष्पन्न की जाती थी। द्वार, चौराहे, वृक्ष तथा नदी की पूजा की जाती थी। **चौराहे पर पूजा समाप्त कर चन्दन प्रज्वलित करते थे।** नगरी का वायुमण्डल विशुद्ध करने का यह एक मार्ग था। सूर्योदय के पहले ही सारा नगर साफसुथरा होता था। महिलाएँ भी नियमपूर्वक देवों की पूजा समाप्त कर लेती थीं। घर के बुजुर्गों को प्रतिदिन प्रणाम किया जाता था। ऐसा मानते थे कि, देवता नगर का संरक्षण करते हैं। ऋषियों के आश्रम में भी मूर्तिपूजा प्रचलित थी। अगस्त्य ऋषि के आश्रम में अनेक देवताओं की पूजा की जाती थी। रावण शिवलिंग की पूजा करता था, पर आगे चलकर रामचन्द्रजीने विष्णुपूजा करने के लिए बिभीषण से कहा था। वानर एवं राक्षस भी सन्ध्योपासना करते थे। **वानरों तथा राक्षसों में वेदवेदांगवित् विद्वान् विद्यमान थे।** रावण स्वयं अग्निहोत्री था।

दशरथ, वाली तथा रावण के क्रियाकर्म तथा अंत्येष्टि-संस्कार मन्त्रपूर्वक निभाये गये थे। अग्निहोत्री के लिए उचित ढंग से रावण का क्रियाकर्म निष्पन्न हो चुका था। दशरथ महायज्ञों का कर्ता था, इसलिए उसका संस्कार उस ढंग से निष्पन्न हुआ था।

ऐसा प्रतीत होता है कि, उस समय शपथ खाने की प्रथा एवं मन्त्र तथा पिशाचपर विश्वास रखनेकी परिपाटी थी। **दशरथ के भी चित्त में सन्देह पैदा हुआ था कि, शायद रामचन्द्रजी के विरुद्ध षड्यंत्रोंका सजन** हुआ हो। अयोध्या में ही रामचन्द्रजी के दुश्मनों तथा विरोधियों का दल विद्यमान था। कैकेयी का आतंक महान था और दशरथ उसके चंगुल में फँस गये थे। रामचन्द्रजी भी सोचते थे कि, अपना राज्याभिषेक बिना रुकावट के पूरा नहीं होगा, अवश्य ही कुछ न कुछ अडचन या विघ्न उपस्थित होगा। कौसल्या की जायदाद में १००० ग्रामों का अन्तर्भाव होता था और इसी तरह अन्य रानियों की आय प्रचण्ड थी। यद्यपि कौसल्या मूर्धाभिषिक्त ज्येष्ठ राज्ञीपद पर अधिष्ठित थी, तथापि सौतिया डाह के कारण बडी दुःखी थी। **दशरथ को कैद करवाकर गद्दीपर बैठ जाने की सलाह लक्ष्मण रामचन्द्रजी को दे देता** है। परन्तु रामचन्द्रजी धर्म के अनुकूल ही बर्ताव रखने का निर्धार करते हैं।

राज्याभिषेक के दिन राजमहल में विभिन्न प्रकारों से विचारविनिमय होता है और अन्त में रामचन्द्रजी वन के लिए प्रस्थान करते हैं।

इस भाँति अनेक विषयों की चर्चा इस विभाग में की हुई है। हरएक प्रतिपादन के पुष्ट्यर्थ अन्तःप्रमाण देकर यह समालोचना लिखी गयी है।

प्रत्येक भाग का मूल्य ३) डाकव्यय ॥=) और सभी दस भागों का पेशगी मूल्य २४) है। रामायण पढने की इच्छा रखनेवाले शीघ्र मँगावें।

व्यवस्थापक- **स्वाध्याय-मण्डल, औंध**

वेद का सत्य अर्थ जानने के साधन।

धर्म का मूल।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। (मनु० २।६)

' अखिल वेद धर्म का मूल है, ' ऐसा मनुने कहा है। यह धर्म का मूल जानना चाहिये। जो मनुष्य धर्म जानना चाहता है, उसको धर्म के इस मूल को यथावत् जानना अत्यन्त आवश्यक है। धर्म का विस्तार अनेक ग्रंथों में मनुष्य देख सकते हैं, पर मूल, धर्म का मूल, केवल एक वेद में ही है, इसलिये वेद का यथावत् ज्ञान प्राप्त करने के विना, धर्म के मूल का ज्ञान हो नहीं सकता।

यहां कई लोग ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं कि, ' धर्म के मूल का ज्ञान किस लिये प्राप्त करना चाहिये ? यदि इस धर्ममूल को हमने नहीं जाना, तो कौनसी आपत्ति हम पर आ सकती है ? ' इस प्रश्न के उत्तर में ऐसा कहा जा सकता है कि, मूल को परिशुद्ध रूप में रखना सदा आवश्यक है। किसी वृक्ष के मूल में, अथवा जड में, कीडा लग जाय, तो उसका परिणाम शाखाओं पर और फूलों तथा फलों पर होता है। इसलिये मूल को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक है।

मूल को सुरक्षित रखो।

इसी तरह यदि ' वेद ही सब धर्मवृक्ष का मूल है, ' तो उस मूल को सुरक्षित रखना और उसको यथावत् जानना अत्यन्त आवश्यक है। सब अन्य ग्रंथों में जो धर्म का विस्तार हुआ है, वह योग्य है अथवा अयोग्य है, इसका निर्णय वेद के प्रमाण से होता है। वेदानुकूल होने पर प्रामाण्य और वेदप्रतिकूल होने पर अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

इसलिये वेदग्रंथों की शुद्धता रखना, तथा उसमें हेरफेर न हो, इसलिये दक्षता रखना, अत्यन्त आवश्यक है। यदि वेदग्रंथों में किसी स्थान पर हेरफेर हुआ, तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा और ऐसे अशुद्ध वेदवचनों का आधार लेकर मनुष्य मनमाने आचार प्रवृत्त करने लगेंगे, तो कितना अनर्थ होगा, इसकी कल्पना पाठक कर सकते हैं। ऐसे अनर्थ न हों, इसीलिये वेदग्रंथों की सुरक्षितता के लिये भरसक प्रयत्न होना अत्यन्त आवश्यक है।

वृक्ष के मूल को या जड को वारंवार कभी कोई देखता नहीं रहता। वैसी अवस्था वेदरूपी धर्मवृक्ष के मूल की नहीं है। धर्मविस्तार बहुत होने के कारण और स्मृति, पुराण, उपपुराण, आगम निबंध आदि ग्रंथों तक धर्मग्रंथों का विस्तार होने के कारण, नाना ऋषिमुनियों के नाना मत इस समय प्रचलित हैं। इनमें सत्य कौनसा और असत्य कौनसा है, इसका निर्णय वेद के प्रमाणवचन से ही होगा। जो वचन वेदवचन के अनुकूल हों, वे प्रमाण हैं और जो वचन वेदवचन के प्रतिकूल हों वे अप्रमाण हैं। इस तरह वेदवचन के प्रामाण्य से अन्तिम निर्णय होता है। इसलिये वेद को सुरक्षित रखना, और आगे भी इस वेद में कोई हेरफेर न कर सके, ऐसा प्रबन्ध करना, अत्यन्त आवश्यक है।

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फला ज्ञेया तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।

(मनु० १२।९५)

' वेदवचन के प्रतिकूल अर्थ बतानेवाले जो स्मृतिवचन होंगे, वे वेदविरुद्ध होनेसे त्याज्य समझना योग्य है। '

इतना वेद का महत्त्व धर्मनिर्णय में माना है, इसलिये वेद की सुरक्षा के लिये जितना यत्न मनुष्यों से हो सकता है, उतना करना अत्यन्त आवश्यक है। क्या यह यत्न वैदिक धर्मियोंने किया है ? इस का उत्तर शोक से ऐसा ही देना पडेगा कि, अभीतक वैसा यत्न नहीं किया गया।

सनातनी और आर्यसमाजी।

वेद के धर्म को माननेवालों के दो विभाग आजकल हमारे सामने हैं। एक प्राचीन **सनातनधर्मी** लोग और दूसरे नवीन **आर्यसमाजी** लोग। तीसरे वेदाभ्यासी लोग हैं, जो युरोपीयन रीति से वेद का अभ्यास करते हैं, वे शुद्ध वेदों के पक्षपाती हैं, पर ये वेद को धर्मग्रंथ नहीं मानते। और चौथे लोग हैं, जो आधुनिक शिक्षित लोग हैं, जो धर्म के साथ अपना सम्बन्ध रखना नहीं चाहते। इन चार प्रकार के लोगोंने वेद को सुरक्षित रखने के विषय में क्या किया है, यह अब देखना है।

धर्म को जहर माननेवाले।

जो आधुनिक सुशिक्षित लोग हैं, वे धर्म से अपना सम्बन्ध छोड बैठे हैं, अथवा धर्मको अफीम जैसा जहर मानते हैं, इसलिये वे धर्मग्रंथों को सुरक्षित रखने में सहायक नहीं होंगे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इनसे सहायता मिलेगी, ऐसी आशा भी नहीं करनी चाहिये।

आदरणीय यत्न।

दूसरे वेदाभ्यासी विद्वान्, जो यूरोपीय दृष्टि से वेदों का अध्ययन करते हैं, उनमें वेद को धर्मपुस्तक मानने की श्रद्धा तो प्रायः नहीं होती, पर ये लोग वेदों का शुद्ध पाठ निश्चित करने के लिये इतना परिश्रम करते हैं कि, उन के वे परिश्रम देखकर हमें इनके विषय में बडा आदर होता है। इस समय तक वेदों के साधनग्रंथ निर्माण करने में जो यत्न इन्होंने, अर्थात् यूरोपीयन लोगोंने किये हैं, एक एक वेदवचन की तलाशी और खोज करने में जो परिश्रम इन्होंने किये हैं, वे अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। इन वैदिक संशोधकों में विशेष परिश्रमी जर्मन पण्डित हैं, उन के पीछे फ्रेंच, इंग्लीश, रशियन, अमेरिकन हैं और इनके पीछे भारतीय पण्डित हैं। भारतीय पंडितोंने ऐसे कोई विशेष माननीय ग्रंथ नहीं बनाये हैं, जैसे जर्मन पंडितोंने बनाये हैं। इसलिये वेदग्रथों को शुद्ध छापने में इनकी बडी सहायता हुई है। इसलिये ये प्रशंसा के पात्र हैं।

सनातनधर्मी।

इनके पश्चात् वेद को धर्मपुस्तक माननेवाले दो ही संघ रहते हैं, एक सनातनधर्मी और दूसरे आर्यसमाजी। इनके प्रयत्नों का अब विचार करते हैं।

सनातनधर्मी लोग वेद को तो स्वतः प्रमाण मानते हैं, पर उन का वेदों के अर्थों के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध नहीं है। वे अपने सब धर्मकृत्य अन्यान्य ग्रंथों से ही करते हैं। वेद पर अतुल श्रद्धा रखते हैं, पर वेदों का अर्थ जानने का यत्न करते नहीं। इतना ही नहीं अपितु इनमें जो कट्टर पन्थी हैं, वे वेदों का मुद्रण करना भी पाप मानते हैं और वेदों का अर्थ अब कोई कर नहीं सकता, इसलिये वेदों को केवल कण्ठही करना चाहिये। वेदों के केवल पाठ से ही पुण्य का विशेष संचय होता है, ऐसा ये मानते हैं। इसलिये वेद के अर्थ के विषय में अथवा वेद के शुद्ध ग्रंथ छापने के विषय में, किंवा वेद का अर्थ जानने के लिये अत्यावश्यक साधनग्रंथ निर्माण करने के विषय में इनसे कोई यत्न होने की संभावना दीखती नहीं।

प्राचीन समय में निघण्टुनिरुक्तादि जो ग्रंथ हुए, तथा मध्ययुग में सायन-महीधर-उवटादिकों के जो भाष्य हुए हैं, वेही इनके सहाय्यक ग्रंथ हैं। पर ये ग्रंथ यद्यपि अच्छे हैं, तथापि वेद का सत्य अर्थ जानने में ये त्रुटिपूर्ण तथा अपूर्ण हैं, इस विषय में इस समय किसी को भी संदेह नहीं है। इसलिये नूतन खोजकी सर्वांगसुन्दर पद्धति से नये साधनग्रन्थ वेद का अर्थज्ञान होने के लिये निर्माण करने चाहिये। पर यह साधनग्रंथों का निर्माण इनसे होनेवाला नहीं है।

सनातन हिंदू धर्म में बडे बडे धुरंधर विद्वान्, शास्त्री, पण्डित आदि बहुत हैं, पर इनकी गति लौकिक साहित्य, दर्शन और उपनिषदों तक ही है। उपनिषद् जिस वेद के अर्थात् संहिता के मंत्रों का प्रामाण्य शिरोधार्य मानते हैं, उन मूल संहितामंत्रों की खोज होनी चाहिये, अथवा करनी चाहिये, इस ओर कोई शास्त्री यत्नवान् नहीं हो रहा है। कई शास्त्री लोगों ने वेदविभाग के कुछ अनुवाद किये हैं, पर वे ऐसे बने हैं कि, उनसे पाठकों का कोई लाभ होने की संभावना नहीं है। संक्षिप्त, क्लिष्ट और दुर्बोध होनेके कारण वेदका तत्त्व-सिद्धान्त-ज्ञानात्मक अर्थ समझने में इनकी कोई, कदापि सहायता होनेकी बिलकुल संभावना नहीं है।

अखिल भारतवर्ष में मूल वेद शुद्ध छापने का यत्न सनातनधर्म की ओर से हुआ ही नहीं। यह इनकी उदासीनता का बड़ा भारी चिन्ह है। वेद को स्वतः प्रमाण माननेवाले भी वेद का शुद्ध पुस्तक तैयार नहीं करते, यह सचमुच आश्चर्य है!!

मुंबई के निर्णयसागरमुद्रणालयने सनातनी विद्वान् पण्डितों की सहायता लेकर अनेक वार केवल ऋग्वेद का मुद्रण किया है। पर यह खोज की दृष्टि से नहीं और आदर की दृष्टि से भी नहीं!! यह केवल व्यवहार की दृष्टि से किया गया है। यह ऋग्वेदग्रन्थ महाराष्ट्रीय द्विजों में बिकता है, इसलिये उनकी आवश्यकतानुसार यह बिकनेवाला ग्रन्थ है, इसीलिये छापा गया और ब्राह्मणोंके पठनपाठन के लिये जैसा चाहिये, वैसा बनाया है।

जिसमें खोज की, अर्थज्ञान की अथवा संशोधन की दृष्टि बिलकुल नहीं और केवल व्यवहार की ही दृष्टि जिसमें है, ऐसा यह ग्रन्थ है। इसलिये अर्थ जाननेवालों के लिये यह बिलकुल निकम्मा है। यह शुद्ध है, अक्षर जहां जैसे चाहिये, वैसे वहां हैं, ऋषि-देवता-छंद सब ठीक हैं, प्राचीन पठनपाठनपरिपाटी के अनुसार आवश्यक सब साधन इसमें हैं। पर मंत्र ऐसे छपे हैं कि, जहां पदच्छेद किया नहीं। मन्त्र अलग अलग छपे नहीं, सब ग्रन्थ अक्षर के साथ अक्षर साथ साथ लगा हुआ छापा गया है। इसलिये वेद की खोज करनेवाला और वेद का अर्थ जाननेवाला इसको हाथ में भी नहीं लेता। जो पण्डित वेद को केवल कण्ठ करते हैं, वे केवल अक्षर ही देखते हैं, इसलिये उनके काम के ये पुस्तक हैं और वेही इनको लेते हैं। अर्थात् वेद के अर्थज्ञान में उपयोगी होने की दृष्टि से इसका मूल्य कुछ भी नहीं है।

सनातनधर्मावलम्बियों ने वेदसंहिता के मुद्रण में किसी अन्य स्थान में कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नहीं किया है। मुंबई में ऋग्वेद सायनभाष्य छपा था, पर उसमें अशुद्धियां इतनी थीं कि, वह न छापा जाता, तो अच्छा होता। ऋग्वेद सायनभाष्य दो वार पं० मोक्षमुल्लर ने आक्सफोर्ड (इंग्लंद) में छापा। यह सब दृष्टि से शुद्ध छापा गया था और खोज के लिये आवश्यक सब सामान इसमें था। पर इसका सब यश पं० मोक्षमुल्लर नामक जर्मन पंडित को है। सनातनधर्मावलंबियों को इसका यश नहीं है।

इस समय पूना में वैदिक संशोधन-मण्डल-नामक संस्था के द्वारा ऋग्वेद-सायनभाष्य मुद्रित किया जा रहा है। और पं. मोक्षमुल्लर से यह अधिक शुद्ध और अधिक उपयोगी है। इसका श्रेय पं० नारायण शर्मा सोनटक्के तथा उनके उत्साही सहकार्य करनेवालों को है। पर यहां भी मूल संहिताओं के छापने का काम नहीं हो रहा है और भाष्य तो सब लोग कभी लेंगे नहीं, क्योंकि उस पुस्तक का मूल्य ४०) या ५०) रु. है। उत्तम सुप्राप्य ग्रन्थ निर्माण होने में यह कठिनता है। सनातनधर्मियों ने अभी हाल में मद्रास में और कलकत्ता में सामवेद छापने का उपक्रम किया है। वह बनने वह कैसा होता है, देखेंगे।

मूल वेदमुद्रण के विषय में इस तरह करीब करीब कुछ भी कार्य इन से नहीं हुआ। क्या यह शोचनीय बात नहीं है? स्वत प्रमाण ग्रंथ वेद हैं, ऐसा मानना और उसके उत्तम छपे ग्रन्थ मिलने का प्रबंध बिलकुल न करना, यह अवस्था क्या बताती है, इसका विचार सब पाठक करें। हमारे विचारसे तो यह अवस्था सनातनधर्मवालों के लिए लांछनास्पद है।

आर्यसमाज।

अब रहा आर्यसमाज, यह संस्था वेदको ही अपना एकमेव धर्मपुस्तक मानती है। सनातनधर्मियों के पास संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, उपपुराण, आगम, निबंध, स्मृति आदि सैंकडों की संख्या में धर्मग्रन्थ मौजूद हैं, इसलिये केवल वेद की ओर विशेष ध्यान देनेके लिये उनको फुरसद नहीं होती। वैसी बात आर्यसमाज की नहीं है। आर्यसमाज अपनी धर्मपुस्तक केवल वेद की चार ही संहिताओं को मानता है। धर्मपुस्तक कहनेयोग्य आर्यसमाज के पास अन्य कोई पुस्तक नहीं है। इसलिये संपूर्ण आर्यसमाज की दृष्टि वेदमुद्रण पर आकर्षित और केंद्रित होनी चाहिये थी। पर वैसा हुआ नहीं।

आर्यसमाज ने अजमेर में वैदिक यंत्रालयनामक एक मुद्रणालय स्थापित किया। इस में वेदों के ग्रन्थ मुद्रण

करना ही मुख्य कार्य था। पर इस संस्था का लक्ष्य अन्यान्य छपाई के कार्य करके पैसा कमाने की ओर अधिक गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि, इस छापाखाने में जो चार वेदों के पुस्तक छापे गये, वे अशुद्धियों से भरे हुए हुए। अतः प्रमाण माननेयोग्य न रहे !!! आर्यसमाज का यह कार्य है !!

आर्यसमाज ने चारों मूल वेद छापे, उसकी सूचियां अर्थात् मंत्र के आद्य चरणों की सूचियां भी छापीं। पर शास्त्रशुद्धता इसमें कुछ भी नहीं थी! वेदों की जो मन्त्र-सूचियां इन्होंने छापीं, उनमें मन्त्रप्रतीकों का क्रम भी अकारानुक्रम से जैसा चाहिये, वैसा नहीं है। यह तो एक मामुली कार्य है, पर यह भी इनसे न हो सका।

चारों वेद सबसे प्रथम पुस्तकाकार छापनेका कार्य इन्होंने सबसे प्रथम किया। सब से प्रथम चारों मूल वेद स्वल्प मूल्य में देनेका श्रेय निःसंदेह आर्यसमाज को है। यह श्रेय इस संस्था को हमेशा प्राप्त हो जाता, यदि ये इस कार्य पर अच्छे विद्वानों को नियुक्त करते। पर इन्होंने वैसा किया नहीं। इसका फल यह हुआ कि, इनके छपे वेद अशुद्धियों से भरपूर हुए और प्रमाण की दृष्टि से इनका मूल्य कुछ भी नहीं रहा।

करीब करीब ४० वर्ष तक इनके वेद ही हम प्रमाण मानते रहे। पर जैसा जैसा वेदोंका अभ्यास बढता गया, वैसा वैसा उन ग्रंथों का अशुद्ध स्वरूप सामने आने लगा और प्रमाणग्रन्थ की दृष्टि से उनका मूल्य कुछ भी नहीं है, यह सिद्ध हुआ। आर्यसमाज वेद को ही धर्मग्रन्थ मानता है, पर उनके पास प्रमाण माननेयोग्य मूल वेद नहीं है, यह कितनी शोचनीय बात है?

अब हम आर्यसमाज के वेदविषयक अन्य ग्रंथों का विचार करते हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का वेद-भाष्य है, ऋग्वेद के सप्तम मण्डल तक यह ऋग्वेदपर है और संपूर्ण यजुर्वेद पर भी है। अन्य वेदों पर नहीं है। पहिले इस का मूल्य ८०) था, उस समय हमने यह भाष्य लिया था। अब वैदिक यंत्रालयवालोंने द्वितीय वार छापा है और मूल्य सस्ता भी किया है। पर यह १०) मूल्य के अन्दर अच्छा मुद्रित करके दिया जाना सम्भव है। इस ओर इस संस्था का ध्यान नहीं है।

इस भाष्य के सिवाय स्व० पं० क्षेमकरणदासजीने अथर्ववेद तथा गोपथब्राह्मणका अनुवाद किया। मूल्य४५) हुआ था। पर यह छापा ऐसा रही था कि, इसको पढने के लिये दिल नहीं करता था। पर यह सब हमने देखा। इसमें भाष्य करने में मूलभूत ऐसी गलतियां हुईं कि, जिन के कारण सब का सब यह पोथा बिलकुल निकम्मासा हो चुका है। उदाहरण के लिये 'सूत्र' शब्द हम इस भाष्य से पेश करते हैं। वेद का प्रत्येक शब्द परमेश्वरवाचक है, इस मिथ्या कल्पना से इनका यह अनुवाद होने के कारण उस धुन में इन्होंने सूत्र शब्द का भी परमेश्वर अर्थ कर डाला! जहां लेखक के मन में ऐसी अशुद्ध कल्पनाएं जमी रहती हैं, वहां शास्त्रशुद्ध अनुवाद अथवा भाष्य होना सर्वथा असम्भव हो जाता है। पं. क्षेमकरणजीका सब अनुवाद इस मूल अशुद्ध कल्पनाके कारण सब का सब अशुद्ध हुआ है।

इस के पश्चात् चारों वेदों का अनुवाद करने का यश पं. जयदेवशर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थने लिया है। आपने चारों वेदों का अनुवाद किया, यह सत्य है, पुस्तकें सुंदर हैं, छापा अच्छा है, मूल्यभी योग्य है, यह सब ठीक है। पर मूल मंत्र और उन का प्रामाणिक अनुवाद होने के लिये जो शास्त्रशुद्धता चाहिये, वह इसमें नहीं है। एक ही सूक्त में, एकही प्रकरण के मंत्रों में भी अनेक अर्थ किये हैं, अश्विनी देवता में स्त्रीपुरुष, राजाप्रजा, आदि जो मर्जी आ जाय, वह अर्थ लिख दिया है और ऐसा अर्थ क्यों किया, इसका कारण कहीं भी नहीं दिया। इसलिये सतर्क होकर जो लोग इसका पाठ करेंगे, वे उत्साहहीन हो जायगे, इसमें सन्देह नहीं है। उदाहरणके लिये देखिये—

ऋ १-३-१ (अश्विनौ) शीघ्र जानेवाले रथ और रथ के स्वामी स्त्रीपुरुषो!

१-३-२ (अश्विनौ) मुख्य अधिकार भोगनेवाले स्त्रीपुरुषो!

१-३४-१ (अश्विनौ) सूर्य, चन्द्र और दिनरात्रिके समान, विद्या और अधिकार में व्यापक।

१-३४-१ एक दूसरेमें मन, वाक, काय तीनों प्रकारसे व्यापक रहनेवालो!

१-३४-३ (अश्विनौ) ऐश्वर्यों के भोक्ता परस्परप्रेमी स्त्रीपुरुषो!

(अश्विनौ) राजा और मंत्री।

१-३४-६ (अश्विनौ) विद्या और ज्ञानप्रकाश में पारंगत विद्वान् ।

७ (अश्विनौ) जल और अग्नि के समान शांति और तेज से युक्त स्त्रीपुरुष ।

अस्तु । इस तरह देवतावाचक शब्दों के मनमाने अर्थ किये हैं और किसी अर्थ के लिये कोई प्रमाण दिया नहीं है । अश्विनौ का अर्थ स्त्रीपुरुष अथवा राजा और मंत्री, करनेके लिये कोई प्रमाण नहीं है । एकही सूक्तमें राजा, मंत्री, स्त्रीपुरुष, सूर्यचन्द्र, शांत और उष्ण आदि अर्थ लाकर जो अर्थों की खिचडी बनायी है, वह देखने से ' सर्वे सर्वार्थवाचकाः ' (सब ही मंत्र सब कुछ भाव बतानेवाले हैं ।) ऐसाही प्रतीत होने लगता है और इसी कारण वेद की स्वतःप्रामाणिकता नहीं रहती और अश्रद्धा बढ जाती है ।

ये अनुवादकर्ता विद्वान् हैं और प्रामाणिक अनुवाद करना चाहेंगे, तो कर भी सकते हैं । पर जो किया गया है, वह विद्वानों में सदा आदर के लिये उक्त कारण प्राप्त होगा, ऐसा नहीं है । यह उन का प्रथम प्रयत्न है, और यदि वे आगे सुधारेंगे, तो ये दोष दूर हो सकते हैं ।

आर्यसमाज में और कोई प्रयत्न वेदमुद्रण के लिये तथा अनुवाद के लिये उल्लेख करनेयोग्य नहीं हुए ।

सब लोग पं० गुरुदत्तजी के लेखों की प्रशंसा करते हैं, यदि वे जीते, तो कुछ लिखते, इस में सन्देह नहीं है, पर जो उन के नाम पर प्रकाशित हुआ है, वह इतना अल्प है कि, उस से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता ।

लाहौर में विरजानन्द प्रेस में मास्टर दुर्गाप्रसादजीद्वारा ऋग्वेद का मुद्रण हुआ था । और कुछ अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया था । मास्टर दुर्गाप्रसादजी बडे उत्साही थे और उन्होंने प्रथम वार ही ऋग्वेद ऐसा छापा था कि, अक्षर काले रंग में छापकर, स्वर लाल रंग मे छापे थे । यह ग्रंथ सुन्दर दीखता था । पर अशुद्ध छपने के कारण इस विषय में कुछ भी न लिखना ही अच्छा है ।

आर्यसमाज ने जो सामूहिक रूप से वेदों के विषय में कार्य किया, वह यह है । इस कार्य में विशेष विद्वान आ जाते, तो यह कार्य अच्छा होना संभव था । पर प्रथम से ही बहुत बडे विद्वान इस में सहायक नहीं हुए, और जो उत्साह से आये और जिनको यह कार्य करना पडा, उन से वह होनेवाला नहीं था, इसलिए शास्त्रशुद्ध रीति से वेद-मुद्रण का कार्य इस संस्था से नहीं हुआ ।

संप्रदाय की लहर ।

अब इस आर्यसमाज की स्थिति यह हुई है कि, जो जैसा अजमेर वैदिक यंत्रालयवालोंने स्वामिजी के नाम से छापा है, वह वैसा ही शुद्ध मानकर चलना चाहिए, उस में एक अक्षर का भी हेरफेर नहीं होना चाहिए । ऐसी सांप्रदायिक प्रवृत्ति समाज में बढ चुकी है, इस कारण जो कोई खोज करता है, और शुद्ध पाठ बताता है, अथवा योग्य हेरफेर बताता है, वही बहिष्कारके योग्य समझा जाता है । इस कारण कई बडे बडे खोज करनेवाले विद्वान आर्यसमाज से बाहर किए गए । यह प्रवृत्ति ' संप्रदाय ' बनने की सूचक है और इस कारण ऐसी अवस्था आर्यसमाज की आ चुकी है कि, इसके आगे इस संस्था से वेदके शुद्ध पुस्तक अथवा वेद के परिशुद्ध अनुवाद नहीं हो सकेंगे ।

आजकल के कर्णधार साफ साफ शब्दों में ऐसा कहते हैं कि, जो इस समयतक स्वामिजी के नामपर जैसा छापा है, वैसा अक्षर अक्षर सत्य है, ऐसा सिद्ध करना ही वेदकी खोज करनेवालों का कर्तव्य है ! ! अस्तु । हमें इस भूमिका की टीका करनी नहीं है । हमें इतना ही बताना है कि, इतना मंतव्य बननेपर शुद्ध वेदोंका मुद्रण होना अथवा वेदों का सरल और शुद्ध अनुवाद होना इस संस्था से अशक्य है और यही हो रहा है । इस समाज का कोई विद्वान नया ग्रंथ निर्माण करने का साहस नहीं कर रहा है ।

स्वाध्याय-मंडल का कार्य ।

सनातनी लोगों की वेदके विषय में उदासीनता और आर्यसमाजियों की कट्टरता अत्यधिक बढने से वेदका कार्य होना असंभव हुआ है । यह देखकर **स्वाध्याय-मंडल** द्वारा वेदों का शुद्ध मुद्रण करने का कार्य हमने गत ३१४ वर्षों में शुरू किया और वह आगे चलाया है । इस समय तक ऋग्वेद का दो वार मुद्रण किया गया है । इस के अतिरिक्त **वा० यजुर्वेद, काण्व यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मैत्रायणीसंहिता** इतनी संहिताओं का मुद्रण हो चुका है ।

आगे तैत्तिरीय संहिता, कपिष्ठलकठ-संहिता, पिप्पलाद-संहिता, आदि संहिताग्रंथों का मुद्रण करना है। यह कार्य चल रहा है और एक एक संहिता का मुद्रण होकर वह संहिता प्रकाशित हो रही है।

इसके पश्चात् ब्राह्मणग्रंथ और आरण्यकग्रंथ भी छापने हैं। साथ साथ इनकी अनेक सूचियां भी बननी हैं। इस तरह यह बडा और प्रचंड कार्य यहां शास्त्रशुद्ध रीतिसे हो रहा है। प्रत्येक शाखासंहिता के विद्वान् बुलाए जाते हैं, और उनकी समितिके द्वारा उस संहिता का मुद्रण होता है। प्रत्येक पद और मंत्र के शुद्ध पाठ का निर्णय करने के लिए जितने आवश्यक परिश्रम करने होते हैं, वे सब किए जाते हैं। और मानवी प्रयत्नों से जितना हो सकता है, उतना यत्न शुद्ध छापने के लिए किया जाता है। संहिता छापनेपर वह छपा ग्रंथ वेदवेत्ताओंकी समितिके सामने रखा जाता है और प्रत्येक अशुद्धि के लिए कम से कम एक रु. पारितोषिक देकर अशुद्धियों का पता लगाया जाता है और उनका शुद्धीकरण किया जाता है। इस तरह अत्यंत परिश्रम से ये ग्रन्थ शुद्ध छापे जा रहे हैं। इस तरह का यह प्रयत्न प्रथम ही स्वाध्याय-मंडल में किया जा रहा है।

यूरोप में वेदों का मुद्रण।

अन्यत्र जो प्रयत्न हो रहे हैं और हुए थे, उनका विचार ऊपर किया जा चुका है। अब केवल यूरोप में छपे वेदग्रंथों के विषय में यहां थोडासा लिखना आवश्यक है—

यूरोप में १०० वर्षों के पूर्व सामवेद एक जर्मनी में और दूसरा इंग्लंड में छपा था। इनमें जर्मनी का सामवेद अच्छा, सुंदर, स्वरसहित और शुद्ध था, परन्तु इंग्लंड में छपा अशुद्ध, अव्यवस्थित और स्वररहित था। जर्मनी में छपे सामवेदकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोडी है। वेद-ग्रंथों के मुद्रण के विषय में जो जर्मनों के प्रयत्न हुए हैं, वे प्रशंसा के योग्य हैं। वैसे प्रयत्न भारतवासियों को करने चाहिये। पर अब तक वैसा यत्न भारतीयों से नहीं हो रहा है, यह शोक की बात है।

इसके पश्चात् जर्मनी में पिप्पलाद-संहिता, शौनक-संहिता ये अथर्ववेद के ग्रन्थ छपे। ये भी बहुमूल्य ग्रन्थ हैं। और इस विषय के जर्मनों के यत्न सदा प्रशंसायोग्य ही हैं। जर्मनी में रोमन अक्षरों में संपूर्ण ऋग्वेद अत्यंत शुद्ध छपा है। नीचे आवश्यक पदपाठ भी दिया है। अंग्रेजी लिपी में वेद छापना और वह अत्यंत शुद्ध छापना कितना कठिन है, इसका जो लोग विचार करेंगे, उनको पता लग सकता है कि, इसमें जर्मनों की प्रशंसा कितनी करनी योग्य है।

पं० मोक्षमुलर ने भी ऑक्सफोर्ड में ऋग्वेद पदपाठ-सहित छापा था और विना पदपाठ के भी छापा था। दोनों शुद्ध छपे थे। इतने ग्रन्थ यूरोप में छपे हैं। ये अच्छे हैं, शुद्ध हैं, सुंदर हैं, बडे परिश्रम से संपादित हैं, पर इनके मूल्य इतने अधिक हैं कि, ये शुद्ध और अच्छे होनेपर भी भारतीयों के लिये ये दुष्प्राप्य ही हैं। देखिये इनके मूल्य और हमारे मूल्य में क्या अन्तर है—

वेद	युरोपमुद्रितका मूल्य	हमारे मुद्रितका मूल्य
ऋग्वेद (इंग्लंड)	७५)	५)
,, (जर्मनी)	८०)	,,
सामवेद (इंग्लंड)	४०)	३)
,, (जर्मनी)	५०)	,,
अथर्ववेद (जर्मनी)	३००)	५)
,, ,,	५०)	१)

इस से पाठक जान सकते हैं कि, यूरोप में मुद्रित ग्रंथ बहुत ही महंगे हैं, इसलिये हमें यहां उन से अधिक उत्तम वेद मुद्रित कर के बहुत ही सस्ते मूल्य में देने चाहिये। वैसा हम स्वाध्याय-मण्डलद्वारा कर रहे हैं। ये हमारे ग्रंथ पाठकों के सामने हैं। पाठक इनको लेकर अन्यत्र मुद्रित ग्रंथों के साथ तुलना कर के देख सकते हैं। जब वे इस तरह तुलना करेंगे, तब उनको यह बात स्पष्टता के साथ प्रकट होगी कि, स्वाध्याय-मण्डलने उत्तम वैदिक ग्रंथों को सुन्दर छाप कर अत्यन्त सस्ता देने की पराकाष्ठा की है।

ये ग्रंथ हम पंडितों, विद्यार्थियों, ब्रह्मचारियों, संन्यासियों तथा पठनपाठन की संस्थाओं को आधे मूल्य में देते हैं। यह सस्तेपन की चरम सीमा है, ऐसा कहने के विना कोई नहीं रहेगा।

हमने जो वेदसंहिताओं के मुद्रण का कार्य शुरू किया है। वह १-२ वर्षों में समाप्त हो जायगा। इस समय युद्ध की बडी भारी आपत्ति आ गयी है। कागज मिलना कठिन हुआ है। चौगुना मूल्य देकर थोडासा कागज मिलता है। यह सब बडी भारी आपत्ति है। पर परमेश्वरकृपा से इस आपत्ति से भी हम सुरक्षित पार होकर अच्छे दिन देख सकेंगे, ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

अन्य किसी संस्थाने जो कार्य नहीं किया, वह स्वाध्याय. मण्डल ने करके बताया है। और जो शेष रहा है, वह भी करके बताया जायगा। क्योंकि हमारे पास इस समय सब वेद की शाखाओं के विद्वान् पण्डित उपस्थित हैं। इनका सहाय्य होने से हम यह कार्य करके दिखा सकते हैं। पर इतना करने के बाद भी हमें वेदों के विशेष प्रकार के संस्करण प्रकाशित करने हैं, उनका स्वरूप हम पाठकों के सामने इस लेखद्वारा रखना चाहते हैं-

स्वाध्याय के लिये वेद।

१. ऋग्वेद का मुद्रण--

इसमें चरण दर्शाये जायगे, प्रत्येक मन्त्र का देवता दिखाया जायगा। ऋषि, देवता, छन्द आदि यथायोग्य बताये जायगे। यह तो हमारे इस वार के मुद्रित ऋग्वेद में है हि। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का पदपाठ, मंत्रों का अन्वय और अन्य शाखासंहिताओं में जहां जहां यह मन्त्र आया होगा, अथवा मन्त्र का खंड या अंश आया होगा, वह सब उसी पृष्ठ में दिखाया जायगा, तथा जो जहां पाठभेद होगा, वह भी उस मन्त्र के नीचे उसी पृष्ठ पर दिखाया जायगा।

२. यजुर्वेद का मुद्रण--

यजुर्वेद का ऐसा मुद्रण करना चाहिये कि, जहां संहिता का जैसा उच्चारण होता है, वैसे सब स्वरचिन्ह आदि उस में हों। इसके नीचे सरल अक्षरों में वही संहिता छापी जावे। यह संहिता छापने के समय कण्डिका के अन्दर जितने मन्त्रभाग होंगे, वे सब के सब अलग अलग वहांही स्पष्ट रीतिसे दर्शाये जाँय। जिससे इस बात का बोध हो सके कि, इस मन्त्र में अथवा कण्डिका में कितने मन्त्र-भाग हैं, इसका मन्त्र देखते ही देखनेवाले को पता लग जावे।

इसके पश्चात् यजुर्वेद का पदपाठ दिया जावे और मन्त्रों का अन्वय (आवश्यक अध्याहृत पदों को कंसमें रख कर) दिया जावे। तथा पुनरुक्त मन्त्रभाग आदि का पता ऋग्वेदवत् यहां भी दिया जावे और साथसाथ यजुर्मन्त्र और ऋङ्मन्त्र का भेद स्पष्ट दर्शाया जावे। अर्थात् गद्य-भाग गद्य जैसा छापा जावे और पद्यभाग पद्य जैसा छापा जावे, तथा ऋषि-देवता-छन्दका निर्देश जहां जैसा चाहिए, वैसा किया जावे।

३. सामवेदमुद्रण--

जैसा सामवेद का मुद्रण हमने किया है, वैसा ही होना चाहिए, परन्तु सामगान उसी मन्त्रके नीचे रहने चाहिए। और सामगानपद्धति स्पष्ट करके बतानी चाहिए। ऋग्वेद के मन्त्र भी साथ साथ देने चाहिए और मन्त्रभेद जहां होता है, वहां वह स्पष्ट बताना चाहिए। इस तरह हमने सामगान छापे हैं, जो पाठकों के सामने बहुत जल्दी रखे जायगे। (सामवेद का पदपाठ छापना चाहिए और सामके गानसम्बन्धी सब ग्रंथ छापकर गान की पद्धति अधिक स्पष्ट करनी चाहिए।

४. अथर्ववेदमुद्रण--

जिस पद्धति से ऋग्वेद का मुद्रण करना चाहिए, ऐसा हमने ऊपर लिखा है, वैसा ही अथर्ववेद का मुद्रण होना चाहिए, अर्थात् ऋषिदेवताछन्द आदि का निर्देश, पदपाठ, अन्वय, पुनरुक्त मन्त्रभाग, शाखांतरीय पाठभेद यह सब देना चाहिए और परिशिष्टमन्त्र भी देने चाहिए।

इस तरह चारों वेदों के संस्करण प्रकाशित होने चाहिये। सब शाखासंहिताओं का भी ऐसा ही प्रकाशन होना चाहिए। हमने जो मैत्रायणी-संहिता छापी है, उसमें हमने इस तरह कुछ अंश में करके बताया है, जिस को देखकर पाठक जान सकते हैं कि, यह किस तरह होना चाहिए।

(ऋग्वेदमुद्रण का नमूना)

(ऋषि.-मेधातिथि. काण्वः। आप.। १९ पुरउष्णिक्, २१ प्रतिष्ठा, २२-२३ अनुष्टुप्॥)

मन्त्रपाठः।

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषज--मपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः १९

अप्सु मे सोमो अब्रवी--दन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुव--मापश्च विश्वभेषजीः २०

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे २१

इदमापः प्र वहत यत् किं च दुरितं मयि। यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् २२

पदपाठः

१९. अप्ऽसु। अन्तः। अमृतं। अप्ऽसु। भेषजं। अपां। उत। प्रऽशस्तये।
देवाः। भवत। वाजिनः॥

२०. अप्ऽसु। मे। सोमः। अब्रवीत्। अन्तः। विश्वानि। भेषजा।
अग्निं। च। विश्वऽशंभुवं। आपः। च। विश्वऽभेषजीः॥

२१. आपः। पृणीत। भेषजं। वरूथं। तन्वे। मम। ज्योक्। च। सूर्यं। दृशे॥

२२. इदं। आपः। प्र। वहत। यत्। किं। च। दुःऽइतं। मयि।
यत्। वा। अहं। अभिऽदुद्रोह। यत्। वा। शेपे। उत। अनृतं॥

अन्वयः।

१९ अप्सु अन्त अ-मृतं (अस्ति)। अप्सु भेषजं (अस्ति)। हे देवाः! उत अपां प्रशस्तये वाजिनः भवत॥

२० अप्सु विश्वानि भेषजा (सन्ति, इति) मे सोमः अब्रवीत्। विश्व-शं-भुवं अग्निं, विश्व-भेषजीः आप (इति च अब्रवीत्)॥

२१ हे आपः! ज्योक् च सूर्यं दृशे मम तन्वे वरूथं भेषजं पृणीत॥

२२ हे आपः! मयि यत् किंच दुरितं, यत् वा अहं अभिदुद्रोह, यत् वा शेपे, उत अनृतं (तत्) इदं (सर्वं) प्र वहत॥

---

१९ अथर्व १-४-४; वा० य. ९-६; तै सं. १-७-७-१, मै. सं. १-११-१; १६१-११; १-२-६; १६८-१; का. सं. १३-१४, १४-६; श. ब्रा. ५-१-४-६; तै. ब्रा. १-३ ५-२;

२० ऋ. १०-९-६, अथर्व. १-६-२, मै. सं. ४-१०-४; १५१-७, का स. २-१४; तै. ब्रा. २-५-८-६;

२१ ऋ. १०-९-७, अथर्व. १-६-३, का. सं. १२-१५;

२२ ऋ. १०-९-८, अथर्व. ७ ८९-३; वा. य. ६-१७; काण्व. ६ ५,

---

२० ऋ. १-२३-२०; (मेधातिथिः काण्व.) ऋ. १०-९-६, (त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिंधुद्वीपो वाम्बरीषः) (चतुर्थ पादो नास्ति)

२१ ऋ. १-२३-२१ = ऋ. १०।९।७ 'ज्योक् च सूर्यं दृशे' ऋ. १-२३-२१; १०-९-७; १०-५७ ४

२२ ऋ. १-२३-२२ = ऋ. १०-९-८,

(यजुर्वेदमुद्रण का नमूना)

मन्त्रपाठः

(ऋषिः– १–५ परमेष्ठी प्रजापतिः प्राजापत्यो वा। १–२ दैवी अनुष्टुप्। ३ वायु। दैवी बृहती। ४ इंद्रः स्वराड् ब्राह्मी पंक्तिः। ५ याजुषी बृहती।)

ॐ इषेत्त्वोर्ज्जेत्त्वांव्वायवस्त्थदेवोव—सविताप्प्राप्पयतु श्श्रेष्ठतमायकर्म्मणऽआप्प्यायद्ध्व-मघ्न्याऽइन्न्द्रायभागम्मप्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मामावस्स्तेनऽईशतमाघशꣳसोद्ध्रुवाऽअ–स्स्मिन्गोपतौस्यातबह्व्वीर्य्यजमानस्यपशून्न्पाहि ॥ १ ॥

(१–३ प्रजापति। १ याजुषी उष्णिक्। वायुः। २ दैवी जगती। उखा। ३ जगती। उखा।)

व्वसोः ऽपुव्वित्रमसिद्द्यौरसिपृथिव्व्यसिमातुरिश्श्वनोघर्म्मोसिविश्श्वधाऽअसि। परमेण–धाम्म्नादृꣳहस्स्वमाह्वाम्मातेयज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

(सरलमन्त्रपाठः)

ॐ इषे त्वो,—र्जे त्वा, वायव स्थ, देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण, आप्यायध्व, मघ्न्या, इन्द्राय भागं, प्रजावती—रनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो, ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात, बह्वी,—र्यजमानस्य पशून् पाहि ॥ १ ॥

वसोः पवित्रमसि, द्यौरसि, पृथिव्यसि, मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व, मा ह्वा—र्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

(अन्वयः)

(१) (देवः) इषे त्वा (प्रार्पयतु) (२) (देवः) ऊर्जे त्वा (प्रार्पयतु), (३) वायव स्थ, (४) सविता देवः वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु। हे अघ्न्याः ! इन्द्राय भागं आप्यायध्वं, प्रजावतीः अनमीवा अयक्ष्माः, वः स्तेनः मा ईशत, अघशंसः च मा (ईशत)। अस्मिन् गोपतौ बह्वीः ध्रुवाः स्यात। (५) यजमानस्य पशून् पाहि ॥ १ ॥

(१) वसोः पवित्रं असि। (२) द्यौः असि, पृथिवी असि। (३) मातरिश्वनः घर्मः असि। विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृंहस्व। मा ह्वाः। ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

*

शक्तिर्वासिष्ठः । पवमानः सोमः । ककुप् । (ऋ० ९ । १०८ । ३) (ऋग्वेद पाठः)

त्वं ह्यं१ङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तमः । अमृतत्वाय घोषयः ॥ ५८३ ॥

उरुराङ्गिरसः । पवमानः सोमः । ककुप् । (ऋ० ९ । १०८ । ५)

एष स्य धारया सुतोऽव्यो वारेभिः पवते मदिन्तमः । क्रीळन्नूर्मिरपामिव ॥ ५८४ ॥

(सामवेद पाठः)

त्वꣳ ह्या३ङ्ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।
अमृतत्वाय घोषयन् ॥ ५८३ ॥
एष स्य धारया सुतोऽव्या वारेभिः पवते मदिन्तमः ।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥ ५८४ ॥

(५८३।१) ॥ शैतोष्माणि चत्वारि । चतुर्णां शीतोष्मः ककुप् सोमः ॥ (साम गान पाठः)

त्वꣳहिया॥ गदाइवियपवमानजनिमानि३द्यूमा२ । तामा२ः ॥ आमाऽ२त्तांत्वा२३ ॥
यघो२३४वा । षा५यो६हाइ ॥ (स्व० २ । प० ६ । वि० ३)२७(चि । ११८९)

(५८३।२)

त्वꣳहिया॥ गदाइविय । पवमान । होवा३हाइ । जनिमा२३नीऽ३४ ।
द्युम । ता३माः॥ अमा२३॥ ता२त्वा२३४औहोवा॥ यघो३षयाऽ२३४५न् ॥

(५८३।३) (स्व० ३ । प० १० । वि० ५)२८(गु । ११९०)

त्वꣳह्यंगदा॥ विय । पवमानजनिमानिद्युमत्ता२३माः॥ अमात्तो२३त्वा३॥
यघो२३४वा । षा५यो६हाइ ॥ (स्व० २ । प० ६ । वि० २)२९(चा । ११९१)

(५८३।४)

त्वꣳहो३अंगदैविया॥ पवमा२ना । जनिमा२नाये३४ । द्युम ।
ता३माः॥ अमात्तो३त्वा३॥ यघो२३४वा । षा५यो६हाइ ॥

(स्व० १ । प० ८ । वि० ३)३०(गि । ११९२)

(५८४।१) ॥ गायत्रपार्श्वम् । देवाः ककुप् सोमः ॥

एषाः॥ स्याधारया३१उवा२३ । सू२३४ताः । अव्या२वारेभिःपवतेमदिन्तमः ॥
क्रीडान्नू१र्मी२ः॥ अपा३म् । हिम्२३स्थिवा३॥ आइवा२३४५ ॥

(स्व० ६ । प० ८ । वि० ८)३१ (गै । ११९३)

[साम-तन्त्र-सूत्राणि] [११८९]२७ [११९०]२८ [११९१]२९ [११९२]३० (पृथक् सूत्राणि न सन्ति)
[११९३]३१ दिनु ३.७.१०,

(अथर्ववेदमुद्रण का नमूना)

(१) आत्मविद्या ।

(१-८ वेनः । आत्मा । त्रिष्टुप्, ६ पुरोऽनुष्टुप्, ७ उपरिष्टाज्ज्योतिः)

मन्त्रपाठः ।

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वे॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः ।
यो॒३॒॑ऽस्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १ ॥
यः प्रा॑ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैको॒ राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑ ।
यस्य॑ च्छा॒याऽमृतं॒ यस्य॑ मृ॒त्युः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ २ ॥
यं क्रन्द॑सी अव॑तश्चस्कभा॒ने भि॒यसा॑ने॒ रोद॑सी॒ अह्व॑येथाम् ।
यस्या॒सौ पन्था॒ रज॑सो वि॒मान॒ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ३ ॥

पदपाठः ।

१. यः । आ॒त्म॒ऽदाः । ब॒ल॒ऽदाः । यस्य॑ । विश्वे॑ । उ॒प॒ऽआस॑ते । प्र॒ऽशिष॑म् । यस्य॑ । दे॒वाः ।
यः । अ॒स्य । ईशे॑ । द्वि॒ऽपदः॑ । यः । चतुः॑ऽपदः । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥१॥
२. यः । प्रा॒ण॒तः । नि॒ऽमि॒ष॒तः । म॒हि॒ऽत्वा । एकः॑ । राजा॑ । जग॑तः । ब॒भूव॑ ।
यस्य॑ । छा॒या । अ॒मृत॑म् । यस्य॑ । मृ॒त्युः । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ २ ॥
३. यम् । क्रन्द॑सी॒ इति॑ । अव॑तः । च॒स्क॒भा॒ने इति॑ । भि॒यसा॑ने॒ इति॑ । रोद॑सी॒ इति॑ । अह्व॑येथाम् ।
यस्य॑ । अ॒सौ । पन्थाः॑ । रज॑सः । वि॒ऽमानः॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥३॥

अन्वयः ।

(१) यः आत्म-दाः (यः च) बल-दाः (अस्ति), विश्वे देवाः यस्य (यस्य) प्रशिषं उपासते, यः अस्य द्विपदः यः चतुष्पदः ईशे । कस्मै देवाय हविषा (परिचर्या) विधेम ॥ १ ॥

(२) यः महित्वा प्राणतः निमिषतः जगतः एकः राजा इत् बभूव । यस्य छाया अमृतं, यस्य (अच्छाया) मृत्युः । कस्मै देवाय हविषा (परिचर्यां) विधेम ? ॥ २ ॥

(३) क्रन्दसी अवतः चस्कभाने भियसाने रोदसी यं अह्वयेथाम्, यस्य असौ पन्थाः रजसः विमानः (अस्ति), कस्मै देवाय हविषा (परिचर्यां) विधेम ? ॥ ३ ॥

---

(१) ऋ. १०।१२१।२; अथर्व. ४।२।१; १३।३।२४, वा. य. २५।१३, काण्व. २७।१७; तै. सं. ४।१।८।४; ७।५।१७।१.

(२) ऋ. १।१२१।३; अथर्व. ४।२।२; (निमेषत०) वा. य. २३।३; २५।११; (निमिषतश्च राजा), का. सं. ४।१६, ४०।१; मै. सं. २।१३।२३; १६८।७, ३।१२।१७; १६५।५, (यः प्राणतः) ४।१२।१, १७७।१३; का. सं. ८।१७; १०।१३; २२।१४; श. ब्रा. १३।५।३।८; तै. ब्रा. ३।८।१८।५, (ऋग्वेद में प्रथम मंत्र का तृतीय चरण दूसरे मन्त्र के तृतीय चरण के स्थान पर है और दूसरे का तीसरा चरण प्रथम मन्त्र के तृतीय चरण के स्थान पर है ।

इतना सब करने से आज जो संहिता है, उस के पांच-गुना बडा एक एक ग्रंथ बनेगा। अर्थात् ऋग्वेद के ५००० पृष्ठ होंगे, यजुर्वेद के २००० पृष्ठ होंगे, उतने ही सामवेद के बनेंगे और अथर्ववेद के ३००० पृष्ठ होंगे। मूल्य भी पांचगुना होगा और व्यय भी बहुत करना पडेगा। पर वेद को स्वतः प्रमाण धर्मपुस्तक माननेवालोंके लिए यह व्यय कोई अधिक नहीं समझना चाहिए।

सब आवश्यक सामग्री जहां की वहां रहने से नित्य पाठ के लिए, अर्थ का बोध होने के लिए, किस मन्त्र का संबन्ध कहां कैसा आया है, यह देखने के लिए ये ग्रन्थ अत्यंत सहायक होंगे, और आजकल जो वेद के विषय में दुर्बोधता है, वह सब दूर होगी। इसके नमूनेके पृष्ठ हमने इसी लेख में रखे हैं, जिन को देखने से पाठक इस संस्करण का महत्त्व स्वयं जान सकते हैं। पाठक इस का अवश्य विचार करें।

पाठक यहां पूछेंगे कि, वेदमुद्रण में इतना प्रयत्न करने की आवश्यकता क्या है? इसके विना कार्य चलेगा या नहीं? उत्तर में निवेदन है कि, जो लोग वेद के धर्म का ज्ञान स्वयं जानना नहीं चाहते, उन के लिए तो वेद के किसी ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं है। ऐसे लाखों और करोडों लोग हैं कि जिन्होंने वेद क्या हैं, कैसे हैं, यह अभीतक देखा तक नहीं है। ऐसे लोग करोडों हैं। इनके लिए किसी वेद के ग्रन्थ की जरूरत नहीं है। पर जो विद्वान वेद का अध्ययन करना चाहते हैं, जो स्वयं अनुसंधान करने के इच्छुक हैं, जो मन्त्रों का आगेपीछे का संबन्ध जानकर अर्थ का अनुसंधान स्वयं करना चाहते हैं, इनके लिए ऐसे ग्रंथों की बडी भारी आवश्यकता है।

पदपाठ।

पदपाठ वेदमंत्रोंके साथ उसी पृष्ठपर इसलिए देना चाहिए कि, उस से पद के स्वर मालूम होंगे और स्वरज्ञान से पद के अर्थ का ज्ञान ठीक ठीक होने में सहायता होगी। मन्त्र के अक्षरों के क्रमानुसार पदों के अक्षर नहीं होते, जैसा 'शुनश्चित् शेपं' ऐसा मन्त्र है और उस के पद 'शुनः शेपं'। चित्। ऐसे होते हैं। इसलिए पदपाठ दिए विना काम नहीं चलता। इसी पृष्ठपर पदपाठ होने से विना आयास मंत्र के पद देखे जा सकते हैं और अर्थ के अनुसंधान का प्रारंभ हो सकता है। इस तरह पदपाठ की आवश्यकता है। और इस के विना कार्य नहीं चल सकता।

पुनरुक्त मंत्रभाग।

पुनरुक्त मन्त्रभागों को और पाठभेदोंको इसलिए उसी पृष्ठपर बताना चाहिए कि, बहुत वार पाठभेदों से अर्थ की सूचना मिलती है और पाठभेद से अर्थनिर्णय में बडी सहायता भी होती है। इसी तरह कौनसे वचन किस वर्णन में पुनरुक्त अथवा अभ्यस्त होते हैं, इस का पता लग जाने से अर्थ का निश्चय करने में बडी सहायता होती है। इसलिए पुनरुक्त निर्देश आवश्यक हैं।

अन्वय।

मन्त्र का अन्वय इसलिए आवश्यक है कि, मंत्रपाठ अथवा पदपाठ से जिस अर्थ का ज्ञान नहीं होता, उस का ज्ञान अन्वय को देखने से तत्काल होता है। अन्वय को देखने से बडे दुर्बोध मन्त्र भी सुबोध हो जाते हैं। इसलिए अन्वय भी साथ साथ रहना चाहिए। वेदों के अनुवाद की उतनी आवश्यकता नहीं है, **जितनी शुद्ध अन्वय की आवश्यकता है।** अन्वय देने में निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनीं चाहिए-

१. दूरान्वय जहांतक हो सके, वहांतक नहीं करना चाहिए,
२. चरणका अन्वय चरणमें, अथवा वैसा न हो सके, तो आधे मंत्रका आधे मंत्रमें अन्वय समाप्त करना चाहिए,
३. जहां ऐसा न हो सके, वहां सम्पूर्ण मन्त्रका दण्डान्वय देना चाहिए।
४. जहां अर्थ के अनुसंधानके लिये अथवा पूर्तिके लिये पूर्वमन्त्र से अथवा अगले मन्त्र से पदोंका अध्याहार करनेकी आवश्यकता होगी, वहां निर्देश करना चाहिये कि, ये पद कहां से लिये हैं।

इतना ख्याल रखने से वेद का अर्थ वेद ही बोलने लगेगा और वेद ही वेदका अर्थ करने और बताने लगेगा। हमारा यह निश्चय हुआ है कि, आजकल जो अनुवाद वेदों के हुए हैं, उन में वेद के उपदेश प्रकट नहीं हुए, प्रत्युत

लेखक के विचार ही उन में वेदमंत्रों के सहारेसे प्रकट हुए हैं। अनुवादकर्ता के विचार अनुवाद में प्रकट नहीं होने चाहिये, प्रत्युत मन्त्रद्रष्टा ऋषिने जिस अर्थ का साक्षात्कार किया था, उसी अर्थ का प्रकाश होना आवश्यक है और वह होनेके लिये उक्त नियमों के अनुसार सरल अन्वय देना चाहिये। अन्वय वारंवार पढने से स्वयं अर्थका प्रकाश होना संभव है, इस बात का अनुभव पाठक नमुने के पृष्ठों को देखनेसे स्वयं कर सकते हैं।

वेद का जो अर्थ स्वयं उक्त प्रकार वेदसे प्रकट होगा, वही सत्य अर्थ होगा, और लेखक जो अर्थ मन्त्र पर लगा देगा, वह वेदका सत्य अर्थ नहीं होगा। आजकल के अनुवादों में यही दोष हुआ है। इसलिये वेद का अर्थ वेदद्वारा प्रकट हो, इसलिये जितना यत्न मानव के हाथ से हो सकता है, उतना करना चाहिये। इस कार्य के लिये जितना धन लगे, उतना लगाना चाहिये और जितना श्रम लगे, उतने श्रम करने चाहिये। क्योंकि इस के विना वेद का सत्य अर्थ प्रकट होना सम्भव ही नहीं है।

वेद स्वतः प्रमाण हैं।

'**वेद स्वतः प्रमाण हैं,**' इस का अर्थ यह है कि, वेद का अर्थ वेद के अपने निज प्रमाणों से हो सकता है। ये प्रमाण प्राप्त करने के लिये वेद की अन्तःसाक्षी ढूंढनी चाहिये और अन्तःसाक्षी की खोज करने के लिये ही इतना सब प्रयत्न करना अत्यन्त आवश्यक है।

दैवत-संहिता।

इस से भिन्न जो जो साधन चाहिये, उन के निर्माण करने का यत्न हो रहा है। जैसा '**दैवत-संहिता**' छप रही है। देवतावार मंत्रसंग्रह छप रहा है, इससे बडी सहायता हो रही है, इस से अन्तःसाक्षी के प्रमाण मिल रहे हैं। इनमें भी उपमा और विशेषण सूची दी जाती है, वह बडी भारी उपयोगी है। इसी दैवत-संहितामें '**आर्षेय-संहिता**' भी होती जाती है। प्रत्येक देवता के मंत्रों में ऋषिक्रमानुसार मंत्र रखे हैं। ऋषिक्रमपूर्वक उन मंत्रों का अभ्यास करनेसे आर्षेय-संहिता का ज्ञान हो जाता है। अर्थनिश्चय करने में इन दोनों प्रकार के अध्ययनों की बडी भारी आवश्यकता है।

वेद का समन्वय।

इस के अन्दर '**वेद-समन्वय**' बनाना चाहिये। यह एक पुस्तक बन जायगी, तो पश्चात् वेद के अर्थ के विषय में किसी प्रकार का संदेह रहेगा नहीं। अन्तःसाक्षी के लिये '**वेदसमन्वय**' की बडी भारी आवश्यकता है। इस पुस्तककी बनवाई और मुद्रणके लिये ५०।६० हजार रु० की आवश्यकता है। इसी ग्रंथ के लिये इतना धन मिलेगा, तो यह ग्रंथ बनेगा और वेद के अर्थ का निर्णय वैदिक प्रमाणों से हि स्वयं होता जायगा। १५०० पृष्ठों का एक विभाग ऐसे पांच या छः विभागों में यह ग्रंथ बनेगा। और अर्थनिर्णय के सब प्रमाण इस में क्रमवार रहेंगे। विचारकों को इसकी कल्पना देनेके लिये हम एक छोटीसी पुस्तक नमूने के लिये बना रहे हैं, जिसके प्रकाशित होने पर इस का महत्त्व स्वयं प्रकट होगा। वेद का कोश बनाने के लिये, वेद के अर्थनिर्णय के लिए, अर्थ के लिए स्वतः-प्रमाण का संग्रह करने के लिए, अर्थनिश्चय के आंतरिक प्रमाण देखने के लिए '**वेदसमन्वय**' की बडी भारी आवश्यकता है। इसलिए इसके निर्माण का व्यय करना आवश्यक ही है।

विद्यमान साधन।

वेद का स्वाध्याय करने के लिए वेदों का मुद्रण किस तरह करना चाहिये, इस का विचार यहां तक किया। ऐसे वेद मुद्रित होने के बाद वेदों का सत्य अर्थ करने का विचार करना है। वेद का अर्थ करने का प्रश्न तबतक विचार करने से कोई लाभ ही नहीं है। उक्त प्रकार वेद मुद्रित होनेतक जो वेद का अर्थ करने का यत्न होगा, वह सब व्यर्थ होनेवाला है। इसलिए वेद के अर्थ का विचार मूल वेद उक्त प्रकार मुद्रित होनेके पश्चात् करने का है, इस में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है।

मान लीजिए कि उक्त प्रकार वेद मुद्रित हुए और उन को लेकर लोग स्वाध्याय करने लगे और अर्थ की संगति लगाने लगे। इस समय साधनों का प्रश्न उपस्थित होगा। हमारे पास ये साधन निम्नलिखित हैं। शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, निघण्टु और निरुक्त। कल्प आदि जो साधन यज्ञविषयक हैं, उनका उपयोग यज्ञप्रक्रिया में होने से हमने उनकी गणना यहां नहीं की है।

शिक्षा।

इन में प्रथम शिक्षा है। वेद के उच्चारण आदि के विषय

में इस में आवश्यक निर्देश हैं । इसलिए यह एक आवश्यक और उपयोगी ग्रंथ है । पर अर्थ लगाने में इस से विशेष लाभ होगा, ऐसा नहीं है । वेद का उच्चारण ठीक होगा, स्वर आदि का ज्ञान होगा, ऐसा इस का उपयोग है।

व्याकरण ।

व्याकरण का उपयोग किसी वाक्य का अर्थ करने में थोडाबहुत होता है । थोडाबहुत ऐसा कहने का कारण यह है कि, व्याकरण भी थोडी मर्यादा तक ही सहाय्यता कर सकता है। उदाहरण के लिए एक मन्त्र लेते हैं और उस का अन्वय निर्धारित करने के लिए व्याकरण से कौनसी सहायता होती है, यह देखते हैं-

वेदमन्त्र ।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥ (ऋ० १।१।८)

इस मंत्रके अन्वय ।

(१) राजन्तं, अध्वराणां गोपां, ऋतस्य दीदिविं, स्वे दमे वर्धमानम् ।

(२) राजन्तं, दीदिविं, अध्वराणां ऋतस्य गोपां, स्वे दमे वर्धमानम् ।

(३) राजन्तं, ऋतस्य गोपां, अध्वराणां दीदिविं, स्वे दमे वर्धमानम् ।

(४) अध्वराणां ऋतस्य गोपां, स्वे दमे राजन्तं, दीदिविं वर्धमानम् ।

(५) वर्धमानम्, अध्वराणां गोपां ऋतस्य दीदिविं, स्वे दमे राजन्तम् ।

ऊपर दिए एकही मन्त्र के इतने और इस से भी अधिक अन्वय हो सकते हैं और ये सभी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं !! अब प्रत्येक अन्वय की भिन्नता के कारण अर्थ की भिन्नता होगी, इसमें कोई सन्देह ही नहीं है । इस अनिश्चित अर्थ की जिम्मेवारी अपने सिरपर लेने के लिए व्याकरण तैयार नहीं है । इससे स्पष्ट होता है कि, यद्यपि व्याकरणकी आवश्यकता है, तो भी व्याकरणही से वेदका अर्थ निश्चित किया जायगा, ऐसी बात नहीं है। इसीलिए प्रत्येक भाष्यकार विभिन्न अर्थ करता है और अपने अर्थ के लिए व्याकरण की अनुकूलता बताता है और व्याकरणकी अनुकूलता सम्पादन करना सहज बात है, यह हमने ऊपरवाले अन्वयों में बताया ही है ।

वास्तव में देखा जाय, तो व्याकरण एक बनावटी शास्त्र है । अर्थात् यह कृत्रिम शास्त्र है। किसी न किसी तरह रूप घडना, इसका उद्देश है। 'अस्मत् और युष्मत्' शब्द के रूप आदेश दे देकर घड दिये गये हैं । वास्तव में जब रूप बने थे या बनते थे, उस समय आदेश या प्रत्यय कोई चीज नहीं थी । वे समाज में बोले जाते थे । व्याकरणकार इनमें आदेश देखते हैं, प्रत्यय बना डालते हैं और रूपोंको निर्माण करते हैं । यह व्याकरण की प्रक्रिया अस्वाभाविक और बनावटी है । उदाहरण के लिये देखिये- ' अस्मत् ' शब्द के द्वितीया के रूप ऐसे होते हैं-

मां, मा । आवां, नौ । अस्मान्, नः ।

ये रूप व्याकरण ने आदेश कर करा कर घड भी दिये हैं । पर वास्तविक बात यह है कि ' मां । आवां । अस्मान् ' बोलनेवाले लोग भिन्न थे और ' मा । नौ । नः ' बोलनेवाले लोग भिन्न थे । वे विभिन्न जातियां होंगी अथवा विभिन्न देशके लोग होंगे । जब ये दो समाज एकशासनके नीचे आ गये, तो ये दोनों विभिन्न रूप एक भाषा में समाविष्ट हुए और वैकल्पिक रूप मानने का संप्रदाय बन गया । किसीने अपने कमरे में बैठ कर 'अस्मत्' शब्द को मनमाने आदेश देकर ऐसे रूप बनाये, ऐसा जो व्याकरण का कहना है, वह सर्वथा असत्य है और भ्रम उत्पन्न करनेवाला भी है । इस तरह व्याकरण के प्रकृति, प्रत्यय और आदेश ये सब कृत्रिम, बनावटी और भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं । और जो शब्द के स्वाभाविक उत्पत्ति की उन्नति है, उससे कोसों दूर ले जानेवाली यह प्रक्रिया है। सब उणादि शब्दसिद्धि इसके उदाहरण हो सकते हैं। ' ब्रू ' धातु को ' वच् ' आदेश होता है, ऐसा व्याकरण कहता है और सब लोग वैसे शब्द सिद्ध करते भी हैं । पर यह क्या अंधेर नगरी है । ' ब्रू ' धातुके स्थान पर ' वच् ' आदेश होगा, ऐसा कोई वर्णोच्चारशास्त्र नहीं कहेगा। पर व्याकरण इस तरह कहता है । ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं कि, जहां व्याकरण महाभ्रम उत्पन्न करता है । यह व्याकरण शब्द की उत्पत्ति के इतिहास को छिपाता है और कृत्रिम बनावटी तरीके सामने करता है । अस्तु इस पर भी अर्थ करने में अल्प मर्यादा तक ही व्याकरण की सहायता मिलती है । अतः व्याकरण की सहायता है, पर वह अत्यन्त अल्प है, यही यहां हमें कहना है ।

ज्योतिष।

ज्योतिषविषयक उल्लेख वेद में हैं। उन मंत्रों का अर्थ ठीक ठीक समझने के लिये ज्योतिषशास्त्र का अभ्यास चाहिये, यह बात ठीक है। यह सहायता दूसरे किसी से प्राप्त नहीं हो सकती।

छंदः।

वेदमंत्र छन्द में हैं, उन मंत्रों के छंद जानने से मंत्र शुद्ध हैं वा नहीं, इस का ज्ञान होता है। इसलिये छन्दःशास्त्र का वेद का अर्थ जानने में बडा उपयोग है। चरण कैसे हैं, कहां अक्षर न्यून हुए हैं वा अधिक, इत्यादि सब बातों का ज्ञान इस शास्त्र से होता है। इसलिये वेद की बाह्यांग की रक्षा करनेवाला यह छन्दःशास्त्र है, इसलिये यह सहायक शास्त्र है। यद्यपि प्रत्यक्ष वेद के अर्थ में यह सहायक नहीं होता, तथापि अक्षरसंख्या सुरक्षित करने में इस की बडी सहायता है, इसलिये इस की आवश्यकता है।

निघण्टु।

निघंटुनामक एक अतिप्राचीन वैदिक कोश है। इस की बडी प्रशंसा की जाती है, पर प्रत्यक्ष उपयोग की दृष्टि से इस का विशेष महत्त्व है, ऐसा कहना कठिन है। इस का कारण संक्षेप से हम यहां देते हैं।

निघण्टु में पांच अध्याय हैं। चतुर्थ और पंचम अध्याय में केवल 'पदानि' हैं। अर्थात् यहां केवल पद गिनाये हैं। इन का अर्थ दिया नहीं है। इन दो अध्यायों में मिल कर ४२६ पद हैं, जिन का अर्थ दिया नहीं है। जिस कोश में ४२६ पदों का अर्थ ही दिया न हो, उस की सहायता वेद का अर्थ करने में कितनी हो सकती है, इस का विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं।

कई वेदभाष्यकार 'पदनामसु पाठात्' अर्थात् इस पद का पाठ 'पदनामों' में किया है, इसलिये इस का अर्थ 'ज्ञान-गमन-प्राप्ति' होता है, ऐसा मानने का साहस करते हैं। इनकी युक्ति यह है कि, 'पद्' धातु 'गत्यर्थक' है और 'गति' का अर्थ 'ज्ञान-गमन-प्राप्ति' है, इसलिये इन पदनामों में जो ये ४२६ पद गिनाये हैं, उन सब का अर्थ 'ज्ञान-गमन-प्राप्ति' है। पर यह युक्ति भ्रामक है और इन दो अध्यायों के कई पदों का यह अर्थ नहीं है, ऐसा बताया जा सकता है।

इन पदनामों में 'वराह, विष्णु, वृक, त्वष्टा, रात्री' आदि इतने शब्द हैं कि, जिन के अर्थ भिन्न हैं और 'ज्ञान-गमन-प्राप्ति' नहीं हैं। इसी तरह अन्य ४२६ शब्दों के विषय में जानना चाहिये। अर्थात् इतने शब्दों के अर्थ विविध और अनेक होते हैं, जो इस निघंटु में दिये नहीं हैं। इनके अनेक अर्थ होते हैं, इतना कहने से किसी कोश की उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकती। जिस कोश में ४२६ शब्दों का अर्थ ही दिया नहीं है, वह कोश पूर्णतया वेद के अर्थ करने में सहायक नहीं हो सकता, यह बात सिद्ध है। अब प्रथम के तीन अध्यायों का विचार करते हैं।

प्रथम के तीन अध्यायों में एक अर्थवाले अनेक पदों का संग्रह किया है। एक अर्थवाले अनेक पद हैं, ऐसा कहना भी भ्रम उत्पन्न करनेवाला है। उदाहरण के लिये देखिये-

प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड में 'पञ्चदश हिरण्यनामानि' अर्थात् १५ सोने के नाम हैं, ऐसा कहकर १५ पद दिए हैं। ये सब के सब १५ ही शब्द सुवर्ण (Gold) के नहीं माने जा सकते। इन में 'हेम, कनकं, कांचनं,' ये शब्द सुवर्ण के हैं, 'हिरण्यं, रुक्मं, जातरूपं' ये पद कुछ विशेष आकार दिये सुवर्ण के टुकडों के, मोहर आदि के वाचक हैं और 'चन्द्रं' पद चांदी अथवा पुलाद का वाचक है और 'अयः' (Iron) 'लोहं' आदि शब्द लोहे के वाचक है। परन्तु निघण्टुकारने ये सब 'हिरण्यनामों' में रखे हैं। ये मूल्यवान् धातु के वाचक हैं, इतना ही निघण्टुकार का आशय यहां दीखता है।

इसी प्रथम अध्याय के सातवें खण्ड में तेईस नाम रात्री के दिए हैं, पर ये नाम परस्पर के पर्याय नहीं हैं। देखिए-इन में से 'रजः' शब्द बडी आंधी उडकर अंधेरा होता है, उस समय का वाचक है, 'पयस्वती, घृताची, पयः' ये नाम उस रात्री के हैं, जिस रात्रीमें वृष्टि होती रहती है, अन्य रात्री के ये नाम नहीं हैं। 'तम, तमस्वती' ये पद उस रात्री के विभाग के हैं कि, जिस रात्री में भयानक अन्धेरा होता है। 'हिमा' यह पद उस रात्री का वाचक है कि, जिस में ओले बरसने के कारण बडी सर्दी होती है। अर्थात् ये पद समान अर्थवाले पर्यायपद नहीं हैं।

द्वितीय अध्याय के तृतीय खण्ड में पचीस 'मनुष्यनाम' दिए हैं। परन्तु ये भी परस्पर के पर्याय नहीं हैं। देखिए-

'जन्तवः' पद मानव जन्तु है, इतना ही बताता है। 'विशः' पद वैश्यों का वाचक है, जो खेती, पशुपालना तथा लेनदेन या खरीदीबिक्री करते हैं। 'कृष्टयः' पद कृषि करनेवालों का वाचक है। 'पंचजना' पांच जातियों में विभक्त हुए मानवसंघ अर्थात् जाति या वर्ण-व्यवस्था का पालन करनेवाले मनुष्यों का वाचक है। 'पूरवः' पद 'नागरिक अर्थात् नगरों में रहनेवाले' मानवों का वाचक है। 'जगतः' पद ऐसे मानवों का वाचक है कि, जिनका घरदार एक स्थान पर नहीं है, प्रत्युत जो इधरउधर सदा भटकते रहते हैं। 'तस्थुषः' पद उन मनुष्यों का वाचक है कि, जो एक ग्राम में स्थायी हो चुके हैं। 'पृतनाः' पद सैनिकों का वाचक अथवा क्षत्रियजातियों का वाचक है। इस तरह प्रत्येक पद का अर्थ दूसरे से भिन्न है। पर इन का अर्थ 'मनुष्य' ही यहां कहा है। मनुष्य अर्थ है, पर प्रत्येक पद भिन्न प्रकार के मनुष्यों का वाचक है। परन्तु यह अर्थ की सूक्ष्मता जानने का साधन निघण्टु में नहीं है।

आज का निघण्टुकार इसी तरह कह सकता है-

जर्मना रूसाः, अंग्रेजाः, अमेरिकनाः, जापानीयाः, हिंदव इति षण् मनुष्यनामानि। ये मनुष्यनाम तो हैं, पर परस्पर के पर्याय नहीं और हरएक मानव के लिये भी ये लगाये नहीं जा सकते। इसी तरह ऊपरके निघण्टुकार के दिये 'मनुष्यनाम' हैं।

इतने उदाहरण पर्याप्त हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, निघण्टु तो एक अति स्थूल कोश है, जिसकी सहायता वेद का सूक्ष्म अर्थ जानने में कुछ भी नहीं हो सकती। इस निघण्टु की जो कुछ अल्प सहायता हो सकती है, वह लेना योग्य है ही, परन्तु वेद के अन्दर की गहराई का पता इससे लगनेवाला नहीं है।

निरुक्त।

निघण्टु की व्याख्या ही निरुक्त है। निरुक्त में निघण्टु के कुछ शब्दोंकी व्याख्या की है और कुछ वेदमंत्रोंका अर्थ करके भी बताया है। पर इस पद्धतिसे कोई विद्वान् किसी निश्चित अर्थको प्राप्त कर सकेगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

निरुक्त का पक्ष नाम धातु से बने हैं, अतः उन का अर्थ धात्वर्थ का विचार कर के योगरूढिक जैसा करना चाहिये, ऐसा दीखता है। 'गौ' शब्द लीजिये। यह 'गम्' धातु से बना है। अतः इस में गति की प्रधानता है। '**गच्छति इति गौः**' (जो चलती है, वह गौ है)। यदि यह अर्थ माना जाय, तो सब चलनेवाले पदार्थ 'गौ' संज्ञा के लिये पात्र होंगे। पर वेद में 'गौ' शब्द का ऐसा अर्थ मानना असम्भव है। वेद में गौ शब्द 'वाणी, गाय, भूमि, चन्द्र, किरण, सूर्य' आदि अर्थों में रूढ है। इसलिये केवल गत्यर्थ की प्रधानता मानना अयोग्य है।

दूसरा उदाहरण लीजिये- '**मरुत्**' की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार कहते हैं कि- '**मरुतो मितराविणो वा-मितरोचनो वा**, महद् द्रवन्तीति वा' (निरु० ११-२-१) मरुत् वे हैं कि, जो मित शब्द बोलते हैं, मित तेज का प्रदान करते हैं, बडी गति से चलते हैं। इस धात्वर्थ-प्रधान व्याख्या से किस निश्चित अर्थ की प्राप्ति हुई? इस के अतिरिक्त यही व्याख्या दूसरी रीति से भी की जाती है जैसा—

'**मरुतोऽमितराविणो वाऽमितरोचनो वा, इ०**'

'मरुत् वे हैं कि, जो बहुत बोलते हैं और बहुत प्रकाशते हैं।' थोडासा पदच्छेद में भेद करने से कितना अर्थ बदल गया। इस अर्थ से भी किस निश्चित अर्थ की प्राप्ति हुई? कुछ भी नहीं।

निरुक्तकार की यह प्रतिज्ञा कि, सब नाम धातुजनित है, यह सत्य मानने पर भी हमें यह निरुक्त का मार्ग किसी निश्चित अर्थतक सुख से नहीं पहुंचाता, यह बात यहां इस लेख में बताई है। इसीलिये निघण्टु और निरुक्त ये दोनों केवल वेद के अर्थकी एक संदिग्धसी दिशा बतानेवाले ग्रंथ है। इस से अधिक इन से लाभ होने की संभावना नहीं है, यह बात इतने विवरण से सिद्ध हुई है।

केवल बडे नामों के दबाव से संशोधकों की बुद्धि को दबाने से कोई भी प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है। उक्त साधनग्रंथों में से ज्योतिष और छन्द ये दो ग्रंथ निश्चित लाभ देनेवाले हैं। अन्य ग्रंथ कुछ अंशतक सहायक होंगे, पर विशेष लाभ के लिये विशेष साधनग्रंथ विशेष परिश्रम से निर्माण करने चाहिये। जिन में से कुछ हमने पूर्वस्थान में बताये हैं। खोज करनेवाले विचारवान् पाठक इस का अधिक विचार करें।

वेद का रहस्य।

पांचवाँ अध्याय।

वेद की भाषावैज्ञानिक पद्धति।

[लेखक- श्री. अरविन्द घोष; अनुवादक- श्री. स्वामी अभयदेवजी]

वेद की कोई भी व्याख्या प्रामाणिक नहीं हो सकती, यदि वह सबल तथा सुरक्षित भाषा वैज्ञानिक आधार पर टिकी हुई नहीं है, और तो भी यह धर्म-पुस्तक वेद अपनी उस धुंधली तथा प्राचीन भाषा के साथ जिस का कि, केवलमात्र यही लेख अवशिष्ट रह गया है- अपूर्व भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ को प्रस्तुत करती है। भारतीय विद्वानों के परम्परागति तथा अधिकतर काल्पनिक अर्थों पर पूर्ण रूप से विश्वास कर लेना किसी भी समालोचनाशील मन के लिये असम्भव है। दूसरी तरफ आधुनिक भाषा-विज्ञान यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित और वैज्ञानिक आधार को पाने के लिये प्रयत्नशील है, पर अभी तक वह इसे पा नहीं सका है।

वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या में विशेषतया दो कठिनाइयां ऐसी हैं, जिनका कि सामना केवलमात्र सन्तोषप्रद भाषावैज्ञानिक समाधान के द्वारा ही किया जा सकता है। पहली यह कि इस व्याख्यापद्धति को वेद की बहुतसी नियत संज्ञाओं के लिये-उदाहरणार्थ- ऊति, अवस्, वयस् आदि संज्ञाओं के लिये कई नये अर्थों को स्वीकार करने की आवश्यकता पडती है। हमारे ये नये अर्थ एक परीक्षा को तो सन्तुष्ट कर देते हैं, जिसकी कि न्यायोचित रूप से मांग की जा सकती है, अर्थात् वे प्रत्येक प्रकरण में ठीक बैठते हैं, आशय को स्पष्ट कर देते हैं और एवं हमें इस से मुक्त कर देते हैं कि वेद जैसे अत्यधिक निश्चित स्वरूपवाले ग्रन्थ में हमें एक ही संज्ञा के बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ करने की आवश्यकता पडे। परन्तु यही परीक्षा पर्याप्त नहीं है। इस के अतिरिक्त, अवश्य ही हमारे पास भाषाविज्ञान का आधार भी होना चाहिये, जो कि न केवल नये अर्थ का समाधान करे, परन्तु साथ ही इसका भी स्पष्टीकरण कर दे कि, किस प्रकार एक ही शब्द इतने सारे भिन्न भिन्न अर्थों को देने लगा। इस अर्थ को जो कि अध्यात्मपरक व्याख्या के अनुसार होता है, उन अर्थों को जो कि प्राचीन वैयाकरणों ने किये हैं उन अर्थों को भी जो कि (यदि वे कोई हैं) बाद की संस्कृत में हो गये हैं। परन्तु यह आसानी से नहीं हो सकता है, जब तक कि हम अपने भाषाविज्ञान-सम्बन्धी परिणामों के लिये उसकी अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक आधार नहीं पा लेंगे, जो कि हमारे अब तक के ज्ञान से प्राप्त है।

दूसरे यह कि अध्यात्मपरक व्याख्याका सिद्धान्त अधिकतर मुख्य शब्दों के-उन शब्दों के जो कि रहस्यमय वैदिक शिक्षा में कुंजी रूप शब्द हैं- द्व्यर्थक प्रयोग पर आश्रित है। यह वह अलङ्कार है, जो कि परम्पराद्वारा संस्कृत साहित्य में भी आ गया है और कहीं कहीं पीछे के संस्कृत ग्रन्थों में अत्यधिक कुशलता के साथ प्रयुक्त हुआ है, यह है श्लेष या द्विविध अर्थ का अलङ्कार। परन्तु इसकी यह कुशलतापूर्ण कृत्रिमता ही हमें यह विश्वास करने के लिये प्रवृत्त करती है कि, यह कवितामय चातुर्य अवश्य ही अपेक्षाकृत उत्तरकाल का तथा अधिक मिश्रित व कृत्रिम संस्कृति का होना चाहिये। तो अधिकतम प्राचीन कालके किसी ग्रन्थमें इसकी सतत रूप से उपस्थिति का हम कैसे समाधान कर सकते है? इसके अतिरिक्त वेद में तो हम इसके प्रयोग को अद्भुत रूप से फैला हुआ पाते हैं, वहां संस्कृत धातुओं की "अनेकार्थता" के नियम जो जानबूझ कर इस प्रकार प्रयुक्त किया गया है, जिससे कि एक ही शब्द में जितने भी सम्भव अर्थ हो सकते हैं, वे सब के सब आकर सञ्चित

हो जाये, और इससे, प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि, हमारी समस्या और भी असाधारण रूप से बढ गई है।

उदाहरण के तौर पर 'अश्व' शब्द जिस का कि, साधारणत घोडा अर्थ होता है, अलङ्कारिक रूप से प्राण के लिये प्रयुक्त हुआ है- प्राण जो कि, वात-शक्ति है, जीवन श्वास है, मन तथा शरीर को जोडनेवाली एक अर्धमानसिक, अर्धभौतिक क्रियामयी शक्ति है। 'अश्व' शब्द के धात्वर्थ से प्रेरणा, शक्ति, प्राप्ति और सुख-भोग के भाव इस के अन्य अभिप्रायों के साथ निकलते हैं और इन सभी अर्थों को हम जीवनरूपी अश्व (घोडे) में एकत्रित हुआ पाते हैं, जो कि सब अर्थ प्राण-शक्ति की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों को सूचित करते हैं। भाषा का इस प्रकार का प्रयोग सम्भव नहीं हो सकता था, यदि आर्यन पूर्वजों की भाषा वैसे ही रूढि अर्थों को देती होती, जैसे कि हमारी आधुनिक भाषा देती है अथवा यदि वह विकास की उसी अवस्था में होती, जिस में कि हमारी वर्तमान भाषा है। पर यदि हम यह कल्पना कर सके कि, प्राचीन आर्यों की भाषा में, जैसी कि यह वैदिक ऋषियों के द्वारा प्रयुक्त की गई है, कोई विशेषता थी, जिसके द्वारा कि, शब्द अपेक्षाकृत अधिक सजीव अनुभूत होते थे, वे विचारों के लिये केवलमात्र रूढि सांकेतिक शब्द नहीं थे, अर्थ के सक्रान्त करने में उस की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थे, जैसे कि वे हमारी भाषा के बाद के प्रयोग में हैं, तो हम यह पायेंगे कि, प्राचीन ऋषियोंद्वारा प्रयुक्त किये गये, ये शब्द-प्रयोग सर्वथा कृत्रिम अथवा खींचातानी से युक्त नहीं थे, बल्कि वे तो इस बात के सबप्रथम स्वाभाविक साधन थे कि, वे उत्सुक मनुष्यों को उन आध्यात्मिक विचारों को व्यक्त करने के लिये जो कि, प्राकृत मनुष्यों की समझ के बाहर हैं, एकदम नवीन, संक्षिप्त और यथोचित भाषा-सूत्रों को पकडा दें और उन सूत्रों में जो विचार अन्तर्निहित हैं, उन्हें वे अधार्मिक बुद्धिवालों से छिपाये रक्खें। मेरा विश्वास है कि, यही सच्चा स्पष्टीकरण है और मैं समझता हूं कि, यह सिद्ध हो सकता है, यदि हम आर्यों की भाषा के विकास का अध्ययन करें कि, अवश्य भाषा उस अवस्था में से गुजरी है जो कि, शब्दों के इस प्रकार के रहस्यमय तथा अध्यात्मपरक प्रयोग के लिये अद्भुत रूप से अनुकूल होती थी, जो शब्द कि, वैसे अपने प्रचलित व्यवहार में एक सरल, निश्चित तथा भौतिक अर्थ को देते थे।

यह मैं पहिले ही बतला चुका हूं कि, तामिल शब्दों के मेरे सर्वप्रथम अध्ययनने मुझे वह चीज प्राप्त करा दी थी, जो कि प्राचीन संस्कृत भाषा के उद्गमों तथा उस की बनावट का पता देनेवाला सूत्र प्रतीत होती थी और यह सूत्र मुझे यहां तक ले गया कि, मैं अपनी रुचि के मूल विषय 'आर्यन तथा द्राविड भाषाओं में सम्बन्ध' को बिल्कुल ही भूल गया और एक उस से भी अधिक रोचक विषय 'मानवीय भाषा के ही विकास के उद्गमों और नियमों के अन्वेषण' में तल्लीन हो गया। मुझे लगता है कि, यह महान् परीक्षा ही किसी भी सच्चे भाषाविज्ञान का सर्वप्रथम और मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, न कि वे सामान्य बातें जिन में कि, भाषाविज्ञ विद्वानोंने अभीतक अपने आप को बांध रखा है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्म के समय जो प्रथम आशायें इस से लगाई थीं, उन के पूर्ण न होने कारण, इस के सारहीन परिणामों के कारण, इस के एक "क्षुद्र कल्पनात्मक विज्ञान" विज्ञान के रूप में आ निकलने के कारण, अब भाषा का भी कोई विज्ञान है, इस विचार को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा है और इस की सम्भवनीयता ही से बिल्कुल इन्कार किया जाने लगा है, यद्यपि इस के लिये युक्तियां बिल्कुल अपर्याप्त हैं। यह मुझे असम्भव प्रतीत होता है कि, इस प्रकार इस के अन्तिम रूप में इन्कार कर दिये जाने से सहमत हुआ जा सके। यदि कोई एक वस्तु ऐसी है, जिसे कि, आधुनिक विज्ञानने सफलता के साथ स्थापित कर दिया है, तो वह है संपूर्ण पार्थिव वस्तुओं के इतिहास में विकास की प्रक्रिया तथा नियम का शासन। भाषा का गम्भीरतर स्वभाव कुछ भी हो, मानवीय भाषा के रूप में अपनी बाह्य अभिव्यक्तियों में यह एक सावयव रचना है, एक वृद्धि है, एक लौकिक विकास है।

वस्तुतः ही इस के अन्दर एक स्थिर आध्यात्मिक तत्त्व है और इसलिये यह विशुद्ध भौतिक रचना की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र, लचकीली और ज्ञानपूर्वक अपने आप को

परिस्थिति के अनुकूल कर लेनेवाला है; इसके रहस्य को समझना अपेक्षाकृत अधिक कठिन है, इसके घटकों को केवल अपेक्षया अधिक सूक्ष्म तथा कम तीक्ष्ण विश्लेषण-प्रणालियों द्वारा ही काबू किया जा सकता है। परन्तु नियम तथा प्रक्रिया मानसिक वस्तुओं में भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा किसी हालत में कम नहीं होते, यद्यपि ऐसा है कि, वहां वे अपेक्षाकृत अधिक चचल और अधिक परिवर्तनशील प्रतीत होते हैं। भाषा के उद्गम और विकास के भी अवश्य ही कोई नियम और प्रक्रिया होने चाहिये। आवश्यक सूत्र और पर्याप्त प्रमाण यदि मिल जाये, तो वे नियम और प्रक्रिया पता लगाये जा सकते हैं। मुझे प्रतीत होता है कि वह संस्कृत भाषा में वह सूत्र मिल सकता है, प्रमाण वहां तैयार रखे हैं, कि उन्हे खोज निकाला जाय।

भाषाविज्ञान की भूल जिसने कि, इस दिशा में अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषजनक परिणाम पर पहुंचने से इसे रोके रखा, यह थी कि इसने व्यवहृत भाषा के भौतिक अंगों के विषय में भाषा के बाह्य शब्दरूपों के अध्ययन के द्वारा और भाषा के मनोवैज्ञानिक अंगों के विषय में भी इसी प्रकार रचित शब्दों के तथा सजातीय भाषाओं में व्याकरणसम्बन्धी विभक्तियों के बाह्य सम्बन्धों के द्वारा पहले से ही कुछ विचार निर्धारित कर लिये थे। परन्तु विज्ञान की वास्तविक पद्धति तो है, मूल तक जा पहुंचना, गर्भतक, घटनाओं के तत्त्वों तक तथा उन की अपेक्षाकृत छिपी हुई विकासप्रक्रियाओं तक पहुंच जाना। बाह्य प्रत्यक्ष दृष्टि से हम स्थूल दृष्टि से दीखनेवाली तथा ऊपर ऊपर की वस्तु को ही देख पायेंगे। घटनाओं के गम्भीर तत्त्वों को, उनके वास्तविक तथ्यों को ढूंढ निकालने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि, उन छिपे हुए रहस्यों के अन्दर प्रवेश किया जाय, जो कि घटनाओं के बाह्य रूप से ढके रहते हैं, पहले हुए-हुए उन के उस विकास के अन्दर घुस कर देखा जाय, जिस के कि, वर्तमान परिसमाप्त रूप केवल गूढ तथा विकीर्ण निर्देशों को ही देते हैं, अथवा संभावनाओं के अन्दर प्रवेश किया जाय, जिन में से आयी वे कुछ वास्तविकताएं जिन को कि हम देखते हैं, केवल एक संकुचित चुनाव होती है। यही प्रणाली यदि मानव-भाषा के प्राचीन रूपों में प्रयुक्त की जाय, तो केवल वही हमें एक सच्चे भाषा के विज्ञान को दे सकती है।

यह पूर्णतया सम्भव नहीं है कि, इस लेखमाला के जो कि, स्वयं ही छोटीसी है और जिस का असली विषय दूसरा है, एक छोटेसे अध्याय में उस कार्यके परिणामों को उपस्थित कर सकूं, जिसे कि, मैंने उपर्युक्त दिशा में करने का यत्न किया है ×। मैं केवल सक्षेप से ही एक या दो अंगों का दिग्दर्शन करा सकता हूं, जो कि सीधे तौर पर वैदिक व्याख्या के विषय पर लागू होते हैं। और यहां मैं उन का उल्लेख केवल इसलिये करूंगा, ताकि मेरे पाठकों के मन में यदि कोई ऐसी धारणा हो जाय, तो उस का परिहार हो सके कि, मैंने जो किन्हीं वैदिक शब्दों के प्राप्त अर्थों को स्वीकार नहीं किया है, वह मैंने केवल उस बुद्धि-पूर्ण अटकल लगाने की स्वाधीनता का लाभ उठाया है, जो कि, आधुनिक भाषाविज्ञान के जहां बडे भारी आकर्षणों में से एक है, वहां साथ ही साथ उस भाषाविज्ञान की सब से अधिक गंभीर कमजोरियों में से भी एक है।

मेरे अन्वेषणोंने प्रथम मुझे यह विश्वास करा दिया कि, शब्द पौधों की तरह तरह, किसी भी अर्थ में कृत्रिम उत्पत्ति नहीं हैं, किन्तु उपचय हैं, वृद्धि हैं, सजीव वृद्धि हैं ध्वनि की और कोई बीजभूत ध्वनियां उन का आधार हैं। इन बीजभूत ध्वनियों से कुछ प्रारंभिक मूल शब्द अपनी सन्ततियोंसहित विकसित होते हैं, जिन की परम्परागत पीढियां चलती हैं और जो जातियों में, वर्गों में, परिवारों में, चुने हुए गणों में, अपने आप को व्यवस्थित कर लेते है, जिन में से कि, प्रत्येक का एक साधारण शब्द-भण्डार तथा साधारण मनोवैज्ञानिक इतिहास होता है। क्योंकि भाषा के विकास पर अधिष्ठान करनेवाला तत्त्व है साहचर्य-*किन्हीं सामान्य अभिप्रायों* या यह अधिक ठीक होगा कि, किन्हीं सामान्य उपयोगिताओं का तथा ऐन्द्रियक मूल्यों का स्पष्ट विविक्त ध्वनियों के साथ सहचर्य, जो कि आदिकालके मनुष्य के नाडीप्रधान (प्राण-प्रधान) मन के द्वारा किया जाता था। यह साहचर्य की पद्धति भी किसी भी अर्थ में

× मेरा विचार है कि, मैं इन पर एक पृथक् ही पुस्तक में जो कि, " आर्यन भाषा के उद्गमों " के सम्बन्धमें होगी, विचार करूंगा।

कृत्रिम नहीं बल्कि स्वाभाविक होती थी और वह सरल तथा निश्चित मनोवैज्ञानिक नियमों से नियंत्रित थी।

अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में भाषा-ध्वनियां उसे व्यक्त करने के काम में नहीं आती थीं, जिसे कि हम विचार नाम से कहते हैं; इस की अपेक्षा वे किन्हीं सामान्य इंद्रियानुभवों तथा भावावेशों के लिये शाब्दिक समकक्ष थीं। भाषा की रचना करनेवाले ज्ञानतन्तु थे, न कि बुद्धि। वैदिक प्रतीकों का प्रयोग करें, तो 'अग्नि' और 'वायु' न कि, 'इंद्र'– मानवीय भाषा के आदिम रचयिता थे। मन निकला है प्राण की तथा इंद्रियानुभव की क्रियाओं में से। मनुष्य में रहनेवाली बुद्धिने अपना निर्माण किया है, इन्द्रिय, साहचर्यों तथा ऐन्द्रियक ज्ञानकी प्रतिक्रियाओं के आधार पर। इसी प्रकार की प्रक्रियाद्वारा भाषा का बौद्धिक प्रयोग इंद्रियानुभवसम्बन्धी तथा भावावेश-सम्बन्धी प्रयोग में से एक स्वाभाविक नियम के द्वारा विकसित हुआ है। शब्द जो कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में इंद्रियानुभवों व अर्थों की अस्पष्ट संभावनासे भरे प्राण-प्रेरित आत्मनिस्सरण रूप थे, विकसित हो कर ठीक-ठीक बौद्धिक अर्थों के नियत प्रतीकों के रूप में परिणत हो गये।

फलतः शब्द प्रारम्भ में किसी निश्चित विचार के लिये नियत नहीं किया था। इस का एक सामान्य स्वरूप था, सामान्य 'गुण' था, जो कि बहुत प्रकार से प्रयोग में लाया जा सकता था और इसीलिये बहुत से सम्भव अर्थों को दे सकता था। और अपने इस 'गुण' को तथा इस के परिणामों को यह अनेक सजातीय ध्वनियों के साथ साझे में रखता था, इस में अनेक सजातीय ध्वनियां भागीदार होती थीं। इसलिये सर्वप्रथम शब्दवर्गोंने, अनेक शब्द-परिवारोंने एक प्रकार की सामाजिक (सामुदायिक) पद्धतिसे अपना जीवन प्रारंभ किया, जिसमें कि, उनके लिये संभव तथा, सिद्ध अर्थों का एक सर्वसाधारण भंडार था और उन अर्थों के प्रति सब का एकसा सर्वसाधारण अधिकार था। उन का व्यक्तित्व किसीएक ही विचार को अभिव्यक्ति करनेके एकाधिकार में नहीं, किन्तु इस से कहीं अधिक उसी एक विचारके अभिव्यक्त करने के अपने छाया-भेद में प्रकट होता था।

भाषा का प्राचीन इतिहास एक विकास है, जो कि शब्दों के इस सामाजिक (सामुदायिक) पद्धति के जीवन से निकलकर एक या अधिक बौद्धिक अर्थों को रखने की एक वैयक्तिक संपत्ति की पद्धति तक आने में हुआ है। अर्थ-विभाग का नियम पहले-पहल बहुत लचकीला था, फिर बढकर दृढ हुआ, जब तक कि शब्दपरिवार और अन्त में पृथक् पृथक् शब्द अपने ही द्वारा अपना निजी जीवन आरम्भ करनेयोग्य हो गये। भाषा की बिल्कुल स्वाभाविक बुद्धि की अन्तिम अवस्था तब आती है जब कि, शब्द का जीवन जिस विचारका वह द्योतक है, उस विचार के जीवन के अधीन पूर्ण रूप से हो जाता है। क्योंकि भाषा की प्रथम अवस्था में शब्द वैसी ही सजीव अथवा उससे भी अधिक सजीव शक्ति होता है, जैसा कि इसका विचार; ध्वनि अर्थ को निश्चित करती है। इसकी अन्तिम अवस्था में ये स्थितियां उलट जाती हैं, सारा का सारा महत्व विचार को मिल जाता है, ध्वनि गौण हो जाती है।

भाषा के प्रारम्भिक इतिहास का दूसरा अंग यह है कि, पहले-पहल यह सविशेष रूप से बहुत ही छोटे विचार-भण्डार को प्रकट करती है और ये अधिक से अधिक जितने सामान्य हो सकते हैं, उतने सामान्य प्रकार के विचार होते हैं और सामान्यतया अधिक से अधिक मूर्त होते हैं, जैसे कि प्रकाश, गति, स्पर्श, पदार्थ, विस्तार, शक्ति, वेग इत्यादि। इस के बाद विचार की विविधता में और विचार की निश्चितता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि होती है सामान्य से विशेष की ओर, अनिश्चित से निश्चित की ओर, भौतिक से मानसिक की ओर, मूर्त से अमूर्त की ओर, और सदृश वस्तुओं के विषय में इन्द्रियानुभवों की अत्यधिक विविधता के व्यक्तीकरण से सदृश वस्तुओं, अनुभवों, क्रियाओं के बीच निश्चित भेद के व्यक्तीकरण की ओर। यह प्रगति संपन्न होती है। विचारों में साहचर्य की प्रक्रियाओंद्वारा, जो प्रक्रियाएं सदा एक-सी होती हैं, सदा लौट लौट कर आती हैं और जिनमें (यद्यपि इस में संदेह नहीं कि, ये भाषा को बोलनेवाले मनुष्य की परिस्थितियों तथा उसके वास्तविक अनुभवोंके कारण ही बनती हैं, तो भी) विकास के स्थिर स्वाभाविक नियम दिखलायी देते हैं। और आखिर कार नियम इसके

अतिरिक्त और क्या है कि, यह एक प्रक्रिया है, जो कि वस्तुओं की प्रकृति के द्वारा उन की परिस्थितियों की आवश्यकताओं के उत्तर में निर्मित हुई है और उन की क्रियायें करने को एक स्थिर अभ्यास बन गई है।

भाषा के इस भूतकालीन इतिहास से कुछ परिणाम निकलते हैं, जो कि वैदिक व्याख्या की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के हैं। प्रथम तो यह कि इन नियमों के ज्ञान के द्वारा जिन के अनुसार कि ध्वनि तथा अर्थ के संबन्ध संस्कृत भाषा में बने हैं, तथा इस के शब्द-परिवारों के एक सतर्क और सूक्ष्म अध्ययन के द्वारा बहुत हद तक यह संभव है कि, पृथक् शब्दों के अतीत इतिहास को फिर से प्राप्त किया जा सके। यह संभव है कि शब्द असल में जिन अर्थों को रखते हैं, उन का कारण बताया जा सके, यह दिखाया जा सके कि, किस प्रकार वे अर्थ भाषाविकास की विविध अवस्थाओं में से गुजर कर बने हैं, शब्द के भिन्न भिन्न अर्थों में पारस्परिक संबन्ध स्थापित किया जा सके और इस की व्याख्या की जा सके कि, किस प्रकार विस्तृत भेद के होते हुए तथा कभी कभी उन के अर्थ मूल्यों में स्पष्ट विरोधिता तक होते हुए भी उसी शब्द के अर्थ हैं। यह भी संभव है कि, एक निश्चित तथा वैज्ञानिक आधार पर शब्दों के लुप्त अर्थ फिर से पाये जा सकें और उन्हें उन साहचर्य के दृष्ट नियमों के प्रमाणद्वारा जिन्होंने कि प्राचीन आर्यन भाषाओं के विकास में काम किया है, तथा स्वयं शब्द की ही छिपी हुई साक्षी के द्वारा और इस के आसन्नतम सजातीय शब्द की समर्थन करनेवाली साक्षी के द्वारा प्रमाणित किया जा सके। इस प्रकार वैदिक भाषा के शब्दों पर विचार करने के लिए एक बिल्कुल अस्थिर तथा आनुमानिक आधार पाने के स्थान पर हम विश्वास के साथ एक सुदृढ़ और भरोसेलायक आधार पर खड़े होकर काम कर सकते हैं।

स्वभावतः इस का यह अभिप्राय नहीं है कि, क्योंकि एक वैदिक शब्द समय में शायद या अवश्य ही किसी विशेष अर्थ को रखता था, इसलिए अर्थ सुरक्षित रूप से वेद के असली मूल ग्रंथ में प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु हम यह अवश्य करते हैं कि, शब्द के एक युक्तियुक्त अर्थ की और वेद में उस का वही ठीक अर्थ है, इस की स्पष्ट संभावना की स्थापना करते हैं। शेष विषय है, उन सन्दर्भों के तुलनात्मक अध्ययन का जिन में कि वह शब्द आता है और इस का कि प्रकरण में वह अर्थ निरन्तर ठीक बैठता है या नहीं। मैंने लगातार यह पाया है कि, एक अर्थ जो कि इस प्रकार प्राप्त किया जाता है, जहां कहीं भी लगा कर देखा जाता है। सदा ही प्रकरण को प्रकाशित कर देता है और दूसरी ओर मैंने यह देखा कि, सदा प्रकरण के द्वारा जिस अर्थ की मांग होती है, वह ठीक वही होता है, जिसपर हमें शब्द का इतिहास पहुंचाता है। नैतिक निश्चयात्मकता के लिए तो यह पर्याप्त आधार है, बिल्कुल निश्चयात्मकता के लिए चाहे न भी हो।

दूसरे भाषा का एक सविशेष अंग अपने उद्गमकाल में यह था कि, बहुत सारे भिन्न भिन्न अर्थों को एक ही शब्द दे सकता था और साथ ही बहुत सारे शब्द ऐसे थे जो कि, एक ही विचार को देने के लिये प्रयुक्त होते थे। पीछे से यह ऊष्णदेशीय बहुतायत घटने लगी। बुद्धि अपनी निश्चयात्मकता की बढ़ती हुई मांग के साथ, मितव्ययता की बढ़ती हुई दृष्टि के साथ बीच में आई। शब्दों की धारण-क्षमता उत्तरोत्तर कम होती गई; और यह कम और कम सह्य होता गया कि, एक ही विचार के लिये आवश्यकता से अधिक शब्द लगे हुए हों, एकही शब्दके लिये आवश्यकता से अधिक भिन्नभिन्न विचार हों। इस विषय में एक बहुत बड़ी, यद्यपि अत्यधिक कठोर नहीं, परिमितता उस मांगके द्वारा नियमित होकर कि, विभिन्नता का वैभव समर्याद होना चाहिए, भाषा का अन्तिम नियम हो गई। परन्तु संस्कृत भाषा इस विकास की अन्तिम अवस्थाओं तक पूर्ण रूप से कभी नहीं पहुंची; बहुत जल्दी ही यह प्राकृत भाषा के अन्दर विलीन हो गई। इस के अधिक से अधिक उत्तरकालीन और अधिक से अधिक साहित्यिक रूप तक में एक ही शब्द के लिए अत्यधिक विभिन्न अर्थ पाये जाते हैं, यह आवश्यकता से अधिक पर्यायों की सम्पत्ति से लदी हुई है। इसलिये अलंकारिक प्रयोगों के लिये संस्कृत भाषा असाधारण क्षमता रखती है, जिस का कि, किसी दूसरी भाषा में होना कठिन, जबर्दस्ती से किया गया, तथा निराशाजनक रूप से कृत्रिम होगा और यह बात है और भी विशेषतया श्लेष - द्वयर्थक अलंकार के लिये।

फिर वेद की संस्कृत, तो भाषा के विकास में और भी अधिक प्राचीन स्तर को सूचित करती है। अपने बाह्य रूपों तक में किसी भी प्रथम वर्ग की भाषा की अपेक्षा यह अपेक्षाकृत कम नियत है; यह रूपों और विभक्तियों की विविधता से भरी पडी है, यह द्रव की तरह अस्थिर और आकार में अनिश्चित है, फिर भी अपने कारकों तथा कालों के प्रयोग में यह अत्यधिक सूक्ष्म है। यह अपने मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक पार्श्व में अभी नियमिताकार नहीं हुई है, यह बौद्धिक निश्चयात्मकता के दृढ रूपों में जमकर अभी पूर्ण रूप से कठोर नहीं बनी है। वैदिक ऋषियों के लिये शब्द अब भी एक सजीव वस्तु है, उत्पादक निर्माणात्मक शक्ति की एक वस्तु है। अब भी यह विचारके लिये एक रूढिसंकेत नहीं है, बल्कि स्वयं विचारों का जनक और निर्माता है। यह अपने अन्दर अपनी मूल धातुओं की स्मृति को रखे हुए है, अब तक यह अपने इतिहास से अभिज्ञ है।

ऋषियों का भाषा का प्रयोग शब्द के इस प्राचीन मनोविज्ञान के द्वारा शासित था। जब अंग्रेजी भाषा में हम 'वुल्फ' (Wolf) या 'काउ' (Cow) शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमें इनसे केवलमात्र वे पशु (भेडिया या गाय) अभिप्रेत होते हैं, जिनके कि वाचक ये शब्द हैं, हमें किसी ऐसे कारण का ज्ञान नहीं होता कि, क्यों हमें अमुक ध्वनि अमुक विचार के लिये प्रयुक्त करनी चाहिये, सिवाय इसके कि हम कहे कि भाषा का स्मरणातीत अतिप्राचीन व्यवहार ऐसा ही चला आता है; और हम इसे किसी दूसरे अर्थ का या अभिप्राय के लिये भी व्यवहृत नहीं कर सकते, सिवाय किसी कृत्रिम भाषाशैली के कौशल के तौर पर। परन्तु वैदिक ऋषि के लिये 'वृक' का अभिप्राय था 'विदारक' और इसलिये इस अर्थ के दूसरे विनियोगों में यह भेडिये का वाची भी हो जाता था, 'धेनु' का अर्थ था 'प्रीणयित्री' 'पालयित्री' और इसीलिये इसका अर्थ गाय भी था। परन्तु मौलिक और सामान्य अर्थ मुख्य है, निष्पन्न और विशेष अर्थ गौण है। इसलिये सूक्त के रचयिता के लिये यह संभव था कि, वह इन सामान्य शब्दों को एक बडी लचक के साथ प्रयुक्त करे, कभी वह भेडिये या गाय की प्रतिमा को अपने सामने रखे, कभी इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक सामान्य अर्थ की रंगत देने के लिये करे, कभी वह इसे उस आध्यात्मिक विचार के लिये जिस पर कि उसका मन काम कर रहा है। केवल एक रूढिसंकेत के तौर पर रखे, कभी प्रतिमा को दृष्टि से सर्वथा ओझल कर दे। प्राचीन भाषा के इस मनोविज्ञान के प्रकाशमें ही हमने वैदिक-प्रतीकवादके अद्भुत अलङ्कारों को समझना है, जैसा कि ऋषियों ने उन्हे प्रयुक्त किया है, उन तक को जो कि अत्यधिक, सामान्य और मूर्त प्रतीत होते है। यही रूप है, जिस में कि इस प्रकार के शब्द जैसे कि "घृतम्" घी, "सोम" पवित्र सुरा, तथा अन्य बहुतसे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त, एक ही शब्द के भिन्न अर्थों के बीचमें विचार के द्वारा बनाये गये विभाग उसकी अपेक्षा बहुत कम भेदात्मक होते थे, जैसे कि आधुनिक बोलचाल की भाषा में। अंग्रेजी भाषा में "फ्लीट" (Fleet) जिसका अर्थ कि जहाजों का बेडा है और "फ्लीट" (Fleet) जिसका अर्थ तेज है, दो भिन्न भिन्न शब्द हैं, जब हम पहले अर्थ में "फ्लीट" का प्रयोग करते हैं, तब हम जहाज की गति की तेजी को विचार में नहीं लाते, नहीं जब हम इस शब्द को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, तो उस समय हम समुद्र में जहाज के तेजी के साथ चलने को ध्यान में लाते हैं। परन्तु ठीक यही बात है जो कि, भाषा के वैदिक प्रयोग में प्रायः होती है। "भग" जिसका अर्थ 'आनन्द' है और "भग" जिसका अर्थ भाग है, वैदिक मन के लिये दो भिन्न भिन्न शब्द नहीं हैं, परन्तु एक ही शब्द है, जो इस प्रकार विकसित होते होते दो भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लग पडा है। इसलिये ऋषियों के लिये यह आसान था कि, वे इसे दोनों में से किसी एक अर्थ में प्रयुक्त करें और साथ में उसके पृष्ठ में दूसरा अर्थ भी रहे और वह इसके प्रत्यक्ष वाच्यार्थ को अपनी रंगत देता रहे अथवा यहां तक हो सकता था कि इसे वे किसी एकत्रीकृत अर्थ के अलंकारद्वारा एक ही समय एकसमान दोनों अर्थों में प्रयुक्त करें। "चमस्" का अर्थ था 'भोजन' परन्तु साथ ही इसका अर्थ 'आनन्द, सुख' भी होता था, इसलिए ऋषि इसका प्रयोग इस रूप में कर सकते थे कि, असंस्कृत मन के लिये इससे

केवल उस भोजन का ग्रहण हो, जो कि यज्ञ में देवताओं को दिया जाता था, पर दीक्षित के लिये इसका अर्थ हो **आनन्द**, भौतिक चेतना के अन्दर प्रविष्ट होता हुआ दिव्य सुख का **आनन्द**, और इसके साथ ही यह सोम-रस के रूपक की ओर संकेत करता हो, जो कि एकसाथ देवों का भोजन तथा आनन्द का वैदिक प्रतीक दोनों है।

हम देखते हैं कि, भाषा का इस प्रकार का प्रयोग वैदिक मंत्रों की वाणी में सर्वत्र प्रधानरूप से पाया जाता है। यह एक बड़ा अच्छा उपाय था, जिसके द्वारा कि प्राचीन रहस्यवादियों ने अपने कार्य की कठिनाई को दूर कर पाया था। सामान्य पूजक के लिये 'अग्नि' का अभिप्राय केवलमात्र वैदिक आग का देवता हो सकता था, या इसका अभिप्राय भौतिक प्रकृति में काम करनेवाला ताप या प्रकाश का तत्त्व हो सकता था अथवा अत्यन्त अज्ञानी मनुष्य के लिये इसका अर्थ केवल एक अतिमानुष व्यक्तित्व हो सकता था, जो कि 'धनदौलत देनेवाले,' मनुष्य की कामना को पूर्ण करनेवाले, इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों में एक है। पर उनके लिये, इससे क्या सूचित होता, जो कि एक गम्भीरतर विचारके, **देव** (परमेश्वर) के आध्यात्मिक व्यापारों के, योग्य थे? इस कार्य की पूर्ति यह शब्द स्वयं कर देता है। क्योंकि 'अग्नि' का अर्थ होता था, "बलवान्", इसका अर्थ था चमकीला या यह भी कह सकते हैं कि, **शक्ति, तेजस्विता**।

इसलिए यह जहां कहीं भी आए, आसानी से दीक्षित को **प्रकाशमय शक्ति** के विचार का स्मरण करा सकता था, जो कि लोकों का निर्माण करती है और जो मनुष्यको ऊंचा उठा कर **सर्वोच्च**, महान् कर्म का अनुष्ठाता, मानव-यज्ञ का पुरोहित बना देती है।

और श्रोता के मनमें यह कैसे बैठता कि, ये सब देवता एक ही विश्वव्यापक देव के व्यक्तित्व हैं? देवताओं के नाम, अपने अर्थ में ही, इस का स्मरण कराते हैं कि, वे केवल विशेषण हैं, अर्थसूचक नाम हैं, वर्णन हैं न कि किसी स्वतन्त्र व्यक्ति के वाचक नाम। **मित्र**, देवता, प्रेम और सामञ्जस्य का अधिपति है, सुखोपभोग का अधिपति है, सूर्य प्रकाश का अधिपति है, वरुण है उस देव की सर्वव्यापक विशालता और पवित्रता, जो देव कि जगत् को धारण तथा पूर्ण करता है। 'सत् तो एक ही है,' ऋषि दीर्घतमस् कहता है, 'पर सन्तलोग उसे भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट करते हैं; वे 'इन्द्र' कहते हैं, 'वरुण' कहते हैं, 'मित्र' कहते हैं, 'अग्नि' कहते हैं, वे इसे 'अग्नि' नाम से पुकारते हैं, 'यम' नाम से, 'मातरिश्वा' नामसे। * वैदिक ज्ञान के प्राचीनतर काल में दीक्षित इस स्पष्ट स्थापनाकी आवश्यकता नहीं रखता था। देवताओं के नाम स्वयं ही उसे अपने अर्थ बता देते थे और उसे इस महान् आधारभूत सत्य का स्मरण कराये रहते थे, जो कि सदा उसके साथ रहता था।

परन्तु बाद के युगों में यह उपाय ही, जो कि ऋषियों-द्वारा प्रयुक्त किया गया था, वैदिक ज्ञान की सुरक्षा के प्रतिकूल पड़ गया। क्योंकि भाषा ने अपना स्वरूप बदल लिया, अपनी प्रारंभिक लचक को छोड़ दिया, अपने पुराने परिचित अर्थों को उतारकर रख दिया; शब्द संकुचित हो गया और सिकुड़ कर वह अपने अपेक्षाकृत बाह्य तथा स्थूल अर्थ में सीमित हो गया। आनन्द का अमृत-रस-पान भुला दिया जाकर भौतिक हविप्रदान मात्र रह गया, 'घृत' का रूपक केवल गाथाशास्त्र के देवताओंके तृप्तिके लिए किए जानेवाले स्थूल निषेक का ही स्मरण कराने लग गया, आग के और बादल के तथा आँधी के देवता केवलमात्र ऐसे देवता रह गए, जिनमें कि भौतिक शक्ति और बाह्य प्रताप के सिवाय और कोई शक्ति नहीं बची। अक्षरार्थ मात्र प्रचलित रहे। जब कि प्राणरूप असली अर्थों को भुला दिया गया। प्रतीक, वैदिक वाद का शरीर बचा रहा, पर ज्ञान की आत्मा इस के अन्दर से निकल गई।

---

* इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥　　(ऋ० १।१६४।४६)

सदाचार।

(लेखक- श्री० ब्रह्मचारी गोपाल चैतन्य देव, गिरगांव, ११८ केलेवाडी, बम्बई ४)

(५)

वृथा तर्क-वितर्क कर उच्छृङ्खलता की सृष्टि न करते हुए, चुपचाप शास्त्र के विधानानुसार कर्तव्य-कर्म करना उचित है; क्योंकि शास्त्र की वाणी मान कर उसी नियमानुसार चलने से कहीं भी बेवकूफ बनना न पड़ेगा। राजशक्ति भी शास्त्र के समान रक्षा करती है- शास्त्र की दुहाई से विधर्मी भी शिर झुकाते हैं। अतः जहाँ तक हो सके, चिरागत (सनातन) शास्त्रसंगत सदाचारमूलक उपदेश का पालन करना ही बुद्धिमान् का कर्तव्य है। महर्षि चरकजी ने उपदेश दिया है कि—

(क) देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्। नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगंधि स्यात्॥

देवता, गो, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध तथा आचार्यों की पूजा करना चाहिए। नित्य परिष्कृत (साफ) कपड़ा पहनना चाहिए, तथा प्रसन्नमना एवं सुगंधधारी होवे।

(ख) साधुवेशः प्रसाधितकेशः पूर्वाभिभाषी बलीनामुपहर्ता अतिथीनां पूजकः पितॄणां पिंडदः काले हितमितमधुरार्थवादी वश्यात्मा धर्मात्मा निश्चिन्तो निर्भीकः धीमान् ह्रीमान् महोत्साहो दक्षः क्षमावान् धार्मिक आस्तिकः विनयबुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्धसिद्धाचार्याणामुपासितः छत्री दण्डी मौली सोपानत्को युगमात्र दृगनुचरेत्।

अर्थात् साधुवेश तथा शोभितकेश होवे। किसी व्यक्ति का आगमन होने से पहले सम्भाषण करे। इतर प्राणियों को भोजन देवे। अतिथि की पूजा (सेवा) करे। पितृ-पुरुषों का श्राद्ध करे। यथासमय हित, परिमित तथा मधुर वार्तालाप करे। जितेन्द्रिय तथा धर्मप्राण होवे। दुश्चिन्ता त्याग करे। निर्भीक, धीमान्, ह्रीमान् महोत्साही, कार्य-कुशल, क्षमावान्, धार्मिक तथा आस्तिक होवे। विनय, बुद्धि तथा विद्या के विषय में जिन की उत्कर्षता है, उन्हें तथा वयोवृद्ध, सिद्ध एवं आचार्यों की उपासना करे। छत्र, दण्ड, उष्णीष (पागड़ी) तथा पादुका (जूता) धारण करे। एवं चलते समय सामने की चार हाथ जमीन पर नजर रखकर चलना उचित है।

(ग) सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात् क्रुद्धानामनुनेता भीतानामाश्वासयिता दीनानामभ्युपपत्ता सत्यसन्धः सामप्रधानः परपुरुषवचनसहिष्णुः प्रशस्तगुणदर्शी रागद्वेषहेतूनां हन्ता नानृतं ब्रूयात् नान्यस्वमाददीत नान्यस्त्रियमभिलषेत् नान्यश्रियं न वैरं रोचयेत् न कुर्यात् पापं न पापेऽपि पापी स्यात् नान्यदोषान् ब्रूयात् नान्यरहस्यमागमयेत्॥

अर्थात् सर्वभूत के साथ बन्धु की भाँति व्यवहार करे। कोई व्यक्ति आप के ऊपर क्रुद्ध हो, तो उस से अनुनय-विनय करे। कोई व्यक्ति भयभीत हो, तो उसे अभय देवे, तथा दीन व्यक्ति पर अनुग्रह करना उचित है। जिस विषय की प्रतिज्ञा कर ली हो, अथवा किसी व्यक्ति को कोई बात कह दी हो, तो सदा उसे पालन करना चाहिए। दूसरे के परुष-वचन (कड़ी बात) को सहन करे। सामगुण (धैर्य-वान्) हमारा प्रधान गुण होना चाहिए। प्रशस्त गुण के दर्शक बनना चाहिए, तथा रागद्वेष के हेतु को नाश करना उचित है। मिथ्या बात न बोलना चाहिए। दूसरे के सर्वस्व को हरण करना उचित नहीं है। परस्त्री की अभिलाषा मन में न रक्खें। किसी की स्त्री को देखकर कातर न होवे। किसी के साथ शत्रुता का आचरण करना उचित नहीं है। पाप-कार्य करना नहीं चाहिए, तथा पाप-कर्म करने की सुयोग-सुविधा होने पर भी इतना सावधान रहना चाहिए कि, पाप में लिप्त ही न होना पड़े, तथा पापी

बनना न पडे। दूसरे के दोष कभी देखना भी नहीं चाहिए, बतलाना भी नहीं चाहिए। दूसरे की रहस्य भी प्रकट करना उचित नहीं है।

(घ) नाधार्मिकैः सहासीत। न दुष्टयानान्यारोहेत्। न जानुसमं कठिनमासनमध्यासीत। नाऽनास्तीर्णमनुपहितमविशालमसमं वा शयनं प्रपद्येत्।

अधार्मिक के साथ वास करना उचित नहीं हैं। दुष्ट घोडे आदि यान पर आरोहण (चढना) उचित नहीं है। जानु के समान ऊँचे कठिन आसन पर नहीं बैठना चाहिए। आस्तरण (फर्श) शून्य, उपाधान (तकिया) शून्य, अप्रशस्त (कम-चौडी-) तथा असम (ऊँची-नीची) शय्या पर सोना उचित नहीं है।

(ङ) कुलच्छायां नोपासीत। नोच्चैर्हसेत्। न शब्दवन्तं मारुतं मुञ्चेत्। नासंवृतमुखे जृम्भाक्षवथुं हास्यं वा प्रवर्तयेत्। न नासिकां कुष्णीयात्। न दन्तान् विघट्टयेत्। न नखानि वादयेत्। नास्थीन्यभिहन्यात्। न भूमिं विलिखेत्। न छिन्द्यात्तृणम् न लोष्टं मृद्नीयात्। न विगुणमंगैश्चेष्टेत्।

सत्कुल के उत्पन्न सज्जन की छाया के ऊपर से चलना नहीं चाहिए। बहुत ऊँची आवाज से हँसना नहीं चाहिए। शब्द के साथ अधोवायु (अपान-वायु) भी छोडना उचित नहीं है। हाथ आदिके द्वारा मुख न ढककर जूंभा (जाहाई) एवं हिचकी लेना तथा हँसना उचित नहीं है। नासिका खुजलाना ठीक नहीं है। दाँतों को दाँतों से घिसना तथा अंगुली से अंगुली बजाना भी उचित नहीं है। अस्थि (हड्डी) में चोट लगाना ठीक नहीं है। नाखून से या बिनाकारण जमीन पर दाग काटना भी नहीं चाहिए। नाखून से तृण को तोडना नहीं चाहिए। अकारण लोष्ट (पत्थर) तोडना भी ठीक नहीं। हाथ-पैर से बिगडे हुए अंग की भाँति शरीर का कोई अंग विकृत नहीं करना चाहिए।

(च) न क्षपास्वमरसदन चैत्य चत्वर चतुष्पथो पवनश्मशानायतनान्यासेवेत। नैकः शून्यगृहं नचाटवीमनु प्रविशेत्। न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत्॥

रात के समय देवमन्दिर में, चैत्यस्थान (देवताधिष्ठित वृक्षादियुक्त स्थान) में, चत्वर में, चतुष्पथ यानी चार रास्तों के संयोग पर, उपवन में, श्मशान में, तथा वध्यभूमि में रहना उचित नहीं है। शून्यगृह तथा अरण्य में अकेला जाना उचित नहीं। पापाचारी स्त्री, मित्र तथा नौकर को भजना उचित नहीं है।

(छ) नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत। पुरोवातातपावश्यायानि प्रवातानि जह्यात्। नोच्छिष्टो नाधः कृत्वा प्रतापयेत्। नाविगतक्लमोनाप्लुतवदनो न नग्न उपस्पृशेत्। न स्नानशाट्या स्पृशेदुत्तमांगं। न केशाग्राण्यभिहन्यात्॥

ऊर्ध्वजानुपर बैठना ठीक नहीं है। पूर्वभाग यानी सम्मुखी-दिशा की वायु, सम्मुख की धूप, हिम (ओस) तथा बहुत जोर के प्रवाहवाली वायु सेवन करना उचित नहीं है। झूठे मुख से या नीचे की ओर रखकर अग्नि जलाना उचित नहीं है। श्रान्ति (थकावट) दूर न होने पर स्नान करना उचित नहीं। पहले जल से मुख न धोकर तथा उलंग (नंगा) होकर स्नान न करे। जो कपडा पहन कर स्नान करे, उससे शिर पोछना उचित नहीं है। केश के अग्रभाग (नोक) को पकडकर खिंचना नहीं चाहिए।

(ज) नाशेषभुक् स्यादन्यत्र दधिमधुलवणसक्तुसर्पिर्भ्यः। न नक्तं दधि भुञ्जीत। न सक्तूनेकानश्नीयात्। न निशि न भुक्त्वा न बहून नद्विर्नोदकान्तरिताम्। न छित्वा द्विजैर्भक्षयेत्॥

भोजन-पात्र पर थोडा-समभोज्यवस्तु न रखकर भोजन न करना चाहिए; परन्तु दही, मधु, लवण, सत्तु, घी का शेष रखना उचित नहीं है। घी या चीनी न मिलाकर शुष्क सत्तु खाना उचित नहीं है। रात के समय सत्तु खाना तथा भोजन के बाद भी सत्तु खाना उचित नहीं है। पहिले कुछ सत्तु खाकर जल पीना, फिर थोडा सत्तु खाकर जल पीना-इस प्रकार से सत्तु खाना उचित नहीं है और न सत्तु के ढेले को जल से न भिगाते हुए दाँतों

से काटकर खाना भी ठीक नहीं है।

(झ) नानृजुः क्षुयात् नाद्यात् नशयीत । न वेगितोऽन्यकार्यः स्यात्। न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकोच्चारमूत्राण्युत् सृजेत्। न पन्थानमव मूत्रयेत्। न जनवति नान्नकाले। न जप्यहोमाध्ययनबलिमंगल क्रियासु श्लेष्मसिङ्खाणकं मुञ्चेत् ॥

हिचकी समय शरीर को बाँके-टेढे भाव से न रक्खे। भोजन तथा शयन में भी बाँके-टेढे होकर करना उचित नहीं है। मल-मूत्रादिका वेग उपस्थित होने पर दूसरे काम- काज करना उचित नहीं है। वायु, अग्नि, सलिल, चन्द्र, सूर्य, ब्राह्मण तथा पूज्य व्यक्ति की ओर मुख कर थूकना तथा मल-मूत्रादिका त्याग करना उचित नहीं है। रास्ते में मूत्रत्याग करना भी उचित नहीं है। बहुत लोगों के बीच, भोजन के समय, जप, होम, अध्ययन, बलि तथा दूसरे मंगलजनक कार्य के समय नथने से सिङ्घानक (कफादि) त्याग करना भी उचित नहीं है।

(ञ) न स्त्रियमवजानीत। नाति विश्रंभयेत्। न गुह्यमनुश्रावयेत्। नाधिकुर्य्यात्।

स्त्री को घृणा करना तथा अति विश्वास करना भी उचित नहीं है। गुप्त बात नहीं सुनाना, तथा उसे सर्वेसर्वा (सर्व-श्रेष्ठ) करना भी ठीक नहीं है।

(ट) न सतो न गुरून् परिवदेत्। न विद्युत्स्वनार्तवीषु नाभ्युदितासु दिक्षु नाग्निसंप्लवे न भूमिकम्पे न महोत्सवे नोल्कापाते न महाग्रहोपगमने नष्टचन्द्रायां तिथौ न सन्ध्ययोर्नामुखाद् गुरोर्नावपतितं नातिमात्रं नतान्तं न विस्वरं नानवास्थितपदं नातिद्रुतं न विलवंबितं नातिक्लीवं नात्युच्चैर्नातिनीचैःस्वरैरध्ययनमभ्यासेत्। नातिसमयं जह्यात्। न नियमं भिन्द्यात् ॥

साधु तथा पूज्य व्यक्तियों की निन्दा करना उचित नहीं है। अकाल के समय विद्युत्ध्वनि (मेघ का शब्द) होने पर, चारों ओर या गांव अग्नि से जलने पर, भूकम्प होने पर, महोत्सव के दिन, उल्कापात होने पर, महाग्रहोपगमने यानी शनि–गुरु-राहु तथा केतु का संचार होने पर, नष्टचन्द्रा तिथि में चतुर्दशी, अमावस्या, प्रतिपदा तिथि में एवं भाद्रपद के नष्ट-चन्द्रा तिथि पर तथा दोनों सन्ध्या के समय अध्ययन करना उचित नहीं है। गुरुमुखी न होने पर भी अध्ययन न करे। अध्ययन के समय उच्चारण में अवपतित या स्खलित (भूल) न होवे अथवा अध्ययन के समय स्वर अतिमात्र नत, विस्वर, लुप्तपद, अतिद्रुत, अतिविलम्बित, अतिक्षीण, अथवा अति उच्च या अति नीचा न होवे। फिर अध्ययन के समय व नियम को लांघना भी ठीक नहीं है।

(ठ) न नक्तं नादेशे चरेत्। न सन्ध्यास्वभ्यवहाराध्ययन स्त्रीस्वप्नसेवी स्यात्। न गुह्यं विवृणुयात्। न किञ्चिदवजानीयात्। न गवां दंडमुद्यच्छेत् ॥

रात्रि के समय खराब स्थान पर विचरण करना उचित नहीं है। सन्ध्याके समय भोजन, अध्ययन, स्त्रीसंभोग या निद्रासेवन भी उचित नहीं है। गुप्त बात व्यक्त करना अनुचित है। किसी की भी अवज्ञा (घृणा) न करे। गौ–माता के ऊपर कभी भी दण्डप्रहार करना ठीक नहीं है।

(ड) न सर्वविश्रम्भी न सर्वाभिशंकी न सर्वकालविचारी स्यात्। न कार्यकालमतिपातयेत्। नापरीक्षितमभिनिविशेत्। नेन्द्रियवशगः स्यात् ॥

सब व्यक्ति को अति विश्वास न करे, एवं सभी के प्रति अति शंका भी न करे। बहुत ज्यादा समय तक विचार करना भी ठीक नहीं है। कामकाज करने का समय भी अतिक्रम (उल्लंघन) करना उचित नहीं। जिसकी परीक्षा न की हो, ऐसे विषय पर अभिनिवेश (तर्क) भी न करे, एवं इंद्रियों के वश होना भी ठीक नहीं है।

(ढ) न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्। न चाति दीर्घसूत्री स्यात्। प्रकृतिमभीक्ष्णं स्मरेत्। हेतुप्रभावनिश्चितः स्यात्। हेत्वारंभ नित्यश्च। न कृतमित्याश्वसेत्। न वीर्यं जह्यात्। नापवादमनुस्मरेत्।

ज्ञानेन्द्रियों की अतिचालना (   ) करना ठीक नहीं है। अतिशय दीर्घसूत्री भी न होवे। सदा ही आत्म-प्रकृति का स्मरण करे। जैसा काम करेंगे, वैसे ही फल-लाभ

होगा, इस विषय पर बुद्धि को स्थिर रक्खे। जब तक कर्मफललाभ नहीं होता, तब तक कर्म से निवृत्ति होना ठीक नहीं है। काम-काज हो गया, ऐसा सोचकर स्थिर रहना ठीक नहीं। कर्मफल के सम्बन्ध में हताश हो, पराक्रम त्याग न करे। दूसरे का अपवाद (निंदा) स्मरण करना भी उचित नहीं।

(ण) ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यऽपोपेक्षाप्रशमपरः स्यात्।

ब्रह्मचर्य की रक्षा करे। ज्ञानानुशीलन करना। दान करना। सर्व भूतों का मित्रस्वरूप होना। सर्व जीव पर दयावान् होना। सदा ही आनन्दचित्त से रहना। मानापमान, जयाजय तथा सुखदुःख की उपेक्षा करना चाहिए, एवं किसी भी कारण से मन की शांति नष्ट करना उचित नहीं है।

महर्षि चरकने इंद्रियोपक्रमणीय सद्वृत्ति के सम्बन्ध पर जो उपदेश प्रदान किए हैं, उन में से भी थोडासा उपदेश यहाँ पर देना अनुचित नहीं होगा।

न कश्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्।
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः।
वर्षातपादिषु छत्री दण्डी रात्रौ भयेषु च॥

× × ×

सम्मार्ज्जनीरजो नैव देहे दद्यात् कदाचन।

× × ×

नेच्छेद् बलवता युद्धं न भारं शिरसा वहेत्।
गात्रं न वादयेत् केशान हस्तेन धुनुयान्नच॥
न गच्छेत् पूज्ययोर्मध्ये दाम्पत्योरन्तरेण च।

× × ×

वह व्यक्ति मेरा शत्रु है, अथवा मैं उस का शत्रु हूँ- ऐसी बात कभी प्रकाश न करना चाहिये, तथा अपना अपमान, प्रभुकी अस्नेहता भी किसीको न बतलानी चाहिए। वर्षा तथा धूप के समय छत्र तथा रात्रि के समय एवं भय के स्थान पर दण्ड का व्यवहार करना चाहिए। समार्ज्जनी (झाड़ू) का धूल कभी भी शरीर पर लगाना उचित नहीं है, तथा बलवान् के साथ युद्ध की कामना करना भी उचित नहीं है। शिर पर बोझ उठाना भी ठीक नहीं है। शरीर बजाना, तथा हाथ से केशों को कपाना ठीक नहीं है। पूज्य व्यक्तियों के भीतर तथा दम्पति-युगल के भीतर जाना भी ठीक नहीं है।

इसके अतिरिक्त बहुत से पुराणों तथा संहिता में ऐसे-ऐसे अनेक उपदेश-वाक्य ऋषिगणद्वारा कीर्तित हुए हैं। यहाँ पर सिर्फ आयुर्वेदशास्त्र से ही थोडा-कुछ उपदेश-संग्रह किया गया है। वर्तमान समयमें समाजमें पाश्चात्यावस्था से ही अर्थोपार्जन से लेकर तथा स्त्री-पुत्र लेकर संसार के बोझ उठाना तक लोग ऐसे एक भाव से शिक्षित तथा ज्ञानी (!) हो रहे है कि, "धर्म" शब्द ही उनके लिए भय का कारण स्वरूप हो गया है। उनके लिये धर्म एक प्रकार की सनातन जटिल समस्या, एक अज्ञेय या दुर्ज्ञेय तत्त्व बन गया है। अतः धर्मसंहिताओं के उपदेश के प्रति उन लोगोंके आस्था-शून्य, उदासीन-दृष्टि दृढबद्ध हो रही है। धर्म-संहिता के प्रमाणवाक्य उनकी तृप्ति नहीं दे सकती, क्योंकि धर्म-सम्बन्धमात्र ही दुर्ज्ञेय है। ऐसी अवस्था में पञ्चम-वेद आयुर्वेद से जो उपदेशसंग्रह किया गया है, उसमें हमारे भौतिक देह, आयु, रोग तथा इनके प्रतिकार का मूल विषय भी रहा है। धर्मसंहिता के साथ ही साथ जब आयुर्वेद भी बोलता है कि, जमीन पर लकीर नहीं खींचनी चाहिए या अंगुलीसे अंगुली न बजाना तथा शरीर न बजाना चाहिए इत्यादि, तब दुर्ज्ञेय धर्मतत्त्व के भय से भयभीत व्यक्ति के हृदय में थोडी-कुछ चिंता उत्पन्न हो सकती है- इसीसे उन लोगों के हृदय में वे सब उपदेश चुपचाप पालन करने की प्रवृत्ति भी हो सकती है। इसी से थोडासा उपदेश चरक-संहिता एवं भाव-प्रकाशसे संग्रह किया गया है। कभी ऐसा सुसमय था, जब हमारी पुण्य-भूमि भारत के सर्वसाधारण भी उन सब उपदेशों को समादर के साथ पालन करते थे, तथा अपनी संतानों को भी उसी विधि से शिक्षा देते थे। शिक्षा की प्रधानकर्त्री बनी है- जननी, अतः मानव सनातन समय से ही स्त्री-जाति से वे सब उपदेश श्रवण करते आ रहे हैं, परन्तु काल प्रबल है, नव्य-सभ्यता के आलोक से आज वे सब उपदेश मूर्ख स्त्री-जातिके कुसंस्कारमें परिणत हो उपेक्षा हो रही है।

आर्य ऋषिगण ने योग-सिद्ध ज्ञान-विज्ञान के बल से विश्व-रहस्य के अन्तःस्थल में प्रवेश किया था। वर्तमान

समय सुविचारवान् पाश्चात्य पण्डितों ने भी यह बात स्वीकार कर ली है। इन सब सत्यदर्शी ऋषिगणोंने धर्मतत्त्व, शारीरतत्त्व, मनतत्त्व, चिकित्सातत्त्व तथा प्राकृतिक तत्त्व आदि के सारसंग्रहपूर्वक रासायनिक परीक्षा के बाद ही आचारविधिनिषेध का उपदेश किए हैं। हम केवल उन के शुद्ध प्रतिपादनद्वारा ही उनकी उपकारिता समझ सकेंगे। सदाचार का अपूर्व विशेषत्व यह है कि, यह स्वयं ही प्रमाणस्वरूप है, हजारों मूर्ख तर्कवादी भी सदाचार के अनुष्ठानकारी की निश्चित उपलब्धि का नाश नहीं कर सकते हैं।

नित्य स्मरणीय नीति–वाक्य।

नक्तं दिनानि मे यान्ति कथम्भूतस्य सम्प्रति।
दुःखभाङ्न भवेदेवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः ॥ १॥

वर्तमान समय कैसे कार्यों का आचरण करते हुए हमारा दिन जा रहा है, इस विषय की आलोचना करने से, मानव दुःख का भागी नहीं बनता है।

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात् तमेवातो लौकिकार्थे परीक्षकः ॥२॥

बुद्धिमान व्यक्ति के सभी प्रकार के कार्यों में समाज के सज्जन ही गुरु होते हैं, अतः सामाजिक विषयों पर समाजस्थ सज्जनों की ही परीक्षा के अनुसरण करना उचित है।

राज-देश-कुल ज्ञाति सद्धर्मान नैव दूषयेत्।
शक्तोऽपि लौकिकाचारं मनसापि न लङ्घयेत्॥३॥

राजधर्म, देशधर्म, कुलधर्म, ज्ञातिधर्म, तथा साधु के धर्म को दोष न देवे। समर्थ होने पर भी लौकिकाचार को मन से भी उल्लंघन न करना चाहिए।

क्रयविक्रयातिलिप्सां स्वदैन्यं दर्शयेन्नहि।
कार्यं विनान्यगेहेन न ज्ञातः प्रविशेदपि ॥ ४॥

क्रय-विक्रय पर यानी कारोबार में अति लिप्सा न दिखावे। अपनी दैन्यता का भी प्रकाश न करे। बिना कार्य या अज्ञात रूप से दूसरे के घर में प्रवेश न करे।

चण्डं षण्डं दण्डशीलमकामं सुप्रवासिनम्।
सुदरिद्रं रोगिनं च ह्यन्यस्त्रीनिरतं सदा॥
पतिं दृष्ट्वा विरक्ता स्यान्नारी वान्यं समाश्रयेत्।
स्वक्तवैतान् दुर्गुणान् यत्नादतो रक्ष्याः स्त्रियः नरैः॥ ५॥

अपने पति को उग्र (क्रोधी) क्लीव, दण्डशील, अननुरक्त दीर्घप्रवासी, दरिद्र, रोगी तथा दूसरी स्त्री के ऊपर आसक्त देखकर यदि नारी विरक्त हो जाय, अथवा दूसरे का आश्रय करे, तो इन सब दोषों के परित्यागपूर्वक भी पुरुष को स्त्री की रक्षा करनी चाहिए।

अपृष्टो नैवकथयेद् गृहकृत्यं तु कं प्रति।
बह्वर्थाल्पाक्षरं कुर्यात् सल्लापं कार्यसाधकम्॥६॥

न पूछने पर किसीको भी घरकी बात न कहे। बहु अर्थ-युक्त स्वल्पाक्षरों में कार्यसाधक सदालाप करे।

न दर्शयेत् स्वाभिमतमनुभूताद् बिना सदा।
ज्ञात्वा परमतं सम्यक् तेनाज्ञातोत्तरं वदेत् ॥७॥

कोई भी विषय अच्छी तरह से न जानने पर उस विषय में अपना मत प्रकट न करे। अच्छी तरहसे दूसरे का मत न जानने पर तथा जिस का सिद्धांत मालूम नहीं है, ऐसा वाक्य न कहे।

दाम्पत्य-कलहे साक्ष्यं न कुर्यात् पितृपुत्रयोः।
सुगुप्तकृत्यमंत्रः स्यान्नत्यजेच्छरणागतम् ॥ ८॥

दम्पति तथा पिता-पुत्र के झगड़े में गवाह न देवे। गुप्त रूप से मंत्रणा करे, तथा शरणागत का कभी त्याग न करे।

जायापत्योश्च पित्रोश्च भ्रात्रोश्च स्वामिभृत्ययोः।
भगिन्योर्मित्रयोर्भेदं न कुर्याद् गुरुशिष्ययोः ॥९॥

दम्पति का, मातापिता का, भ्रातृद्वय का, प्रभु-भृत्य का, बहिनों का, मित्रों तथा गुरु-शिष्य का मनोभेद न करे।

न मध्याद् गमनं भाषाशालिनोः स्थितयोरपि।
सुहृदं भ्रातरं बंधुमुपचर्यात् सदात्मवत् ॥ १०॥

दो व्यक्ति जब बात-चीत कर रहे हैं, या बैठे हैं, ऐसी अवस्था में उन के बीच से जाना ठीक नहीं है। सुहृद्, भाई तथा बंधु के साथ सदा ही आत्मवत् व्यवहार करे।

ऋणशेषं रोगशेषं शत्रुशेषं न रक्षयेत्।
याचकाद्यैः प्रार्थितः सन्नतीक्ष्णं चोत्तरं वदेत्।
तत् कार्यन्तु समर्थश्चेत् कुर्याद् वा कारयेत च ११

ऋणशेष, रोग-शेष तथा शत्रु-शेष न रक्खे। भिक्षुकादि प्रार्थी होने पर उसे कटु-शब्दों से उत्तर न दे। समर्थ होने पर उसे पूर्ण कर दे या दूसरे से भी करा देवे।

वेश्या तथा विद्या वापि वशीकर्तुं नरं क्षमा।
नेशात् कस्यवशं तद्वत् स्वाधीनं कारयेज्जगत्॥१२

वेश्या अपनी इच्छा से किसी के वश न होकर मानव को वशीभूत करती है। अतः मानव को चाहिए कि, वैसे ही अपने को योग्य बनावे।

मार्गं गुरुभ्यो बलिने व्याधिताय शवाय च।
राज्ञे श्रेष्ठाय व्रतिने यानगाय समुत्सृजेत्॥१३॥

गुरुजनों को, बलवान् को, रोगग्रस्त को, तथा शव, राजा श्रेष्ठ व्यक्ति, व्रतावलम्बी, एवं यानगामी को रास्ता छोड़ देना चाहिए।

शकटात् पञ्चहस्तन्तु दशहस्तंतु वाजिनः।
दूरतः शतहस्तंच तिष्ठेन्नागाद् वृषाद्दश॥१४॥

गाडी से पाँच हाथ, घोडे से दश हाथ, हाथी से सौ हाथ तथा वृष (बैल) से दश हाथ दूर पर रहना चाहिये।

खादन्न गच्छेदध्वानं न च हास्येन भाषणम्।
शोकं न कुर्यान्नष्टस्य स्वकृतेरपि जल्पनम्॥१५॥

खाते-खाते रास्ता चलना उचित नहीं, हँस कर बात न करे, नष्ट-वस्तु के लिए शोक न करे, तथा अपने कार्य का भी कीर्तन न करे।

स्वशंकितानां सामीप्यं त्यजेतै नीचसेवनम्।
संलापं नैव शृणुयाद् गुप्तं कस्यापि सर्वदा॥१६॥

अपने से शंकित व्यक्ति के पास जाना उचित नहीं, तथा नीच-व्यक्ति की सेवा भी न करनी चाहिए। किसी का गुप्त आलाप कभी न सुनो।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखञ्च न विना धर्मात् तस्माद्धर्मपरो भवेत्॥१७

सभी व्यक्ति सुख-जनक कर्म की वासना करते हैं, परन्तु बिना धर्म के सुख की सम्भावना नहीं है। अतः सभी को धर्म-परायण होना चाहिए।

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः॥१८॥

कल्याण-जनक काममें उपदेशादि प्रदान कर, जो सहायता करते हैं, वे कल्याण मित्रों को भक्ति के साथ सेवा करे, तथा जो पाप कार्यों में सहायता करते हैं, उन्हें सर्वतोभावेन त्याग करे।

हिंसा स्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।
संभिन्नालापव्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्॥१९॥

हिंसा, चौर्य तथा गुरुदार गमनादि निषिद्ध काम त्रिविध कायिक पाप कहाते हैं। पैशुन्य (परभेदकारक वाक्य), कटुवात, असत्यभाषण तथा असंबद्ध बोलना· ये चार प्रकार के काम वाचिक-पाप कहते हैं। तथा प्राणिवध की चिंता, परगुणादि में असहिष्णुता एवं नास्तिकता ये तीन प्रकारके काम मानसिक पाप कहाते हैं, अतः कायिक, वाचनिक तथा मानसिक उक्त दश प्रकार के पापों को काय-मन वाक्य से त्याग करना चाहिए।

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः॥२०॥

निरुपाय, रोगी तथा शोकार्त व्यक्ति को यथा-शक्ति उपकार करो।

आत्मवत् सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्॥२१॥

दूसरे की बात, तो दूर रही, कीडे, पिपीलिका (चींटी) आदि क्षुद्र प्राणियों भी आत्मवत् समझना चाहिए।

अर्च्चयेद्देवगोविप्र वृद्धवैद्यनृपातिथीन्॥२२॥

देवता, गौ, विप्र, वृद्ध, वैद्य, राजा तथा अतिथि की अर्चना करनी चाहिए।

विमुखान्-नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत् नाक्षिपेत्॥२३॥

प्रार्थी को विमुख न करे, न अपमान ही करे और न कडी बातों से भी भगा दे।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ॥२४॥

शत्रु अपकार करने पर भी उसका उपकार करो। पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता महाराजा युधिष्ठिरजी के इस महान् वाक्य को सदा याद रखना चाहिए-

शत्रुर शत्रुता यदि इच्छा शोधिबारे।
पारिले विपदे तार कर उपकार॥
शत्रुतार प्रतिशोध उपकारे हय।
अपकारे अपकार साधुनीति नय॥

महाभारत (बंगला)

अर्थात् शत्रु की शत्रुता का प्रतिशोध लेने की इच्छा हो, तो विपदा में उस पर उपकार करो। शत्रुता का बदला

उपकार से ही होता है । अपकारी को अपकार करना साधु नीति नहीं है ।

सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत् फले न तु । २५

सम्पद् तथा विपद् के समय समचित्त रहे । हेतु (कारण) की ईर्षा करे, परन्तु फल पर ईर्षा न करे । अर्थात् "वह व्यक्ति विद्वान् तथा दानादि धर्मपरायण है, मैं क्यों ऐसा नहीं होता हूँ-" इस प्रकार की हिंसा करना उत्तम है, परन्तु किसी की विद्या तथा दानादि धर्म के फलस्वरूप धन और यश आदि के प्रति ईर्षा करना उचित नहीं ।

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि च पेशलम् ।
पूर्वाभभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ॥ २६

काले अर्थात् जब कोई प्रस्ताव उपस्थित हो, तब हित-जनक, परिमित, सत्य तथा मनोज्ञ बात करे । पूर्वालापी, सुमुख, सुशील तथा करुण-चित्त होवे ।

अनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ।
तं तथैवानुवर्त्तेत पराराधनपण्डितः ॥ २७

परसेवाभिज्ञ व्यक्ति, लोगों की प्रकृति समझ कर, जो जिससे संतुष्ट होते हैं, उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करते हैं ।

त्रिवर्गशून्यं नारंभं भजेत् तं चाविरोधयन् ।
अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥ २८

धर्म-अर्थ-काम ये त्रिवर्ग-विरहित कोई कार्य का अनुष्ठान न करे, एवं ऐसे काम का अनुष्ठान करे, जो उक्त त्रिवर्ग में से किसी का भी विरोधी न हो । सर्व-प्रकार आचार-व्यवहार में ही मध्यमा-वृत्ति का अवलम्बन अच्छा है । किसी भी एक विषय पर एकांत आसक्त न होना ।

आर्द्रसन्तानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः ।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ॥२९॥

सर्व जीव पर दया, दान तथा कायिक, वाचिक एवं मानसिक काम में शांत भाव, दूसरे का काम अपना काम समझ कर करना-ये सभी को "सदाचार" कहते हैं ।

स्त्री–आचार ।

नर-नारी दोनों ही मानव, दोनों ही संसार में भगवत्-सृष्ट श्रेष्ठ जीव हैं । परस्परके ऊपर दोनोंकी ही सहानुभूति, सहायता तथा प्रेम-प्रीति से यह संसार चला आ रहा है । केवलमात्र स्त्री को छोड़कर पुरुष या पुरुष को छोड़कर स्त्रीद्वारा किसी भी प्रकार से संसार चल नहीं सकता । इसी प्रकार वे दोनों पृथक् होकर भी नहीं रह सकते हैं; रहने का उपाय भी नहीं है । भगवत् की इच्छा से ऐसे एक आकर्षण से वे दोनों सृष्ट हुई हैं कि, स्त्री-पुरुष आपही आप मिल रहे हैं- मिलते रहेंगे भी । इस मीलनात्मक प्रवृत्ति को सुसंयत एवं समाज को सुश्रृंखलयुक्त करने के लिए ही विवाह की सृष्टि हुई है । नारी-जीवन में विवाह ही एकमात्र संस्कार है । क्योंकि विवाह होने के बाद स्वामी से मिलजुलकर संसार-यात्रा निर्वाह करना ही नारी का एकमात्र कर्तव्य है ।

स्वामी के अतिरिक्त नारी के धर्म-अर्थ-काम मोक्ष-विधायक दूसरे कोई अनुष्ठान नहीं हैं । बाह्य आकृति तथा अन्तःप्रकृतिने नरनारी के भीतर अशेष प्रकार से प्रभेद (भिन्न) रहा है, अतः इस कारण से ही नर-नारी के धर्म कर्म-आचार व्यवहार आदि भी भिन्न-भिन्न रूप से निर्दिष्ट हुए हैं । नरके देह तथा प्रकृति में जो कर्म अवश्य कर्तव्य के रूप में विवेचित होंगे, वही नारी के देह तथा नारी-प्रकृति में सब समय, सभी अवस्थामें या सभी विषय में उपयोगी नहीं हो सकता है । विशेषतः स्त्री को संतान-प्रसव तथा संतान-पालनरूप विशेष गुरुतर कर्तव्यपालन करना पड़ता है, इसीसे नारी के लिए कुछ विशेष आचार, नियम तथा आहार-विहारादि के भी विधि-निषेध स्थिर हुए हैं । इसके अतिरिक्त नारियों में ऐसे बहुत से आचार या प्रथाएँ प्रचलित हैं कि, जो युग-युगांतर की अभिज्ञता के फल से सम्बद्ध हैं, एवं उन सब का ज्ञान केवल-मात्र स्त्री-जाति के भीतर ही निबद्ध है । स्त्री के उन सब आचारोंको शास्त्रकर्तागण भी श्रद्धाकी आँख से देखते थे, तथा विशेष-विशेष कार्यों तथा अवसरों पर स्त्रियों से ही उन सब आचारों को जान लेने के लिए उपदेश किए हैं ।

वर्तमान समय में पुरुषों का ही अधःपतन हुआ है, तथा उन के द्वारा ही स्त्री-जाति का धर्म या आचार विनष्ट तथा विघटित हो रहा है । पुरुष आजकल पाश्चात्य-सभ्यता (?) के मोह में फँस कर लौकिकज्ञान-विज्ञान के तराजू से माप कर स्त्री-पुरुष के समान अधिकार

एवं समान धर्म--कर्म की व्यवस्था कर रहे हैं। इन लोगों की युक्ति या तर्क की प्रबलता से समस्त समाज उच्छृंखल हो रहा है, तथा पवित्र गृहस्थाश्रम के शांति-कुटीर पर अशांति की तीव्र-वह्नि (अग्नि) जोरों से जल रही है। हिन्दू-शास्त्र के सारे पुराण, उपपुराण, महापुराण तथा सारी संहिताएँ एकसाथ एक ही व्यवस्था देती हैं-सब ऋषि-मुनियों ने भी एक ही मत का प्रचार किया है; समस्त राजाधिराज, महाराज-चक्रवर्ती आदि ने भी एक ही विधान से समाज का शासन किया है, तथा समस्त साधु-सन्त एवं महापुरुषों ने भी उन्हें मान लिया है। ऐसी अवस्थामें उस चिर-प्रचलित व्यवस्थाको परित्याग कर कोई नई व्यवस्था करना युक्तिसंगत है या नहीं, वह बुद्धिमान-विचारशील व्यक्ति के लिए विवेचना-योग्य बात है। अतः शांत--समाहित, सुसंयतेन्द्रिय, तीव्रतपस्यापरायण, साधन-सम्पन्न, समदर्शी, योगसिद्ध ऋषि--मुनियों की बातोंपर ही विश्वास करना चाहिए या स्खलित--ब्रह्मचर्य साधन-शून्य, असंयमी, अनाचारी, अविवेकी तथा कुशिक्षित व्यक्तिओं की विद्या--बुद्धि की बहादुरी से ही मुग्ध होना चाहिए ? वर्तमान समय पाश्चात्य--जगत् में जैसा समाज-विप्लव चल रहा है, उसे देखते हुए भी हमें चैतन्य नहीं होता है ? कितने शोक की बात है !!!

शास्त्र-कर्ताओंने विशेष रूप से स्त्रीचरित्र की परीक्षा की थी, एवं पुरुषसे स्वतंत्र शारीरिक उपादान तथा विशिष्ट देहयन्त्र समझ कर उन्हें पुरुष के कर्तव्य की भाँति पठन-पाठन, अर्थोपार्जन, व्यायाम, व्यवसाय, वाणिज्य तथा राज्यशासन आदि कार्यों से मुक्तकर गृहकर्म रूप मृदु अंग परिचालन के कामों में नियुक्त करने का उपदेश किया है। विशेषत. नारियों में गर्भाशय वा जरायुनामक एक अधिक देहयन्त्र विद्यमान है। सृष्टि-प्रवाहसंरक्षण के लिए उस यंत्र की स्वस्थता की रक्षा अत्यावश्यक समझ कर ऋषियों ने उन लोगों के लिए वैसे ही व्यवस्था की है। रन्धन-कार्य (भोज्य-पकाना) में अग्निसेवन, एवं शाक-भाजी आदि व्यञ्जन का धूम तथा हल्दी-मिर्ची आदि के पिसने का समय की गन्ध ग्रहण करने से जरायु का गर्भधारण, उस का संरक्षण और सन्तानप्रसव की शक्ति उत्पन्न होती है- आयुर्वेद- शास्त्र का यही सिद्धान्त है। अतः स्त्री-जाति को रन्धन के कामकाज में नियुक्त करने से स्त्री-पुरुष दोनों को ही निःसन्देह मंगल होगा।

उपनिषद्, स्मृति, पुराण, तंत्र, आयुर्वेद और योग-शास्त्र के मतानुसार हमारे इस मानवदेह में प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान इस पाँच प्रकार की वायु विद्यमान है। जो व्यक्ति पठन-पाठनादि मस्तिष्क तथा चिंता-शक्ति की परिचालना करते हैं, उन के उदान-वायु विशेष रूप से उत्तेजित रहती है, तथा अपान और समान वायु क्षीण होती है। स्त्रियों के जरायु इन्हीं अपान और समान वायु के पास अवस्थित हैं, अतः अपान और समान वायु जरायु के भीतर न रहने से "सूतिमारुत" नामक वायु की क्रिया का वैषम्य उपस्थित होती है। इसी कारण स्त्री-जाति मस्तिष्क तथा चिंता-शक्ति की परिचालनारूप कर्म में नियुक्त होने से उन की अपान और समान वायु दुर्बल होगी, एवं उस के फल-स्वरूप जरायु-जनित रोग तथा प्रसव-विभ्राट उपस्थित होगा। आधुनिक (वर्तमान) शिक्षा समाज पर अपना जो बुरा प्रभाव प्रकाश कर रही है, उस का प्रत्यक्ष प्रमाण है- नारियों में जरायुज व्याधि तथा प्रसव-विभ्राटकी आधिक्य होना। इसी कारण शास्त्र-कर्ताओंने उपदेश किया है कि, कुमारी काल तक स्त्री-जाति को लिखने-पढने आदि की शिक्षा दान करनी चाहिए, परन्तु विवाह हो जाने पर, तो गृह-कर्म तथा पतिसेवा ही उन के लिए एकमात्र कर्तव्य है।

महर्षि मनुजीने कहा है कि-

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि-परिक्रिया॥ (२-६७)

विवाहसंस्कार ही स्त्रियों के लिए वैदिक उपनयन-संस्कार है। इसीलिए स्वामिसेवा को ही गुरुकुल-वास तथा साय-प्रातर्होमरूप अग्नि परिचर्या जानना चाहिए।

आध्यात्मिक-विषयकी चर्चा, जप, तपस्या, पूजा, आह्निक तथा शास्त्रादिके अध्ययनसे मस्तिष्ककी अत्यधिक परिचालना होती है, अतः उस से अपान-वायु तथा समान-वायु की गति उर्द्धाभिमुखी होने के कारण गर्भ की सम्भावना का प्रायः नाश हो जाता है। इसीलिए सृष्टि-प्रवाहके संरक्षणके उद्देश्य से स्त्री-जाति के लिए सर्व-प्रकार के धर्मानुष्ठान छोड

कर केवलमात्र पतिसेवाको ही महत् धर्म के रूप में घोषित किया गया है। तथापि स्त्रियों में जिन के मन आध्यात्मिक भगवपक्षी के लिए अतिशय प्रबल रूप से आकृष्ट होंगे तथा जो अबीरा, वंध्या अथवा विधवा यानी जिन्हें गर्भधारण की सम्भावना नहीं है, उन के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का अवलम्बन-पूर्वक शास्त्राध्ययन, तथा साधन-भजन में मनोनिवेश करना हानिकारक नहीं है। वाक्, गार्गी, आत्रेयी तथा मैत्रेयी प्रभृति ब्रह्मविद्यासम्पन्न नारियाँ इस की प्रमाण हैं।

परन्तु ऐसे विधान समाज के नियम नहीं हो सकते हैं, इसी कारण शास्त्र-कर्ताओंने नारी-जाति के लिए शास्त्रादि में अनधिकार व्यवस्था दी है। नारी-हृदय में स्वाभाविक-रूप में ही प्रेम, प्रीति, स्नेह, ममता, वात्सल्य आदि कोमल-वृत्तियों की अत्यन्त प्रबलता होती है। सुतरां साक्षात् भगवद्विग्रह मनुष्य-मूर्ति पर प्रेम करने से ही भगवत्-प्राप्ति की साधना नारी-जाति के लिए निश्चित हुई है। महर्षि मनुजीने कहा है कि–

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥
पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो व मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत् किञ्चिदप्रियम् ॥
(५।१५५।१५६)

स्त्री-जाति के सम्बन्ध में सिवा स्वामिसेवा और कोई यज्ञ नहीं है। स्वामि की अनुमति के अतिरिक्त व्रत या उपवास भी नहीं है। केवलमात्र पति-सेवा से ही स्त्री-जाति स्वर्ग में गमन करती है। चाहे स्वामी जीवित (जिन्दा) हो या मृत हो, ब्रह्म-विद्या की साधना से स्वामिने जो धाम को प्राप्त किया है, स्त्री को भी चाहिए कि, वह उसी धाम की अभिलाषिणी होवे। साध्वी-स्त्री कभी भी अपने स्वामि के अप्रियाचरण नहीं करती है।

स्त्री के कर्तव्य के सम्बन्ध में महर्षि व्यास-देवजीने अपनी संहिता में निम्न उपदेश किया है,–

प्रत्यूषः पूर्वं समुत्थाय देहशुद्धिं विधाय च।
उत्थाप्य शयनाद्यानि कृत्वा वेश्मविशोधनम् ॥
मार्जनैर्लेपनैः प्राप्य साग्निशालं स्वमंगनम्।
शोधयेदग्निकार्याणि स्निग्धान्युष्णेन वारिणा ॥
प्रोक्षणैरिति तान्येव यथास्थानं प्रकल्पयेत्।
द्वंद्वपात्राणि सर्वाणि न कदाचिद्वियोजयेत् ॥
शोधयित्वा तु पात्राणि पूरयित्वा तु धारयेत्।
महानसस्य पात्राणि बहिः प्रक्षालयेत् सदा ॥
मृद्भिश्च शोधयेच्चुल्लीं तत्राग्निं विन्यसेत्ततः।
स्मृत्वा नियोगपात्राणि रसांश्च द्रविणानि च ॥
कृत-पूर्वाह्णकार्या च स्वगुरूनभिवादयेत्।
ताभ्यां भर्तृपितृभ्यां वा भ्रातृमातुलबांधवैः ॥
वस्त्रालङ्काररत्नानि प्रदत्तान्येव धारयेत्।
मनोवाक्कर्मभिः शुद्धा पतिदेशानुवर्तिनी ॥
छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु।
दासीव दिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत् ॥
ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य तत्।
वैश्यदेवकृतैरन्नैर्भोजनीयांश्च भोजयेत् ॥
पतिं चैतदनुज्ञाता शिष्टमन्नाद्यमात्मना।
भुक्त्वा नयेदहः शेषमायव्ययविचिन्तया ॥

स्त्री स्वामि के पहले बिस्तारा त्यागे और मल-मूत्रादि त्याग कर हाथ-पैर-मुखादि को धोवे। उस के बाद शय्या (बिस्तारा) उठा कर सोने का कमरा, रसोईघर तथा आंगन झाड़ू से साफ कर गोबर से लीप दे। अनंतर घृत-तैलादि-लिप्त यज्ञ वा पूजा कर तैजस पात्रादि (बासनादि) गर्म जल तथा मृत्तिका से साफ करे। उसके बाद वे सब पात्रादि यथा-स्थान पर रक्खे। युग्म-पात्र जैसे पान खाने का पात्र के साथ उसी में रखने के कत्थे, चूना के कटोरा, सुपारी तथा लौंग इलायची आदि की डिब्बियाँ अलग-अलग रखना ठीक नहीं है। सभी पात्रों को साफ कर जल अथवा जिन पात्रों में जो चीजे रहती हैं, उन्हीं से उसी पूर्ण करके रक्खे। रसोईघर के थाली, कड़ाही, चम्मच, कटोरे, लोटा आदि बाहर में धोकर साफ करना चाहिए। इसके बाद मिट्टी से चूल्हा शोधन कर, उस में आग सुल-गावे। पश्चात् किसे क्या देना होगा या किसे क्या खिलाना होगा, क्या रसोई करनी होगी, एवं घर में क्या है– क्या नहीं है, इत्यादि बातों की चिंता कर व्यवस्था करे, बाद में सास, श्वसुर, पति, पिता, माता, भ्राता, मामा, प्रभृति गुरुजनों को प्रणाम करें। अनंतर सास-श्वसुर, पति, माता-पिता, भ्राता, मामा, बांधव आदि गुरुजनों के दिए हुए

वस्त्र, अलंकार आदि पहने। पतिव्रता-स्त्री को चाहिए कि, पति की आज्ञानुवर्तिनी हो, तन-मन-धनसे विशुद्ध स्वभाव प्रकाशपूर्वक छाया की भाँति अपने प्यारे पति का अनुगत हो, निर्मल-चरित्रा सखी जैसी स्वामि की हित-चेष्टा तथा दासी की तरह उन की आज्ञा का प्रतिपालन करे। तदनंतर अन्न-व्यञ्जनादि (दाल, शाक, भाजी आदि) पकाकर पतिदेव को निवेदन करनी चाहिए कि, " भोजन तैयार है। " गृह-देवता को निवेदन किए हुए उपर्युक्त अन्न व्यञ्जन को पहले बालक-बालिका तथा पितृगृह में अवस्थिता विवाहिता ननद, गुरुजन और दासदासी को भोजन कराकर, पीछे अपने पतिको भोजन कराना चाहिये। उसके बाद पति की अनुमति लेकर अवशिष्ट (शेष) अन्न-व्यञ्जनादि स्वयं भोजन करे। कौन-कौनसी वस्तुएँ शेष हो गई हैं तथा किस-किस वस्तुको लाना है, उसकी व्यवस्था तथा आय-व्यय की आलोचना कर दिन के शेष भागको निकाल दे। काशीखण्ड में लिखा है कि-

सर्पिर्लवणतैलादिक्षयेऽपि च पतिव्रता।
पतिं नास्तीति न ब्रूयादायासेषु न योजयेत्॥
(४-३३)

घृत, तैल, नमक आदि न रहने पर भी पति को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि, " ये वस्तुएँ नहीं हैं। " बल्कि यों कहना चाहिए कि, " वह वस्तु ज्यादा हो गई हैं। " जिस से पति को कष्ट हो, ऐसी बात पति से कभी न कहे। इस प्रकार से दिन के काम-काज समाप्त करे।

पुनः सायं प्रातर्वत् गृहशुद्धिं विधाय च।
कृतान्नसाधना साध्वी सुभृशं भोजयेत् पतिम्॥
नातितृप्ता स्वयं भुक्ता गृहनीतिं विधाय च।
आस्तीर्य साधुशयनं ततः परिचरेत् पतिम्॥
सुप्ते पतौ तदभ्यासे स्वपेत्तद्गतमानसा।
अनग्ना च प्रमत्ता च निष्कामा च जितेंद्रिया॥
नोच्चैर्वदेन्न परुषं न बहून् पत्युरप्रियम्।
न केनचित् विवदेच्च अप्रलापविलापिनी॥
न चातिव्ययशीला स्यान्न धर्मार्थविरोधिनी।
प्रमादोन्मादरोषेर्ष्यावञ्चनातिमानिता॥
पैशुन्यहिंसाविद्वेषमहाहंकारधूर्तताः।
नास्तिक्यसाहसस्तेयदंभान् साध्वी विवर्जयेत्॥
(व्यास-संहिता)

फिर प्रातःकाल की भाँति सायंकाल में भी घर का परिष्कार कर रात्रि के लिए भोजन तैयार करे, तथा घर के सभी लोगों एवं पति को भोजन करावे। इस के बाद घर की द्रव्य-सामग्री सब ठीक कर स्वयं लघु भोजन करे। तदनन्तर अच्छी तरह से बिस्तरा बिछाकर पति की सेवा में नियुक्त हो जाय। पति के निद्रित हो जाने पर उन के बाजु में अति सावधान के साथ सोवे। सोते समय अनाग्ना (नंगा), निष्कामा तथा जितेन्द्रिया होकर पतिका ही चिंतन करते-करते निद्रित होवे। साध्वी-स्त्री उच्च स्वर से बात न करे। कटु-शब्द (कडी-बात) न कहे। ज्यादा न बोले। पति को अप्रिय-बात न बोले, किसी के साथ लडाई-झगडा न करे, तथा अपलाप एवं विलाप (क्रन्दन-रोना) न करे। स्त्री अति व्ययशीला न होवे, तथा धर्मार्थ की विरोधकारिणी न होवे। असावधानी से कोई कार्य न करे। चित्त-चांचल्य को प्रकट न करे, किसी के ऊपर क्रोध न करे, किसी के साथ वंचना (धोखेबाजी) न करे। अत्यन्त अहंकार का भी प्रकाश न करे, तथा दुष्टता, प्राणीहिंसा, विद्वेष, अत्यंत अहंकार, धूर्तता, नास्तिक्य अर्थात् देवता या परलोक नहीं है या देवतादि पूजन वृथा है, ऐसे वाक्य का परित्याग करना चाहिए।

सूर्योदय के पहले ताजे गोमय को जल में भिजाकर पातला होने पर घर के बाहर चारों ओर छिटने की विधि बंगाल के सभी गांवों में मौजूद है। नव्य-शिक्षा से प्रमत्त नरनारी इसे घृणा की दृष्टि से देख सकते हैं, सही; परन्तु पाश्चात्य विज्ञानविद् पंडितोंने जब गोमय को विष-संशोधक मान लिया है, तब फिर इस के लिए क्या उत्तर रह जाता है? इस के घर के आस-पास के विष नष्ट होकर वायु पवित्र हो जाती है। आज भी बंगाल के भिकारी लोग गान करते हैं कि-

" बियान बेला गोवर छड़ा
सन्ध्या बेला बाति।
लक्ष्मी-बले तार घरेते
आमार बसति॥ "

अर्थात् प्रातःकाल में गोबर-छींटा देना और शाम के समय जिस के घर पर दीपक जलता है, श्रीलक्ष्मीजी कहती है कि, मैं उस के घर में वास करती हूँ।

स्त्रियों को चाहिए कि, वह अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ विचरण न करे। सन्ध्या एवं रात्रि के समय विशेष कर के शनि-मंगलवार तथा चतुर्दशी और अमावस्या-पूर्णिमा तिथि में केश खुला रखकर घूमना ठीक नहीं है। नीच जन के साथ कदापि प्रीति न रक्खे। सधवा स्त्री कभी शंख की ध्वनि न करे, यानी शंख न बजावे। अनेक स्थानों में देखा जाता है कि, सधवा स्त्रियाँ शंख बजाती हैं, परन्तु वह कार्य शास्त्रविरुद्ध है। यथा-

स्त्रीणां च शंखध्वनिभिः शूद्राणाञ्च विशेषतः।
भीता रुष्टा याति लक्ष्मीः स्थलमन्यत् स्थलात्ततः॥
(शब्दकल्पद्रुम)

स्त्रियों की विशेषतः शूद्रों की शंखध्वनि से लक्ष्मी देवी भीता एवं रुष्टा होकर उस स्थान से दूसरी स्थान चली जाती है। महर्षि मनुजीने भी कहा है कि-

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट्॥
(९।१३)

मद्यपान, दुर्जन के साथ संसर्ग, अनेक दिनों तक अपने पति के पास न रहना, देश-विदेश में; देवालय में, जन-समाजमें, जहाँ हो, वहाँ अपनी इच्छानुसार गमन करना, असमय में सोना तथा दूसरे के घर पर वास करना- यह छः प्रकार के दोष नारियों का नाश कर देते हैं। अत नारियों को चाहिए कि, वे इन छः प्रकार के दोषों का परित्याग करें।

रजःस्वला होने पर नारीगण अशुचि-अपवित्रा होती है, शास्त्रकर्तागणने रजःस्वला स्त्री को "सामयिक-विषकन्या" कह कर अभिहित किया है। रजःस्वला होने पर स्त्रियों को चाहिए कि, किसीको भी स्पर्श न करे, तथा सर्व प्रकार की विलासिता तथा आमोद-प्रमोद परित्यागपूर्वक निर्जन घर में दीनभाव से रहे, तथा स्वल्पाहार करे। सुश्रुताचार्यजीने कहा है कि-

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्ग-नखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत्। दर्भसंस्तरशायिनी करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनी हविष्यं त्र्यहं भर्तुः संरक्षेत्॥

ऋतुके प्रथम दिन से ही स्त्री-ब्रह्मचर्यव्रत-अवलम्बन-पूर्वक दिवानिद्रा, अञ्जन-धारण, रोदन (रोना), स्नान, अंगमार्जन, गन्धद्रव्य-व्यवहार, तैलाभ्यंग, नखच्छेदन, धावन, हास्य-परिहास, वाक्यालाप, वृहत् शब्द-श्रवण, तथा भूमिकर्षणादि श्रम-जनक काम परित्याग करे, एवं कुशादिसे तैयार शय्या पर सोवे। हस्त, शराब या पत्तीपर तीन रोज हविष्यान्न भोजन करे, एवं पतिसंसर्ग त्याग करे। ज्ञानगरिष्ठ ऋषिश्रेष्ठ वसिष्ठदेवने कहा है, कि-

त्रिरात्रं रजःस्वलाशुचिर्भवति सा नाञ्ज्यात् नाप्सु स्नायात् अधः शयीत दिवा न स्वप्यात् नाग्निं स्पृशेत् न रज्जुं प्रमृजेत् न दन्तान् धावयेत् न मांसमश्नीयात् न गृहान्निरीयेत् न हसेत् न किंचिदाचरेत्॥

रजःस्वला स्त्री तीन दिन तक अशुचि रहती है, अतः तीन दिन अन्जन न लगाना चाहिए, तैल की मालिश न करे, अवगाहन (डुबकी लगा कर स्नान) स्नान न करे, जमीन पर सोवे (खाट पर न सोवे), दिन में भी न सोवे, आग को स्पर्श न करे, रस्सी न बनावे, दाँतुन न करे, मांस का आहार न करे, घर से बाहर न जावे, न हँसे और न दूसरे काम-काज ही करे। महर्षि व्यासदेवने कहा है कि-

अश्नीयात् केवलं भक्तं नक्तं मृण्मयभाजने।
स्वपेद् भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम्॥
स्नायीत च त्रिरात्रान्ते सचेलमुदिते रवौ।
क्षामालङ्कृतवाप्नोति पुत्रं पूजितलक्षणम्॥
(२।३९)

ऋतुमती स्त्री को तीन दिन तक दिन में अनाहार में रहकर रात्रि के समय केवल-मात्र मिट्टी के पात्र में चावल खाना चाहिए; भूमिशय्या पर सोवे एवं तीन दिन के बाद सूर्योदय के पहले स्नान करे। इन भावों से भावापन्न एवं अलंकृत होने पर ही स्त्री श्रेष्ठ पुत्रप्राप्ति के लिए समर्थ हो जावे।

अतः स्त्रियों को चाहिए कि, ऋतुमती के समय वे सब नियम-कानून की रक्षा करके चले। इस नियम भंग करने से अनर्थ होने की संभावना है। भावप्रकाश में लिखा है कि-

एतस्या रोदनात् गर्भो भवेद्विकृतलोचनः।
नखच्छेदने कुनखी कुष्ठी त्वभ्यंगतो भवेत्॥
अनुलेपात्तथास्नानाद् दुःखशीलोऽञ्जनादृहक्।
स्वापशीलो दिवा स्वापाच्चंचलः स्यात् प्रधावनात्॥
अत्युच्चशब्दश्रवणाद्बधिरः खलु जायते।
तालुदन्तौष्ठजिह्वासु श्यामो हसनतो भवेत्॥
प्रलापी भूरिकथनादुन्मत्तस्तु परिश्रमात्।
स्खलते भूमिखननादुन्मत्तो वातसेवनात्॥

रजःस्वला स्त्री रोदन करने से गर्भ विकृत-लोचन (टेढी आँखें) का होता है। नख काटने पर कुनखी, अभ्यंग (तैल का मालिश) से कुष्ठ-रोग-ग्रस्त, अनुलेपन तथा स्नान से दुःखशील होता है। अञ्जन-धारण से दृष्टिहीन, दिवा-निद्रा से निद्राशील, प्रसाधन से चञ्चल, अत्युच्च शब्दश्रवण से बधिर (बहरा), हँसने से संतान के तालु, दन्त, उष्ठ और जिह्वा श्यामवर्ण के होता है। बहुभाषण से सन्तान प्रलापी, परिश्रम से उन्मत्त, भूमि-खनन से स्खलित एवं वातसेवन से उन्मत्त होता है।

रजःस्वला-नारी को स्पर्श करने से पुरुष को दृष्टि-दौर्बल्य-व्याधि होती है, तथा अभिष्यन्दादि (आंख आना) रोग उत्पन्न होता है। वर्तमान समय में नव्य-शिक्षित व्यक्तियों में बहुत से सज्जन नारी की अस्पृश्यता के सम्बंध में उपेक्षा करते हैं, परन्तु उनकी दृष्टि-शक्ति की हीनता तथा चश्मे (ऐनक) का व्यवहार यौवन के साथ ही शुरू हो जाती है। यह उस नियमभंग का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

शास्त्रकर्ताओं ने कहा है कि, रजःस्वला स्त्री ऋतु-स्नान के बाद पहले जैसे व्यक्ति का दर्शन करेगी, उसको वैसी ही सन्तान होगी। अतः ऋतुस्नान के बाद सब से पहले पति या पुत्रादि प्रिय जनका दर्शन करना उचित है।

अब गर्भिणी के कर्तव्यकर्म के सम्बन्ध में भी कुछ सुनिए-

गर्भिणी प्रथमादहः प्रहृष्टा भूषिता शुचिः।
भवेच्छुक्लाम्बरधरा गुरुविप्रार्चने रता॥
भोज्यन्तु मधुरप्रायं स्निग्धं हृद्यं द्रवं लघु।
संस्कृतं दीपनीयन्तु नित्यमेवोपयोजयेत्॥
गुर्विणी न तु कुर्वीत व्यायाममपतर्पणम्।
व्यवायञ्च न सेवेत न कुर्यादतितर्पणम्॥
रात्रौ जागरणं शोकं यानस्यारोहणं तथा।
रक्तमोक्षं वेगरोधं न कुर्यादुत्कटासनम्॥
दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते।
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥
मलिनां विकृताकारां हीनाङ्गीं न स्पृशेत् स्त्रियम्।
न जिघ्रेदपि दुर्गन्धं न पश्येच्चनाप्रियम्॥
वचांसि नापि शृणुयात् कर्णयोरप्रियाणि च।
नान्नं पर्युषितं शुष्कं भुञ्जीत क्वथितं न च॥
चैत्यश्मशानवृक्षांश्च भावांश्चाप्ययशस्करान्।
बहिर्निष्क्रमणं क्रोधं शून्यागारञ्च वर्जयेत्।
नोच्चैर्ब्रूयात्स तत् कुर्याद् येन गर्भो विनश्यति।
तैलाभ्यङ्गोद्वर्तनं च नात्यर्थं कारयेदपि॥
नाभृद्वास्तरणं कुर्यान्नात्युच्चं शयनासनम्।
एतांस्तु नियमान् सर्वान् यत्नात् कुर्वीत गुर्विणी॥
(भाव-प्रकाश)

गर्भवती स्त्री को चाहिए कि, गर्भ के पहले दिन से ही प्रहृष्ट (आनन्दित), भूषित, पवित्र, शुक्लवस्त्रधारिणी तथा गुरु एवं ब्राह्मण की अर्चना में रत रहे। नित्य मधुर, बहु रसयुक्त, स्निग्ध, हृद्य, द्रव, लघु, संस्कृत तथा दीपनीय भोज्य वस्तु भोजन करे। व्यायाम, अपतर्पण, मैथुन, अति-संतर्पण आदि क्रिया न करे। रात्रि जागरण, शोक, यानारोहण, रक्तमोक्षण, मल-मूत्रादि का वेग धारण तथा उत्कटासन न करे। वातादि दोष से गर्भिणी के शरीर का जो जो भाग प्रपीडित होता है, गर्भस्थ सन्तान का भी वह-वह भाग प्रपीडित होता है। अतः इस विषय में सावधान रहे। गर्भवती स्त्री को चाहिए कि, वह मलिना, विकृतांगी या हीनांगी स्त्री को स्पर्श न करे। दुर्गंध (बदबू) न सूंघे, नयन की अप्रिय-वस्तु दर्शन न करे। कर्ण का अप्रिय-वाक्य भी श्रवण न करे। पर्युषित (बासी), शुष्क या सड़ा हुआ भोज्य भोजन न करे।

बैल, श्मशान, वृक्ष, अयशस्कर, विषयों, जहाँ-तहाँ गमनागमन, क्रोध, शून्यागार (निर्जन गृह) त्याग करे। ऊँचे स्वर से बात न करे। जिससे गर्भ नष्ट होने का भय रहे, ऐसा कोई कार्य न करे। अधिक तैलाभ्यंग, उद्वर्तन (हरिद्रा और तैलादि द्वारा शरीर मर्दन) न करे। कठिन आस्तरण (फराश) युक्त या अत्युच्च शय्या वा आसन भी ग्रहण न करे। गर्भिणी स्त्री को चाहिए कि, विशेष यत्न के साथ वे सब नियमों का पालन करे।

अब प्रसूता नारी को क्या क्या उपदेश पालन करना चाहिए, वह भी सुनिए। भाव प्रकाश में लिखा है कि-

प्रसूता हितमाहारं विहारं च समाचरत्।
व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विसर्जयेत्॥
सर्वतः परिशुद्धा स्यात् स्निग्धपथ्याऽल्पभोजना।
स्वेदाभ्यंगपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता॥

प्रसूता नारी को हितकर आहार विहार करना चाहिए। व्यायाम, मैथुन, क्रोध तथा शैत्यसेवन का परित्याग करे। प्रसूता नारी का दुष्ट रक्त अच्छी तरह से धोकर साफ रक्खे। स्निग्ध (घृतयुक्त) तथा सुपथ्य भोज्य अल्प मात्रा में भोजन करे, एवं नित्य तैलाभ्यंग और स्वेद ग्रहण करे।

जहाँ तक हो सके, बहुत ही संक्षेप में वर्तमान समय के समाज के प्रतिपालनयोग्य शास्त्रीय सदाचार-विधि लिखी गई है। जो सज्जन इन विषयों को विशेष रूप से जानने चाहते हैं, इस क्षुद्र-पुस्तिका से उन की तृप्ति नहीं हो सकती, वे स्वयं ही शास्त्रालोचना करें, अथवा विद्वान्, सदाचारी ब्राह्मण पंडित से जान ले। परन्तु यह बातें सदा ही स्मरण रखना चाहिए कि, ब्राह्मण-पंडितों की टीका-टिप्पणी कोई जीवन्मुक्त महापुरुष को अनुमोदित होने से ही वह ग्रहणयोग्य बात है। नहीं तो उसे त्याग देना उचित है। उपसंहार के समय सभी सज्जन को श्रीमद्-भगवत्-गीतोक्त निम्नलिखित श्लोक पर दृढ रूप से विश्वास रखने के लिए अनुरोध करता हूँ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६--२३)

जो व्यक्ति शास्त्रविधि-परित्याग-पूर्वक स्वेच्छाचारी बन कार्य करता है, स्वर्ग, सुख तथा मोक्षरूप उत्कृष्ट-गति वह प्राप्त नहीं कर सकता। अब-

नमस्ते गुरवे तुभ्यं साधकाभयदायिने।
अनाचाराचारभावबोधाय भावहेतवे॥

[ॐ जय गुरुः ॐ]

संघर्ष या सहयोग ?

(लेखक-प्राध्यापक गणेश अनंत धारेश्वर बी. ए., भूतपूर्व अध्यापक, उस्मानिया विश्वविद्यालय, दक्षिण हैद्राबाद)

(अनुवादक- श्रीयुत द० ग० धारेश्वर, बी. ए.)

सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ (ऋ० १०।१२९।४)

'(कवयः) विद्वान् एवं क्रान्तदर्शी लोगोंने (हृदि मनीषा प्रतीष्य) अन्तस्तल में मननपूर्वक विचार करके, अत्यंत गवेषणाके पश्चात् सत् एवं अ-सत् के बीच विद्यमान संयोजक सूत्र को ढूँढ पाया।'

क्या सहयोग को स्थान देना चाहिए या संघर्ष एवं कलह तथा प्रतिद्वन्द्विता रहने पाय ? यह एक अतीव जटिल समस्या आज जनता के सम्मुख उपस्थित है। दार्शनिकताके अत्युच्च शिखरपर विराजमान तथा वास्तवताके निम्नतम स्तरपर आरूढ लोगों के सामने भी यह दुरूह प्रश्न उठ खडा है। ध्येयवाद तथा वास्तववाद, वस्तुस्थिति एवं आगामी दशा और साधारणतया भलाई तथा बुराई के बीच जो विरोध है, वह सब को ज्ञात है। ऐसा कहा जा सकता है कि, यह उलझन शाश्वतिक है, इसे सुलझाने में न जाने कब सफलता मिलेगी ? वेदकालीन ऋषियों, उपनिषदों के विद्वानों को तथा गीताको भी इस उलझन से टक्कर लेनी पडी। वर्तमान जनता को और भविष्य के लोगों को भी किसी न किसी रूप में इस सवाल को हल करने में निरत रहना पडता है और पडेगा भी। यह प्रश्न पुरातन रहनेपर भी नित नवीन हो उठता है। मानव के साथ ही इस का सृजन हुआ और जब लौं मानवजाति का अस्तित्व धनलिप्साजन्य दोषोंसहित रहेगा, यह प्रश्न ज्योंका त्यों रहेगा। यह उलझन बहुत ही सूक्ष्मतम, दुरूह एवं मति को कुंठित करनेवाली है, क्योंकि यह विभिन्न प्रकारों से अस्तित्व में आती है।

विरोध एवं कलह।

बहुत से लोगों की धारणा के अनुसार संसार की घटनाएँ कलह, विरोध एवं संघर्ष से ही उत्पन्न होती हैं और भलाई तथा बुराई के निदर्शक शक्तियों की प्रतिद्वंद्विताले ही, जो कि सदैव प्रचलित है, जागतिक दृश्यों एवं घटनाओंकी निर्मिति होती है। ये लोग समझते हैं कि, इस तरह उन्होंने पुरातनतम उलझन को सुलझाया है। विश्व के मूल में और प्रकृति की क्रियाओं के ओट में दो विरोधी सिद्धांत सदैव एक दूसरे से तीव्रतया जूझते हुए दीख पडते हैं, जिन्हें लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं, जैसे इन्द्र-वृत्र, अहुर-मझ्द-अंग्रमन्युस, ईश्वर-शैतान। इस प्रकार ऐसे लोगों की धारणा है कि, यह दुःखमय संसार एक महान् युद्धस्थल है। आधुनिक युग में प्रचलित विकासवाद, जीवनार्थ कलह तथा योग्यतमातिजीवन (Survival of the fittest) आदि कल्पनाओंने इस पुरानी परंपरा से आयी हुई परमात्माविरुद्ध शैतान या देवासुरसंग्राम कल्पनाको अधिक प्रबल एवं रुचिकर बना डाला है। पुराने काल में प्रचलित कुछ धार्मिकोंने जो प्रतिपादन किया था, उसे ही आधुनिक विकासवाद के कुछ पहलुओंने अधिक ग्राह्य रूप में समुपस्थित कर रखा है।

सहयोग और समन्वय।

पुराने युग के धार्मिक एवं कुछ वर्तमानकाल के विकासवादको माननेवाले लोगोंने जिसे कलह, संघर्ष का महान् क्षेत्र समझ रखा था, उसे ही कुछ अन्य प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारशील मानवोंने सहयोग तथा समन्वय के विशाल रंगमंच के रूप में प्रतिपादित कर रखा है। इन लोगोंकी रायमें जो कलहवत् प्रतीत हो रहा हो, वह वास्तव में सच्चे समन्वय का ही एक प्रकार है। विरोध तो ऊपर ऊपर ही विद्यमान रहता है और प्रकृति में सहयोग दृढमूल हो बैठा है। ये बलपूर्वक इस बात को दर्शाना चाहते हैं कि, समूची प्रकृति पूरक सिद्धांतपर निर्भर है न कि विरोधपूर्ण प्रतिद्वंद्विता या झगडेपर। विरोध नहीं अपितु समन्वय,

तालबद्धता तथा सामंजस्य ही प्रकृतिका जीव है। कलह एवं विरोध से अक्षुण्णतया प्रकृति बढ नहीं सकती, न जीवित एवं पल्लवित ही हो सकती है। सहयोग के फलस्वरूप ही, जो कि पूरक सिद्धांत का प्राणरूप है, प्रकृति प्रवर्तित हो वृद्धिगत तथा प्रचलित होती है। यह विचारधारा आधुनिक युग के अत्यधिक विचारशील लोगों को अधिकाधिक मात्रा में प्रभावित कर रही है और प्राचीन युग के लोग भी इस विचारप्रणाली से अछूते न रहे। सभी संकीर्ण पंथ, सम्प्रदाय एवं विरोधी दल के लोग यदि इस महान तत्त्व को ध्यान में रखें, तो क्या ही अच्छा हो, क्योंकि स्वयं प्रकृति ही विरोध से कोसों दूर रहती है और सहयोग के सिद्धांत को प्रमुख स्थान देती है। हाँ, हमारे लिए यह आवश्यक है कि, उचित ढंग से हम उसे निहार लें, उस के निकट चले जाँय, उस का अध्ययन करें और उस के अन्तर्विद्यमान गूढ रहस्यों का अन्वेषण करें।

सांख्यदर्शन के प्रतिपादित पुरुष तथा (स्त्री) प्रकृतिरूप।

प्राचीन भारत में प्रसिद्ध सांख्यदर्शन का कथन है कि, विश्व की क्रियाओं का संचालन पुरुषतत्त्व और स्त्रीतत्त्व के सहयोग से हुआ करता है, न कि परमेश्वर एवं शैतान द्वारा प्रस्थापित शासनप्रबन्ध से। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि, तथाकथित अच्छे एवं बुरे सिद्धांतों के बीच विद्यमान विरोध एवं संघर्ष से नहीं अपितु पूरक तत्त्वों के वास्तविक सहयोग के सहारे विश्व का संचालन हो रहा है और इन्हीं पूरक तत्त्वों को सुन्दर ढंग से पुरुष एवं स्त्री नाम दिया गया है। आश्चर्य की बात है, सांख्यदर्शन ने इस सुयोग्य एवं सुन्दर सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, इसलिए संकीर्ण मनोवृत्तिवाले धार्मिकों ने, जिन्हें अधिक अच्छी तरह जानना चाहिए था और अधिक जानकारी पाने के लिए जीवित रहना उचित था, सांख्यदर्शन पर नास्तिकता का झूठा आरोप किया है।

अँधे और लँगडे की कथा।

हम सभी इस कथा से परिचित हैं कि, किस तरह एक लँगडा मनुष्य अंध मनुष्य के स्कंधारूढ हो उसका पथप्रदर्शन करता था और वह अंध पुरुष भी उसे ले चलता था, जिसके फलस्वरूप दोनों की यात्रा सफलतया सिद्ध हुई। सांख्य ने पहले पहल इस कथा से बतलाया कि, विभिन्न गुण एवं दोषों से युक्त मानवों में सहयोग की प्रणाली कैसे प्रवर्तितकी जा सकती है। पुरुष तथा स्त्रीतत्त्व एक दूसरे के पूरक हैं और उनके सहयोग से दोनों का लाभ होता है। सृष्टि में अनिंद्रिय, सेन्द्रिय एवं अतींद्रिय कार्यक्षेत्रों में इसी मूलभूत तत्त्व पर प्रकृति का कार्य चलता रहता है, उदाहरणार्थ देखिए वनस्पतिवर्ग एवं प्राणीवर्ग के बीच सहयोग विद्यमान है। अन्य बातों में भी यह देखा जा सकता है।

लिंगायतसम्प्रदाय।

जैसे कुछ लोग सांख्यमत पर नास्तिकता का झूठा आरोप लगाया करते हैं, वैसे ही अन्य कुछ लोग भी लिंगायतपंथ की निस्सार खिल्ली उडाया करते हैं। यदि हम में वस्तुओं को उनके वास्तव रूप में देखने की उचित क्षमता हो, तो उपर्युक्त दोनों बातों के सम्बन्ध में हमें दोषैकदृग् बन जाने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि दोनों में घनिष्ठसंपर्क है। वास्तव में लिंगयोनी कल्पना और पुरुष-प्रकृति कल्पना के मध्य कोई विभिन्नता नहीं, क्योंकि दोनों का मूलाधार पूरक तथा सहयोग सिद्धांत ही है। हाँ, लिंगायतों ने भी साधारण प्रचलित श्लीलता के दायरे से इस कल्पना को बाहर खींच रखा था, पर तात्त्विक दृष्ट्या देखने पर दोनों कल्पनाएँ समान, अभिन्न हैं, यद्यपि सामाजिक एवं नैतिक परिमाण से सांख्यदर्शन अधिक उपादेय प्रतीत होता है, क्योंकि इससे भावुक श्लीलता को कोई आघात नहीं पहुँचता है। केवल शुद्ध वैचारिक क्षेत्र में, दोनों सहयोगको प्राधान्यता देते हैं, जो कि, विरोध एवं शत्रुता पर अवलंबित न होकर पूरक सिद्धांत की नींव पर निर्भर हैं।

सहयोग का वैदिक सिद्धांत।

यह तत्त्व सांख्यसे भी पुराना है, क्योंकि यही सिद्धांत वेद में स्पष्टतया भाँति भाँति के प्रकारों से प्रतिपादित किया है। ऋग्वेद का यह मंत्र देखिए, जिस में स्पष्ट कहा है कि, विरोध का उद्भव संकीर्ण दृष्टि या भ्रम से होता है।

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥ (ऋग्वेद १०-५४-२)

(इन्द्र) हे प्रभो ! (तन्वा वावृधानः) शरीर से वृद्धिंगत होता हुआ तू (जनेषु बलानि प्रब्रुवाणः) जनता में अपनी प्रबल शक्तियों से निष्पादित कर्मों के सम्बन्ध में यथेष्ट भाषण करता हुआ, तू (यत् अचरः) जो संचार कर चुका है, अर्थात् जनता में तेरे महान् कार्यों के बारे में एक विशिष्ट धारणा फैली हुई है, (यानि ते युद्धानि आहुः) जिन तेरे कर्मों को वे लोग युद्ध, लडाई नामों से पुकारते हैं, (सा माया इव) वह निरी भ्रांति है, अर्थात् इन्द्र के प्रबल एवं महान् उथलपुथल मचानेवाले कार्यों को युद्ध समझना गलतफहमी है, क्योंकि इन्द्र विरोध करनेवाले दल से जूझता नहीं था, (अद्य शत्रुं न) आज शत्रु को नहीं, (पुरा नु न विवित्से) पहले भी नहीं तू पहचान लेता है । यह वेदमंत्र परमात्मा-शैतान कल्पना से सुदूर ऊपर उठता है और कहता है कि, सृष्टि में कहीं भी विरोध एवं संघर्ष नहीं, अपितु संपूर्ण तथा अविकल दृष्टियुक्त मानवको प्रकृति में यत्रतत्र सामंजस्य एवं समन्वय दृष्टिगोचर होता है ।

धर्मन्, सामंजस्य, Harmony

पुराने वैदिक शब्द धर्मन् का अर्थ ही किसी भी समुदाय में अनिवार्यतया विद्यमान सामंजस्य को व्यक्त करता है, चाहे वह मानवी शरीर में हो, या मानवी संघ अथवा विश्व में ही हो । यह सामंजस्य क्या है ? समुदाय के विभिन्न विभागों का परस्पर सहयोग ही इस का सृजन करता है । इस समन्वय को पाने के लिये संकीर्ण एवं संकुचित दृष्टिकोण से उत्पन्न होनेवाले विरोध तथा प्रतिद्वन्द्विता के सन्देहों को हटाना पडेगा, क्योंकि वैसा होने पर ही सहयोग से कार्य चल सकता है । इस सम्बन्ध में वेद के उपदेश देखनेयोग्य हैं ।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
(ऋ. १०-१९१-२,४)

(सं गच्छध्वं सं वदध्वं) तुम सभी मिलजुलकर प्रगति करो और भली भाँति विचारविनियम करो, (वः मनांसि संजानतां) तुम्हारे मन ठीक प्रकार वस्तुस्थिति को जान लें, (यथा पूर्वे देवाः) जैसे तुम्हारे पूर्ववर्ती विद्वान् लोग (संजानाना भागं उपासते) एकत्रित ढंग से ज्ञान पाकर भजनीय की उपासना करते थे या अपने कर्तव्यभाग को समाप्त करते थे । (वः आकूतिः समानी) तुम्हारा निश्चय अविषम होवे, (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे अन्तस्तल एकरूप हों (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारे दिल सामंजस्य युक्त हों (यथा वः सुसहासति) ताकि सभी सुखपूर्ण अविषम जीवनयात्रा बितायें ।

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ।
सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि
मनसा दैव्येन । (अथर्व ७ कांट. ५२)

(नः स्वेभिः संज्ञानं) हमें निजी लोगों से सहमनता दो (अरणेभिः संज्ञानं) दूसरों से हम एकमत हों (अश्विना) हे अश्विनीकुमार ! (अस्मासु इह) हम में इधर (युवं संज्ञानं नियच्छतम्) तुम सहानुभूतिपूर्ण भाव रख दो । (मनसा संचिकित्वा) मन से ठीक प्रकार विचार कर (सं जानामहै) हम ठीक ज्ञान प्राप्त करें (दैव्येन मनसा मा युष्महि) हम समन्वय के भाव उत्पन्न करनेवाले दिव्य आत्मा से विरुद्ध न हों ।

जीवन सामंजस्यमय है ।

जीवन एवं सामंजस्य में अटूट संबन्ध है । सहयोग के महान् मूल्यको हम ठीक तरह समझ लेंगे अगर हमें ज्ञात हो कि, सामंजस्य का तो यह आत्मा है । जीवन और अस्तित्व को सुचारूरूप से अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए तथा सभी आवश्यक महत्त्वपूर्ण क्रियाओं को प्रचलित रखने के लिए सामंजस्य एक अनिवार्य वस्तु है, चाहे यह हमारे शरीर में, परिवार में, ग्राम में, नगर में, राज्य में या देश में हो । ऋग्वेद के एक महान सूक्त, पुरुषसूक्त में, विश्वमें तथा सुसंगठित मानवी समाजमें दृश्यमान सुन्दर सहयोगयुक्त सामंजस्य की तुलना आरोग्यसम्पन्न मनुष्यदेह में प्रतीयमान वैसे ही सामंजस्यसे की है । इस सूक्त में वत-

लाया है कि सूक्ष्मतम समुदाय से लेकर अति प्रचंड संघ तक सभी घटनाएं सहयोगान्वित सामंजस्यपर ही संपूर्णतया निर्भर हैं।

मानवसमुदाय के हित के लिए भी यह सुतरां आवश्यक है, इस संघ के जो प्रवर्तक श्रेणि के (ब्राह्मण) संरक्षक दल के, (क्षत्रिय) उत्पादक वर्ग के (वैश्य) और श्रमजीवी कक्षा के (शूद्र) लोग हों, जो इस प्रकार वर्णों या धन्धों में विभक्त हुए हों, उन में सामंजस्ययुक्त सहयोग विद्यमान रहे, जैसे मानवी देह की निरोगिता के लिए मस्तिष्क, बाहु, उदर एवं चरणों के मध्य सहयोग की आवश्यकता होती है। इस तरह उस महान् तथा प्राचीन सूक्त में सहयोगयुक्त सामंजस्य की महान् स्तुति की गयी है, क्योंकि यह समस्त प्रकृति में प्रतीयमान होता है। इस से हमें यह शिक्षा मिलती है कि, मानवी समुदाय का संगठन भी इसी सहकारिता एवं समन्वय के सिद्धांतों की बुनियाद पर अस्तित्व में आ जाय।

आधुनिक विचारप्रणाली।

ऊपर हम बतला चुके हैं कि, किस तरह मानवसमाज में जब कभी विरोध, कलह एवं विभाजिकरण के भीषण सिद्धांतोंने वैचारिक खलबली मचायी थी, तब वेदकाल से ले सामंजस्य, सहयोग एवं सहकारिता तथा समन्वय के अत्युच्च सिद्धांतोंका उपदेश किया गया था। अब वर्तमान विचारप्रणाली पर अधिक विस्तारपूर्वक लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि यह भी उसी प्राचीन तथा उत्कृष्ट धर्मन् (Harmony) सिद्धांत या ध्येय की ओर उन्मुख होती हुई दीख पडती है और यह आदर्श वेद, सांख्य आदि पुरातन प्रणालियों में पूर्णतया परिगणित था। चूंकि उस पुरातन आदर्श की कुछ विस्मृति सी हो चली थी, अतः हमने उस पर तनिक विस्तारपूर्वक लिखा, पर आधुनिक विचारधारा के बारे में इतना बतलाना पर्याप्त होगा कि, यह भी उसी सामंजस्य के प्राचीन वैदिक आदर्श की ओर झुक रही है और विभिन्नता एवं विरोध के भीषण जाल से उन्मुक्त हो रही है।

श्री. एच. जी. वेल्स महोदय अपनी विख्यात Work, Wealth and Happiness नामक पुस्तक में पृष्ठ ३७ पर लिखते हैं- " प्रकृति सहयोग से अधिक मित्रता के भाव रखती है और यह कहना कि, वह सदैव हिंसा एवं हत्या में निरत है, बडी भारी भूल तथा निरर्थक निंदा है। उलटे, वह तो जीवित प्राणियों को परस्परावलम्बी बनाने में अत्यधिक दिलचस्पी रखती है, ऐसा प्रतीत होता है। संयुक्त बन जाने की प्रत्येक प्रवृत्तिको वह विस्तृत एवं दृढीभूत करती है।" इस से विदित होगा कि, वायु का बहना किस ओर प्रचलित हुआ है।

भलाई या बुराई ?

हमारी इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए कि विरोध, कलह एवं झगडे केवल ऊपर-ऊपर ही वैसे दीख पडते हैं और वास्तव में वैसे नहीं अब हम कुछ विरोधी द्वन्द्वों का विचार करेंगे, जैसे भलाई बुराई, प्रकाश-अंधःकार, नास्तिकता-आस्तिकता आदि आदि। अनेक संख्याक लोग सोचते हैं कि, इन द्वन्द्वों में विरोध शाश्वतिक है और वह मिटाया नहीं जा सकता है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। भलाई और बुराई के बारे में न केवल हमारी राय गलत है, न केवल जो अच्छा दीख पडता है, वही अंत में बुरा सिद्ध होता है, पर यह तो साधारण अनुभव की बात है कि, बुराई केवल वेषान्तरित भलाई है।

सिर्फ ये शब्दमात्र कि, भला और बुरा, अति भ्रममें डालनेवाले हैं और वैसे ही प्रकाश-अंधेरा, दिनरात ऐसी कल्पनाएँ भी भ्रांति पैदा करनेवाली हैं। वास्तवमें हमारे हितार्थ ही इन दृश्यों का सहयोग प्रचलित है। साधारण रूढ कल्पना के अनुसार रात्री एवं अंधःकार बुराईमें परिगणित हैं, लेकिन हमारे लिए किस भलाई का सृजन इन्होंने किया है !! उदाहरणार्थ ज्योतिषशास्त्र की निर्मिति इन्हीं के सहारे हुई है। और भी देखिए, बहुतसे लोग आस्तिकवाद एवं नास्तिकवाद के सम्बन्ध में धुंधली एवं असम्यक्ज्ञात धारणाएँ अंतस्तल में धर बैठते हैं। वास्तव में, सिद्धांतवादी आस्तिक बहुधा सचमुच नास्तिक होता है। वैचारिक ढंग से विश्वास रखनेवाले बहुतायत से क्रिया में नास्तिकता का प्रदर्शन किया करते हैं। अधिकांश में दुःख एक तरह से पूर्वसूचना है और कई बार उस की परिणति भलाई में हो जाती है।

ये 'विरोधी द्वन्द्व' सहयोग देते हैं न कि विरोध करते हैं।

अन्त में हम एक अति आश्चर्यजनक बात बतलाना चाहते हैं कि, ये सभी तथाकथित विरुद्ध द्वन्द्व रुकावट डालने के बजाय वास्तव में सहकारिता करते हैं। ये सच-मुच एक दूसरे की सहायता कर पारस्परिक वृद्धि करते हैं। तनिक विचार करने से यह बात ध्यान में आ जायगी। आस्तिकमन्य लोग बहुधा नास्तिकों की संख्यावृद्धि करने में बड़ी सहायता पहुंचाते हैं और जो धार्मिक होते हैं, उन से अ-धार्मिकों की संख्या बढ जाती है। जो आस्तिकवादी विश्वास रखते हैं कि, परमात्मा शैतान का सृजन करता है, वे अपनी क्रियाओं से ही अनेक नास्तिकों के निर्माण में सहायता देते हैं। उसी प्रकार, प्रकाश के गर्भ में अन्धःकार छिपा रहता है और आजकल जिस ढंग से अ-हिंसा का उपदेश किया जाता है, इससे चतुर्दिक् हिंसा की ही यथेष्ट वृद्धि होती है।

उपसंहार।

अब हम लेख के प्रारंभ में पूछे हुए प्रश्नों को दुहरा कर लेख की समाप्ति करना चाहते हैं। क्या विरोध हो या सहकारिता उस की जगह ले? यह प्रश्न दोहरा है— क्या विरोधके सहारे या सहकारितापर प्रकृति अवलंबित है? और इन दोनोंमें से हम दूसरों से बर्ताव रखते समय किस का अवलम्ब करें? प्रथम प्रश्न के बारे में हम कह चुके हैं कि, प्रकृति अधिकांशतया सहकारितायुक्त समन्वयपर निर्भर है, यद्यपि ऊपर ऊपर देखनेवालों को प्रतीत होता है कि विरोध ही प्रकृतिसे मिलनेवाली शिक्षा एवं उस का बर्ताव है। हम देख चुके हैं कि, समन्वय, तालबद्धता एवं सामंजस्य ही प्रकृति का पथप्रदर्शक नियम है न कि विरोध तथा संघर्ष। प्रकृति की प्रणालियाँ पूरक होती हैं और कभी विरोधक नहीं। अन्ध तथा लंगडे को समीप लाकर उन में सहकारिता का सृजन कर दोनों का कल्याण करने के कार्य में ही वह अधिकतया निरत दीख पडती है।

दूसरे सवाल के लिए हमारा उत्तर यह है कि, यदि मानव बुद्धिमानी से काम ले, तो वह प्रकृति की उच्च प्रणालियों का अनुकरण करने में अपने ही हित का प्रबंध कर लेगा। हमें तो वास्तव में विरोध एव मुठभेड की जगह समन्वय तथा सहकारिता के पथका ग्रहण कर प्रकृति की सहायता करनी चाहिए, ताकि पूरक प्रणाली-द्वारा दोषों के रहनेपर भी सब को सुखी करने का उस का उद्देश्य फलीभूत होवे। सभी मानव दोषमिश्रित हैं, निर्दोष तथा संपूर्ण एवं अविकल कोई नहीं पाया जाता है, अतः यही बुद्धिमत्ता का मार्ग है कि, दोषयुक्त एवं अपूर्ण मानव इस ढंग से एकत्र लाए जाँय कि सब का कल्याण अक्षुण्णरूप से सिद्ध होने पाय, ताकि भीषण मानवीय हानि, बर्बरता तथा प्रतिद्वन्द्विता न्यूनातिन्यून हो जाय। इस के लिए प्रकृतिप्रवर्तित पूरक प्रणाली से दोषपूर्तिके पथ का अनुगमन करना चाहिए।

सनोनर ' (२००६) वर्ग,
' रसंभिन्नाय ' (१०४७२) ऋचायें,
' मांसादोनर ' (२०८७५) अन्त व
स्तस्यजलाधिप ' (१९३८१६) पद,

ऋग्वेद में होते हैं—

क्या कोई सन्देह है, वद विद्यार्थियों के लिये यह कारिका बडा उपयोगिनी होती है। दूसरा पद्य इस प्रकार है-

क्या, म, श्री यां, मधु, रा,
नाथस्या, रमाप, योऽधिकन्या, भूत्।
चलगा, श्री, दिव्येडया
सा, विष्णोः, का, मि, नी, पु, ष्टयै॥

इसका अर्थ है कि-

दो ही अन्तोंवाला वर्ग एक ही है,

३- अन्तोवाला वर्ग नहीं है,
४- अन्तोंवाले वर्ग २- ही है,
५- अन्तोंवाला वर्ग एक ही है,
६- अन्तोंवाले वर्ग ९५ हैं
७- अन्तोवाले वर्ग दोही हैं,
८- अन्तोंवाले वर्ग १७० हैं,
९- अन्तोंवाले वर्ग १५ हैं,
१०- अन्तोंवाले वर्ग ११९१ हैं,
११- अन्तोंवाले वर्ग ४ ही हैं,
१२- अन्तोंवाले वर्ग ३३६ हैं,
१३- अन्तोंवाले २ हैं,
१४- अन्तोंवाले ११८ हैं,
१५- अन्तोंवाले ७ ही हैं,
१६- अन्तोंवाले ५४ हैं,
१७- अन्तोंवाला वर्ग १ ही है,
१८- अन्तोंवाले ५ ही हैं,
१९- अन्तोंवाला वर्ग कोई नहीं है,
२० अन्तोवाला और,
२१ अन्तोंवाला वर्ग एक-एक ही है।

कितने ही तत्त्व एक छोटे पद्य में लगाये गये हैं!!

और एक पद्य सुनिये—

कीदृग् द्विजेन्द्रैकपदाद्यृचांश्च
संख्याविभागो, नृपतिश्च कीदृक्?।
षट्श्च, समीड्यो, रत्ननिधिः प्र, कृत्या-
नासा, धुकृत् प्रा, बहि, तोधि, कश्च॥

इस से सिद्ध होता है कि-

१ ही पादवाली ऋचाएँ ६ है,
२- पादोंवाली ऋचाएँ १५७ हैं,
३- पादोवाली २९०२ हैं,
४- पादोंवाली ७०११ हैं,
५- पादोंवाली २१९ हैं,
६- पादोंवाली ८० हैं,
७- पादोवाली ९६ हैं, और-
८- पादोंवाली ऋक् १ ही है।

इतनी आसानी से इन तत्त्वों को समझ रखने के लिए क्या किसी ने कुछ किया है? वास्तव में हम नहीं जानते हैं। श्रीनारायण भट्ट पाद महोदय सभी वैदिक लोगों के कृतज्ञतापात्र होते हैं! केरल प्रान्त ही में प्रचरित दूसरे वैदिक ग्रन्थो का प्रकाश आगे के अकों में दिखाऊंगा। अब बिदा लेता हूँ।

॥ इति शम् ॥

Regd. No. B. 1453

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध

वैदिक धर्म।

सितंबर १९४२
भाद्रपद १८६४



रामचंद्रजी सीताको वल्कल पहनाते हैं।
[स्वाध्याय-मंडलद्वारा प्रकाशित रामायणान्तर्गत अयोध्याकाण्डमें मुद्रित एक दृश्य ।]

वर्ष २३] क्रमांक २७३ [अंक ९

वैदिक धर्म ।

[मासिक पत्र]

संपादक — पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
सहसंपादक — पं० दयानंद गणेश धारेश्वर, B. A.
स्वाध्याय-मण्डल, औन्ध

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु. वी. पी. से ५।।) रु. विदेशके लिये ६।।) रु.

वर्ष २३] [अङ्क ९

विषयानुक्रमणिका

वैदिकधर्म

क्रमाङ्क २७३

वर्ष २३ : : : : अङ्क ९

भाद्रपद संवत् १९९९

सितंबर १९४२

आनन्द की प्राप्ति ।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि ।
(ऋ० ९-११३-११)

जहां आनन्द, सुख, आराम और प्रमोद हैं, कामना की भी कामना जहां सफल होती है, वहां मुझे अमर कर ।

जहां सब प्रकार के आनन्द और सुख हैं और जहां अपूर्णता नहीं है, उस सुखमय स्थान की प्राप्ति करना मैं चाहता हूं । हे प्रभो ! वह स्थान मुझे दो ।

वाल्मीकि रामायण का

अयोध्याकाण्ड (पूर्वार्ध) तैयार हो चुका है।

वाल्मीकि रामायण का **अयोध्याकाण्ड** (पूर्वार्ध) तैयार हो चुका है और ग्राहकों के पास भेजने का प्रारम्भ हुआ है। इस मास में सब ग्राहकों के पास पहुंच जायगा। प्रायः यह रजिस्ट्री डाक से भेजा जाता है, इसलिये सब को पहुचने में संदेह नहीं रहेगा। आगे **अयोध्याकाण्ड** (उत्तरार्ध) की छपाई चल रही है।

सुन्दरकाण्ड।

वाल्मीकि रामायण का सुन्दरकाण्ड छपकर तैयार हो रहा है। अगस्त मास के अन्त तक तैयार होगा और सितंबर में वह ग्राहकों के पास भेजा जायगा।

जो ग्राहक पेशगी मूल्य से लाभ उठाना चाहते हैं, वे शीघ्र अपना मूल्य भेज दे और ग्राहक बनें। जैसा जैसा एक एक काण्ड छपेगा, वैसा वैसा २) रु. पेशगी मूल्य में बढती हो जायगी। इस समय संपूर्ण वाल्मीकीय रामायण के दस विभागों का मूल्य ३०) है और डा० व्य० ६) है। परन्तु पेशगी मूल्य इस सितंबर मास के अन्त तक २४) है और डा० व्य० माफ है। इससे पाठकों का १२) रु. का लाभ है। अत जो पाठक पेशगी मूल्य भेजना चाहते हैं, वे शीघ्र भेज दें। पीछे से मूल्य बढ जायगा।

दैवत-संहिता प्रथम भाग तैयार है।

प्रत्येक देवता के चारों वेदों में जो जो मंत्र हैं, उन सब को इकट्ठा करके यह संहिता बनायी है। **अग्नि, इन्द्र, सोम और मरुत्** इन चार देवताओं के मन्त्र इस प्रथम भाग में संग्रहित किये गये हैं। इन चारों देवताओं के मिलकर मंत्र ७५७१ हैं, पृष्ठसंख्या ९४४ है। इस प्रथम भागका पेशगी मूल्य ५) रखा है और डा. व्य. अलग है। तीन भागोंमें यह दैवत-संहिता संपूर्ण छपेगी। तीनों भागोंका मूल्य १५) है और डा. व्य. अलग है। पर इकट्ठा पेशगी मूल्य भेजनेवाले केवल १०) भेज दें। पेशगी मूल्य संपूर्ण दैवत-संहिताका पहिले भेजनेवालों का बडा लाभ है।

प्रथम भाग ग्राहकों के पास पहुंचते ही मूल्य बढेगा, इसलिये इस मास के अन्ततक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक लाभ उठावे। इस दैवत-संहिता की प्रशंसा सब विद्वान् कर रहे हैं।

मैत्रायणीय संहिता।

यजुर्वेद की मैत्रायणी-शाखा की यजुर्वेद-संहिता यह है। इस समय तक यह स्वरोंके समेत किसी जगह छपी नहीं थी। स्वरों के विना यह जर्मनी में छपी थी। हमने अनेक लिखित ग्रन्थों के तथा वेद को कण्ठस्थ रखनेवाले इस शाखा के पण्डितों की सहायता से यह स्वरचिह्नों के साथ छापी है। अनेक विद्वानों के प्रयत्न से यह बडी शुद्ध छपकर तैयार हुई है। मंत्रों की सूचियां भी इसके अन्त में दी हैं। मैत्रायणीय आरण्यक आजतक किसीने किसी जगह छापा नहीं था। संपूर्ण आरण्यक किसी जगह मिलता भी नहीं था। वह संपूर्ण प्राप्त करके अनेक लिखित ग्रन्थों और वेदपाठकों की सहायता से संपादित करके यह छापा है। इस समय तक यह अधूरा ही मिलता था, वही अधूरा मुंबई में छपा मिलता है, उसमें बडी अशुद्धियां भी हैं। पर प्रभु की कृपा से हमें यह संपूर्ण मिला और वह शुद्ध करके हमने यह सब इसी में छापा है।

इसका मूल्य ५) रखा है। डा. व्य. १) है। मूल्य भेजकर मंगवाइये।

हम यजुर्वेदों की ४ शाखासंहितायें छपा रहे हैं, (१) **काण्वसंहिता** ३), (२) **मैत्रायणीसंहिता** ५), (३) **काठक-संहिता** ५) और (४) **तैत्तिरीय संहिता** ५)। इनमें से प्रथम दो पुस्तक तैयार हुए हैं। तीसरा आधा छप चुका है। शीघ्र ही तैयार होगा। जो इन चार शाखासंहिताओं का पेशगी मूल्य ९) रु. भेज देंगे, उनको बडा लाभ होगा।

—प्रबन्धकर्ता

सब लोग क्या चाहते हैं ?

(१)

मानव को आनन्द चाहिये ।

सब लोग, इस पृथ्वीपर के सब देशों के सब मानव, क्या चाहते हैं ? ऐसा प्रश्न पूछा जाय, तो क्या उत्तर मिलेगा ? सब लोग सुख चाहते हैं, सब लोग आनन्द प्राप्त करने के इच्छुक हैं, सब मानव आराम तथा आरोग्य चाहते हैं, केवल चाहते ही नहीं, परन्तु सब लोग रातदिन जो जो यत्न कर रहे हैं, वह एकमेव सुख के लिये, केवल एकमेव आनन्दके लिये ही है । कोई ऐसा मानव नहीं है कि, जो दुःखप्राप्ति के लिये यत्न करता हो ।

जो लोग सत्याग्रह आदि करके जेल जाते हैं, लाठी का मार खाते और कष्ट भोगते हैं, उन को भी उस में कर्तव्य करने का सुख है । अर्थात् सब मानव सुख के अथवा आनन्द के पीछे पडे हैं । आनन्द को ही चाहते हैं ।

कई लोग योगसाधन करते हैं, हठयोग, राजयोग, लययोग करते हुए कई लोग अपने शरीर को कष्ट देते हैं, इंद्रियों को संयम में रखते हैं, शरीर और इंद्रियों को नियमोंमें रख कर कष्ट देते हैं, इन के बाह्य व्यवहार से ऐसा दीखता है कि, ये अपने शरीर को दुःख दे रहे हैं, पर उन के मन के अन्दर प्रविष्ट होकर देखा जाय, तो पता लग जायगा कि, वे परम आनन्दप्राप्ति के लिये ही यत्न करते हैं । जिस समय वे अष्टांगयोगसाधन करते हैं, उस समय भले ही उन के शरीरको कष्ट होते हों, पर उन का ध्येय ' **परम आनन्द** ' प्राप्त करना ही है, इसलिये उस साधन के समय होनेवाले कष्ट भी उन के लिये सुखवर्धक ही होते हैं ।

इस तरह संपूर्ण मानव सुख की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं, यह स्पष्ट हो जाता है । अर्थात् सब को आनंद चाहिये ।

मानव के सभी व्यवहार देखिये । मानवोंने अपनी राजकीय, सामाजिक अथवा धार्मिक व्यवस्था निर्माण की है और इस तरह की व्यवस्थाएं प्रत्येक देश में विभिन्न भी हैं । इन सब का उद्देश यही है कि, मानव को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो । राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था से इहलोक में जीते जी अधिक सुख मिले और धार्मिक व्यवस्थासे मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी अधिक सुख मिले, ऐसी इच्छा मानवों की सदा रहती है ।

आज यूरोप में बडा भारी जागतिक युद्ध चल रहा है, दोनों ओर के युद्ध करनेवाले वीर कह रहे हैं कि, हम संसार की नयी शासनव्यवस्था निर्माण करना चाहते हैं और वे ऐसा विश्वास प्रकट कर रहे हैं कि, अपनी नूतन सुव्यवस्थासे ही संसार अधिक सुखी होनेवाला है । यूरोप के सब देशोंकी जनता पूर्णतया शिक्षित है और युद्धके नेता, तो बडे बुद्धिमान् हैं, तथा उन का यह विश्वास है कि, इस यत्न से ही संसार का सुख बढनेवाला है । अर्थात् इन का निश्चय यह है कि, इस युद्धमें जो प्रति दिन हजारों मनुष्यों का वध हो रहा है, इसी वध से मानवों के सुख की वृद्धि होनेवाली है, मानवों का सुख बढाने के लिये ही यह मानवों की कत्तल की जा रही है !! यद्यपि यह प्रत्यक्ष विरोधी कथनसा दीखता है, तथापि वे युद्ध करनेवाले वीर अपने दिल से सचमुच ऐसा ही मानते होंगे, जैसा कि, वे कहते है । यदि सचमुच उन का दुःख बढेगा, ऐसा उन का विश्वास होता, तो वे इतना व्यय, इतना प्रयत्न और इतना वध क्यों करेंगे ? इसलिये उन के ये प्रयत्न भी निःसंदेह सुखप्राप्ति के लिये ही हैं । उन का मार्ग अशुद्ध होगा, पर उन के मन में ऐसा ही निश्चय है ।

हम राष्ट्र के अन्दर देखते हैं कि एक जाति दूसरी जाति को दबाने का यत्न कर रही है, थोडेसे कारण के लिये लड-मरने के लिये तैयार होती है, इतना ही नहीं, पर अल्प-स्वल्प कारण से ही फिसाद भी मचाती है । इस कारण एक राष्ट्र की जनता में भी एकता नहीं है । उस जाति के नेताओं से पूछा जाय कि, तुम लोग ऐसा क्यों करते हो, तो वे ऐसाही उत्तर देंगे कि, हम यहां सुखसे रहना चाहते हैं, इसलिये ऐसा करते हैं । अर्थात् वे सुखप्राप्ति के लिये ही फिसाद मचाते हैं । उनका मार्ग गलत हो, पर दिलसे

वे ऐसा ही समझते हैं कि, ऐसा करने से हमारा सुख अवश्य बढेगा। प्रायः प्रत्येक राष्ट्र में ऐसी फिसाद मचानेवाली जातियां हैं और वे सब अपने सुख के लिये फिसाद मचाती हैं, इससे उनको सुख मिलता है वा नहीं, इस विषय में हम कुछ कह नहीं सकते, पर उनका विश्वास तो यही है कि, इससे उनको अखण्ड सुख प्राप्त होगा।

जातीय झगडों में, दंगेफिसादों में एक दूसरे का गला घूंटना, एक दूसरे के पेट में छुरी घुसेडना, एक दूसरे के मकान जलाना आदि सब प्रकार के अत्याचार आते हैं। इन फिसादों में दोनों ओर का बडा नुकसान होता है, यह सब वे देखते हैं, अनुभव करते हैं, पर समझते हैं कि, इससे अपनी जाति का सुख बढेगा। दूसरी जाति के लोग अधिक मरे, दूसरी जाती के मकान अधिक जले, तो यह विध्वंस देखकर उनको ऐसा आनंद होता है कि, शायद सचमुच अपनी जातिकी उन्नति होने से भी उतना न हो। यह सब अपना सुख बढाने के लिये मानवप्राणी कर रहे हैं, और इसी में वीरता है, ऐसा मानते हैं। सचमुच इससे सुख बढ रहा है वा नहीं, यह बात दूसरी है, पर वे इसी को सुख का मार्ग मानते हैं। इस में सन्देह नहीं है।

दूसरे देशों, दूसरे राष्ट्रों, दूसरी जातियों पर किसी ने अत्याचार किये, तो दूसरेपन के भाव से वे कदाचित् सुयोग्य कहे जांयगे, पर जिस समय अपने ही देश में, अपने ही राष्ट्र में, अपने ही धर्म के माननेवाले लोगों पर अत्याचार किये जाते हैं, ऐसा हम देखते हैं, तब अधिक हैरानी होती है। पर इन अत्याचार करनेवालों से पूछा जाय, तो वे यही कहते हैं कि, हमें सुख चाहिये और हमारा सुख बढाने का यही एक मार्ग हमारे सामने इस समय उपस्थित है। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो हमारा सुख बढेगा नहीं, इसलिये यही एक मार्ग इस समय हमारे लिये कर्तव्य करके हमारे सामने उपस्थित है, अतः इसी का आलंबन हम कर रहे हैं।

प्रत्यक्ष अत्याचार तो दूर रहा, पर अप्रत्यक्ष अत्याचार भी कोई कम नहीं हो रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को धोखे से अथवा ग्रीरता से परास्त करता और उसको दबाने का यत्न करता है। उसको पराधीन रखने की पराकाष्ठा करता है। अनेक बहाने बताकर अपना कब्जा छोडना नहीं चाहता। कठिन से कठिन प्रसंग आने पर भी इन राष्ट्रों को पराधीन तथा अपने आधीन रखने के लिये पराकाष्ठा का यत्न करता है। ऐसे प्रयत्न करते हुए उनको हानि पहुंचती रही, तो भी उसकी पर्वाह वह नहीं करता। दूसरों को पराधीन रखने से अपना सुख बढनेवाला है, ऐसा इनका ख्याल है। जिस तरह व्यक्ति दूसरों को गुलाम रखकर अपना सुख बढाने की चेष्टा करती है, इसी तरह एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम रखने से अपना सुख बढ जायगा, ऐसा मानता है और वैसा यत्न करता रहता है। संसार के इतिहास इस प्रकार के यत्नों से भरे हैं।

यह सब आनन्दप्राप्ति के लिये किया जा रहा है। इतना ही नहीं वैयक्तिक जीवन में देखिये। लेनदेन करनेवाले, व्यापारव्यवहार करनेवाले, सेटसाहुकार आदिकों के व्यवहार कैसे हो रहे हैं? विचार कीजिए, एक दूसरे को खाने का यत्न ये कर रहे हैं, धनी कर्जदार को खाने की चेष्टा करता है, दुकानदार ग्राहक को लूटना चाहता है, राजा प्रजा को निचोडना चाहता है, पूंजीपति मज्दूरों को निगलना चाहते हैं, शिक्षित अशिक्षितों को ठगाना चाहते हैं। जहां जहां व्यक्तिगत व्यवहार की गति है, वहां एक दूसरे को खा जानेका यत्न हो रहा है। पूंजीपति मज्दूरोंसे काम ज्यादा लेना चाहते हैं और मज्दूरी कम देने के इच्छुक हैं। इसके विपरीत मज्दूर काम कम करके वेतन अधिक लेने के यत्न में रहते हैं। यही नियम सर्वत्र कार्य करता हुआ दिखाई देता है!

राष्ट्र के अन्दर का व्यवहार देखिये और राष्ट्रान्तरीय व्यवहार देखिये, दोनों जगह एक दूसरे को खा जाने की प्रवृत्ति कार्य कर रही है। इस सब कुव्यवहार की जड में यही एक बात कार्य कर रही है और वह यह है कि, दूसरे को पीस कर खाने से मैं सुखी हो जाऊंगा। मुझे अखण्ड सुख प्राप्त करने का और दूसरा कोई मार्ग नहीं है। देखिये और देशदेश के और व्यक्तिव्यक्ति के व्यवहारों की पडताल कीजिए। आप को यही दीखेगा कि, धोखा सर्वत्र राज्य कर रहा है, और जनता का विश्वास ऐसा है कि, इस धोखेबाजी से अपना सुख बढेगा। छल, कपट,

धोखा, मक्कारी, ठगी, लुबपन आदि सब प्रकार मानव-मानव के साथ होनेवाले व्यवहार में करता है और यह सब अपना सुख बढाने के लिये ही करता है !

मानव अपना सुख बढाने के लिये जैसे कुव्यवहार करता है, एक दूसरे को खाता है, एक दूसरे को मारता और काटता है, और अपना सुख बढाने की चेष्टा कर रहा है, उसी तरह सुव्यवहार भी करता है। सुशिक्षित देशों और राष्ट्रों में आरोग्यस्थापन के प्रयत्न, रोग दूर करने के यत्न, धर्मार्थ दवाखाने अथवा धन लेकर दवाईयां देकर आरोग्य देनेवाले दवाखाने, यंत्रों से सस्ती वस्तुएं बनाने की कलाएं, विविध प्रकार के आरोग्य बढाने के स्थानों का निर्माण, इत्यादि एक ही नहीं, परन्तु सहस्रों प्रकार के साधन मानव प्रति दिन तैयार कर रहा है। धान्य की पैदायश अधिक करने के शास्त्रीय शोध मानवने किये हैं और उनसे धान्य, भक्ष्य, भोज्य, पेयों की उत्पत्ति वह अधिकाधिक कर रहा है। सस्ती और अच्छी वस्तुओं का निर्माण कर रहा है। इससे जो सुख सर्वसाधारण मानव को पूर्वकाल में मिलता नहीं था, वह सुख आज मिल रहा है।

ऐसा होने से कई आपत्तियां भी मानव पर आ गिरी हैं, पर यह सब सुख बढाने के प्रयत्न से ही हो रहा है।

रेल, समुद्रयान, जहाज, वायुयान, विमान, मिलें, कलें, मोटारें, तथा अन्यान्य यंत्र आज हजारों प्रकार के साधन, ये साधन मानव के पास उपस्थित हैं और नये नये साधन उपस्थित हो रहे हैं। ये यन्त्र मानव का सुख बढाने के कार्य तो कर रहे हैं, पर मानव का कुटिल मन और स्वार्थी भाव इन यंत्रों के पीछे रहता है, इसलिये इन साधनों से भी एक जगह सुख बढने लगा, तो दूसरे स्थान में दुःख बढने लगता है। तथापि ये साधन सुख बढाने के लिये निर्माण हो रहे हैं, इसमें संदेह नहीं है।

गत सहस्रों वर्षों में जितने सुख के साधन मानव के पास नहीं थे, उतने गत शताब्दी में हुए हैं और प्रतिदिन साधन बढ रहे हैं। इन साधनों से मानव के स्वार्थ में वृद्धि होने के कारण मानव के दुःख बढ रहे हैं, यह बात छोड दें, पर केवल साधन का ही विचार किया जाय, तो ये साधन मानव का सुख बढा सकते हैं, इसमें संदेह नहीं है। मानव की मति शुद्ध होगी, तो ये ही साधन मानव का सुख बढाने में सहायक होंगे। अतः हम कह सकते हैं कि, ये सब प्रयत्न सुख बढाने के लिये मानव कर रहा है।

इस सब विचार से यह सिद्ध हुआ कि, मनुष्य आनन्द की प्राप्ति की इच्छा से ही ये सब प्रयत्न कर रहा है। बहुत मानवों के मार्ग अशुद्ध हैं, विरुद्ध मार्ग से मानव जा रहे हैं, इसलिये दुःख बढ रहे हैं, यह बात सत्य है, पर आनन्दप्राप्ति की इच्छा से ही मानव के सब प्रयत्न हो रहे हैं, यह निःसंदेह सत्य है।

आनन्द भोगने के लिये अस्तित्व चाहिये।

मनुष्य अखण्ड आनन्द, अखण्ड सुख, अखण्ड आराम चाहता है, इसीलिये वह यत्न करता है, यह ऊपर हमने दिखा दिया। इस इच्छा के साथ साथ उसके अन्दर यह भी इच्छा है कि, मैं उस आनन्द के भोग के लिये दीर्घ जीवन प्राप्त करूं, अर्थात् मैं सतत रहूं और सतत आनन्द भोगता रहूं। मुझे आनन्द चाहिये, इसीलिये आनन्द भोगने के लिये मेरी सत्ता, मेरी स्थिति, मेरी जीवन-दशा, मेरा अस्तित्व, मेरी हस्ति सतत रहनी चाहिये। आनन्द मिला और जीवन न रहा, तो क्या लाभ ? जीवन ही न रहा, तो आनन्दप्राप्ति के लिये किये सब यत्न विफल हो जायेंगे। इसलिये आनन्दप्राप्ति के लिये यत्न करता हुआ मनुष्य चाहता है कि, मेरा अस्तित्व अनन्त काल तक रहे, अखण्ड रहे। मैं सदा रहूं और सदा आनन्द भोगूं।

मनुष्य अपनी हस्ती के लिये, अपने अस्तित्व के लिये कितने यत्न कर रहा है; देखिये, चारों ओर दवाखाने हैं, जो रोगों को दूर करके मृत्यु के भय से मानवों को सुरक्षित रखते हैं, नाना प्रकार के शस्त्रप्रयोग तथा औषधिप्रयोग किये जा रहे हैं, दीर्घायु की प्राप्ति के लिये अनेक प्रयोग वैद्यशास्त्र में कहे हैं। वृद्धों को तरुण बनानेवाले औषध थोडे नहीं हैं। वृद्धों को तरुण बनाने का अर्थ ही यह है कि, मृत्यु का भय दूर करना। प्रति दिन नये नये औषध निर्माण किये जा रहे हैं, जिन से रोग हटने, आरोग्य बढने और मृत्यु को दूर करने का यत्न मानव कर रहे हैं।

मनुष्य प्रति दिन का भोजन किस लिये खा रहा है ?

सुखप्राप्ति तो एक हेतु है हि, पर भोजन खाकर मेरी शक्ति कायम रहे और मैं दीर्घ जीवन प्राप्त करूं, अर्थात् मेरी स्थिति चिरकाल रहे, यही इस में प्रधान हेतु है। गीता में भोजन के गुणों का वर्णन करते हुए आयुष्य-प्राप्ति को ही प्रथम स्थान दिया है–

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ (गी. १७-८)

दीर्घ आयुष्य, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता की वृद्धि करनेवाला भोजन सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होता है। अर्थात् इस तरह के सात्त्विक भोजन से दीर्घ आयुष्य मिलता है। दीर्घ आयुष्य मिलने का आशय यही है कि, अपना अस्तित्व चिरकाल तक रहना। अपना अस्तित्व चिरकाल तक टिकाने का भी हेतु यही है कि, मैं दीर्घ काल यहां रहूं और सुख भोगूं।

मनुष्य दीर्घ प्रयत्न कर के अपने शत्रुओं को दूर करने का यत्न करता है। शत्रु से इस की घृणा क्यों है? क्यों यह शत्रुओं का नाश करना चाहता है? इस में प्रबल हेतु यही है कि, शत्रु मेरे अस्तित्व को मिटाते हैं, इस कारण शत्रुओं का नाश करना और अपना अस्तित्व कायम रखना चाहिये। इतिहास में जो युद्ध और महायुद्ध होते रहे, वे सब अपने अस्तित्व को चिरकाल टिकाने के लिये ही होते रहे है। अपना अस्तित्व टिकने के पश्चात् सुख भोगना, यह दूसरी प्रबल इच्छा रहती ही है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि, सुख भोगने के लिये ही मुझे अपना अस्तित्व टिकाना है, यह वासना हर-एक मानव में सदा रहती है।

अपनी स्थिति सदा के लिये रहे, यह गुप्त इच्छा छोटे जीव में भी दीखती है, क्योंकि छोटेसे छोटे जीव भी जिधरसे भयकी सम्भावना होती है, उस ओरसे पीछे हटते हैं और जहां सुरक्षितता है, वहां जाते हैं। छोटा बालक भी अपरिचित मनुष्य अथवा अपरिचित वस्तु का अपने पास आना पसन्द नहीं करता। अपरिचित मनुष्य के पास बालक जाता नहीं, इस का हेतु अपनी सुरक्षा वह चाहता है, यही है।

कानून में तथा स्मृति में आत्महनन (Suicide) के प्रयत्न करने के लिये बड़ा कठोर दंड रखा है, इस का हेतु मानवजीवन पवित्र है, अतः वह सुरक्षित रखना और चिरकाल टिकना चाहिये, यह स्पष्ट है। सब सभ्य देशों के कानूनोंमें आत्मघात के प्रयत्न को दंडनीय ही माना है।

इसालिये बालहत्या, गर्भपात, भ्रूणहत्या आदि अपराध दंडनीय हैं, ऐसी संमति सब कानूनों की है। जो गर्भ बना, उस को पूर्ण आयु तक जीने का अधिकार है, अतः गर्भघातकको दंडनीय समझा जाता है।

सब शासन–संस्थाओंपर प्रजा की रक्षा करने का भार है, बाल–मृत्यु न हों, ऐसा प्रबंध करनेका भार सब सरकारों पर है, इसकी जड में मानवी जीवन चिरकाल टिकाने की इच्छा ही है। मानव के सब व्यवहार अपने जीवन को चिरकाल सुरक्षित रखने के लिये ही हो रहे हैं। इतनी अनन्त काल जीनेकी प्रबल इच्छा मानव में है।

हिंदुधर्मशास्त्रकारों ने पुनर्जन्म माना है, इसमें अनेक हेतु होंगे, पर इसमें मृत्यु के पश्चात् भी अपना नाश नहीं होता, मैं आत्मारूप से शाश्वत टिकनेवाला हूं, यह भाव प्रबल है। इस से मनुष्य को बडा समाधान प्राप्त होता है, और यदि इस जन्म में मुझे सुख न मिला, तो दूसरे जन्म में मैं दीर्घ जीवन प्राप्त करूंगा और सुखी होऊंगा, यह आशा मानव का समाधान करती है। पुनर्जन्म की कल्पना से यह स्पष्ट हो जाता है कि, मनुष्य में अपनी सत्ता कायम रखने की इच्छा कितनी है।

ईसाई और मुसलमीन पुनर्जन्म न माननेवाले हैं, तथापि उन्होंने मृत्यु के पश्चात् जीव का रहना माना है, वे भी मृत्युसे जीव के नाश होनेकी कल्पना को पसंद नहीं करते। इन धर्मों के आचार्यों पर विश्वास रखनेवाला स्वर्ग में चिरकाल रहेगा, और अविश्वासी नरक में चिरकाल रहेगा, पर मृत्यु के पश्चात् चिरकाल रहेगा, इसमें संदेह नहीं है। जिस समय न्याय का दिन आवेगा, उस समय परमेश्वर के सामने सब मानवों के पापपुण्यों का निर्णय होगा, उस समय कबरों से सब मानव उठेंगे और परमेश्वर के सन्मुख निर्णयार्थ खडे रहेंगे। अर्थात् मृत्यु होनेसे जीव का नाश नहीं होता, यह बात इन धर्मों में भी मानी है। इस तरह एक जन्म माननेवाले भी जीव को अनन्त काल तक टिकनेवाला मानते हैं।

जैनबौद्ध भी जो जीव को उत्पन्न हुआ मानते हैं, वे पुनर्जन्म को मानते हैं और पूर्ण उन्नत होने तक पुनर्जन्म होता रहता है और पूर्ण मुक्त होने के पश्चात् वह जीव उस मुक्त स्थिति में शाश्वत काल तक आनन्द भोगता है, ऐसा मानते हैं। अर्थात् जीव अनन्त काल तक रहता है, ऐसा ही ये मानते हैं। नास्तिक भी अपने जीव को शाश्वत रहनेवाला मानने के इच्छुक हैं, यह बात देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि, मानव अपनी सत्ता कायम रखने का कितना इच्छुक है। वह अपने नाश की कल्पना को सह नहीं सकता। इतना अपनी अखण्ड सत्ता रखनेके विषय में उस का आग्रह है।

जैन और बौद्ध परमेश्वर को मानते नहीं, सृष्टि को अर्थात् संसार को बन्धन मानते हैं, जगत् को तुच्छ मानते हैं। वासनाक्षय होकर जन्म न होना ही उन का ध्येय है, तथापि वे नाना उपायोंसे जीव को स्थायी मानते हैं। पुनर्जन्म से जीवभाव का सातत्य माना जाता है और मुक्ति से अक्षय आनन्दकी प्राप्ति की कल्पना उन्होंने की है। इस तरह बुद्धधर्मी भी जीव को शाश्वत मानने के इच्छुक हैं।

ईसाई, मुसलमान, यहुदी, आदि धर्मों में जहां एक ही जन्म माना है, वे भी यदि जीव को शाश्वत रहनेवाला मानने का यत्न करते हैं, तब तो अन्य मतावलम्बी जीव की सत्ता अखण्ड मानने का यत्न करेंगे, तो उस में आश्चर्य काहे का है ?

इस तरह सब लोग अपनी सत्ता, अपनी स्थिति, अपना अस्तित्व, अपना जीवन, इस जीवन में अतिदीर्घ कालतक टिकाना चाहते हैं, तथा मृत्युके पश्चात् पुनर्जन्मकी सहायता से अथवा अन्यान्य युक्तियों से सतत और शाश्वत जीवन टिकाने के इच्छुक हैं। अर्थात् 'सत्' गुण अपने में आवे और स्थायी रहे, ऐसा ही इन सब का प्रयत्न है।

इस समय तक के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि, मनुष्य '**आनन्द**' प्राप्त करने के इच्छुक हैं और उस आनन्द को भोगने लिये शाश्वत काल रहनेकी अर्थात् '**सत्**' भाव की प्राप्ति की इच्छा वे करते हैं। 'आनन्द और सत्' की प्राप्ति के लिये संपूर्ण मानवों का सतत प्रयत्न हो रहा है, यह यहां सिद्ध हुआ।

ज्ञानकी इच्छा।

अब और भी एक गुण है, जिस की प्राप्ति के लिये मानव तडप रहा है, वह है ज्ञान अथवा चिंतन करने की शक्ति, चित् जिस को कहा जाता है। चिन्तन, चित्, चित्त, ज्ञान ये सब एक ही भाव के वाचक पद हैं। मानव इस की प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न करता है, वह इसलिये करता है कि-

१. मानव को सुख अथवा '**आनन्द**' चाहिये,
२. उस आनन्द को भोगने के लिये उस को जीवन की सत्ता अथवा 'सत्' चाहिये,
३. और आनन्द की प्राप्ति और जीवनी सत्ता प्राप्त करने के साधनोंका '**चित्**' ज्ञान भी उसको चाहिये।

आनन्द और स्थिति चाहता है, इसीलिये मानव ज्ञान चाहता है। यदि मानव में 'आनन्द' की प्राप्ति की आतुरता न होगी और उस आनन्दभोग के लिये वह शाश्वत स्थिति नहीं चाहेगा, तो वह ज्ञान की भी पर्वाह नहीं करेगा। परन्तु मानव हर अवस्था में आनन्द चाहता है और उसको भोगने के लिये अपना दीर्घ जीवन भी चाहता है, इसीलिये वह आनन्दप्राप्ति के और शाश्वत स्थिति के साधनों का ज्ञान भी चाहता है। मानव का यह निश्चय है कि, ज्ञान के विना उक्त दोनों की प्राप्ति होना असम्भव है, इसीलिये वह चिन्तन या मनन की शक्ति अपने में बढे, ऐसा चाहता है।

पाठकों को यहां यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि, मनुष्य वास्तव में एक ही '**आनन्द**' चाहता है, इसको दूसरे किसी की जरूरत नहीं है। पर अपनी सत्ता ही न रहेगी, तो आनन्दभोग नहीं हो सकता, इसलिये वह आनन्द-भोग के लिये अपनी '**सत्ता**' शाश्वत काल टिकने के लिये यत्नवान् होता है। इस तरह वह चाहता था केवल आनन्द, पर आनन्द की प्राप्ति के साथ साथ उसको दो बातों को स्वीकारना पडा है, वे दो बातें अपनी '**सत्ता**' और '**आनन्द**' हैं। जब मनुष्य ने अपने ये दो ध्येय निश्चित किये, तब उसके ध्यान में यह बात आ गयी कि, अपनी सत्ता को शाश्वत टिकाने के उपायों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और आनन्दप्राप्ति के मार्ग का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस तरह '**ज्ञान**' को भी प्राप्तव्यों

में रखना उनको आवश्यक हुआ।

छोटेसे छोटा बालक भी अपने आपको समझदार मानता है। मैं ज्ञानवान् हूं और मैं ज्ञान प्राप्त करूंगा, यह इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य कुछ भी नहीं जानता, तो वह ' मैं हूं ' इतना तो जानता ही है। ' मैं हूं ' यह हर-एक जाग्रत मानव जानता है, यह इसके अन्दर विद्यमान् ' चित् ' गुण का द्योतक है। ' मैं हूं ' इतना जानने से वह जीवित है, इसकी सिद्धि होती है। इसके पश्चात् अनेक विद्याएं और कलाएं वह हस्तगत करता है। जितना ज्ञान मिले, उतना वह हस्तगत करता है, नया ज्ञान प्राप्त करता है, नये आविष्कार करके ज्ञान की वृद्धि करता है। आज इस भूमण्डल पर जो इतना ज्ञान का भण्डार खुल गया है, वह सब मानव के ज्ञानप्राप्ति की हलचल का ही फल है, इस तरह मनुष्य इस ' चित् ' शक्ति को भी चाहता है, जानना चाहता है। अर्थात् अज्ञान में रहना नहीं चाहता।

इस जगत् में कितनी पाठशालाएं, स्कूलें, कालेजें, गुरु-कुलें, आचार्यकुलें हैं और हो रहीं हैं। पर इतनेसे मनुष्य संतुष्ट नहीं है। वह चाहता है कि, इनकी संख्या बढे ! सौ में सौही ज्ञानसम्पन्न बनें, यह इसकी इच्छा है। इस संसार में कितने पुस्तक तैयार हो रहे हैं, कितने प्रेस छपाई में लगे हैं, कितने दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक पत्र प्रकाशित हो रहे हैं, कितने शिक्षक, उपदेशक और संपादक ज्ञानदान में लगे हैं, कितने आदमी साक्षर होकर ज्ञान लेनेकी इच्छा से छपे ग्रंथों का पाठ करते हैं। जिस समय छपाई करनेके यन्त्र नहीं थे, उस समय हाथ से लिखे ग्रंथ भी बहुत उत्पन्न होते थे। यह सब ग्रथभण्डार जो आज सहस्रों वर्षों से बढ रहा है, वह मानव की ज्ञानलालसा की साक्षी दे रहा है।

इस समय वह राज्यशासन सभ्य माना जाता है कि, जिस में सब प्रजाजनों की शिक्षा आवश्यक समझकर सब को साक्षर करने के प्रयत्न होते हैं। प्रजाजनों में से सब के सब पढे लिखे हों, यह इस समय सभ्यता का मूल्य-मापन माना जाता है। इस का उद्देश इतना ही है कि, मानव ज्ञान के लिए पिपासित है। जंगली से जंगली लोगों में भी जो कोई ज्ञानवान् होता है, वही मान्यता पाता है, इससे सिद्ध है कि, जिस तरह शिक्षितों में उसी तरह जंगली मनुष्यों में भी ज्ञान का महत्त्व सर्वमान्य है।

सभी मानवजाति में, सब देशों के मानवों में सदा ज्ञान के लिए आदर का भाव रहा है। ज्ञानियों को महत्त्व का स्थान देना सब चाहते हैं। इस का कारण ही यह है कि, सब लोग ज्ञान का महत्त्व जानते हैं अथवा ज्ञान का गुप्त प्रभाव सब पर पडा है, इसलिए न समझते हुए भी ज्ञानी को महत्त्व देते आये हैं।

कई लोग यहां ऐसा कहेंगे कि, इस जगत् में ज्ञानी का महत्त्व कम है और वीर और धनी का महत्त्व ज्यादह है। राजालोग ज्ञानी का मूल्य नहीं करते और धनी भी ज्ञानी की कदर नहीं करते। इसके उत्तर में कहना इतना ही है कि, धनी वैश्य को अपने कारोबार में धन कमाने और उसकी रक्षा करने के लिये ज्ञान लगता है और जो वीर होते हैं, उनको शत्रु के साथ युद्ध करने के प्रयत्न में युद्धविद्या का ज्ञान लगता ही है, इससे वीर और धनी का महत्त्व मानने पर भी उसको ज्ञान लगने के कारण उनके महत्त्व से ज्ञान का ही महत्त्व सिद्ध हो रहा है। आज-कल के व्यवहार में कैसी भी उथलपुथल क्यों न हुई हो, शाश्वत नियम की दृष्टि से ज्ञान ही सर्वोपरि है और ज्ञान ही राज्यपद देता है और धन की वृद्धि करनेवाला भी ज्ञान ही है।

राजा राजगद्दीपर बैठे और धनी अपनी पेढीपर बैठा रहे, पर ज्ञानी अपने कंबल पर पर्णकुटि में बैठा हुआ ऐसी विचारधाराएं फैलावेगा कि, जिससे वह राजगद्दी और वह धन की पेढी रहेगी या न रहेगी, यह सब उस ज्ञानी की विचारधारा पर सर्वथा ही निर्भर रहेगा। विश्व के इतिहास में ज्ञान का महत्त्व हम इस तरह देख रहे हैं। ज्ञानी के पास न राजा का अधिकार रहता है और ना ही धनी का धन रहता है, पर ज्ञानी अपने ज्ञान से मानवी मनों पर शाश्वत राज्य करता है, वैसा प्रभाव राजा का कभी हो ही नहीं सकता।

देखिये वसिष्ठ, वामदेव, कपिल, कणाद, व्यास, पतंजली, भगवान् कृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य, ईसामसीह, महम्मद पैगंबर, आदि कों के इस लोक को छोड देने के

-बाद भी जनता पर प्रभाव वैसे हैं, वैसे प्रभाव किस राजा के हैं ? राजा जीवित रहने तक जनता को सतावेगा, इसलिये उस राज्य के लोग उससे डरेंगे, पर उसके मरने पर उसे कौन पूछेगा ? अथवा उसके राज्य के बाहर उसे कौन पूछता है ?

पर ज्ञानी का ज्ञान जनतापर स्थायी प्रभाव रखता है और उनके देह छूटने पर भी वह प्रभाव रहता है। इससे ज्ञान का महत्त्व सिद्ध हो सकता है। पर यहां जो 'चित्' अर्थात् 'ज्ञानशक्ति' का हम विचार कर रहे हैं, वह प्रति मानव में रहनेवाली शक्ति है। जैसा प्रत्येक मानव सुखके लिये यत्न करता है, अपने अस्तित्व न मिटने अर्थात् शाश्वत टिकने के लिये प्रयत्न करता है, वैसा ही वह ज्ञान को प्राप्त करने के लिये भी यत्न करता है। आबालवृद्ध स्त्रीपुरुष सब ही इन तीन शक्तियों की प्राप्ति के लिये रातदिन यत्न करते हैं।

अपमार्ग में प्रवृत्ति ।

हम यहां यह नहीं कहते कि, सब मानव शुद्ध मार्गसे ही आनन्द आदि की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं। उन के प्रयत्न अशुद्धमार्ग से होते हों, अथवा शुद्ध मार्गसे होते रहे, हम इतना ही कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, सुख भोगने के लिये दीर्घ जीवन चाहता है और सुख तथा दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिये ज्ञान भी चाहता है। सब मानवों के प्रयत्नों में ये तीन इच्छाएं अनुस्यूत हैं। कोई मानव दुःख विनाश और अज्ञान नहीं चाहता। यह बात और है कि, मनुष्य न चाहता हुआ भी दुःख भोगता, नाश की ओर जाता और अज्ञान में रहता है। यह उनके अशुद्ध मार्ग के पकडने के कारण हो रहा है। पर वह आनन्द, अक्षय जीवन और ज्ञान दिल से प्राप्त करना चाहता है, सब हलचल इसी लिये करता है, इसी लिये ही वह तडपता रहता है। जो करता है, वह इसीलिये करता है। अर्थात् आनन्द, जीवन और ज्ञान ही उसके ध्येय हैं। ये तीनों मिलने से ही मनुष्य अपने आपको कृतकृत्य समझेगा और न मिलने से वह निरुत्साह होगा। इस तरह ये तीन मानव के ध्येय अथवा प्राप्तव्य हैं, इसमें संदेह नहीं।

मनुष्य को ये तीनों प्राप्त नहीं हो रहे हैं, क्योंकि मानव का मार्ग अशुद्ध होने के कारण वह सुख कमाने के लिये दौडता है और दुःख के पहाड को पहुंचता है। दीर्घ जीवन की आशा से दौडता है और मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होता है। इसी तरह ज्ञान की प्राप्ति का यत्न करता है और अज्ञान के जाल में फंसता है। इस का कारण इतना ही है कि, इस को मार्ग ठीक ठीक नहीं मिलता। जिस को ठीक मार्ग मिल जाता है, वह कृतकृत्य बनता है। अन्य लोग दुःख भोगते हैं, पर सब लोग आनन्द-सत्ता-ज्ञान को प्राप्त करना चाहते हैं, इस में संदेह नहीं।

आनन्द का अर्थ सुख, आराम, प्रसाद, प्रसन्नता आदि है, जीवन की स्थिति का अर्थ दीर्घायु, सत्ता, स्थिति, सद्भाव अथवा सत् है और ज्ञान का अर्थ ज्ञान, विज्ञान, विचारशक्ति, बुद्धि, मननशक्ति, आदि हैं। संक्षेप से 'आनन्द-चित्-सत्' ऐसा कहेंगे, अथवा 'सत्-चित्-आनन्द' ऐसा कहेंगे। दोनों का आशय एक ही है। 'सत्-चित्-आनन्द' अर्थात् 'सच्चिदानंद' की प्राप्ति करने के लिये ही सब मानव यत्न करते हैं, यह बात ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो चुकी है। पर विचारे अपमार्ग से जाते हैं, इसलिये सच्चिदानन्द के स्थान में तद्विरुद्ध आपत्तियों को प्राप्त करते हैं। उन को आपत्तियां प्राप्त होती हैं, इस का कारण अशुद्ध मार्ग से जाना ही है, पर उन के मन में 'सत्-चित्-आनन्द' प्राप्त करना ही है, यही उन का साध्य है, इस में संदेह नहीं है। सब मनुष्य जो चाहते हैं, वह सच्चिदानन्द है, पर वे भी नहीं जानते कि, अपना ध्येय सच्चिदानन्द है, यह इस में एक बडा भारी आश्चर्य है !!

मनुष्यों से पूछने पर वे कहेंगे कि- (१) हमें सुख चाहिये, (२) सुख भोगने के लिये अपनी सत्ता चिरकाल रखने की हमारी इच्छा है तथा (३) हमें सुखप्राप्ति का और चिरकालिक सत्ता सिद्ध करने का ज्ञान चाहिये। ऐसा हरएक मनुष्य कहेगा, अथवा समझदार मानव तो इतना अवश्य कहेगा। इन तीन प्राप्तव्यों का, इन तीन ध्येयों का, इन तीन उद्देश्यों का सूत्रबद्ध सार 'सत्-चित्-आनंद' ही है, पर यह बात हरएक मनुष्य जानता नहीं। वह न जाने, पर जो ज्ञानवान् हैं, वे मानवों के इन हलचलों का सूत्रबद्ध सार जान सकते

हैं, उनके सब प्रयत्नों के अन्दर जो अनुस्यूत भाव है, वह ' सच्चिदानंद ' की प्राप्ति ही है। मानव जानें या न जानें, उनके अन्तर्हृदय में वही गुप्तता से छिपा हुआ ध्येय है।

सत्-चित्-आनंद- (अस्तित्व Existence, ज्ञान Knowledge, आनन्द Bliss) यही मनुष्य को चाहिये। मनुष्य जीवित रहना चाहता है, जानना चाहता है और आनन्द भोगना चाहता है। इस के विपरीत 'मृत्यु-अज्ञान-दुःख ' को वह दूर करना चाहता है। इससे सिद्ध हुआ कि, वह जानते हुए, अथवा न जानते हुए, सच्चिदानन्द की प्राप्ति करना चाहता है।

' सत्-चित्=आनंद ' क्या है ? ईश्वर ही **' सच्चिदानंद '** है। दूसरा कोई सच्चिदानन्द नहीं है। इसलिये यदि मनुष्य सचमुच अपने लिये हस्ति-ज्ञान-आनन्द प्राप्त करने का इच्छुक है, तब तो वह सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही चाहता है और उसका अर्थ ऐसा ही है कि, वह **' ईश्वर की प्राप्ति '** करना चाहता है।

ईश्वर का नाम उच्चारण करते ही सब पाठक घबरा जायंगे और कहेंगे कि नहीं नहीं, इस संसार में ईश्वर को न माननेवाले नास्तिक लोग हैं और वे ईश्वर को मानते नहीं, ईश्वर को अफीम की गोली समझते हैं, जहर समझते हैं, वे ईश्वर को सामाजिक और राजकीय तथा वैयक्तिक क्षेत्र से दूर करना चाहते हैं। अतः ये नास्तिक ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसा किस तरह माना जा सकता है ? ऐसा प्रश्न कई सुविद्य पाठक पूछेंगे।

यह प्रश्न सरल है और ठीक भी है। इस समय रूस में साम्यवादी (Communist) हैं, वे ईश्वर को मानते नहीं। इनके अतिरिक्त कई लोग निरीश्वरवादी भी हैं, वे भी ईश्वर को मानते नहीं। अतः ये लोग ईश्वर की प्राप्ति के लिये यत्न कर रहे हैं, ऐसा कहना शुद्ध नहीं होगा। हम भी ऐसा नहीं कहते कि, वे जानबूझकर ईश्वर की प्राप्ति करने के उद्देश्य से प्रयत्न करते हैं। हमारा कहना इतना ही है कि, वे न समझते हुए जिन प्राप्तव्यों को प्राप्त करने का यत्न करते हैं, उनका मिलकर रूप ईश्वरप्राप्ति ही है। जैसा वे अपनी हस्ती सुरक्षित रखनेके लिये यत्न करते हैं, इसी का अर्थ वे ' सत् ' की प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं। वे ज्ञानप्राप्ति के लिये यत्न करते हैं, इसी का अर्थ वे **' चित् '** की प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं। इसी तरह वे **' सुख '** प्राप्ति के लिये यत्न करते हैं, इसी का अर्थ वे **' आनंद '** को चाहते हैं। वे कुछ भी मानें, पर जो वे चाहते हैं, वह सत् है, चित् है और आनन्द है, इसमें कोई संदेह नहीं। यदि यह सत्य है तब वे **' सच्चिदानंद '** को प्राप्त करने के इच्छुक हैं, इसमें भी कोई शंका नहीं है।

यदि **' सच्चिदानंद '** परमेश्वर का ही स्वरूप है, तब तो ये सब लोग परमेश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, यह भी सत्य ही है। वे ईश्वर को मानें अथवा न मानें, वे सत्-चित्-आनन्द को मानें या न मानें, वे चाहे ईश्वर-वाद का निषेध करें अथवा उदासीन रहें। इस की कोई पर्वाह नहीं है। वे जिन तीन शक्तियों को अपने अन्दर सुरक्षित रखना चाहते हैं, वह स्वरूप ' सच्चिदानन्द ' है और जो सच्चिदानन्द है वही ईश्वर है। अतः सब लोग ईश्वर की प्राप्ति करने के इच्छुक हैं, ईश्वरप्राप्ति के लिये यत्नवान् हैं, ईश्वरप्राप्ति के लिये उत्सुक हैं, अथवा ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये तडप रहे हैं। ऐसा कहना अत्युक्ति का कथन नहीं होगा।

जानते हुए सत्य मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति के लिये यत्न करना यह बात और है और न जानते हुए यथाकथंचित् उन ही शक्तियों की प्राप्ति के लिये यत्न करना और बात है, पर दोनों का तात्पर्य एक ही है। जैसा एक मनुष्य जानता है कि, फलाने स्थान पर खोदने से सोने की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि वहां सोने की खान है। यह तो जानते हुए इसने यत्न किया और शीघ्र सफलता प्राप्त की। पर दूसरा एक आदमी है, वह सुवर्ण प्राप्त करने के लिये केवल भूमि खोदता है, इस का मार्ग गलत है, इसलिये इस को सुवर्ण प्राप्त नहीं होगा, केवल परिश्रम करने का दुःख ही होगा, परन्तु उस को सुवर्ण चाहिये था, इस ध्येयकी सत्यतामें कोई भेद नहीं है। हम भी यही कहते हैं, सबका ध्येय ईश्वरप्राप्ति है, कई लोग सत्य मार्ग पर है, इनको ईश्वर प्राप्त होता है, दूसरे लोग गलत मार्ग पर हैं, अतः उन को दुःख मिलेगा। पर वे जिस को प्राप्त करना चाहते थे, वह ईश्वर का ही सामर्थ्य था।

यदि सब को ईश्वर क्या है, उस की प्राप्ति का सत्य मार्ग कौनसा है, उस पर से किस तरह जाना चाहिये, इत्यादि बातों का यथार्थ ज्ञान होगा, तो विना आयास वे ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और कृतकार्य भी हो सकते हैं। पर बहुत लोग ऐसे हैं कि, जिन को इस का ज्ञान नहीं है, अतः वे तडपते हैं, उन को पता नहीं कि, उन को सचमुच क्या चाहिये, सचमुच किस मार्ग से जाना चाहिये और क्या करना चाहिये।

वैदिक धर्मने यह सत्य मार्ग बताया है। पर इस समय वैदिकधर्मियों में भी मतमतान्तर का प्रचार हो चुका है और वे भी वेद के सिद्धांत पर स्थित नहीं हैं। फिर अन्यान्य लोगों के विषय में कहना ही क्या है?

इस समय के लोग धर्म के नाम से जो कुछ कर रहे हैं, उन के मार्गों का विचार कर के उन में से कितना भाग वेदानुकूल है और कितना प्रतिकूल है, इस का निश्चय करना चाहिये और शुद्ध वैदिक धर्म क्या कहता है, इस का भी विचार करना चाहिये। यह विचार अगले लेख में करेंगे–

वेद का रहस्य ।

छठाँ अध्याय ।

वरुण, मित्र और सत्य ।

[लेखक- श्री० अरविंद घोष, अनुवादक- श्री० स्वामी अभयदेवजी]

यदि सत्य का यह विचार, जिसे हमने वेद के पहले-पहले ही सूक्त में पाया है, अपने अन्दर वस्तुतः उस आशय को रखता है, जिस की हमने कल्पना की है और उस अतिमानस चैतन्यके विचार तक पहुंचता है, जो कि, अमरता या परम पद को पाने की शर्त है और यदि यही वैदिक ऋषियों का मुख्य विचार है, तो हमें अवश्य सारे के सारे सूक्तों के अन्दर यह विचार बार बार आया हुआ मिलना चाहिये, अध्यात्म-विज्ञान-सम्बन्धी अन्य तथा सम्बद्ध सिद्धियोंके लिए केन्द्रभूत विचारके तौर पर मिलना चाहिये। ठीक अगले ही सूक्त में, जो इन्द्र और वायु को सम्बोधित किया गया, मधुच्छन्दस् का दूसरा सूक्त है, हम एक और सन्दर्भ पाते हैं, जो कि स्पष्ट और बिलकुल ही अप्रत्याख्येय आध्यात्मिक निर्देशों से भरा पड़ा है, जिस में ' ऋतम् ' का विचार अग्निसूक्त की अपेक्षा भी और अधिक बल के साथ रखा गया है। यह सन्दर्भ इस सूक्त की अन्तिम तीन ऋचाओं का है, जो निम्न हैं-

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥

ऋतेन मित्रावरुणा ऋतावृधा ऋतस्पृशा।
क्रतुं बृहंतमाशाथे ॥

कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया।
दक्षं दधाते अपसम् ॥ (१।२।७-९)

इस सन्दर्भ की पहिली ऋचा में एक शब्द ' दक्ष ' आया है, जिस का अर्थ सायणने प्रायः बल किया है, पर वस्तुतः जो अध्यात्मपरक व्याख्याके योग्य है, एक महत्त्वपूर्ण शब्द ' घृत ' आया है, जो ' घृताची ' इस विशेषण में है और एक अपूर्व वाक्यांश है- ' धियं घृताचीम् '। शब्दशः इस ऋचा का यह अनुवाद किया जा सकता है- " मैं मित्र का आह्वान करता हूं, जो पवित्र बलवाला, (अथवा, पवित्र विवेक शक्तिवाला) है और वरुण का जो हमारे शत्रुओं का नाशक है, (जो दोनों) प्रकाशमय बुद्धि को सिद्ध करनेवाले (या पूर्ण करनेवाले) हैं।"

दूसरी ऋचामें हम देखते हैं कि, ' ऋतम् ' को तीन बार दोहराया गया है और ' बृहत् ' तथा ' क्रतु ' शब्द आये हैं, जिन दोनों को ही वेद की अध्यात्म-परक व्याख्या में हम बहुत ही अधिक महत्त्व दे चुके हैं। ' क्रतु ' का यहाँ अर्थ या तो यज्ञ का कर्म है, या सिद्धिकारक, साधक शक्ति। पहले अर्थ के पक्ष में हम वेद में इस के जैसा ही एक और सन्दर्भ पाते हैं, जिस में वरुण और मित्र को कहा गया है कि, वे सत्य के द्वारा महान् यज्ञ को अधिगत करते हैं या उस का भोग करते हैं, ' यज्ञं बृहन्तम् आशाथे '। परन्तु यह समानान्तर सन्दर्भ निर्णायक नहीं है, क्योंकि एक प्रकरण में यज्ञ का नाम तो ही लिया गया है, तो दूसरे प्रकरण में उस शक्ति या बल का उल्लेख हो सकता है, जिस से कि, यज्ञ सिद्ध होता है, ऋचा का अनुवाद शब्दशः यह हो सकता है- " सत्य के द्वारा मित्र और वरुण, जो सत्य को बढानेवाले हैं, सत्य का स्पर्श करनेवाले हैं, एक बृहत् कर्म का अथवा एक विशाल (साधक) शक्ति का, भोग करते हैं, (या उन्हें अधिगत करते हैं)।"

अन्त में तीसरी ऋचा में हमें फिर ' दक्ष ' शब्द मिलता है, ' कवि ' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ 'द्रष्टा' है और जिसे पहले ही मधुच्छन्दस् ' क्रतु ' के कर्म या संकल्प के साथ जोड चुका है, सत्य का विचार मिलता

है और ' उरुक्षया ' यह प्रयोग मिलता है। ' उरुक्षया ' में ' उरु ' अर्थात् विस्तृत या विशाल, महान्‌वाची उस ' बृहत् ' का पर्यायवाची हो सकता है, "जो अग्नि के " स्वकीय घर " सत्यचेतना के लोक या स्तर का वर्णन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। शब्दशः मैं इस ऋचा का अनुवाद करता हू- " हमारे लिये मित्र और वरुण, जो द्रष्टा हैं, बहु-जात हैं, विशाल घरवाले हैं, उस बल (या विवेकशक्ति) को धारण करते हैं, जो कर्म करने-वाली है। "

यह एकदम स्पष्ट हो जायगा कि, दूसरे सूक्त के इस सन्दर्भ में हमें विचारों का ठीक वही क्रम मिलता है और बहुत से वैसे ही भाव प्रकाशित किये गये हैं, जिन्हें पहले सूक्त में हमने अपना आधार बनाया था। पर उनका प्रयोग भिन्न प्रकार का है और पवित्रीकृत विवेक का विचार, अत्यधिक प्रकाशमय बुद्धि, ' धियं घृताचीम् ' का विचार और यज्ञकर्म में सत्य की क्रिया, ' अपस् ' का विचार कुछ अन्य नवीन यथार्थताओं को प्रस्तुत करते हैं, जिन से ऋषियों के जो केन्द्रभूत विचार हैं, उन पर और अधिक प्रकाश पड़ता है।

दक्ष शब्द ही इस सन्दर्भ में अकेला ऐसा है, जिसके आशय के सम्बन्ध में वस्तुत ही सन्देह की गुंजाइश हो सकती है, और इसका अनुवाद सायण ने प्रायश. ' बल ' किया है। यह एक ऐसी धातुसे बनता है, जिसका अपनी सजातीय अन्य धातुओं में से अनेकों (जैसे दश, दिश्, दह्) की तरह मूल में अपने विशेष अर्थों में से एक अर्थ ' आक्रामक दबाव ' था और इस कारण पीछे से किसी भी प्रकार की क्षति पहुंचाना इससे प्रकट होने लगा, पर विशेष कर विभाग करने, काटने, कुचलने या कभी-कभी जलाने की क्षति पहुंचाना। बल के वाचक बहुत से शब्द ऐसे हैं, जो मूल में ' क्षति पहुंचाने का सामर्थ्य ' इस अर्थ को रखते थे, योद्धा और घातक की आक्रामक शक्ति के द्योतक थे, जो एक ऐसी शक्ति थी, जिसकी आदि काल के मनुष्य के लिये बहुत अधिक कीमत थी, क्योंकि उससे वह बल के जोर से उस भूमि पर अपना स्थान बना सकता था, जिसे कि, उसने उत्तराधिकार में पाया होता था। इस शृङ्खला को हम साधारण संस्कृत के शक्तिवाची शब्द ' बलम् ' में भी देखते हैं जो कि उसी परिवार का है, जैसे ग्रीक शब्द ' बलो ' (Ballo) जिसका अर्थ है ' प्रहार करना ' और बैलोस (Belos) जिसका अर्थ है शस्त्र। ' दक्ष ' शब्द का जो ' बल ' अर्थ लिया जाता है, उसका भी मूल यही है।

पर विभाग करने का यह विचार भाषा-विकास के मनोविज्ञान में हमें एक बिल्कुल दूसरे ही विचार-क्रम की ओर भी ले गया, क्योंकि जब मनुष्यकी यह इच्छा हुई कि, उसके पास मानसिक विचारों के लिये भी शब्द हों, तो उसके पास सब से सुलभ प्रणाली यह थी कि, वह भौतिक क्रिया के रूपों को ही मानसिक क्रिया में भी प्रयुक्त करने लगे। इस प्रकार भौतिक विभाग या पृथक्करण को मानसिक क्रिया में प्रयुक्त किया गया, जो कि, वहां परिवर्तित हो कर ' भेद करना ' इस अर्थ को देने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि, पहले तो यह चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा भेद करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ और पीछे से मानसिक पृथक्करण, विवेचन, निर्धारण के अर्थ को देने लगा। इसी प्रकार ' विद् ' धातु जिसका संस्कृत में अर्थ पाना या जानना है, ग्रीक और लेटिन में ' देखने ' अर्थ को देती है। दर्शनार्थक ' दश् ' धातु का मूल में अर्थ था चीरना, फाड़ डालना, पृथक् करना; दर्शनार्थक ' पश् ' धातु में भी मूल अर्थ यही था। हमारे सामने लगभग एक सी ही तीन धातुएं हैं, जो इस विषय में बहुत बोधप्रद हैं, - ' पिस् ' चोट मारना, क्षति पहुंचाना, बलवान् होना, ' पिष् ' चोट मारना, क्षति पहुंचाना, बलवान् होना, कुचलना, चूरा करना; और ' पिश् ' रूप देना, आकृति गढ़ना, निर्माण करना, घटक अवयवों में पृथक् होना।

इन सारे अर्थों से पृथक् करने, विभाजित करने, काट कर टुकड़े करने का जो मौलिक अर्थ है, उसका पता चल जाता है, जब हम यह देखते हैं कि, इन धातुओं से बने यौगिक शब्द ' पिशाच ' जो असुर के अर्थ में आता है, और ' पिशुन ' जिसका अर्थ एक तरफ तो कठोर, क्रूर, दुष्ट, धोखेबाज; चुगलखोर है और ये सारे अर्थ क्षति पहुंचाने के विचार में से ही लिये गये हैं, तथा साथ ही दूसरी तरफ इसका अर्थ, ' सूचना देनेवाला, व्यक्त करने-

वाला, दर्शानेवाला, स्पष्ट करनेवाला ' भी है, जो कि, दूसरे ' भेद ' के अर्थ से निकले हैं । ऐसे ही ' क्री ' धातु जिसका अर्थ क्षति पहुंचाना, विभक्त करना, बखेरना है, ग्रीक क्रिनो (Krino) में प्रतीत होती है, जिसका अर्थ है, छानना, चुनना, निर्धारण करना, निश्चय करना। दक्ष का भी यही इतिहास है । इसका सम्बन्ध ' दश् ' धातु से है जो कि, लेटिन में है ' डोसिओ ' (Doceo) अर्थात् सिखाना और ग्रीक में ' डोकिओ ' (Dokeo) अर्थात् विचारना, परखना, गिनना और ' डोकाजो ' (Dokazo) निरीक्षण करना, सम्मति बनाना ।

इसी प्रकार हमारे पास इसकी सजातीय धातु ' दिश् ' है, जिसका अर्थ होता है अङ्गुलि निर्देश करना या सिखाना, ग्रीक में ' डेक्नुमि ' (Deiknumi) । स्वयं दक्ष शब्द के ही लगभग बिल्कुल समरूप ग्रीक ' डॉक्स ' (Doxa) है, जिसका अर्थ होता है, सम्मति, निर्णय और ' डेक्सिअस ' (Dexios) है, जिसका अर्थ है चतुर, कुशल, दक्षिण-हस्त । संस्कृत में दक्ष धातु का अर्थ चोट मारना, जान से मार देना है, साथ ही समर्थ होना, योग्य होना भी है । विशेषणरूप में ' दक्ष ' का अर्थ होता है चतुर, प्रवीण, समर्थ, योग्य, सावधान, सचेत । ' दक्षिण ' का अर्थ ' डेक्सिअस ' की तरह चतुर, कौशलयुक्त, दक्षिण-हस्त है, और संज्ञावाची ' दक्ष ' का अर्थ बल तथा दुष्टता भी होता ही है जो कि, चोट पहुंचाने के अर्थ से निकलता है, पर इसके अतिरिक्त इस परिवार के अन्य शब्दों की तरह मानसिक क्षमता या योग्यता भी होता है । हम इस के साथ ' दशा ' शब्द की भी तुलना कर सकते हैं, जो कि मन, बुद्धि के अर्थमें आता है । इन सब प्रमाणों को इकट्ठा लेने पर पर्याप्त स्पष्ट तौर से यह निर्देश मिलता हुआ प्रतीत होता है कि, एक समय में अवश्य ' दक्ष ' का अर्थ विवेचन, निर्धारण, विवेचक विचारशक्ति रहा होगा और इसका मानसिक क्षमता का अर्थ मानसिक विभाजन के इस अर्थ से लिया गया है, न कि यह बात है कि, शारीरिक बल का विचार मन की शक्ति में बदल गया हो और इस तरीके से यह अर्थ निकला हो ।

इसलिये वेद में दक्ष के लिये तीन अर्थ सम्भव हो सकते हैं, बल सामान्यतः, मानसिक शक्ति या विशेषतः निर्धारण की शक्ति, विवेचन । ' दक्ष ' निरन्तर ' क्रतु ' के साथ मिला हुआ आता है, ऋषि इन दोनों की एकसाथ अभीप्सा करते हैं, ' दक्षाय क्रत्वे ', जिसका सीधा अर्थ हो सकता है, ' क्षमता और साधक शक्ति ' अथवा ' संकल्प और विवेक ' । लगातार इस शब्द को हम उन सन्दर्भों में पाते हैं, जहां कि, सारा प्रकरण मानसिक व्यापारों का वर्णन कर रहा होता है । अन्तिम बात यह है कि, हमारे सामने देवी ' दक्षिणा ' है, जो कि, 'दक्ष' का ही स्त्रीलिङ्ग रूप हो सकता है, जो दक्ष अपने आप में एक देवता था और बाद में पुराण में आदिम पिता प्रजापतियों में से एक माना जाने लगा । हम देखते हैं कि, ' दक्षिणा ' का सम्बन्ध ज्ञान के अभिव्यक्तीकरण के साथ है और कहीं-कहीं हम यह भी पाते हैं कि, उषा के साथ इसकी एकात्मता कर दी गई है, उस दिव्य उषा के साथ जो प्रकाश को लानेवाली है । मैं यह सुझाव दूंगा कि ' दाक्षिणा ' अपेक्षया अधिक प्रसिद्ध ' इळा ', ' सरस्वती ' और ' सरमा ' के समान ही इन चार देवियों में से एक है, जो ' ऋतम् ' या सत्यचेतना की चार शक्तियों की द्योतक हैं; ' इळा ' सत्य-दर्शन या दिव्य स्वतः प्रकाश (Revelation) की द्योतक है; ' सरस्वती ' सत्य श्रवण, दिव्य-श्रव, प्रेरणा (Inspiration) या दिव्य शब्द की, 'सरमा' दिव्य अन्तर्ज्ञान (Intuition) की और ' दक्षिणा ' विभेदक अन्तर्ज्ञानमय विवेक (Separative intuitional discrimination) की । तो ' दक्ष ' का अर्थ होगा यह विवेक, चाहे वह मनोमय स्तर में होनेवाला मानसिक निर्धारण हो अथवा ' ऋतम् ' के स्तर का अन्तर्ज्ञानमय विवेचन हो ।

ये तीन ऋचायें जिन के सम्बन्ध में हम विचार कर रहे हैं, उस एक सूक्त का अन्तिम सन्दर्भ है, जिस की सब से पहली तीन ऋचायें अकेले वायु को सम्बोधित कर के कही गई हैं और उस से अगली तीन इन्द्र और वायु को । मन्त्रों की अध्यात्म-परक व्याख्या के अनुसार इन्द्र, जैसा कि, हम आगे देखेंगे, मनःशक्ति का प्रतिनिधि है । ऐन्द्रियिक ज्ञान की साधनभूत शक्तियों के लिये प्रयुक्त होनेवाला ' इंद्रिय ' शब्द इस ' इन्द्र ' के नाम से ही लिया गया है । इस का मुख्य लोक ' स्वः ' है,

इस ' स्वः ' शब्द का अर्थ सूर्य या प्रकाशमान है, यह सूर्यवाची ' सूर ' और ' सूर्य ' का सजातीय है और तीसरी वैदिक व्याहृति तथा तीसरे वैदिक लोक के लिये प्रयुक्त होता है, जो कि, विशुद्ध अन्धकाररहित व अनाच्छादित मन का लोक है। सूर्य द्योतक है, ' ऋतम् ' के, उस प्रकाश का जो कि, मन पर उदय होता है, ' स्वः ' मनोमय चेतना का वह लोक है, जो साक्षात् रूप से इस प्रकाश को ग्रहण करता है। दूसरी ओर ' वायु ' का सम्बन्ध हमेशा प्राण-शक्ति या जीवन-शक्ति के साथ है, जो उन सब वातिक क्रियाओं के एक समुदायभूत वात संस्थान को अपना अंश प्रदान करती है, जो कि क्रियायें मनुष्य के अन्दर इन्द्र के द्वारा अधिष्ठित मानसिक शक्तियों का अवलम्ब होती हैं। इन दोनों इन्द्र और वायु के संयोग से ही मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति बनी हुई है। इस सूक्त में इन दोनों देवताओं को निमन्त्रित किया गया है कि, वे आयें और दोनों मिल कर सोम-रस को पीने में हिस्सा लें। यह सोम-रस उस आनन्द की मस्ती का, आत्मा के दिव्य आनन्द का प्रतिनिधि है, जो कि, ' ऋतम् ' या सत्य के बीच में से होकर अतिमानस चेतना से मन में प्रवाहित होता है। अपने इस कथन की पुष्टि में हमें वेद में असंख्यों प्रमाण मिलते हैं, विशेष कर नवम मण्डल में जिस में कि, सोमदेवता को कहे गये सौ से ऊपर सूक्तों का संग्रह है। यदि हम इन व्याख्याओं को स्वीकार कर लें, तो हम आसानी के साथ इस सूक्त को इस के अध्यात्म-परक अर्थ में अनूदित कर सकते हैं।

इन्द्र और वायु, सोम-रस के प्रवाहों के प्रति चेतना में जागृत रहते हैं (चेतथः); अभिप्राय यह कि मनःशक्ति और प्राण-शक्ति को मनुष्य की मनोवृत्ति में एकसाथ कार्य करते हुए, ऊपर से आनेवाले इस आनन्द के, इस अमृत के, इस परम सुख और अमरता के अन्तःप्रवाह के प्रति जागृत होना है। वे उसे मनोमय तथा वातिक शक्तियों की पूर्ण प्रचुरता में अपने अन्दर ग्रहण करती हैं, **' चेतथः सुतानां वाजिनीवसू '** इस प्रकार ग्रहण किया हुआ आनन्द एक नई क्रिया करता है, जो मर्त्य के अन्दर अमर चेतना का सृजन करती है और इन्द्र तथा वायु को निमन्त्रित किया गया है कि, वे आयें और विचार के योगदानद्वारा इन नई क्रियाओं को शीघ्रता के साथ पूर्ण करें, ' **आयातम् उप निष्कृतम् मक्षु धिया** ' (१. २. ६)। क्योंकि ' धी ' है विचार-शक्ति, बुद्धि या समझ। यह (धी) इन्द्र तथा वायु के साहचर्य से द्योतित होनेवाली साधारण मनोवृत्ति के और ' ऋतम् ' या सत्य चेतना के मध्यवर्तिनी है।

ठीक यह प्रसंग है जब कि, वरुण और मित्र बीच में आते हैं और हमारा सन्दर्भ शुरु होता है। अध्यात्म-सम्बन्धी उपर्युक्त सूत्र को बिना पाये इस सूक्त के पहिले हिस्से और अन्तिम हिस्से में परस्परसम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं होता, न ही वरुण-मित्र तथा इन्द्र-वायु इन युगलों में कोई स्पष्ट सम्बन्ध दीखता है। उस सूत्र के पा लेने पर दोनों सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं; वस्तुतः वे एक दूसरे पर आश्रित हैं। क्योंकि सूक्त के पहले भाग का विषय है पहले तो प्राण-शक्तियों की तैयारी, जिनका द्योतक वायु है, जिस अकेले का पहिली तीन ऋचाओं में आह्वान किया गया है, फिर मनोवृत्ति की तैयारी जो कि इन्द्र-वायु के जोड़े से प्रकट की गई है, जिससे कि मनुष्य के अन्दर सत्यचेतना की क्रियायें हो सकें, सूक्त के अन्तिम भाग का विषय है मानसिक वृत्ति पर सत्यकी क्रिया का होना, इस प्रकार जिससे कि बुद्धि पूर्ण हो और क्रिया का रूप व्यापक हो। वरुण और मित्र उन चार देवताओं में से दो हैं, जो कि मनुष्य के मन और स्वभाव में होनेवाली सत्य की इस क्रिया के प्रतिनिधि हैं।

यह वेद की शैली है कि उस में जब कोई इस प्रकार का विचार-संक्रमण होता है- विचार की एक धारा उसमें से विकसित हुई दूसरी धारा में बदल जाती है- तो उनके सम्बन्ध की कड़ी प्रायः इस प्रकार दर्शाई जाती है कि, नई धारा में एक ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द को दुहरा दिया जाता है जो कि पूर्ववर्ती धारा की समाप्ति में पहले भी आ चुका होता है। इस प्रकार यह नियम, जिसे कि कोई ' प्रतिध्वनि द्वारा सूचना देने का नियम ' यह नाम दे सकता है, सूक्तों में व्यापक रूप से पाया जाता है और यह सभी ऋषियों की एकसी पद्धति है। दो धाराओं को जोड़नेवाला शब्द यहां ' धी ' है, जिसका अर्थ है

विचार या बुद्धि। ' धी ' मति से भिन्न है, जो अपेक्षया अधिक साधारण शब्द है। मति शब्द का अर्थ होता है, सामान्यतया मानसिक वृत्ति या मानसिक क्रिया, और यह कभी विचार का, कभी अनुभव का तथा कभी सारी ही मानसिक दशा का निर्देश करता है। ' धी ' है विचारक मन या बुद्धि, बुद्धि (समझ) के रूप में यह जो इसके पास आता है, उसे धारण करती है, प्रत्येक का स्वरूप-निर्धारण करती है और उसे उचित स्थान में रखती है +, अथवा यों कहना चाहिये धी प्रायः बुद्धि के, विशिष्ट विचार या विचारों की क्रिया को निर्दिष्ट करती है। यह विचार ही है, जिसके द्वारा इन्द्र और वायु का आवाहन किया गया है कि वे आकर वातिक (प्राणमय) मनोवृत्ति को पूर्णता प्राप्त कराये। ' **निष्कृतं धिया** ' पर यह उपकरण, विचार स्वयं ऐसा है, जिसे पूर्ण करने की, समृद्ध करने की, शुद्ध करने की आवश्यकता है, इससे पहिले कि मन सत्यचेतना के साथ निर्बाध संसर्ग करने के योग्य हो सके। इसलिये वरुण और मित्र का जो कि, सत्य की शक्तियां हैं, इस रूप में आवाहन किया गया है कि, 'एक अत्यधिक प्रकाशमय विचार को पूर्ण करनेवाले' ' **धियं घृताचीं साधन्ता** '।

वेद में यहीं पहले-पहल घृत शब्द आया है, एक प्रकार से परिणत हुवे विशेषण के रूप में आया है और यह अर्थपूर्ण बात है कि, वेद में बुद्धि के लिये प्रयुक्त होनेवाले शब्द ' धी ' का विशेषण होकर यह आया है। दूसरे सन्दर्भों में भी हम इसे सतत रूप से ' मनस् ' ' मनीषा ' शब्दों के साथ सम्बद्ध पाते हैं अथवा उन प्रकरणों में देखते हैं, जहां कि विचार की किसी क्रिया का निर्देश है। ' घृ ' धातु से एक तेज, चमक या प्रचण्ड ताप का विचार प्रकट होता है, वैसा जैसा कि अग्नि का या ग्रीष्मकालीन सूर्य का होता है। इसका अर्थ सिञ्चन या अभ्यंजन भी है, ग्रीक में ' ख्रिओ (Chrio) '। एवं इसका प्रयोग किसी तरल (क्षरित होनेवाले) पदार्थ के लिये हो सकता है, पर मुख्यतया चमकीले, घने द्रव के लिये। तो (इन दो संभावित अर्थों के कारण) घृत शब्द की यह द्वयर्थकता है, जिसका ऋषियों ने यह लाभ उठाया कि बाह्य रूप से तो इस शब्द से यज्ञ में काम आनेवाला घी सूचित हो और आभ्यन्तर रूप में मस्तिष्क-शक्ति, मेधा की समृद्ध और उज्ज्वल अवस्था या क्रिया, जो कि प्रकाशमय विचार का आधार और सार है। इसलिये ' **धियं घृताचीम्** ' से अभिप्राय है बुद्धि जो कि समृद्ध और प्रकाशमय मानसिक क्रिया से भरपूर हो।

वरुण या मित्र की जो कि बुद्धि की इस अवस्था को सिद्ध या परिपूर्ण करते हैं, दो पृथक् पृथक् विशेषणों से विशेषता बताई गई है। मित्र है, ' **पूतदक्ष** ' एक पवित्रीकृत विवेक से युक्त, वरुण ' **रिशादस** ' है, सब हिंसकों या शत्रुओं का विनाश करनेवाला है। वेद में कोई भी विशेषण सिर्फ शोभा के लिये नहीं लगाया जाता। प्रत्येक शब्द कुछ अभिप्राय रखता है, अर्थ में कुछ नई बात जोडता है और जिस वाक्य में यह आता है, उस वाक्य से प्रकट होनेवाले विचार के साथ इस का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दो बाधायें हैं, जो कि बुद्धि को सत्य चेतना का पूर्ण और प्रकाशमय दर्पण बनने से रोकती हैं, पहली तो है विवेक या विवेचना-शक्ति की अपवित्रता, जिस का परिणाम सत्य में गडबडी पड जाना होता है। दूसरे वे अनेक कारण या प्रभाव हैं, जो सत्य के पूर्ण प्रयोग को सीमा में बांधने के द्वारा अथवा इसे व्यक्त करनेवाले विचारों के सम्बन्धों और सामञ्जस्यों को तोड डालने के द्वारा सत्य की वृद्धिमें हस्तक्षेप करते हैं और जो परिणामतः इस प्रकार इस के विषयों में दरिद्रता तथा मिथ्यापन ले आते हैं। जैसे देवता वेद में सत्यचेतना से अवतरित हुई हुई उन सार्वत्रिक शक्तियों के प्रतिनिधि हैं, जो लोकों के सामञ्जस्य का और मनुष्य में उस की वृद्धिशील पूर्णता का निर्माण करती हैं, ठीक वैसे ही इन उद्देश्यों के विरोध में काम करनेवाले प्रभावों का जो प्रतिनिधित्व करती हैं, वे विरोधी शक्तियां ' दस्यु ' और ' वृत्र ' हैं, जो तोडना, सीमित करना, रोक रखना और निषेध करना चाहती हैं। वरुण की वेद में सर्वत्र यह विशेषता दिखलाई गई है कि, वह विशालता तथा पवित्रता की शक्ति है, इसलिये जब वह मनुष्य के अन्दर सत्य जागृत शक्ति के रूप में आकर उपस्थित हो जाता है, तब उस के संस्पर्श से वह सब जो कि, दोष, पाप, बुराई के प्रवेश द्वारा स्वभाव को सीमित करनेवाला और क्षति

+ धातु ' धी ' का अर्थ होता है धारण करना, पा रखना।

पहुंचानेवाला होता है, विनष्ट हो जाता है । वह ' रिशा-दस ' है, शत्रु का, उन सब का जो वृद्धि को रोकना चाहते हैं, विनाश करनेवाला है । मित्र जो कि वरुण की तरह प्रकाश और सत्य की एक शक्ति है, मुख्यतया प्रेम, आल्हाद, सम-स्वरता का द्योतक है, जो कि, वैदिक निश्रेयस ' मयस् ' का आधार हैं । वरुण की पवित्रता के साथ कार्य करता हुआ और उस पवित्रता को विवेक में लाता हुआ, वह विवेक को इस योग्य कर देता है कि, यह सब बेसुरेपन और गडबडी से मुक्त हो जाय, तथा दृढ और प्रकाशमय बुद्धि के सही व्यापार को स्थापित कर सके ।

यह प्रगति सत्य चेतना को, ' ऋतम् ' को मनुष्य की मनोवृत्ति में कार्य करनेयोग्य बना देती है । सत्यरूपी साधन से ' ऋतेन, ' मनुष्य के अन्दर सत्य की क्रिया को बढाते हुवे, ' ऋतावृधा ' सत्य का स्पर्श करते हुए, या सत्य तक पहुंचते हुवे, अभिप्राय यह कि, मनोमय चेतना को सत्य चेतना के साथ सफल संस्पर्श के योग्य और उस सत्य चेतना को अधिगत करनेयोग्य बनाते हुए, ' ऋत-स्पृशा ', मित्र और वरुण विशाल कार्यसाधक संकल्प शक्ति को उपयोग में लाने का मजा लेनेयोग्य होते हैं, ' क्रतुं बृहन्तम् आशाथे '। क्योंकि यह संकल्प ही है, जो कि, आभ्यन्तर यज्ञ का मुख्य कार्य-साधक अंग है, परन्तु संकल्प ऐसा जो कि, सत्य के साथ समस्वर है और इसीलिये जो पवित्रीकृत विवेकद्वारा ठीक मार्ग में प्रवर्तित है । यह संकल्प जितना ही अधिकाधिक सत्य चेतना के विस्तार में प्रवेश करता है, उतना ही वह स्वयं भी विस्तृत और महान् होता जाता है, अपने दृष्टिकोण की सीमाओं से तथा अपनी कार्यसिद्धि में रुकावट डालनेवाली बाधाओं से मुक्त होता जाता है । यह कार्य करता है, " उरौ अनिबाधे " उस विस्तार में जहां कोई भी बाधा या सीमा की दीवार नहीं है ।

इस प्रकार दो अनिवार्य चीजें जिन पर वैदिक ऋषियों ने सदा बल दिया है, प्राप्त हो जाती हैं, प्रकाश और शक्ति, ज्ञान में कार्य करता हुआ सत्य का प्रकाश, ' धियं घृताचीम्,' और कार्यसाधक तथा प्रकाशमय संकल्प में कार्य करती हुई सत्य की ' शक्ति, क्रतुं बृहन्तम् ' । परिणामतः, सूक्त की अन्तिम ऋचा में मित्र और वरुण को अपने सत्य के पूर्ण अर्थ में कार्य करते हुए दर्शाया गया है । ' कवी तुविजाता उरुक्षया ' । हम देख चुके हैं कि, ' कवि ' का अर्थ है, सत्य चेतना से युक्त और दर्शन, अन्तःप्रेरणा, अन्तर्ज्ञान, विवेक की अपनी शक्तियों का उपयोग करनेवाला । ' तुविजाता ' है, " बहुरूपमें उत्पन्न ", क्योंकि ' तुवि ' जिसका मूल अर्थ बल या शक्ति है, फ्रेञ्च शब्द फोर्स (Force) के समान ' बहुत ' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पर देवताओं के उत्पन्न होने का अभिप्राय वेद में हमेशा उन के अभिव्यक्त होने से होता है, इस प्रकार ' तुविजाता ' का अभिप्राय निकलता है, " बहुत प्रकार से अभिव्यक्त हुए हुए ", बहुत से रूपोंमें और बहुतसी क्रियाओं में । ' उरु क्षया ' का अर्थ है, विस्तार में निवास करनेवाले, यह एक ऐसा विचार है, जो वेद में बहुधा आता है, ' उरु ' बृहत् अर्थात् महान् का पर्यायवाची है और यह सत्यचेतना की निःसीम स्वाधीनता को सूचित करता है ।

इस प्रकार ' ऋतम् ' की बढती जाती हुई क्रियाओं का परिणाम हम यह पाते हैं कि, मानवसत्ता में विस्तार और पवित्रताकी, आह्लाद और समस्वरता की शक्तियोंका व्यक्तीकरण होता जाता है, एक ऐसा व्यक्तीकरण जो रूपों में समृद्ध, ' ऋतम् ' की विशालता में प्रतिष्ठित और अतिमानस चेतना की शक्तियों का उपयोग करनेवाला होता है ।

सत्य की शक्तियों का यह व्यक्तीकरण, जिस समय कि वह कार्य कर रहा होता है, विवेक को धारित करता है, या इसे दृढ करता है, ' दक्षं दधाते अपसम् ' । विवेक जो कि अब पवित्र और सुधृत हो गया है, सत्य की शक्ति के रूप में सत्य की भावना में कार्य करता है और विचार तथा संकल्प को उन सब त्रुटियों तथा गडबडियों से मुक्त करता है, जो उन की क्रिया और परिणामों में आनेवाली होती हैं और इस प्रकार इन्द्र और वायु की क्रियाओं की पूर्णता को सिद्ध करता है ।

इस सन्दर्भ के पारिभाषिक शब्दों की हमने जो व्याख्या की है, उसे पुष्ट करने के लिये हम चौथे मण्डल के दसवे सूक्त की एक ऋचा उद्धृत कर सकते हैं ।

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः,
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥
(४.१०.२)

" वस्तुतः तभी, हे अग्ने " तू सुखमय संकल्पका, सिद्ध करनेवाले विवेक का, विशाल सत्य का रथी होता है। " यहां हम वही विचार पाते हैं, जैसा कि प्रथम मण्डल की पहिली ऋचा में, कार्यसाधक संकल्प जो कि, सत्य चेतना का स्वभाव है, ' कविक्रतुः ' और जो इसलिए सुक्तता की एक अवस्था में भलाई को, ' भद्रम् ' को निष्पन्न करता है। ' दक्षस्य साधोः ' इस वाक्यांश में हम दूसरे सूक्त के अन्तिम वाक्यांश, ' दक्षं अपसम् ' का एक मिलता-जुलता रूप तथा स्पष्टीकरण पाते हैं, विवेक जो कि मनुष्य में आन्तरिक कार्य को पूर्ण और सिद्ध करता है। ' बृहत् ' सत्य को हम इन दो क्रियाओं की, बलक्रिया और ज्ञानक्रिया की, संकल्प और विवेक की ' क्रतु ' और ' दक्ष ' की पूर्णावस्था के रूप में पाते हैं।

इस प्रकार से एकसी संज्ञाओं को और एक से विचारों को तथा विचारों के एक से परस्पर संबंध को फिर फिर प्रस्तुत करते हुए वैदिक सूक्त सदा एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। यह सम्भव नहीं हो सकता था, यदि उन का आधार कोई ऐसा सुसम्बद्ध न होता, जिस में इस प्रकार की स्थायी संज्ञाओं जैसे कवि, क्रतु, दक्ष, भद्रम्, ऋतम् आदि के कोई निश्चित ही अर्थ होते हों। स्वयं ऋचाओं की अन्तःसाक्षी ही इस बात को स्थापित कर देती है कि, उनके ये अर्थ अध्यात्मपरक हैं, क्योंकि यदि ऐसा न हो, तो परिभाषायें, संज्ञायें अपने निश्चित महत्त्व को, नियत अर्थ को, और अपने आवश्यक पारस्परिक सम्बन्ध को खो देती हैं, और एक दूसरे के साथ संबद्ध होकर उन का बार बार आना आकस्मिक तथा युक्ति और प्रयोजन से शून्य हो जाता है।

तो हम यह देखते हैं कि, दूसरे सूक्त में हम फिर उन्हीं प्रधान नियामक विचारों को पाते हैं, जिन्हें कि पहले सूक्त में। सब कुछ अतिमानस या सत्य चेतना के उस केन्द्रभूत वैदिक विचार पर आश्रित है, जिसकी ओर क्रमशः पूर्ण होती जाती हुई मानवीय मनोवृत्ति पहुंचने का यत्न करती है, इस रूप में कि, वह परिपूर्णता की ओर और अपने लक्ष्य की ओर जा रही है। प्रथम सूक्त में इसके विषय में केवल इस रूप में कहा गया है कि, वह यज्ञ का लक्ष्य है और अग्नि का विशेष कार्य है। दूसरा सूक्त तैयारी के प्राथमिक कार्य का निर्देश करता है, वह तैयारी जो कि, मनुष्य की साधारण मनोवृत्ति की इन्द्र और वायुद्वारा मित्र और वरुणद्वारा आनंद की शक्ति से और सत्य की प्रगतिशील वृद्धि से होती है।

हम यह पायेंगे कि सारा का सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत रूप से चक्कर काट रहा है, मनुष्य की अपने मन और शरीर में तैयारी और सत्य तथा निश्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अन्दर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।

विवाहसंस्कार में
'देवकामा' ही होना चाहिये।

(लेखक- श्री० पं० श्रीराम कौशिक, हृषीकेश)

कईयों का यह खयाल है कि, संस्कारविधि में 'देवृकामा' पद को पंडितों ने अपनी इच्छा से नहीं रखा, बल्कि श्री स्वामी दयानन्दजी की ही इच्छा से रखा गया है। महाशयजी, जरा ध्यान से देखें।

वैदिक यंत्रालय अजमेर में श्री स्वामिजी के जो कुछ भी ग्रंथ मुद्रित होते हैं, इन समस्त ग्रन्थों में मक्खी के स्थान पर मक्खी ही मारी जाती है। इस की पुष्टि में श्री बाबू गंगा प्रसादजी उपाध्याय एम. ए. प्रयाग व प्रस्तुत प्रधान आर्यप्रतिनिधिसभायुक्तप्रान्त के शब्द मनन करनेयोग्य हैं।

श्री पं० गंगाप्रसादजी की सम्मति।

(१) 'मैं यह नहीं कहता कि, स्वामिजी के भाष्य में 'गलतियां' नहीं हैं, हैं और हो सकती हैं। वह छापे की हों, चाहे लेखकों की और चाहे जल्दी के कारण 'स्वयं उन की भी'।

(२) 'स्वामी दयानन्द के समस्त वैदिक साहित्य के ग्रन्थों की उत्तराधिकारिणी हमारी शिरोमणि 'परोपकारिणी सभा' के मंत्री श्री बाबू हरविलासजी शारदा 'दयानन्द-ग्रन्थमाला' शताब्दिसंस्करण की भूमिका में लिखते हैं, 'स्वामिजीने अपने हाथ से वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें नहीं लिखीं। परन्तु वे उन पंडितों को लिखवाते जाते थे, जो इस काम के लिए नियुक्त थे।'

(३) 'इस के अतिरिक्त शताब्दिसंस्करण की भूमिका को पढने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वेदभाष्य, सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य पुस्तकों के संस्कृत अंशों का हिन्दी अनुवाद और इन के प्रूफों के पढने का काम उन पंडितों पर ही छोड दिया गया था। उन पंडितों ने कहीं कहीं ऐसी ऐसी बातें इन पुस्तकों में भर दी, जो वैदिक शिक्षा के विरुद्ध थीं।'

उपर्युक्त इन संमतियों के विषय में आप स्वयं विचार लें कि, 'देवृकामा' पद को विवाहप्रकरण में उपयोगी समझ कर जानबूझ कर स्वयं श्री स्वामिजी ने रख दिया, अथवा पण्डितों ने ?

जातकर्म में दत्तविधान।

महती आकांक्षाओं के उपरान्त सेठजी के यहां वृद्धावस्था में एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। भगवान् के अनुग्रह से चिरकालीन निराशा आशा में परिणत हो गई, अतएव प्रसन्नता का कोई वारापार न रहा। उक्त मंगल अवसर पर गुरुजी भी 'शतं जीवेम शरदः' शब्दोंद्वारा आशीर्वाद देते देते कहने लगे- सेठजी ! भगवान् ने यह शुभावसर दिखलाया तो अवश्य है, परन्तु यदि 'दैवगति से यह बालक 'मर' जाए, तो मनुमहाराज की आज्ञानुसार वंशवृद्धि के निमित्त किसी अन्य लडके को गोद ले लेना।'

यह सुनते ही, समस्त परिवार क्रोधमें आकर गुरुजी के पीछे पड गया- क्या आप की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है ? जो ऐसे शुभावसर पर, ऐसे अशुभ एवं अमंगलकारी शब्दों का प्रयोग करते, आप को लज्जा नहीं आती ? गुरुजीने बडे शान्त भाव से कहा, सेठजी ! क्रोध करने की बात नहीं, यह तो मानवधर्मशास्त्र का कानून है। लिखावटों तथा प्रतिज्ञाओं में अशुभ एवं अमंगल नहीं देखना चाहिये- सेठजी ने लपककर उत्तर दिया कि, कानून ठीक परन्तु विनियोग गलत है, यहां न लिखावट हो रही है न प्रतिज्ञा ! ! !

इसी प्रकार हमारे कानूनन्दा-महाशय, उपर्युक्त विवाह-संस्कार की बातों में नियोग के उच्चारण को

कानून अशुभ एवं अमंगल नहीं मानते। आप के खयाल में विवाह-संस्कार भी एक 'वसीयत' है। किन्तु यह गलत धारणा है। क्योंकि मनुष्यको अपनी 'जर-खरीद-सम्पत्ति' के उपर पूर्ण रूप से कानूनन् स्वत्व (हकूक) प्राप्त हैं कि, वह अपनी इच्छानुसार अपनी समस्त सम्पत्ति को वसीयतद्वारा चाहे जिस व्यक्ति को दे सकता है। परन्तु आजपर्यंत कोई ऐसा कानून नहीं देखा गया कि, जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने जीवनकाल में यह वसीयत कर दे कि, मेरे नपुंसक होने पर अथवा मेरे मरने के पश्चात् मेरी 'स्त्री' का अमुक व्यक्ति अधिकारी होगा अथवा वह अपनी इच्छा से ही किसी से नियोग अवश्य करायेगी। क्योंकि स्त्री जरखरीद सम्पत्ति नहीं, अतएव अधिकार प्राप्त होने पर भी वह किसी अन्य व्यक्ति को वसीयत नहीं की जा सकती।

जब इस प्रकार की भद्दी तथा अनुचित वसीयत की रजिस्टरी वर्तमान अदालतों में भी कानूनन जायज नहीं, तो फिर भला विवाह-संस्कार जैसे शुभावसर पर 'देवृ-कामा' द्वारा 'दूसरे पति की कामना करनेवाली हो,' ऐसा नियम वेद एवं धार्मिक कानून में क्यों कर उचित हो सकता है? कदापि नहीं।

पतिव्रत-धर्म का आदर्श जीवन।

विवाह तो शुभ मंगलकारी 'विवाह-संस्कार' है, जिस में प्रतिज्ञाद्वारा दोनों वधू-वर जीवनपर्यन्त धार्मिक बंधन में बांधे जाते हैं। जिस में प्रथम कन्यापक्ष की ओर से विष्टर, अर्घ्यादि देकर मधुपर्कद्वारा वर का स्वागत किया जाता है। तदनन्तर गोदान, कन्यादान एवं वस्त्रपरिधानकी विधि करके 'वधू-वर' दोनों गृहाश्रम में प्रवेश करने के निमित्त, अपने इष्ट-मित्र, बंधु-बांधवों के सम्मुख पाणि-ग्रहणद्वारा दृढप्रतिज्ञ करने को विवाहमण्डप में एकत्र हो रहे हैं। 'समञ्जन्तु विश्वेदेवा' इस मंत्र से प्रतिज्ञा प्रारम्भ होती है। इस से पूर्व वधू-वर दोनों जो पृथक्-पृथक् थे, उक्त मंत्र दोनों को जल की तरह समानहृदय एवं परस्पर दृढ प्रेमधारणा करने का उपदेश दे रहा है। अगले मंत्र में दोनों परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं कि, हमारे मन एक दूसरे के अनुकूल हों। तदुपरान्त 'अघोर-चक्षुः' मंत्र में वरद्वारा वधू की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है- हे वरानने! तू सौम्य दृष्टिवाली है, पति का नाश न करनेवाली है, उत्तम मनवाली, कल्याणकारिणी, तेजस्विनी, उत्तम स्वभाववाली, 'वीरसूः' उत्तम वीर पुत्रों की जन्मदात्री, 'देवकामा' देवों की कामना अर्थात् परमात्मा से वीर पुत्रों की कामना करनेवाली सुखकारिणी हो, तथा 'द्विपदे', परिवार के समस्त मनुष्यों को एवं 'चतुष्पदे' गाय आदि पशुओं को सुख देनेवाली हो।

देखो कैसी उत्तम संगति एवं कितना ऊंचा आदर्श उक्त वेदमंत्र में कूट-कूट कर भर दिया है, किन्तु हमारे दुराग्रही कतिपय सज्जनोंने उक्त मंत्र के मंगल प्रसंग उत्तम अर्थ का कैसा अनर्थ किया है कि, इस स्थल पर 'देवृकामा' बनाकर 'देवर की कामना अर्थात् नियोग की इच्छा भी करनेवाली हो,' ऐसा अर्थ कर दिया है। जो प्रसंगवश नितान्त असंगत प्रतीत होता है। मेरे खयाल में शायद ही कोई इस देश से ऐसी सभ्य-समाज होगी, जो उक्त अनर्थकारी एवं लज्जास्पद अर्थ को मानने के लिए उद्यत हो?

स्वामीजीने शुद्ध पद 'देवकामा' ही माना है।

स्वामी दयानन्दने अपनी पुस्तक संस्कारविधि में शुद्ध-पद 'देवकामा' को ही माना है। जिन सज्जनों का यह कहना है कि, श्री स्वामीजीने 'अघोरचक्षुः' वाले मंत्र में शुद्ध पद 'देवृकामा' माना है, उन का यह विचार नितान्त भ्रमात्मक है। देखिये-

१. विवाह आदि संस्कारों के शुभ अवसर पर सर्व स्थानों में प्रत्येक परिवार के मनुष्य मंगल कामना की ही याचना किया करते हैं। क्योंकि विवाह-संस्कार वास्तव में एक 'उत्कृष्ट-धर्म' है। अतएव इस शुभ स्थल पर नियोग का तो प्रकरण ही नहीं आ सकता और नियोग ठहरा एक 'आपत्-धर्म' जो आपत् काल एवं विपदा के समय, आवश्यकता पडने पर कार्यरूप में लाया जा सकता है। तथापि नियोग करना-करवाना मनुष्यों के लिए अनिवार्य रूप से धर्म नहीं समझा गया है।

२. श्री स्वामिजीकृत 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ-प्रकाश' दोनों ग्रंथों के नियोग-प्रकरण में,

अथर्व-वेद के वे दोनों मंत्र कि, जिन में ' देवृकामा ' पद आया है– दिए गए हैं। इन दोनों मंत्रों के अतिरिक्त अन्य कोई भी मंत्र किसी वेद का कि, जिस में 'देवृकामा' पद आया हो– उस स्थान पर नहीं दिया गया। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि, ऋग्वेदादि किसी वेद में भी अन्य कोई मंत्र ' देवृकामा ' पदवाला है ही नहीं। यदि होता, तो उक्त नियोग-प्रकरण में उस ' देवृकामा ' पदवाले मंत्र को अवश्य दिया जाता। अपितु यह ध्रुव-सत्य है कि, ऋग्वेद में ' देवृकामा ' पद है ही नहीं। यदि ऋग्वेद में ' देवृकामा ' पद होता, तो ' ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ-प्रकाश ' दोनों पुस्तकों के उस स्थल पर नियोग की पुष्टि में ' देवृकामा ' वाला ' अघोरचक्षुः ' मंत्र अनिवार्यरूप से दिया जाता। उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि, ऋग्वेद के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्रमें शुद्ध पद ' देवकामा ' ही है, तथा स्वामिजी भी ' देवकामा ' ही मानते थे।

३. स्वामिजीकृत संस्कारविधि में षोडश-संस्कारों का विधान है। वहां पर विवाह-संस्कार एक ' आदर्श ' के रूप में दिया गया है, तथा साथ ही में जिस की विधि भी विस्तारपूर्वक दी गई हैं। किन्तु न तो उस में ' **नियोग-संस्कार** ' का और न **उस की विधि ही** का कुछ उल्लेख है।

४. इसी प्रकार गृह्यसूत्रकारोंने भी '**नियोग-संस्कार**' को नहीं माना और न उन के यहां उस की कोई विधि ही निर्धारित है। अतः स्पष्ट विदित होता है कि, श्री स्वामीजी ने उक्त नियोग-संस्कार को विवाह जैसे शुभस्थल पर अमान्य एवं अमंगल समझ कर संस्कारविधि में भी स्थान नहीं दिया।

५. उपर्युक्त उद्धरणद्वारा अनिवार्यरूप से यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि, ऋग्वेद के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में शुद्ध पद ' देवकामा ' ही है।

अब अन्य प्रकार से भी इसी की और अधिक पुष्टि हो जाती है। देखिये–

संस्कारविधि के विवाहप्रकरण में भी यही ' अघोरचक्षुः ' वाला मन्त्र–कि जिस में शुद्ध पद ' देवकामा ' ही है– दिया गया है, इस मन्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई भी मन्त्र–कि जिस में ' देवकामा ' पद आया हो– नहीं दिया गया। यदि विवाहसंस्कार में दिए गए ' **अघोरचक्षु** ' मन्त्र में ' देवृकामा ' पाठ (जिस के द्वारा प्रस्तुत संस्कारविधि में नियोग सिद्ध किया जा रहा है) होता, तो उक्त नियोग की पुष्टि में, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका तथा सत्यार्थ-प्रकाश के नियोग-प्रकरण में दिए गए अथर्व-वेद के दोनों ' देवृकामा ' वाले मन्त्र संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में भी अवश्य देने चाहिये थे। किंतु श्री स्वामीजीने अपनी दूरदर्शिता से उक्त शुभ-विवाह-संस्कार के अवसर पर ' देवृकामा ' वाले दोनों मन्त्रों को देना उचित ही नहीं समझा!! क्योंकि विवाह एक शुभ-मंगलकारी संस्कार है। उपर्युक्त स्पष्टीकरण से यह अनिवार्य सिद्ध है कि, संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में ऋग्वेद के 'अघोरचक्षुः' वाले मन्त्र में शुद्ध पद ' देवकामा ' ही है और श्री स्वामीजी भी शुद्ध पद ' देवकामा ' को ही मानते थे।

६. समस्त संस्कारों की विधि गृह्यसूत्र एवं श्रौत सूत्रों में ही है। अतः संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में '**साधु भवानास्ताम्**' से लेकर '**ध्रुवमसि**' तक सब से अधिक भाग '**पारस्कर गृह्यसूत्र**' का ही है। इस के बाद ऋग्वेद के मंत्रों का नम्बर आता है। तथा समान ही ' मन्त्र- ब्राह्मण ' का भाग भी है। संस्कारविधिके समस्त विवाह-प्रकरण में, मेरे विचार से तो स्यात् ही एक-दो मन्त्र अथर्ववेद के आए होंगे।

७. प्रस्तुत संस्कारविधिके विवाह-प्रकरण पृष्ठ १३६ से १३८ तक 'क्रमवार' निम्न चार मंत्र दे रखे हैं। (१) '**समञ्जन्तु**' (२) '**यदेषि मनसा**' (३) ' **अघोरचक्षुः** ' (४) ' **तान्‌: पूषा** ' × उक्त चारों मंत्रों का क्रम ऋग्वेदादि में नहीं है। किन्तु उक्त चारों मंत्रों का क्रम जिस प्रकार संस्कारविधि में है, ठीक इसी प्रकार उक्त चारों मन्त्रों का क्रम ' **पारस्कर-गृह्यसूत्र** ' के विवाहप्रकरण में पाया जाता है। अतः स्पष्ट प्रकट है कि, उक्त चारों मन्त्र जो संस्कारविधि में आए हुए हैं, वे सब के सब **पारस्कर गृह्यसूत्र**से ही लिए गए हैं। क्योंकि इन का ' क्रम ' अतिरिक्त पारस्कर गृह्यसूत्र के अन्य किसी भी ग्रन्थों में

× नोट— यह मन्त्र ऋग्वेद मं० १० सू० ८५ में नहीं है।

नहीं पाया जाता ।

अब पाठकवृन्द तनिक विचारें– जब उक्त चारों मंत्रों का क्रम पारस्करगृह्यसूत्र को छोडकर अन्य ऋग्वेदादि किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता, तो अब हम को पारस्करगृह्य-सूत्र की ही शरण लेनी होगी। इस कारण जो अर्थ 'अघोरचक्षु' वाले मन्त्र का गृह्यसूत्रकार करते हैं, वही अर्थ सब को मान्य होना चाहिए। पारस्करगृह्य-सूत्र के 'अघोरचक्षुः' वाले मन्त्र में शुद्ध-पद 'देव-कामा' ही है। इस का अर्थ नीचे दिया जाता है।

"हे कन्ये! त्वं 'अघोरचक्षुः' सौम्यदृष्टिः अपापदृष्टिर्वा 'एधि' भव। तथा 'अपतिघ्नी' अकार्यकरणेन पत्यर्थ-घातिनी तथा मा भव। एतस्मात्संस्कारात्तथा 'पशुभ्यः' पशुवदाश्रितेभ्यः 'शिवा' हितैषिणी, 'च' भव। 'सुमनाः' सुप्रसन्नचित्ता, 'सुवर्चाः' सुप्रभायुक्ता, 'वीरसूः' सुपुत्र-जननी 'देवकामा' देवान् अग्न्यादीन् कामयेत सेवार्थ-मीहते यद्वा देवं देवनं क्रीडां कामयेत, 'स्योनां' सुखवती, नोऽस्माकं, 'शं' सुखहेतुः, 'द्विपदे' मनुष्यवर्गाय मनुष्य-वर्गमुपाकर्तुम्, तथा 'चतुष्पदे' पशुवर्गाय पशुवर्ग-मुपाकर्तुं च, 'शं' सुखहेतुर्भव।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट सिद्ध है कि, संस्कारविधि के विवाहप्रकरणवाले चारों मंत्रों में जो यह 'अघोरचक्षुः' वाला मन्त्र आया है, उस में शुद्ध-पद 'देवकामा' ही है, क्योंकि पारस्कर आदि गृह्यसूत्रमें भी 'देवकामा' ही पाठ है और इसी प्रकार स्वामी दयानन्द शुद्ध पद 'देव-कामा' को ही मानते थे, परन्तु शोक उसके स्थान पर 'देवृकामा' बनाकर– देवर अर्थात् नियोगद्वारा दूसरे पतिकी कामना करनेवाली हो- ऐसा घृणित अर्थ कर दिया गया।

संस्कारविधि पृष्ठ १६४ व १६५ पर विवाह-प्रकरण-समाप्ति के अन्त में ऋग्वेद मं० १०, सू० ८५ के ४३ से ४६ तक चार मन्त्र दिए हैं। (१) 'आ नः प्रजाम्' (२) 'अघोरचक्षुः' (३) 'इमां त्वमिन्द्र' (४) 'सम्राज्ञी श्वशुरे'। जब वर-वधू को लेकर पितृगृह में प्रवेश करता है, उस समय वर-वधू दोनों सभामण्डप में एकत्र होकर उक्त चार मंत्रों से आहुतियां दें, ऐसा उल्लेख है। ऋग्वेद में उक्त-चारों मंत्रों का क्रम भी पाया जाता है। उक्त चारों मंत्रों में वही 'अघोरचक्षुः' वाला मन्त्र भी है। परन्तु संस्कारविधि में इस स्थल पर 'देवकामा' शुद्ध पदके स्थान पर अशुद्ध पद 'देवृकामा' बनाकर देवर की कामना करनेवाली अर्थात् नियोग की भी इच्छा करने-वाली हो–ऐसा अमंगलकारी अर्थ किया गया है। आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० भीमसेनजी तथा राज्यरत्न मास्टर आत्मारामजीने संस्कारविधि की टीका की है, जिस का नाम 'संस्कार-चन्द्रिका' है। उसकी द्वितीया-वृत्ति के पृष्ठ ६१५ पर 'अघोरचक्षु' वाले मन्त्रके विषय में नीचे नोट दिया है– वीरसूर्देवृकामा, वस्तुतः 'देव-कामा' पाठ है, अर्थात् देवताओं की इच्छा करनेवाली। उक्त अर्थ समस्त आर्यजनता को मानना अनिवार्य है, क्योंकि 'देवकामा' की पुष्टि में इस से बढकर अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है?

यदि आप ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५ वें समस्त सूक्त को– कि जिस में केवल ४७ मंत्र ही हैं– आद्योपान्त एक बार पढ जाएं, तो भली प्रकार ज्ञात हो जाएगा कि, उक्त मंत्रों में वर-वधू, दोनों को किस प्रकार परस्पर प्रेम-पूर्वक मिलकर नियमानुसार अपने-अपने कर्तव्यकर्मों का पालन करना चाहिए– इस विषय में कितना उत्कृष्ट उपदेश भरा पडा है। जिस पवित्र समस्त सूक्त में, आदि से अन्त तक सारे ही मंत्र मंगलकारी एवं पवित्रता के द्योतक हों, भला वहां मध्य में 'अघोरचक्षु' वाले ४४ वें मंत्र में शुद्ध-पद 'देवकामा' के स्थान पर 'देवृकामा'– कि जिस के विवाह जैसे शुभावसर पर कितने घृणित एवं अश्लील अर्थ किए गए हैं– किस तरह आ सकता है– एवं शुद्ध पद माना जा सकता है? उक्त विषय की पुष्टि के लिए ८५ वें सूक्त का ४६ वां निम्न मंत्र द्रष्टव्य है।

'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।'

हम यदि उक्त ४६ वें मंत्र पर गम्भीर दृष्टि डालें, तो आश्चर्यचकित होना पडता है कि, उक्त मंत्र में 'देवृषु' शुद्ध-पद के होते हुए भी प्रस्तुत संस्कारविधि में कैसी सुन्दर तथा प्रसंगपूर्ण व्याख्या की गई है। जैसे–

'हे वरानने! तू (श्वशुरे) मेरा पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उसमें प्रीति करके (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाश-वान् चक्रवर्ती राजा की रानी के समान पक्षपात छोड के

प्रवृत्त (भव) हो (श्वश्र्वां) मेरी माता जो कि तेरी सासू है, उसमें प्रेमयुक्त हो के उसी की आज्ञा में (सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशवान (भव) रहा कर। (ननान्दरि) जो मेरी बहन और तेरी ननंद है, उसमें भी (सम्राज्ञी) प्रीतियुक्त और (देवृषु) मेरे भाई जो तेरे देवर और ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ हैं, उनमें भी प्रीति से प्रकाशवान् (अधिमव) अधिकारयुक्त हो अर्थात् सब से अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर।

पाठकवृन्द देखा! उक्त (देवृषु) पद की कैसी सुंदर संगति बैठी है? मेरे भाई जो तेरे देवर-जेठ हैं, उन में भी 'सम्राज्ञी' होकर रहा कर यदि इस स्थल पर श्री स्वामिजी को 'नियोग' सिद्ध करना अभिमत होता, तो 'देवृषु' पद का अर्थ इस प्रकार किया जाता- 'हे वरानने तू नियोगद्वारा जिन-जिन पतियों को प्राप्त होगी, उन-उन में भी सम्राज्ञी बनकर प्रीति से रहना,' किन्तु ऐसा अश्लील अर्थ नहीं किया गया!!! क्योंकि उक्त मंत्र में तो यह दर्शाया गया है कि, तू घर की 'सम्राज्ञी' महारानी है, अतः समस्त परिवार पर नियमपूर्वक शासन करने का तुझे पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त है।

पूर्व तो ऋग्वेद में 'देवृकामा' पद ही नहीं है। जो सज्जन दुराग्रह से ऐसा ही मानते हैं, यदि उन के मन्तव्यानुसार कुछ देर के लिए ऐसा ही मान लिया जाय कि, 'अघोरचक्षुः' वाले मंत्र में 'देवृकामा' ही शुद्ध पाठ है, तो 'देवृषु' पद के समान इस का भी तो प्रकरणानुसार सरल अर्थ, देवर-जेठों की कामना करनेवाली, अर्थात् परिवार में अन्यों के समान देवर-जेठ भी सुखपूर्वक बढते रहें, यह हो सकता है। किन्तु ऐसा पवित्र अर्थ न कर के, देवर के साथ नियोग की कामना करनेवाली हो, ऐसा घृणित अर्थ कैसे शोभा देता है, पाठक स्वयं विचार लें।

पुरानी पीढी के आर्यसामाजिक विद्वान् 'देवकामा' ही को शुद्ध पद मानते थे।

सन १९३८ ईसवी में म० प्यारेलालजी के आक्षेप का उत्तर देते हुए, मैंने लिखा था कि, पूर्व पीढी के प्रमुख विद्वान् श्री पं० भीमसैनजी इटावा, श्री पं० भीमसैनजी आगरा, श्री पं० गणपतिजी शर्मा, श्री पं० तुलसीरामजी स्वामी, श्री पं० मुरारीलालजी, श्री मा० आत्मारामजी, श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द-नित्यानन्दजी प्रभृतियोंने संस्कारविधि में अंकित 'अघोरचक्षुः' वाले मंत्र में 'देवकामा' को ही शुद्ध पाठ मान कर विवाह-संस्कारों में 'देवता अर्थात् विद्वानों की कामना करनेवाली हो,' इस प्रकार का मंगल प्रसंगयुक्त अर्थ किया था, क्योंकि उपरोक्त विद्वानोंके साथ कई स्थानों पर 'वैदिक-विवाह-संस्कारों' में मुझे भी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इन विद्वानों का खयाल था कि, ऋग्वेद के 'अघोरचक्षु' वाले मंत्र में वैदिक-प्रेस की असावधानी से 'देव' के स्थान में 'देवृ' बन गया। पश्चात् संस्कारविधि में भी इसी प्रकार छपता रहा और अर्थों में भी गडबड झाला ही चलता रहा। इस से यह तो स्पष्ट सिद्ध हो ही जाता है कि, पूर्व-विद्वान् शुद्ध पद 'देवकामा' को और अशुद्ध-पद 'देवृकामा' को ही मानते थे।

वर्तमानयुग के आर्यसामाजिक विद्वान् भी 'देवकामा' को ही शुद्ध पद मानते हैं।

१. अजमेर के श्री पं० जयदेवजीने संपूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद किया है। ऋग्वेद के ८५ वे सूक्तवाले 'अघोरचक्षुः' मूल मंत्र में आपने 'देवृकामा' पद ही रखा है। किन्तु नीचे भाष्य में (देव-कामा) शुद्ध-पद देकर 'विद्वानों को वा अपने कान्त पति को सदा चाहनेवाली' ऐसा मंगल प्रसंगानुसार ही अर्थ किया है। यहां पर यह शंका उत्पन्न होती है कि, मूल-मंत्र में फिर 'देवृकामा' कैसे हो गया? इस का निराकरण स्पष्ट है, प्रेस की असावधानी से। क्योंकि 'देव' के वकार में 'ऋकार' लग जाना कोई ऐसी भारी भूल नहीं समझी जाती। पुष्टि के लिए नीचे कोष्ट में 'देवकामा' शुद्ध-पद है ही और अधिक पुष्टि के लिए अर्थ भी प्रसंगवश 'विद्वानों को वा अपने कान्त पति को सदा चाहनेवाली' ऐसा किया हो गया है। यदि यह कहा जाय कि, मूल मंत्र में तो 'देवृकामा' ही पद ठीक है, परन्तु भाष्यमें 'देवकामा' अशुद्ध छप गया। यदि ऐसा ही मान लें कि, भाष्य में 'देवकामा' भूलसे छप गया, किन्तु मूल मंत्र में शुद्धपद 'देवृकामा' ही है। फिर तो इसका अर्थ 'देवरकी कामना

करनेवाली, ऐसा होना चाहिए था ? परन्तु ऐसा अर्थ है नहीं, अतएव ध्रुव-सत्य है, एक तो भाष्य में ' देवकामा ' पद शुद्ध, दूसरे उस का अर्थ भी न्याय-संगत से शुद्ध, तीसरे शुद्धि-पत्र में भी नहीं दिया, चौथे कोई इस विषय का नोट भी नहीं, इन चारों दृढ युक्तियों के होते हुए भी, भला ऐसा कौन विचारवान् पुरुष होगा कि, जो शपथ-पूर्वक यह कहने का साहस करे कि, उक्त दोनों स्थानों में सब अशुद्ध ही छप गया ? वास्तव में यह निर्विवाद सिद्ध है कि, श्री पं० जयदेवजी के ऋग्वेद-अनुवाद के ' अघोर-चक्षुः ' वाले मूल-मंत्र में शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही है। इसी प्रकार से ही श्री पंडितजी भी मानते हैं ।

२. ऋग्वेद का ८५ वां समस्त सूक्त केवल विवाह-संस्कार की उपयोगिता, पवित्रता एवं महत्वता दर्शाने के लिए ही प्रस्तुत है– नियोग की तो यहां गन्ध तक भी नहीं आ सकती– इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर श्री पं० जय-देवजीने ऋग्वेद के ८५ वें समस्त सूक्त में से किसी भी मन्त्र का अर्थ नियोगपरक नहीं किया है और जिन ' सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका आदि पुस्तकों में उक्त सूक्त के एक-दो मंत्रों का नियोगपरक अर्थ किया भी गया है, तथापि उनके विरुद्ध उन–उन मंत्रों का अर्थ भी श्री० पंडितजीने बुद्धिमत्ता के साथ प्रसंगोचित ही किया है । वे मन्त्र नीचे दिए जाते हैं ।

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे "पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।"
" इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि । "

उक्त दोनों मन्त्र ' अघोरचक्षुः ' मन्त्र से पूर्व एवं उत्तर के हैं। पहले मन्त्र के भाग ' **पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः** ' का अर्थ निम्न है ।

(१) सत्यार्थप्रकाश में– चौथे से लेकर ग्यारहवें तक जो नियोग से पति होते हैं, वे मनुष्य नाम से कहाते हैं ।

(२) ऋग्वेदादि– भाष्यभूमिका में– (हे स्त्री चतुर्थ-मारभ्य दशपर्यंतास्तव पतयः ।) अर्थात् चौथे से लेकर दश पर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्य-संज्ञक कहाते हैं ।

दूसरे मन्त्र का भाग– ' **दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि** '

सत्यार्थप्रकाश में– हे स्त्री तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दस सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पति को समझ ।

(२) ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में– [(दशास्याम्) अस्यां विवाहितस्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय नातोऽधिक-मिति (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्री त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्यंतं नियोगं कुरु ।] अर्थात् विवाहित या नियोजित पुरुषों में दस संतान उत्पन्न कर, अधिक नहीं, तथा नियोग में ग्यारह पति तक कर ।

श्री पं० जयदेवजीने अपने ऋग्वेद–भाष्य में उक्त दोनों मंत्रों का अर्थ निम्न प्रकार किया है, जो द्रष्टव्य है ।

१– (तुरीयः) चौथे (ते पतिः) तेरा पालक (मनुष्य-जाः) मनुष्य से उत्पन्न पालक पुरुष है ।

२– (दशपुत्रां आधेहि) दस पुत्रोंका आधान कर और तू (पतिम्) पतिरूप अपने आप को (एकादशं कृधि) पुत्रों के बीच ग्यारहवां बना ।

पाठकवृन्द ! आप स्वयं विचार लें कि, श्री पं० जय-देवजीने उक्त दोनों मंत्रोंका कैसा प्रसंगिक एवं सुमंगलकारी शुद्ध अर्थ किया है कि, जिस से उक्त पंडितजी के आन्त-रिक शुभ–विचारों का पता लगता है । आप विवाह जैसे शुभावसर पर ' नियोग ' का वर्णन करना मनुस्मृति के लेखानुसार अमंगलकारी एवं अशुभ ही समझते थे । अत-एव आप की शुभ भावनाएं यही प्रकट कर रही हैं कि, संस्कारविधि के ' अघोरचक्षु ' वाले मन्त्र में शुद्ध–पद ' देवकामा ' ही होना चाहिए ।

देवृकामा सर्वथा अशुद्ध पद है ।

१– एतद्देशीय प्राचीन समय के हस्तलिखित एवं सुवि-ख्यात संस्थाओं में मुद्रित तथा योरोपीय जरमन आदि देशों में छपे हुए ऋग्वेद–संहिता के ' अघोरचक्षु ' वाले मन्त्र में शुद्ध–पद ' देवकामा ' ही पाया जाता है । ' देवृकामा ' किसी स्थानपर नहीं है ।

२. पारस्कर आदि गृह्यसूत्रों में आए हुए, ' अघोर-चक्षुः ' वाले मंत्र में भी शुद्ध–पद ' **देवकामा** ' ही है, ' देवृकामा ' नहीं है ।

३. प्रस्तुत संस्कारविधि में अंकित ' अघोरचक्षुः ' वाला मंत्र स्वामिजीकृत अन्य सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में नहीं है और अन्य ग्रन्थों के ' नियोग-परक-मंत्र ' संस्कारविधि में नहीं आए हैं। अत. यह निर्विवाद सिद्ध है कि, स्वामिजी ऋग्वेद के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही को मानते थे, ' देवृकामा ' को नहीं माना।

४. श्री पं० जयदेवजीवाले ऋग्वेदभाष्य के ' अघोरचक्षु ' वाले मंत्र में शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही है, ' देवृकामा ' नहीं है।

५. कुछ एक कट्टर आर्यसामाजिक सज्जनों को छोड़कर शेष समस्त आर्यसामाजिक एवं चोटी के वैदिक विद्वानोंने भी ऋग्वेद के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही को माना है, ' देवृकामा ' को नहीं।

६. श्री पं० सातवळेकरजी के शुद्ध ऋग्वेद के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में भी शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही है। अतिरिक्त इस के आपने तो लगभग ऐसे तीस देशी-विदेशी वैदिक विद्वानों एवं संस्थाओं के नाम देकर यह भली भांति प्रमाणित कर दिया है कि, ऋग्वेद के ' अघोरचक्षु ' वाले मंत्र में शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही है। ' देवृकामा ' सर्वथा अशुद्ध-पद है और ऐसा ही समस्त वैदिक विद्वान् मानते हैं।

७. ' संस्कारचन्द्रिका ' के प्रसिद्ध लेखकोंने भी ' देवकामा ' को ही शुद्ध-पद माना है, ' देवृकामा ' को नहीं।

उपर्युक्त प्रत्येक उदाहरण से यह तो निर्विवाद सिद्ध ही हो चुका है कि, ऋग्वेद के ' अघोरचक्षु ' वाले मंत्रमें शुद्ध-पद ' देवकामा ' ही है। ' देवृकामा ' नितान्त अशुद्ध पद है, अतः किसी दशा में भी मान्य नहीं हो सकता।

शिक्षित-समाज में ' देवृकामा ' आदरणीय नहीं।

मेरी समझ में श्री पं० सातवळेकरजीने ' देवकामा ' की सिद्धि में कम से कम जिस कदर प्रमाण दिए हैं, इस से अधिक और क्या दिए जा सकते है ? परन्तु आश्चर्य है कि, वैदिक यन्त्रालयवालोंने संस्कारविधि के शुभ विवाह-प्रकरण में शुद्ध-पद ' देवकामा ' के स्थान पर अशुद्ध-पद ' देवृकामा ' छाप कर ' देवर की कामना अर्थात् नियोग द्वारा दूसरे पति की इच्छा करनेवाली हो, ' ऐसा घृणोत्पादक अर्थ करके, वहां नियोग सिद्ध करनेका जो भरसक प्रयत्न किया है, वह कितना अनर्थकारी एवं भयंकर है, पाठक स्वयं विचार लें।

संसारभर की समस्त मानवजाति की सभासमाजे अर्थात् हिन्दु, मुसलमान, ईसाई आदि तथा कुछ एक कट्टर आर्यसमाजियों को छोड़कर शेष समस्त आर्यसामाजिक महानुभाव विवाह जैसे मंगल अवसर पर उपर्युक्त लज्जास्पद अर्थों को मानने के लिए उद्यत नहीं है। किसी समाज का कोई भी व्यक्ति कि, जिस में कुछ भी सभ्यता एवं जीवन है, ओज एवं पराक्रम है, भरी सभा में समस्त व्यक्तियों के सम्मुख अपनी भावी-पत्नी (कि, जिस का अभी पाणिग्रहण होने का समय भी प्राप्त नहीं हुआ) को संकेतद्वारा यह आदेश करे कि, हे वरानने ! तू अभी से ' देवर की कामना अर्थात् दूसरे पति को वरने की कामना करती रह !

संस्कारविधि में एक ही स्थान पर नहीं, दो स्थानों पर उपर्युक्त अनर्थकारी अर्थ किया गया है। एक तो उस समय कि, जब वर पाणि ग्रहण करने के निमित्त कन्यागृह पर पहुंचता है। वहां वर विवाह-मण्डप में खड़ा होकर अपने सास-श्वसुर साले-साली आदि सम्बन्धियों के सम्मुख कहता है कि, " तू अभी से देवर की कामना करती रह, वैसे ही मैं तेरा पति भी वहां करूंगा ! "

इसी प्रकार उपर्युक्त जातियों की स्त्रियों में, किसी ऐसी स्त्री को यदि हम दीपक लेकर भी खोजना चाहें, तो एक भी ऐसी स्त्री नहीं मिलेगी कि, जो उक्त भ्रष्ट प्रतिज्ञाद्वारा उसी दिन से किसी दूसरे पति को, अपने पवित्र हृदय में स्थान देनेवाली हो। तो फिर अन्य प्रतिष्ठित वंशों के स्त्रियों की तो बात ही क्या ?

श्री पं० बुद्धदेवजी क्या ' देवृकामा ' का समर्थन करना चाहते हैं ?

क्या हमारे मीरपुरीजी बिना किसी सत्य आधार के दुराग्रह से उक्त ' देवृकामा ' को वैदिक-सिद्धांत का रूप देकर केवल समर्थन ही करना चाहते हैं ? परन्तु विचारना तो यह है कि, आप उक्त सिद्धांत को सत्य मान कर स्वयं अपने प्रयोग अर्थात् कार्यरूप में भी ला रहे हैं, अथवा केवलमात्र समर्थन ही करना चाहते हैं ?

वास्तव में यदि मीरपुरीजी, ऋग्वेद के ' अघोरचक्षुः ' वाले मंत्र में आए हुए ' देवकामा ' पद को ही ' शुद्ध-पद ' मानते हैं, तो फिर संस्कारविधि में अंकित ' देवृ-कामा ' ' देवर की कामना करनेवाली हो, ' ऐसे अर्थों को अनिवार्य रूप से सत्य मानना ही पडेगा और साथ ही विवाह जैसे शुभावसर पर आप के मन्तव्यानुसार उपर्युक्त अर्थों के उच्चारण करने में फिर तो किसी प्रकार का दोष मानना उचित ही नहीं है ?

इस में सन्देह नहीं कि, आप को भी अपने जीवनकाल में अन्य आर्य-विद्वानो की तरह प्रतिष्ठित परिवारों के वैदिक विवाह संस्कार कराने का अनेक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ ही होगा। उस शुभ अवसर पर आपने वरसे ' अघोर-चक्षु. ' मंत्र का उच्चारण भी अवश्य कराया ही होगा। यदि वरने लज्जावश उक्त घृणित अर्थों को उपस्थित जनता के समक्ष अपनी भावी पत्नी के प्रति अपने मुख से उच्चारण करना उचित नहीं समझा होगा, तो फिर विवश होकर ' वीरसू देवृकामा ' वीरसन्तानों को उत्पन्न करती हुई, देवर की कामना अर्थात् दूसरे पति की इच्छा करनेवाली भी हो ' ऐसे अर्थों का आप को ही अपने मुखारविन्द से उच्चारण करना पड़ा होगा, या नहीं? अथवा कुल प्रथानुसार अन्य पंडितों की तरह उक्त मंत्र को स्वयं ही उच्चारण कर लिया था ?

यद्यपि आप जैसे बुद्धिमान् प्रकाण्ड-पंडित से ऐसी आशा तो नहीं पडती कि, उपस्थित-शिक्षित-जनता के समक्ष किसी विवाहसंस्कार में अप्रसंगयुक्त अमंगलकारी अर्थों को आपने उच्चारण किया होगा, तथापि यदि कहीं अवसर पडने पर आवेश में आकर कभी उक्त अर्थों की व्याख्या कर भी दी होगी, तो क्या वहां की उपस्थित जनता तथा वधू के माता-पिता आदि सब उपर्युक्त लज्जा-स्पद अर्थों को मूक होकर सुनते रहे ? शान्त बैठे रहे ? और किसी ने चूं तक न की ? बल्कि इस के अलावा आप के प्रति क्या प्रसन्नता ही प्रदर्शित करते रहे ? क्या आप किसी ऐसे आर्य-परिवार का नाम-धाम, पूरा पता देने की कृपा करेंगे ? ताकि हमें यह तो पता चल जाय कि, आर्य-समाज में ऐसे भी सभ्य-परिवार विद्यमान हैं कि, जो जनसमूह से भरी हुई सभा में विवाह जैसे मंगल अवसर पर अपनी पुत्री के प्रति उपर्युक्त घृणित एवं भ्रष्ट आदेशों को मूक बैठे हुए सुनते रहें !

विवाह-संस्कार के शुभावसर पर इन उपस्थित स्त्री-पुरुष, बालकबालिकाओं के हृदय पर, उपर्युक्त इस ' देवृ-कामा ' के भ्रष्ट अर्थों का कितना बुरा-प्रभाव पडेगा, क्या कभी आपने अपने ठंडे दिल से विचारा भी है ? इन प्रौढा-वस्था के व्यक्तियों को जाने दें। परन्तु यह बालक-बालि-काएं कि जिनको दोचार वर्षों के पश्चात् इसी ' स्टेज ' पर होकर गुजराना होगा, वे आप के ' देवर की कामना करनेवाली हो ' इस प्रकार के ' अशुभ आदेश ' को सुन-कर क्या सोचते होंगे ? क्या इसी प्रकार की भ्रष्ट शिक्षा को ' वैदिक-आदर्श विवाह ' कहते हैं ?

ऋग्वेद में ' देवकामा ' ही है।

(लेखक- श्री प० भारद्वाजजी, नडियाद)

ज्यों ही जून मास का ' वैदिक धर्म ' अंक हाथ में आया और उसे खोलकर पढ़ने लगा, तो प्रथम ही एक विवादास्पद लेख कि, जिस में यह बतलाने की चेष्टा की गयी थी ऋग्वेद में १०।८५।४४ में ' देवकामा ' पद है, न कि, ' देवृकामा ' मुझे दीख पडा। बेशक वहां ' देवकामा ' ही है, ' देवृकामा ' नहीं। यही मेरी दृढ धारणा बनी रही है। मैं इस लेख में यह दर्शाना चाहता हूँ कि, इस सूक्त में और विशेष रूप से १०।८५।४४ मंत्र में ' देवृकामा ' पद से ध्वनित कल्पना के लिए सुतरां स्थान नहीं है। मैं इस पर अधिक बल देना चाहता हूँ। श्री पंडित श्री. दा. सातवलेकरजीने ' देवकामा ' पद की पुष्टि करने के लिए विभिन्न तथा अन्यान्य ग्रंथों के आधार

दिये ही हैं। इस सूक्तकी रचना विवाहसंस्कार के लिए ही हुई है और विशेष बात यह है कि, २१ वे से ले अंततक सभी मंत्र इस बात को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं।

इन में से कुछ मंत्र वधू के पिता अथवा पुरोहितने विवाह के प्रारम्भ में या वधू को ससुराल में भेजते समय उच्चारित करने के लिए हैं। उदाहरण के लिए देखिये— संख्या २१-२३, २५; २६, २८-३१; ३३-३५; ३८ और ३९। कुछ मंत्र पति को बोलने चाहिए, जैसे मंत्रसंख्या ३६, ३७, ४०, ४१ और ४३ से स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी भाँति विवाहसंस्कार को संपन्न करने के लिए जो गुरुजन या रिश्तेदार इकट्ठे हो चुके हों, उन्हें भी वधू को आशीर्वाद देते समय कुछ मंत्र पढ लेने चाहिए, जैसे मंत्र २७, ३२, ४२, ४४, ४५, ४६ और ४७। प्रस्तुत चर्चा-विषय की दृष्टि से इन में महत्त्वपूर्ण मंत्र चुनकर थोडे में उन का रहस्य यदि बतलाना हो, तो ऐसा कहा जा सकता है।

पिता का कथन- (त्वा सह पत्या दधामि) मैं तुझे पति के साथ रख देता हूं, पति से संयुक्त कर देता हूँ। (एना पत्या तन्वं संसृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः) तू पतिसे वियुक्त कभी न हो और लोग कहें कि, तू उसी के गृह में वृद्धा बन गयी है। (सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन) इस वधू को देखने के निमित्त इधर आइए और इसे सौभाग्य के लिए आशीर्वाद देकर पश्चात् लौट जाइए।

पति का कथन देखिए- (गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।) हे वधू! सौभाग्य के निमित्त मैं तेरा हाथ पकड लेता हूँ और मेरी तेरे पति की छत्रछाया में तू वृद्धा बनने तक रह। उसी प्रकार (रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्) संपत्ति और संतान के साथ अग्नि इसे मुझे देवे।

वधूपक्ष के गुरुजनों का आशीर्वाद- (दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्।) जो इसका पति बने, वह दीर्घायुष्य पाकर सौ वर्ष तक जीवित रहे। (इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।) तुम इसी लोक में रहो, कभी तुम बिछुडने न पाये, पूर्ण जीवन का उपभोग ले लो और पुत्रों से क्रीडा करते हुए तथा पोतों से प्रसन्न होते हुए तुम अपने ही घर में रहो। (इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि ... ।) हे प्रभो! तू इसे सुसंतानयुक्त तथा अच्छे ऐश्वर्य से संपन्न कर दे और इसके दस पुत्र हों। (सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।) हे कन्ये! तू सास ससुर देवर एवं ननद को अपने गुणों से प्रभावित कर।

वरपक्ष के गुरुजनों की ओर से आशीर्वाद- (अघोर-चक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।) हे वधू! तेरी निगाह शांतता पैदा करनेवाली हो, तू पतिघातिनी न बन, पशुओं के लिए हितप्रद बन और मनमें उत्तम विचार धारण कर, तेजस्विनी बनकर वीर पुत्रों को जन्म देनेहारी तू देवकार्य में निरत हो, हमारे सम्बन्धी लोग तथा पशुसमुदाय के कल्याण को निष्पन्न करनेवाली बन।

यही इन मंत्रों का मर्म है। इनमें अंतिम मंत्र में जो ' न ' पद आया है, उससे तथा ' अपतिघ्नी ' पद से भी यह स्पष्ट होता है कि, वरपक्ष के गुरुजनों के द्वारा यही आशीर्वाद वधू को मिलना है। पति ही स्वयं पत्नी से ऐसा कहे कि, तू पति का घात करनेवाली न बन, अनुचित एवं अनर्थक है। ' नः ' तथा ' पतिघ्नी ' दोनों पदोंपर विचार करने से ऐसा सिद्ध करना कोई कठिन बात नहीं कि, वर के पक्ष में जो बुजुर्ग लोग होते हैं, वे जब आशीर्वाद देते हैं, तब इस मंत्र का उपयोग किया जाता है।

यह मंत्र इस प्रकार वर की ओर से कहने के लिए नहीं है, इसलिए मंत्र की शब्दयोजना पर विचार करने से यह बात ध्यान में आयेगी कि, स्वयं वरही अपने विवाह के अवसर पर अपनी पत्नी से भावी निजी आपत्ति के मौके पर ' देवराचार ' करने को कहे, वैसी स्वतंत्रता दे, ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है। इसके सिवा विवाहसंस्कार की गंभीरता ध्यान में रखते हुए पतिपत्नी

उस समय परस्पर कल्याण के लिए जो धार्मिक तथा नैतिक नियंत्रण डाल देंगे, उनमें 'देवृकामा' बन जाने की अनुमति आशिष्ट लोग दें, यह सुतरां असंभव है।

तीसरी बात यों है कि, विशिष्ट विवाह के अवसर पर वधू तथा वर इस विवाह के सिवा अन्य विवाह कर लिया करें, या नहीं, यह सवाल संपूर्णतया अप्रासंगिक तथा अर्थशून्य है। ध्यानमें रहे कि, यदि इसी वक्त वर अपनी पत्नी को आपत्ति के मौके पर 'देवृकामा' बनने की स्वतंत्रता एवं अनुमति दे दे, तो भला ऐसा उल्लेख वहाँ पर क्यों नहीं पाया जाता कि वधू भी वर को कुछ इसी ढंग की स्वतन्त्रता दे। इतना कहना पर्याप्त नहीं जान पड़ता कि सदैव वर को ही वैसे कहने का अधिकार रहे।

उल्टे अगर हम ऐसा सिद्ध करना चाहें कि, ऋग्वेदीय प्रणाली के अनुसार वधू को भी वैसे कहने की स्वतन्त्रता दी जाती थी, तो 'देवृकामा' इस संशयित पद से सुतरां अधूरी सहायता मिलती है। आगे चलकर यह कठिनाई उठ खड़ी होती है कि, विवाह जैसे गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर जो नियंत्रण तथा बंधन और साथही साथ जो सहूलियतें हों, वे कम से कम सार्वत्रिक स्वरूप की रहनी चाहिएं; पर यहाँ पर यह असम्भव है, क्योंकि विवाहसंस्कार के स्थिर अंग वधू तथा वर हैं। परंतु ऐसा नियम नहीं कि हर वधू को देवर होंगे ही और बहुधा वधुओंके कई देवर रहना भी असाध्य बात नहीं है।

ऐसी दशा में वधू कैसे 'देवृकामा' बन जाय, अर्थात् वह किस देवर की कामना करे? इस के लिए पुनः नियम तथा उपनियम रहने चाहिएं। वैसे नियम यहाँ नहीं बताये गये हैं। इस के अतिरिक्त, जिस प्रकार वधू को विवाह के उपरान्त वैवाहिक जीवन बिताते हुए, पति का वध न करने के लिए उपदेश किया है, उसी प्रकार उसी समय उसे 'देवृकामा' बनने के लिए आदेश दिया गया है, ऐसा बतलाना चाहें, तो वह भी उतना ही अयुक्तिक होगा। क्योंकि इन अनेक मंत्रों में वधू से विवाहोत्तर वैवाहिक जीवन में आशीर्वाद रूप से जो आकांक्षाएँ व्यक्त हुई हैं, वे सभी उस विशिष्ट ब्याह के उपरान्त के वैवाहिक जीवनकाल में एक ही समय क्रियान्वित होनेवाली हैं।

अंत में मैं यह कहना चाहता हूँ कि, विशिष्ट सूक्त के विवाहमंत्र ब्याह जैसे स्थिर, मंगल, यौवनयुक्त एवं आशामय अवसर पर उच्चारित करनेके लिए रचे गये हैं, न कि, वृद्ध विवाह के समय अथवा रणांगण में जीवनका बलिदान देने के लिए प्रस्थान करनेके पहले किसी कारणवश निष्पादित उतावले विवाह के मौके पर करनेयोग्य मृत्युपत्र या वसीहतनामा के मंत्र हैं। इसी कारण उस मंगल अवसर पर पति पत्नीसे कहे कि, 'मेरी अनुपस्थितिमें या वैवाहिक जीवनार्थ मेरी निरुपयोगिता सिद्ध होनेपर 'देवराचार' करने के लिए स्वतंत्र है।' नितांत असम्भव है। अतः इस अर्थवाला 'देवृकामा' पद ऋग्वेद में हो ही नहीं सकता।

वेद देव-दत्त हों या न हों, पर उन के मानवकृत होने पर भी किसी भी प्राचीन या आर्वाचीन पाणिग्रहण के मौके पर इस प्रकार की अभद्र वाणी पत्नी के कानों पर डालनेवाला विवाहसंस्कार संसारके अत्यन्त पिछडे हुए मानवसमुदाय में पूर्व या पश्चिम भूविभाग में नहीं दिखाई पड़ता है। तो फिर वह ऋग्वेद में होगा, ऐसा मिथ्या भ्रांतिवश क्यों मानें? भविष्य काल पर कोई अपना अधिकार प्रस्थापित नहीं कर सकता। पर अति आधुनिक एवं पाश्चिमात्य प्रणाली के अनुसार देखें, तो भी विवाह के पश्चात् वधू के स्वास्थ्य के लिए वर अपने जीवन का बीमा उतार दे, तो कुछ हर्ज नहीं, किंतु दशपुत्रयुक्त होने के लिए वधू को जो सहूलियतें या रियायतें मिलनी चाहिए, उन के लिए वर इस भाँति आयोजना कर लेने पर तैयार हो ऐसा कहीं भी नहीं दीख पड़ता है।

" तुम में बिछोह न हो, अपने मकान में रहो, तेरा पति सौ वर्ष जीवित रहे, तुम पूर्ण आयु को प्राप्त करो और पुत्रपौत्रोंसहित आनन्दपूर्वक रहो।"
इस आशीर्वादमंत्र में 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' आदि भयावह धारणाओं को जगह ही नहीं और इस अंतर्गत स्वसंगति की दृष्टि से इस विशिष्ट मंत्र में 'देवृकामा' पद अतीव असंबद्ध एवं निरर्थक है।

इस दृष्टि से देखने पर १०-८५-४४ में 'देवृकामा' पद अवश्यमेव नहीं है, अपितु 'देवकामा' पद ही उद्दिष्ट है।

अद्भुत भविष्यवाणी !

सन् १५५५ ई० में नोस्त्रदामसने एक पुस्तक प्रसिद्ध की थी, जिसका शीर्षक था, ' माइकेल डी नोस्त्रदामस की शताब्दियाँ और सच्ची भविष्यवाणियाँ ' और जिसमें आश्चर्यजनक भविष्यकथनों का संग्रह था। The News Review नामक एक नियतकालिक में उसका संक्षिप्त विवरण दिया है। आधुनिक विश्वव्यापी महासमर के सम्बन्ध में इसमें यों कहा है—

" १९४० में हमारे सम्मुख एक भीषण संकटपूर्ण दशा उपस्थित होगी, जो १९४४ तक प्रचलित होगी। इसी काल में अनेक शासन संस्थाएँ मटियामेट हो जायेंगी और विशेष रूप से फ्रान्स में अवस्थित सरकार को भीषण क्षति उठानी पड़ेगी। १९४० में योरोप रणचण्डी की रंगभूमि में परिवर्तित बन जायगा। जर्मनी एवं इटली में अधिनायकों या तानाशाहों का शासन प्रस्थापित होगा। फ्रान्स शत्रु-दल से परास्त हो विरोधियों के चँगुल में फँस जायेगा "।

इस द्रष्टा के सम्बन्ध में उक्त मासिक पत्रमें यह जानकारी दी गयी है। फ्रान्स के सेंट रेमी नामक स्थान में नोस्त्रदामस का जन्म १५०३ ई. स. के दिसेंबर मास के १३ वे दिनांक को हुआ। इनके मातापिता फ्रेंच-यहुदी वंश के थे। लड़कपन से ही विज्ञान, दर्शन एवं वैद्यकशास्त्र में ये दिलचस्पी लेने लगे। वैद्य की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त शीघ्र ही प्लेग का बड़ा भारी प्रकोप हुआ और इन्हें पर्याप्त ख्याति मिल गयी। इनका दावा था कि, उस भीषण रोग से छुटकारा पाने का उपाय इन्हें विदित था, पर इन की मृत्यु के उपरान्त वह सुगुप्त उपाय विलुप्त हुआ।

मिलन नामक नगर में सर्वप्रथम इन्होंने अपनी प्रेक्षणीय भविष्यवाणी के कथन का सूत्रपात किया। एक दिन ये नगरी में संचार कर रहे थे कि, एक भिक्षुओं का दल इनके सम्मुख आ उपस्थित हुआ। उस दल में (Felix Peretti) फेलीपेरेत्ती नामक एक युवक संन्यासी था। वह निर्धन मातापिता का पुत्र था और उस समय उसे तनिक भी प्रसिद्धि नहीं मिली थी। नोस्त्रदामस के साथियों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, जब वे तुरन्त उस अज्ञात युवक संन्यासी के पैरोंपर पड़कर बड़े आदर से अभिवादन करने लगे। जब उन से प्रश्न किया गया कि, एक साधारण व्रतीके लिए इयने ऐसा महान् आदर क्योंकर दर्शाया, तो उत्तर मिला ' मैंने भावी पोपमहोदय को प्रणाम किया है।' प्रेक्षक एवं अन्य उपस्थित लोगोंकी राय हुई कि, वे पागल हो, ऐसी बातें कर रहे हैं। पर १५८५ में पंचम सेक्टस पोपके नाते (Peretti) पेरेत्ती की प्रस्थापना हुई।

अन्य बातों में उन्होंने एक भविष्यवाणी की थी, जो अन्त में सत्य ठहरी और वह थी, १५८८ में स्पैनिश जंगी जहाजी बेडे का विनाश। दूसरी भविष्यवाणी जिसने सूचना दी थी कि, इंग्लैंड का एक राजा (प्रथम चार्लस) ' लण्डन सीनेट ' द्वारा मृत्युदण्ड को प्राप्त करेगा।

असन्देह नोस्त्रदामसने भूलें की हैं, परन्तु हैं वे बहुत ही अल्प एवं क्वचित् पाये जानेवाले। गलतियाँ छोटी स्वरूप की हैं, ऐसा प्रतीत होने में कोई देरी नहीं लगती है। उदाहरणार्थ, उन की यह भविष्यवाणी कि अगस्त १९३९ में वर्तमान महासंग्राम का सूत्रपात होगा, कुछ ही दिनों से न्यून है। उन का यह भविष्यकथन भी अशुद्ध था कि, १९४० में स्विट्झरलंड की राह से फ्रांस पर धावा किया जायगा और जिस जर्मन तानाशाह की बदौलत समूचे योरप में रणचंडी का ताण्डव नृत्य शुरू होगा, उस को उन्होंने ' हिस्टर ' (Hister) नाम दिया है। वास्तव में यह ' हिटलर ' है।

वर्तमान महायुद्ध १९४४ में समाप्त होगा, पर १९४५में पुनरपि फ्रांस एवं इटलीके मध्य युद्ध छिड जायगा। इस अवसर पर फ्रांस का नेता नूतन एवं प्रभावशाली नरेश होगा और इन्हींकी तेजस्विताके फलस्वरूप फ्रांस इटलीको परास्त कर देगा। फ्रांसकी सीमा राइन नदीतक विस्तृत हो जायगी और वह इटली एवं स्पेन पर शासन प्रस्थापित करेगा।

१५६६ ई. स. में जोलाई मास में रात्रि के समय उन्होंने अंतिम भविष्यवाणी की। अपने सेवकसे, जिसने रात्री के समय प्रातःकाल तक ' शुभरात्री ' की आकांक्षा प्रकटकी, उन्होंने कहा 'नहीं जी, सूर्योदयके समय मैं यहाँ न रहूँगा।' उसी रात्रिको निद्रामें शरीर का त्याग किया।

रामायण से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

(लेखक- श्री० गणेश अनंत धारेश्वर, बी. ए., भूतपर्व संस्कृत उपाध्याय, उस्मानिया विश्वविद्यालय)

(अनुवादक- श्री० द० ग० धारेश्वर, बी. ए.)

महर्षि वाल्मीकिविरचित रामायण नामक महाकाव्य को अब संपूर्ण संसार में ख्याति मिल चुकी है और यह सीमित एवं स्थानिक क्षेत्र से ऊपर उठ कर संसार भर में मान्यता प्राप्त कर सका है। निस्सन्देह इस में विश्वख्याति पाने की क्षमता पूर्ण रूपेण विद्यमान है। जो इनेगिने ग्रन्थ समूचे मानवी जगत् की साधारण सम्पत्ति बन जाने की योग्यता रखते हों, उन की माला में इस काव्य को प्रमुख एवं सर्वोपरि स्थान मिल गया है, जो कि सर्वथैव उचित है। हम भारतीयों को इस बात पर साभिमान गर्व होना चाहिए कि एक भारतीय कवि जो वन्य दशा में जीवन बिताने का आदी था और कुछ काल तक जिसने लूटखसोट का कार्य किया था, वही अन्त में विश्वविख्यात बननेमें सफलता प्राप्त कर सका! वही वाल्मीकि, जो कुछ समय तक डाकुओंका सर्दार रह चुका था, आगे चल कर विश्व के महान् कवियों में परिगणित बन गया! यह कैसे संभव हुआ? सचमुच रामायण में अन्तर्गत महान् गुण रहने चाहिए, जिन के फलस्वरूप विश्व के अक्षर साहित्य में इसे सर्वोपरि स्थान मिल चुका है।

भारतीय बन्धुओं! तुम में से एक नगण्य एवं तुच्छातितुच्छ व्यक्ति, व्याध के रूप में वननिवासी, डाकू एवं हत्यारा जिस से सभी भय व्याकुल हो उठते थे, आज विश्व के एक महान् कवि, ऋषि तथा मानवजाति के शिक्षक के स्वरूप में तुम्हारे सामने उपस्थित है। तनिक सोचिए तो सही कि तुम्हारे अन्तश्चक्षुओं के सम्मुख भविष्यकालीन प्रगति का क्या ही मनोमुग्धकारी चित्र यह घटना खींच देती है? यदि यह घटना तुम में विद्यमान नगण्य व्यक्ति को भी अपने अन्य भाइयों तथा अपनी मातृभूमि की दशा समुन्नत एवं प्रगतिशील करने के हेतु से मनोनीत चेष्टा करने के लिए प्रोत्साहित करने में तथा स्फूर्ति प्रदान करने में पर्याप्त न हो, तो भला और कौनसी घटना यह कार्य कर सकेगी?

निःसंदेह रामायण के गुण भाँति भाँति के एवं महान् हैं। इस की कथा मनोमुग्धकारी, करुणरसपूर्ण तथा दुःखांतिक है और इसमें कई शोकांतिक घटनाएँ बड़ी चतुराई से समाविष्ट करा दी गयी हैं। यह बहुत कुछ सम्भवनीय जान पड़ता है कि प्रायः ग्रंथकर्ता ही का जो प्रारंभिक यौवनकाल दुःखमय दशा में बीत चुका था, उसी से प्रभावित हो कविने रामायणीय कथा में शोकपूर्ण अंश का अत्यधिक मात्रा में उपयोग किया हो। जैसे कवि के जीवन का पूर्वार्ध दैनिक शोकपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण था, जिन में धूर्तता, सतर्कता एवं बर्बरता यथेष्ट मात्रा में पाई जाती थी, उसी प्रकार उन का यह अमर काव्य रामायण भी शोकमय घटनाओं से परिपूर्ण दीख पड़ता है और ये सभी दुःखान्तिक बातें चतुराई से प्रवर्तित कराकर, मोहक ढंग से विन्यस्त कर के सुचारु रूप से समाप्त की हुई हैं।

इस काव्य का प्रारम्भ बड़े ही करुणरसपूर्ण एवं दुःखमय कथावस्तु से हो जाता है। आगे चलकर शोकपूर्ण अंश बराबर निभाया गया है और अन्त भी कई दुःखपूर्ण घटनाओं में होता है। यद्यपि शोकपूर्ण अंश की अत्यधिक मात्रा इसमें पाई जाती है, तिस पर भी इन विभिन्न घटनाओं को इतनी सुन्दरता एवं कुशलता से उचित स्थान पर धर दिया है कि सुरुचिपूर्ण ढंग से रचना करने के कारण प्रमुख कथाका कुतूहल कहीं भी घट नहीं जाता, अपितु अंत तक अधिकाधिक वृद्धिंगत होता हुआ दीख पड़ता है और बीच बीचकी शोकांतिक घटनाएँ इस कौतूहल एवं उत्कंठाको न्यून करने के बजाय तीव्रतम कर देती हैं। इस भाँति विभिन्न तथा परस्परविरोधी घटनाओंके बीच ऐसे सुचारु रूपसे उद्देश्य, रचना तथा उत्कंठामें एकता प्रस्थापित करना वाल्मीकिरचित रामायणको छोड़ शायद ही संसारके साहित्यमें दृष्टिगोचर होता हो।

हमारी राय में रामायण की यही अद्वितीय विशेषता

इसे एक अत्युच्च अ-क्षर ग्रन्थ के रूप में विश्व के सम्मुख रखने में कारणीभूत हुई है। इसके अतिरिक्त, रामायण में दुःखपूर्ण अंश की अत्यधिक उपलब्धि के कारण इसमें मानवता की वास्तविक झाँकी देखने मिलती है। क्योंकि मानव के अंतस्तल को छूकर आन्दोलित, उद्दीपित, प्रभावित एवं द्रवित करने के लिए, मानवसुलभ उत्कंठा को जागृत, तीव्र एवं प्रबल करने के लिए और मानव की सहानुभूतियों को आकर्षित करने के लिए मनुष्य के हुतात्मा बनने या कथा के शोकजनक परिणाम के सिवा दूसरा कोई प्रभावशाली साधन नहीं है।

इतिहास में पग पग पर हमें ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं, जिन से इस कथन की पुष्टि होती है। प्रत्येक आन्दोलन, प्रत्येक हलचल जनता में लोकप्रियता पाने में अधिकतया सफल होती है, यदि यह अपने भीतर विद्यमान शोकपूर्ण तथा दुःखमय अंश को स्पष्टतया दिखा सके। ऐसा कहना शायद वास्तविकता के दायरे से बाहर नहीं होगा कि, किसी भी आन्दोलन की सफलता उससे प्रवर्तित दुःख-सहिष्णुता, आत्मत्याग, शत्रुदल का किया हुआ विरोध तथा हुतात्मा बन जाने की मनोवृत्ति की अधिक मात्रा पर निर्भर है। एशिया महाद्वीपभर बुद्धप्रवर्तित धर्म का जो विशाल प्रसार हुआ, उस की जड में बुद्ध के महान् आत्म-त्याग तथा विलास-त्याग के कारण उत्पन्न गंभीर एवं दिल दहलानेवाला व्यापक प्रभाव ही था। सुकरात के हुतात्मा बन जाने से पाश्चात्य देशों में दर्शन के प्रसार को अधिक सहायता मिली।

जीसस खाईष्ट के सूली पर चढ जाने से और उसके पश्चात् ईसाई धर्म का अवलम्ब करनेवालों को प्रारम्भ में घोर यंत्रणा पहुँचाने के कारण ईसाई धर्म का प्रसार अधिकाधिक होने लगा। महंमद का प्रारम्भ में कष्ट सहना तथा शत्रुदल के आक्रमण के कारण भाग जाना और हसन एवं हुसेन का शोकजनक अन्त वास्तव में मुस्लिम संप्रदाय की वृद्धि में सहायक ही ठहरा न कि विरोधक। गैलीलियोसदृश पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों को प्रारंभिक दशामें जो यातनाएँ सहनी पडीं और कष्ट भोगने पडे, उसके फलस्वरूप विज्ञानकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित हुआ और वह अटल तथा सुदृढ नींव पर खडा रहा।

सभी लोग इस बात से परिचित हैं कि किस तरह सिख धर्मानुयायियों को घोर यंत्रणा देने के कारण सिख धर्म क्षात्र धर्म का पृष्ठपोषक बन गया और उसके भक्त वीर एवं सैनिकजाति में परिवर्तित हुए। उसी प्रकार राजपूतों, महाराष्ट्रवीरों, सिक्खों तथा अन्यान्य हिन्दु जाति के वीरों ने जो महान् आत्मबलिदान दे भीषण कष्ट सहे थे, उन्हीं के परिणामस्वरूप आर्यसंस्कृति सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बनी रही। निस्सन्देह ऐसा प्रतिपादन किया जा सकता है कि जिस धर्म के लिए इतने असंख्य महापुरुषों ने जीवित रह तथा कार्य निष्पन्न कर कष्ट झेले और मृत्यु का सहर्ष स्वीकार किया, जिस धर्मने अनगिनती हुतात्माओं, ऋषियों तथा तारकों को उत्पन्न किया, वह मिथ्या एवं निर्जीव होही नहीं सकता। वह तो जीवित तथा सत्यानुप्रणित अवश्यमेव है।

आदि-ब्रह्म-समाजके प्रमुख प्रवर्तक राजा राम मोहनराय के जीवनमें शोकजनक अंशकी कोई कमी नहीं थी, जिसके कारण वह एक महापुरुष माना जाने लगा। उसी प्रकार आर्यसमाज के आंदोलन को अधिक गतिशील बनाने में स्वामी दयानन्द, पं० लेखरामजी, पं० गुरुदत्तजी, स्वामी श्रद्धानन्दजी तथा अन्य अनेक पुरुषों के बलिदान एवं शोकांतिक जीवन तथा मृत्यु से और हंसराजसदृश महात्माओं के असीम तथा अतुल स्वार्थत्याग एवं उमंगने यथेष्ट सहायता पहुँचाई है। ध्यान में रहे कि राजनैतिक विरोध तथा साम्प्रदायिक झगडों तथा ईर्ष्या से आर्यसमाज के प्रचार में कुछ कम सहायता नहीं पहुँचायी गयी थी।

वैसे ही महात्मा गोखले और उन के सहायकों के अपने स्वार्थत्याग के कारण जो कि सहजस्फूर्त था, तथा तिलक, लाजपतराय आदिकों को जिस तीव्र विरोधसे मुठभेड करनी पडी थी, उस की वजह से उन के अनुयायियों की संख्या दिनदूनी रातचौगुनी बढ गयी। अन्य किसी भी कारण से शायद यह संख्यावृद्धि न होने पाती। अन्त में यह भी देखनेयोग्य है कि आधुनिक सभ्यता की वेदी पर संसार के सभ्य तथा सुसंस्कृत राष्ट्र जिस दुःखपूर्ण नाटक का अभिनय करने में लगे हैं, उस से अखिल मानवजाति के अन्तस्तल में कैसी गंभीर खलबली मच रही है, लोगों के दिल कैसे दहल उठे हैं। इस

से हमें यही प्रतीत होता है कि हम ऐसे परिणाम या निर्णय पर पहुंच सकते हैं, किसी भी जीवित एवं सेंद्रिय पदार्थ का न केवल मृत्यु ही अपितु जन्म तथा संवर्धन भी अधिकांशतया शोकमय अंशपर निर्भर है।

अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कुछ अंशतक रामायण महाकाव्य की वर्धमान लोकप्रियता इस में दृश्यमान शोकजनक विषय पर, जो कि आरम्भ से अंत तक ज्यों का त्यों बना रहता है और कुछ अंश तक विभिन्न दुःखोत्पादक घटनाओं के कौशल्यपूर्ण विन्यास में जो कि शोकसूचक दशरथ, रामचंद्र, भरत एवं सीता के चरित्र-चित्रण में दीख पडता है, उस पर निर्भर है। अब इस प्रश्न का कि ' किस प्रमुख गुणविशेष के कारण रामायण इतना लोकप्रिय हो चुका है ? ' यह अप्रत्यक्ष उत्तर मिलता है। न केवल प्रमुख नायक ही अपितु रामायण में अधिकांश में सभी पात्र शोकजनक परिस्थिति में रखे हुए दीख पडते हैं, जिन का सजीव एवं सरल चित्रण पाठक की उत्कण्ठा को अन्ततक अक्षुण्ण बना रखता है। हम फिर दुहराना चाहते हैं कि रामायण के निर्माता एवं कविने अपने जीवन का प्रारम्भिक काल वन्य दशा में बिताया था। अतः रामायणसदृश अति आश्चर्यजनक दुःखान्त महाकाव्य का सृजन हुआ। ×

यदि जनता को विदित हो कि रामायण किन अमोलिक आध्यात्मिक सत्य तत्वों का भी उपदेश देता है, तो रामायण की ख्याति सचमुच अतुलनीय एवं अद्वितीय हो जायगी। हमारा विश्वास है कि रामायण महाकाव्य के लेखन में कवि का यह भी अभिप्राय था कि मानवजाति महान् तथा अत्युच्च एवं दिव्य आध्यात्मिक सचाइयों से परिचित रहे, क्योंकि उसने रामायणमें जिन प्रमुख विभिन्न नामों का प्रयोग किया है, उन से अध्यात्मिक अर्थ सहज ही में निकल सकता है। हमारी तो विनम्र राय ऐसी है कि जो अर्ध ऐतिहासिक दंतकथा एवं प्रकृति की कहानी (Nature—myth) थी, उसे ही कविने महान् एवं सुन्दर आध्यात्मिक आधारशिला दे अत्युत्तम बना डाला है। इस हमारे प्रतिपादन के पुष्ट्यर्थ हम निम्नलिखित विवेचन कर रहे हैं।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

(यजु० ३६)

' हे सर्वशक्तिमान् प्रभो ! हमें ऐसा बल एवं सामर्थ्य दो कि मैं मित्र की निगाह से सब को देखूँ, सभी मुझे मित्रवत् देख लें, हम सभी परस्पर मित्रदृष्टि से अवलोकन करें। '

इस संसारमें हमारे भीतर तथा बाहर अत्यधिक कलह, विरोध एवं दुःख पाया जाता है, अतः हमारे लिए यह सुतरां आवश्यक नहीं कि गहरे व्रणों को अधिकाधिक तीव्र करने के लिए या नये दुःखों का सृजन करने के लिए विशेष रूप से चेष्टा की जाय। क्योंकि भले ही हम आर्य, द्रविड या नीग्रो हों, लेकिन मित्रभाव प्रस्थापित कर सेवाटहल एवं सांत्वना का कार्य हमारे सम्मुख पर्याप्त मात्रा में पडा है। इसलिए यह आवश्यक है कि उपरिलिखित वेदमंत्र में दिये हुए दिव्य आदेश को कार्यरूप में परिणत कर इस सर्वोपरि महान् कर्तव्य की पूर्ति करने के लिए हम अपना समय, साधन एवं उत्साह और यदि हो सके, तो अपनी चतुराई तथा कल्पना को भी व्ययित करने को कटिबद्ध हों।

यह सर्वोच्च एवं सार्वत्रिक वैदिक प्रार्थना स्पष्टतया उद्घोषित करती है कि मानव का प्रमुख कर्तव्य आघातों से व्रण का उत्पादन कर विनाश करना नहीं अपितु मित्रताके भाव प्रस्थापित कर सान्त्वना देकर सुरक्षा का प्रबन्ध करना है, शत्रुदल बनाने के स्थान पर मित्रसंघ की प्रस्थापना करना है और पुरातन दुःखद स्मृतियों एवं व्रणों को गंभीरतम न करके भरसक इन्हें विस्मृति के गर्त में विलुप्त कर डालना है। वेद किसी भी विशिष्ट सम्प्रदाय

× बहुधा ऐसा कहा जाता है कि भारतीयों की मनोवृत्ति दुःखांत रचनाओं से पीछे हटती है या मुँह फेर लेती है। परन्तु रामायण में, जो कि पूर्णतया भारतीय मन एवं मस्तिष्क की उपज है, आदि से ले अन्त तक दुःखांत घटनाओं का एक अविच्छिन्न, अटूट लम्बा ताँतासा देखने मिलता है। वास्तव में भारतीय आशावादिता पर विश्वास रखते हैं और मानते हैं कि अंततोगत्वा सब कुछ ठीक होगा, अतः भारतीय नाटक कभी दुःखान्त नहीं होते हैं।

या पन्थ के नहीं हैं, उल्टे वे तो समूचे संसार के लिए अतएव सार्वत्रिक हैं।

सब को मित्रभाव से देखकर भलाई करने के दिव्य आदेश का जो यथावत् अनुपालन करते हों उन्हें वेद में 'आर्य' नाम दिया गया है जिसका कि अर्थ है उच्च, श्रेष्ठ, उन्नत एवं भव्य। दास या दस्यु नाम उनके लिए प्रयुक्त होता है जो उस दिव्य आज्ञा के विरुद्ध आचरण रख विविध विनाशकारी साधनों से यत्र तत्र विध्वंस का प्रलयकारी दृश्य उपस्थित करते हैं। किसी भी देश में और कहीं भी जो सज्जन, सद्गुणी एवं अच्छे हों वे आर्य कहलायेंगे और जो दुर्गुणी, दुरात्मा, एवं जघन्य प्रकृति के होंगे वे देश-काल-निरपेक्षतया दस्यु या दास नामके पात्र बनेंगे जिसका अर्थ है विनाशकारी।

चूँकि वेद, अन्य सभी पन्थों, सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों के पहले से ही विद्यमान थे अतः उनमें मानव जाति के दोही प्रमुख विभागों के नाम दृष्टिगोचर होते हैं। अर्थात् आर्य (सज्जन, साधु-प्रकृति के) और दास या नीच स्वभाव के दुरात्मा लोग। आधुनिक मानवसमूहों के कोई भी श्रेष्ठ मनोवृत्ति के लोग, भले ही वे मंगोलियन, द्रविड या अन्य किसी वंश के हों, आर्य नाम के पात्र समझने चाहिए और वर्तमान तथाकथित आर्य मानव संघ के जो दुरात्मा तथा दुर्वृत्त हों उन्हें दास या दस्यु कह कर पुकारना अनुचित न होगा।

ऐसी दशा में क्योंकर दक्षिण भारत के एक छोर पर रहनेवाले लोग अपने आपको वैदिक दस्युओं या रामायण-युग के राक्षसों के वंशज मानकर आर्य नाम को ही घृणा की निगाह से देखने लगे ? अच्छा, दूसरा एक उदाहरण लीजिए। एक परमात्मा को उसके विविध गुणों के कारण वेद विभिन्न नामों से पुकारते हैं जैसे, इन्द्र (तेजस्वी), मित्र (सब का दोस्त), वरुण (श्रेष्ठ, सर्वोपरि), शिव (हितकर्ता), विष्णु (सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक), सोम (शांत, आनंदमय) इत्यादि। ये सभी साधारण शब्द हैं और उत्तर कालीन सम्प्रदायों या पंथों से कुछ भी सरोकार नहीं रखते हैं।

ये तो केवल सार्वत्रिक सिद्धांतों एवं विशेषणों का नामनिर्देश करते हैं। अब यदि आधुनिक काल में और वेदों के पश्चात्‌वर्ती काल में भी कुछ विभिन्न पन्थ एवं सम्प्रदाय उठ खड़े हों और केवल अपने आपको ही परमेश्वर के विशेष कृपापात्र समझकर शिव, विष्णु की उपासना करने लगें तथा तीव्र शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध प्रस्थापित कर, जघन्य झगड़ों का सृजन कर संपूर्णतया काल्पनिक एवं मनगढन्त द्वेषपूर्ण कृत्रिम विभिन्नताओं को प्रसूत करें, तो क्या हम वेदों को दूषित समझें ? क्या यह बेहतर न होगा कि, पश्चात्कालिक अज्ञान, दुराग्रह एव मूर्खताको दुर्घटनाओं के लिए उत्तरदायी समझकर सत्य ज्ञान का प्रचार करना प्रारम्भ करें ?

उसी प्रकार, अगर हालही में अकस्मात् मद्र प्रान्त के लोग यह कल्पना करने लगे कि वे उन्हीं के अखंड वंशज हैं जिन्हें वे वेदकालीन दस्यु या राक्षस मानते हों और बाद में कल्पित वैदिक आर्यों के वंशजों से जूझने लगें तथा उन से अयोग्य सम्बन्ध प्रस्थापित करें, हाय ! यह कैसे दुःख की बात है और इस निरी कल्पना प्रसूत एवं सहवासजन्य घटना को क्या कहें ? क्या हम इससे अधिक हितकर, अधिक भव्य तथा कम भयावह ढग से समाज सुधार का समर्थन नहीं कर सकते ? क्योंकर सुधार का पवित्र नाम ऐसी संदिग्ध कार्यप्रणाली के साथ जोड़ दिया जाय ? क्या हम सरल ढंग से अपने घर का सुधार नहीं कर सकते और क्या इसके लिए प्रतिकारोत्सुक तीव्र कल्पना की सहायता से अनावश्यक, हानिकर एव मनगढंत विचारधारा का सृजन करना आवश्यक है ?

यदि हम में अपनी अविकल कल्पनाशक्ति का प्रयोग करने की अदम्य लालसा हो या सृजन शील चिंतन सामर्थ्य को व्ययित करने की इच्छा हो तो यह बडा ही अच्छा होगा कि पुराने दु:खित स्थलों पर मरहमपट्टी करने में ही, न कि उन्हें अधिक गंभीरतम करने में और अपनी प्रबल एवं अतिप्रसवशील भावना से नये दु:खस्थल बनाने में उस अद्भुत सामर्थ्य का सदुपयोग करें।

महान् काव्यमय एवं मनोरम कल्पना प्रसूत विश्व में विहार करने में हम भले ही प्रवृत्त हों पर हमें वेद की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दिलचस्प दिल्लगी के लिए भी हम परमात्मा की वाणी की उपेक्षा न करें क्योंकि शायद वही उपहास दुरात्मा एवं अविचारशील

मानव के हाथ में अति गंभीर तथा अति भीषण द्वेष या मनमुटाव फैलाने का साधन बन जाय। अतः हमें सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए कि किस तरह मित्रता के भाव प्रसृत कर मनोमालिन्य को हटा दे।

यदि हम भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन (या अक्षर, Classical) साहित्य का अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि, भारतीयों की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं, जैसे अति तीव्र आध्यात्मिक मनोवृत्ति या अध्यात्मनिष्ठता; दूसरे दार्शनिकता की ओर झुक जाने की वृत्ति और तीसरी प्रमुखतया काव्यमय मनोरचना। वास्तव में यूं कह सकते है कि, भारतीय जनता के आत्मा, मन तथा शरीर के स्थान में अध्यात्मनिष्ठता, दार्शनिकता तथा काव्यात्मा का सन्निवेश था। दार्शनिकता की तीव्र दृष्टि से उन्होंने प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निगूढ आत्मा को निहार कर उसे सुन्दर काव्यमय वेश में अन्यों के लिए धर दिया।

अतः मैक्समूलर सदृशों ने बिलकुल ही ठीक कह दिया कि भारतीय राष्ट्र सचमुच दार्शनिकों का राष्ट्र है। केवल बाहरी बातों से संतुष्ट रहनेवाले भारतीय आर्य कदापि नहीं थे क्योंकि निरी बाह्यता से मानव को वास्तविक संतोष नहीं प्राप्त होता है क्योंकि मानव सूक्ष्मतर आत्मा ही है। वे तो अति शूर वीर, मौलिकता को ढूंढनेवाले एवं धैर्यसम्पन्न पुरुष थे जो किसी भी वस्तु या समस्या की तह में पहुँच विना, उसकी वास्तविकता, प्रमुखता या मौलिकता को पाये बिना चुप्पी साधनेवाले नहीं थे।

वे जो भी कुछ करते थे, कहते थे या किसी भी वस्तु का उल्लेख करते तो उसमें वे अवश्य ही गंभीर एवं प्रखर आध्यात्मिक तेज की निर्मिति कर सूक्ष्म दार्शनिक अन्तर्दृष्टिकी प्रबल सामर्थ्य को बतलाकर काव्यमय चारुता एवं मनोहारिता से उसे अलंकृत कर देते थे। भारतीय साहित्य पर यदि कोई सरसरी निगाह भी डाल दे तो उसे ज्ञात होगा कि भारतीय आर्योंने जो कुछ भी उनके वंशजों के लिए रख छोडा उसमें वही तेज, बल एवं चारुता विद्यमान है।

व्याकरण, तर्क, गणित सदृश अत्यन्त रूक्ष एवं नीरस विषयों में भी उन्होंने वही जीवन तथा तेज, वही बल एवं रमणीयता दर्शा दी, जो कि इतिहास, कल्पित कथा, अलंकारशास्त्र सदृश ज्ञान के अन्य अधिक रम्य विभागों में दृष्टिगोचर होती है। क्या रामायण और महाभारत इस के अपवाद माने जा सकते हैं? हमारी राय में तो सुतरां नहीं। हमें तो इन दो महाकाव्यों में स्पष्टतया आध्यात्मिक भाव दीख पडते हैं, जो अधिक कालतक अज्ञात एवं अपरिचित नहीं रह सकते हैं।

भारतीय भाषाओं में विख्यात कहावत है, जिस का अभिप्राय है– पत्थर तो एक ही फेंक दो लेकिन ऐसे ढंग से कि, दस आम के फल गिर जायँ। इस का बौद्धिक अर्थ यूं किया जा सकता है कि, गंभीरतम अभिप्राय को व्यक्त करने में न्यून से न्यून शब्दों का चतुराई एवं बुद्धिमानी से प्रयोग करना। वेद से लेकर समूचे भारतीय साहित्य भरमें अल्पाक्षर बह्वर्थकी ओर तीव्र मानसिक झुकाव दीख पडता है, अर्थात् न्यूनतम शब्दों से गम्भीरतम अर्थ का व्यक्तीकरण। ऐसे ही कारण से विख्यात सूत्रमय शैली का उदय हुआ जो कि, भारत की एक विशेषता है और इस तरह की सारमय एवं संक्षिप्त शैली में कई बहुमूल्य ग्रंथ लिखे गये है।

वेद भी वास्तव में इसी भाँति संक्षिप्त ज्ञान एवं बुद्धि का संग्रह है। वैदिक शब्द वाक्य एवं प्रार्थनाएँ आश्चर्यजनक ढंग से गम्भीरतम अभिप्राय को व्यक्त करती हैं। ऋग्वेद का एक मंत्र स्पष्टतया प्रतिपादन करता हैं कि, 'वैदिक शब्द चतुर्विध अर्थों की सूचना देते हैं और ये चार स्तरों के अनुकूल होते हैं, जैसे शारीरिक या भौतिक, इन्द्रिय या भावविषयक, मानसिक और नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक इत्यादि। जो वेदों के सच्चे ज्ञाता हों, वे ही इन चार अर्थों को भली भाँति समझ सकते हैं और साधारण मनुष्य केवल चतुर्थ अर्थात् निम्नतम स्तर याने भौतिक को ही जान सकते है।'

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋ. १।१६४।४५)

इन अति प्राचीन ग्रंथों को छोडकर यदि हम सूत्रकालीन साहित्य पर निगाह डालें, तो वहाँ पर भी हम यही अल्पाक्षर बह्वर्थ, जो बडा अद्भुत है, देखते हैं।

एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। संस्कृत छन्दःशास्त्र से परिचित लोग जानते हैं कि, पिंगलाचार्यने संस्कृतवृत्तों पर सूत्र लिखे थे। पहला ही सूत्र यों है- धी, श्री, स्त्रीम् और इस से तीन प्रकार के अर्थों की सूचना मिलती है। एक छन्दःशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला, दूसरा सामाजिक और तीसरा आध्यात्मिक। पहले अर्थ के अनुसार गीर्वाण छन्दःशास्त्र के मगण की व्याख्या यह सूत्र करता है, अर्थात् वह गण या समूह जिस में तीनों अक्षर दीर्घ हों, एक के पश्चात् एक तीनों अक्षर जहाँ दीर्घ हों, वह मगण कहलाता है।

सूत्र का यह सरल और सद्य-प्रयोजन हुआ, पर इस की ओट में एक स्पष्टरूप से सामाजिक अर्थ भी है, जिस से हमें ज्ञात होता है कि, सुखी बनने के लिए मनुष्य को किस उचित अवसर पर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए, ताकि उस की उत्तरोत्तर उन्नति हो। यह कैसे, सो देखना चाहिए। इस सूत्र में आधा और तीन अक्षर हैं। एक के बाद एक इन अक्षरों को लेकर देखना चाहिए कि, पृथक् एवं मिल कर उन का क्या अर्थ होता हो।

प्रथम अक्षर 'धी' का अर्थ है, कर्म, प्रज्ञा, बुद्धि, विद्या आदि; अर्थात् मानव में विद्यमान शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित कर व्यवहारोपयोगी वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करना। मनुष्य को प्रथम इस ओर ध्यान देना चाहिए। दूसरे अक्षर 'श्री' का अर्थ है, तेज, संपत्ति, समृद्धि इत्यादि, याने तेजस्विता, बल, जायदाद तथा मानसिक आत्मिक एवं भौतिक संपत्ति। दूसरे शब्दों में सूत्र से यह ध्वनित होता है, मानव को धनसंपन्न बनना चाहिए अर्थात् उस की आर्थिक दशा अत्यधिक समाधानकारक रहे। स्पष्ट है कि, धी तथा श्री को पा चुकने पर ही या ज्ञान एवं अर्थ का पर्याप्त उपार्जन कर लेने पर ही मानव विवाहित बनने की ओर ध्यान लगाये। 'स्त्र्' का अर्थ सुख है।

इस भाँति सामाजिक दृष्ट्या देख लेने पर सूत्र से हमें यह उपदेश मिलता है कि, सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए मनुष्य को पर्याप्त ज्ञान, विद्या एवं अर्थोपार्जन कर के ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। पिंगलाचार्यजीने इतने संक्षिप्त एवं सुन्दर ढंग से थोडे अक्षरों में निर्दिष्ट प्रबन्ध को अभागे हिन्दुसमाजने बिल्कुल उलटा कर दिया है, जिस के फलस्वरूप राष्ट्रीय अधःपतन एवं असहाय दशा सभी जगह दिखाई दे रही है।

हिन्दू जाति के आत्मघातक मौर्ख्य से ये कुपरिणाम उसे भोगने पडे हैं। प्रगति का एवं अभ्युदय तथा पुनरुत्थान का मार्ग पिंगलाचार्यजीने थोडे ही अक्षरों की सहायता से बतला दिया है। अन्त में इसी सूत्र से एक आध्यात्मिक अर्थ भी ज्ञात होता है। हाँ, अब यह मान लेना चाहिए कि, धी अक्षर धर्म के लिए, श्री अक्षर अर्थ के लिए, स्त्री अक्षर काम के हेतु और अंतिम अक्षर म् मोक्ष के लिए प्रयुक्त हुए हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चार प्रसिद्ध पुरुषार्थ हैं, जिन की प्राप्ति के लिए मानव इस संसार में अथक परिश्रम करता हुआ पाया जाता है। मानवजाति या तो धर्म या अर्थ के लिए अथवा काम या मोक्षके पीछे पागल हुई सी जान पडती है।

संस्कृत साहित्य के इस तनिक से प्राचीन सूत्रकाल को पीछे रख यदि हम उसके पश्चात्वर्ती (Classical) विभाग पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि, एक सुदीर्घ काव्य उपलब्ध है जिसमें कई सर्ग है। इसका प्रत्येक श्लोक एवं प्रत्येक शब्द इस खूबी से प्रयुक्त हुआ है कि, रामायण एवं महाभारत में वर्णित प्रमुख घटनाओं का चित्रण उसी से हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। इस काव्य का नाम राघवपांडवीयम् है।

क्या पाठकों को अभी संदेह होगा कि, रामायण एवं महाभारत ही इसके अपवाद हैं और आध्यात्मिक सन्देश इनसे प्राप्त नहीं हो सकता है? हमारी तो यह दृढ धारणा है कि, ये दोनो काव्य कला के अत्युच्च आदर्शरूप तथा विख्यात महाकाव्य गंभीर आध्यात्मिक सन्देश की नींव पर निर्मित हुए हैं जिन से यही सिद्ध होता है कि, इनके अति बुद्धिमान निर्माता मानवजाति के अद्भुत आध्यात्मिक रत्नभांडार के (अर्थात् वेद के ही) उत्तराधिकारी थे और इसी वेद से कुछ आध्यात्मिक रत्न चुनकर इन दो महाकाव्यों का सृजन किया।

रामायण से क्या उपदेश मिलता है ?

अब हम इस विस्तृत पर आवश्यक भूमिका के पश्चात् अपने मुख्य विषय की ओर मुडना उचित समझते हैं।

इस अति महान् आध्यात्मिक काव्य के नायक श्रीरामचंद्रजी हैं जो अयोध्याधीश दशरथ भूपाल के पुत्र एवं लंकापति और त्रैलोक्यपीडक रावण के (दशमुख) वधकर्ता हैं। रावण और रामचन्द्रजी के मध्य भीषण समर हुआ था जिसके फलस्वरूप रावण ने हठात् अपहृत सीता रामचन्द्रजी को फिर से प्राप्त हुई और यह रावण दस मुँहवाला बन संसार को कष्ट पहुँचाता था। अब हम यह बतलाने का साहस करते हैं कि, इसका एक आध्यात्मिक अर्थ या अभिप्राय भी है जो कि, मानवजाति के लिए बडा महत्त्वपूर्ण है।

पाठक हमें क्षमा करें यदि हम धृष्टतापूर्वक यह कहना चाहते हैं कि, राम तथा रावण के मध्य यह भीषण संग्राम विश्व के इतिहास में एक बार ही हो चुका, सो बात नहीं अपितु इस संसार में प्रतिपल हर मानव में यह लडाई हो रही है। अयोध्या, जिसे जीत लेना सहज नहीं था और लंका, जो मन में भय पैदा करती है केवल भारत के उत्तर एवं दक्षिण में पाई जाती है सो बात नहीं किन्तु प्रत्येक मनुष्य के शरीर में और बाहर भी उपलब्ध हैं।

अब हम देखेंगे कि यह कैसे हो सकता है? पर ऐसा करने के पहले हम संक्षेप में बतलाना चाहते हैं कि, रामायण जनता के सामने जो शिक्षाप्रद उपदेश या संदेश रखता है उसका स्वरूप क्या है? रामायण सिखाता है कि, मानवी आत्मा का आध्यात्मिक विकास, इन्द्रियों, लालसाओं, मनोवेगों, अहंकार, प्राण, मन और अन्त में मानवी तथा मानवबाह्य समूची प्रकृति पर भी धीरे धीरे विजय पाने से हो सकता है। असंशय, यह महान् आध्यात्मिक पाठ है।

रामायण के विभिन्न अर्थ।

रामायण की कथा के सम्बन्ध में अपनी राय लिख देने के पहले यह बतलाना उचित प्रतीत होता है कि, उस महाकाव्य के बारे में दूसरे क्या सोचते हैं। अतः हम मॅक्डोनेल विरचित संस्कृत-साहित्य के इतिहासमें से निम्न अवतरण दे देते हैं- ' रामायण की कथा के दो विभिन्न विभाग हैं और वे स्पष्ट हैं। पहले विभाग में अयोध्यावस्थित दशरथ नरेश के दरबार में हुई घटनाओं तथा उन के परिणामों का वर्णन है। एक रानी अपने पुत्र को गद्दी पर बिठलाने के लिए किस तरह षड्यंत्र का अवलम्ब करती है इसका विशुद्ध मानवी एवं सहज वर्णन यहाँ पर हमें दीख पडता है। इस कथानक में कोई अद्भुत विलक्षणता नहीं है और कोई दिव्य दन्तकथा की पार्श्वभूमि भी नहीं है।

यदि वृद्ध नरेश की मृत्यु के पश्चात् भरत के लौट आने पर महाकाव्य की समाप्ति हो जाती तो हम इसे ऐतिहासिक गाथा मान सकते थे। कारण यही कि इक्ष्वाकू, दशरथ एवं राम प्रबल तथा प्रसिद्ध नरेशों के नाम थे। ये नाम ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं यद्यपि वहाँ इनका कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है। अब दूसरे विभाग का स्वरूप अत्यन्त ही भिन्न है। दंतकथाओं के आधार पर अवलम्बित हो यह अतीव विलक्षण एवं आश्चर्योत्पादक घटनाओं से परिपूर्ण है। रामायणीय कथा के तात्पर्य के बारे में लासेन महोदय का पुराना सिद्धान्त था कि, आर्यों ने दक्षिण-दिग्विजय के लिए जो पहला कदम उठाया था उसे अलंकारिक रूप में व्यक्त करने के हेतु रामायण का सृजन हुआ था। पर रामने दक्षिण में आर्य-राज्य की प्राणप्रतिष्ठा की हो, ऐसा वर्णन नहीं है और महाकाव्य भर में उनके ऐसे अभिप्राय को तनिक भी निर्देश नहीं है।

वेबर की राय में दक्षिण तथा लंका में आर्यसभ्यता का प्रसार बतलाने के हेतु से रामायण का निर्माण हुआ। पर महाकाव्य में ही ऐसे आलंकारिक या दृष्टान्त के पुष्ट्यर्थ कोई प्रमाण नहीं मिलता है, क्योंकि कहीं भी ऐसा नहीं बतलाया है कि, रामचन्द्रजी के प्रत्याक्रमण के फलस्वरूप दक्षिण की सभ्यता में कोई उथलपुथल या प्रगति हुई हो। स्वयं कवि इस से अधिक कुछ भी नहीं जानता है कि, ब्राह्मणों के कुछ आश्रम दक्षिण में पाये जाते हैं। जाकोबी की इस राय में सचाई का कुछ अंश अधिक दीख पडता है कि, रामायण में दृष्टान्त सुतरां नहीं है, किन्तु वह काव्य भारतीय दंतकथा पर रचा हुआ है। वेद में पाई जानेवाली आसमानी दंतकथा को पार्थिव विक्रांत घटनाओं की कथा में परिवर्तित किया है और यह विकास कोई असाधारण बात नहीं है।

ऋग्वेद में सीता का निर्देश मिलता है, जहाँ पर वह भूमि में हलद्वारा बनायी रेखा के रूप में, जिसे देवता के रूप में आवाहन किया है, दीख पडती है। कुछ गृह्यसूत्रों में भी सीता हल चलायी हुई भूमि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रशंसित बन दृष्टिगोचर होती है। वहाँ पर उस की अत्यधिक सुन्दरता का उल्लेख किया हुआ है और वह इन्द्र या पर्जन्य (वर्षा के देव) की पत्नी बतलायी गयी है। स्वयं रामायण में भी इस उत्पत्ति के चिन्ह पाये जाते हैं, क्योंकि कहा है, जब जनक भूमि में हल चला रहा था, तब सीता पृथ्वीसे ऊपर उठ आयी थी, (बाल० ६६ सर्ग) और अन्त में वह भू-देवी के अंक में बैठ भूमि में विलीन हो जाती है। (उत्तर० ९७) उन के पति रामचंद्रजी इन्द्र के अतिरिक्त और कौन हो सकते हैं ? जब वे राक्षसराज रावण से जूझते हैं, तब अर्थ इतना ही है कि, ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र तथा वृत्र की लडाई ही है।

इस समानता की पुष्टि इस बात से भी होती है कि, रावण के पुत्र का नाम इन्द्रजित था, अर्थात् इन्द्र का विजेता या इन्द्र का शत्रु। यह नाम (इन्द्रशत्रु) वृत्र के लिए भी लागू हो सकता है और ऋग्वेद में इस अर्थ में वृत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। रावण का अतिविख्यात कृत्य अर्थात् सीता को चुरा ले जाना और वृत्र का गौओं को छिपा रखना, जिन्हें इन्द्र पश्चात् पाता है, तुलना करनेयोग्य है। वानरवर हनुमान्, जिस से सीता को पाने में रामचन्द्र को बडी सहायता पहुँची थी, वायु देवता का पुत्र कहा गया है, अतः वह मारुति नाम से विख्यात है। सीता की खोज में वह वायुपथ से सैंकडों मील लाँघता हुआ चला जाता है। प्राय इन्द्र रूप में, वृत्र से लडते समय इन्द्र को मरुतों से सहायता पाने की स्मृति, शेष रही हो। दूसरी ध्यान देनेयोग्य बात है, सरमा शुनी का उल्लेख, जो इन्द्र की दूती बन कर जलसमूह को लाँघ कर गौओं का पता पा लेती है। यही नाम एक राक्षसी का भी था, जो रामायण में बंदिस्थ सीता की सान्त्वना करती हुई दीख पडती है। हनुमान् नाम संस्कृत भाषा का लिया हुआ है, अतः वह अनार्य मूलनिवासियों का नहीं है। चूँकि वर्तमान काल में समूचे भारत में बिखरे हुए ग्रामो के संरक्षक देवता के रूप में मारुति की प्रतिष्ठा हुई है, इसलिए प्रो. जाकोबी के कथन में कि, वह शायद कृषिकर्म से सम्बन्ध रखता हो और वर्षाऋतु का अधिष्ठाता रहा हो, सत्यता की तनिक झाँकी मिलती है। (पृष्ठ ३११-३१३).

उपर्युक्त विवेचन से पता लगा होगा कि, कुछ लोग रामायण में (१) ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख पाते हैं, (२) दृष्टान्त रूप में कथित किस्सा मानते हैं और (३) वैदिक पुरातन गाथा की सूचना समझते हैं। उस अमर महाकाव्य के अभिप्राय के बारे में इन विभिन्न धारणाओं का हम खण्डन करना नहीं चाहते, परन्तु हम पाठकों के सम्मुख हमारी धारणा को रखने की ढिठाई करना चाहते हैं। यह धारणा द्विविध है- एक भौतिक और दूसरी आध्यात्मिक। रामायण का भौतिक अर्थ यों लगाया जा सकता है, सूर्यवंश में उत्पन्न हुआ राम, सूर्यरश्मी या सूर्य की आभा का प्रतिनिधि है और सीता से तात्पर्य अर्थात् ही कृषिकर्म करने के लिए चलाये हल से भूमिपरकी रेखा है।

गर्जना करनेवाला रावण गंभीर ध्वनियुक्त मेघ है, जिस की आकृतियाँ विचित्र बनती रहती हैं, अतएव दशमुख वर्णन उसे लागू पडता है। रावण की पत्नी मंडोदरी मेंडूक है। हनुमान् वायुरूप है। राम तथा सीता के दो पुत्र लव एवं कुश नाम से ही वनस्पति का बोध कराते हैं, यह दृष्टिकोण कल्पित कथा या किस्सेपर (myth) अवलम्बित है। रामायण के सम्बन्ध में इन विभिन्न स्पष्टीकरणों तथा आध्यात्मिक अभिप्राय के मध्य एक बडा उल्लेखनीय विभेद यह है कि, काव्य के कुछ इनेगिने नामों के आधार से ये स्पष्टीकरण किये जाते हैं, लेकिन रामायण के अधिकांश नाम अति सुन्दर ढंग से आध्यात्मिक अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। इसी आध्यात्मिक आशय का अधिक विवेचन अब किया जायगा।

यह अति सुचारुरूप से तथा दृढ भित्ति पर निर्भर रहता हुआ दीख पडेगा, क्योंकि रामायण के कुछ थोडे से शब्दों के यौगिक अर्थ के सहारे नहीं किन्तु सभी महत्वपूर्ण नामों के अर्थ से इस की पुष्टि होती है। इस से कौनसी बात स्पष्ट होती है ? हमारी विनम्र राय है कि, कविने रामायण-काव्य का लेखन प्रमुखतया अनेक महत्व-

पूर्ण आध्यात्मिक सचाइयों का उपदेश देने के लिए ही किया था। यद्यपि साथ ही साथ अर्ध- ऐतिहासिक या गाथात्मक अथवा अन्तरिक्षजन्य दृश्यों एवं विभागों का निर्वहण भी किया था। अतः हमारी धारणा है कि, रामायण एक प्रमुख आध्यात्मिक दृष्टांत है, यद्यपि भले ही यह कुछ ' पुरानी ऐतिहासिक गाथा ' एवं ' वैदिक दन्तकथा ' या ' कृषि कर्म से सम्बद्ध और अंतरिक्षस्थ दृश्य ' पर अवलम्बित हो।

हमारी राय में तो इन्द्र-वृत्र-कलह की गाथा में एक गंभीर आध्यात्मिक अभिप्राय छिपा पडा है यद्यपि बाहर से केवल भौतिक, वायुमंडल एवं कृषिकर्म से सम्बन्ध रखनेवाले दृश्यों का विवेचन प्रतीत होता है। ध्यान में रहे कि, परमात्मा से एकरूप होने के लिए उच्चतम पथ का अनुसरण करते समय मानवी आत्मा को अनेक जघन्य मनोवेगों तथा हीन भावों से पगपगपर जूझना पडता है और इस मुठभेड की कल्पना लादेने के लिए इन्द्रवृत्र-युद्ध अच्छा दृष्टांत है। यहाँ पर ' वेद का शुभ सन्देश ' (Gospel of the Vedas) नामक ग्रन्थमें से निम्न अवतरण लिख देना उचित होगा- ' वेद की प्रमुख विशेषता है कि वह मानव को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाता है, अर्थात् भौतिक से आत्मिक और आत्मिक से परमात्मा तक (जड प्रकृति से परमेश्वर तक) पहुँचाने में सहायता देता है और इस कार्य के लिए वेद में एक विशिष्ट प्रणाली का अनुसरण किया हुआ दीख पडता है।

वह है संक्षिप्त एवं सारभूत, अतः वेद में अग्नि, इन्द्र, मित्र इत्यादि शब्द केवल भौतिक एवं दृश्यमान कार्यकर्ता का ही बोध कराते हों सो बात नहीं अपितु जीव एवं परमात्मा तक को सुझाती हैं। वेद में अग्नि शब्द से न केवल भौतिक आग ही सूचित होती है किन्तु परमात्मा तथा बुद्धिपूर्ण नेतृत्व की ओर भी संकेत किया जाता है। इन्द्र शब्द भी न केवल सूर्य या गर्जन शील मेघ की ओर संकेत करता है किन्तु शक्ति, ओजस्विता, प्रभावोत्पादकता एवं परमात्मा का भी बोध करा देता है। उदाहरणार्थ वेद में जिस इन्द्रवृत्र-युद्ध की कथा का उल्लेख पाया जाता है उस से इन बातों की सूचना मिलती है कि, (१) जड प्रकृति में सूर्य एवं मेघ का दृश्य दीख पडता है, (२) व्यक्ति में विवेक या विचारशक्ति तथा मनोविकार के मध्य प्रतिद्वन्द्विता प्रतिपल मची रहती है। और (३) आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आत्मा एवं अविद्या के बीच संघर्ष या जीव एवं भ्रम अथवा माया के मध्य भिडन्त होती है। महर्षि वाल्मीकि ने अपने अमर काव्य रामायण को (सुख का मार्ग, दिव्य आनन्द का पथ) इस लिए लिखा था कि, व्यष्टि एवं समष्टि में मानवहृदय के अन्दर हरघडी नैतिक एवं आध्यात्मिक संघर्ष जो प्रचलित रहता है उस पर आलोकरेखा पड जाय।

वास्तव में वह सुविख्यात रामरावणयुद्ध एक प्रकार से मानों वेद में वर्णित उस इन्द्रवृत्र-प्रतिद्वन्द्विता का ही कुछ अधिक विस्तृत परिमाण में स्पष्टीकरण या कथन है। इन्द्र का अर्थ है तेजस्वी, ओजस्वी आत्मा और वृत्र से अभिप्राय है विरोधकर्ता, आच्छादक एवं ढकनेवाला। जैसे इन्द्र अर्थात् मानवी जीव या आत्मा को मरुत् सोम आदि सहायता पहुँचाते हैं ताकि वह वृत्र अर्थात् सभी अवांछित मनोभाव, विकार, अभिरुचि एवं अनिष्ट शक्तियों से प्रतिपल सफलतापूर्वक लडता रहे, उसी प्रकार रामचन्द्रजी को भी मारुति अपने सहचरों सहित दशमुख रावण के वध में सहायता पहुँचाता है और वह त्रैलोक्य को डरानेवाला राक्षस कौन है? यह अर्थात् ही विलासिता एवं असीम विषयलिप्सा है जो एकांगी मानसिक एवं शारीरिक शिक्षा तथा विकास से अत्यधिक प्रभावित होने एवं नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को आधुनिक काल में प्रचलित ढंग से लेश मात्र भी महत्त्व न देने के परिणामस्वरूप प्रादुर्भूत होती है।

अयोध्या नगरी का तात्पर्य क्या है?

(व्यक्तिनिष्ठ आध्यात्मिक अनुभव)

महान् आध्यात्मिक सचाइयों के सम्बन्ध में रामायणसे जो सर्वप्रथम शिक्षा हमें मिलती है वह है दसों इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्रस्थापित कर उन्हें वश में रखना। अयोध्या नगरी के नरेश दश-रथ का नाम ही इस बात की सूचना देता है। आगे चलकर हम दर्शायेंगे कि दशरथ नाम ही यह नैतिक या आध्यात्मिक पाठ हमें बतलाने के लिए

पर्याप्त है। पहले हम ' अयोध्या ' शब्द के सम्बन्ध में विचार कर देखेंगे कि, इस से किस बात की सूचना मिलती है। अ-योध्या नाम अत्यन्त प्राचीन एवं वेद में उपलब्ध है। वास्तवमें यह नाम हमें अथर्ववेदमें मिलता है, जो स्पष्ट बतलाता है कि, इसका सचमुच अर्थ क्या है। अथर्ववेद से हम निम्नलिखित मंत्र उद्धृत करते हैं।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ्नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः
पुरुष आ बभूवाँ३ । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः
पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥
(अथर्ववेद १०. २. २८-३३)

अर्थ- (ऊर्ध्व. पुरुषः नु) निश्चय ही ऊँचे पद पर अधिष्ठित यह पुरुष (सर्वा दिशः सृष्टाः) सभी उत्पादित दिशाओं में (तिर्यङ् सृष्टाः नु) तथा जो तिरछे ढंग से उत्पन्न हों, उन में भी (आ बभूव) सपूर्णतया व्याप्त है।

(ब्रह्मणः पुरं) ब्रह्मा की नगरी को, (यस्याः पुरुषः उच्यते) जिस के कारण यह पुरुष कहलाया जाता है, (यः वेद) जो जानता है, (अमृतेन आवृतां) अमरपन से पूर्णतया ढकी हुई, (तां ब्रह्मणः पुरं) उस ब्रह्म की नगरी को (यः वै वेद) जो निश्चयपूर्वक जानता है, (तस्मै) उसे (ब्रह्म च ब्राह्माः च) ब्रह्म एवं उस से सम्बद्ध देवतागण (प्राणं चक्षुः प्रजां ददु.) जीवनशक्ति, दृष्टिशक्ति तथा संतान प्रदान कर चुके हैं।

जिस नगरी के फलस्वरूप पुरुष नाम मिला है, उस ब्रह्म की नगरी को जो जानता है, (तं चक्षुः न वै जहाति) उसे दृष्टिशक्ति सचमुच नहीं छोडती है. (जरसः पुरा प्राणः न) और बुढापे के पूर्व प्राणशक्ति भी नहीं त्याग देती है।

(देवानां पू) देवों की नगरी जो (अष्टाचक्रा नवद्वारा) आठ पहियों तथा नौ दरवाजों से युक्त है, वह (अयोध्या) शत्रुओं द्वारा अप्रधर्षणीय, अजेय एवं जूझने के लिए अयोग्य है, (तस्यां) उस ऐसी प्रसिद्ध नगरी में (स्वर्गः ज्योतिषा आवृतः) दिव्य तथा प्रकाश से चारों ओर घिरा हुआ, (हिरण्ययः कोशः) सुनहला भांडार रखा हुआ है।

(तस्मिन्) उस (त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते) तीन अरों से युक्त और तीन आधारों से अधिष्ठित ऐसे (हिरण्यये कोशे) सुवर्णमय भांडार में ही (यत् आत्मन्वत् यक्षं) जो आत्मशक्ति से युक्त अर्थात् सजीव प्राणी है, (तत् ब्रह्मविदः वै विदु) उसे ब्रह्मसे परिचित लोग अवश्यमेव जान चुके हैं।

(प्र भ्राजमानां) अत्यधिक मात्रा में आभायुक्त, (यशसा संपरीवृतां) यश से इर्दगिर्द घिरी हुई, (हरिणीं हिरण्ययीं) दुःख को हरण करनेवाली तथा स्वर्णसमन्वित (अपराजितां पुरं) और कभी पराये से परास्त न हुई, नगरी में (ब्रह्मा विवेश) ब्रह्म प्रवेश कर चुका है।

तथा और भी यह देख लीजिए—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न
कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरा-
त्मानं धीरमजरं युवानम् ॥
(अथर्व० १०. ८-४३; ४४)

अर्थ- (नवद्वार) नौ दरवाजो से युक्त (त्रिभिः गुणेभिः) तीन गुणों से (आवृतं पुण्डरीकं) पूर्णतया घिरा हुआ, एक कमल पुष्प है, (तस्मिन्) उस में (यत् आत्मन्वत् यक्षं) जो आत्मज्ञान से पूर्ण यक्ष रहता है, (तत् ब्रह्मविदः वै विदुः) उसे ब्रह्मज्ञानी लोग ही निश्चयपूर्वक जान लेते हैं।

(अकामः धीर) निरीह तथा धीरज और दृढता से युक्त (अमृतः स्वयंभूः) अमरपन से विभूषित एवं निजी शक्ति से अपने अस्तित्व को रखनेवाला, (कुतःचन न

ऊनः) कहीं भी, त्रुटि या न्यूनता से दूषित न होता हुआ है, (तं एव धीरं अजरं युवानं) उसी धैर्यवान्, बुढापे से अछूते तथा नवयुवकवत् उमंगभरे को (विद्वान् मृत्यो: न बिभाय) जानता हुआ, मौत के भय से छुटकारा पाता है।

अथर्ववेद के इन उपरिलिखित अवतरणों से हम निम्नलिखित ज्ञातव्य नामों से परिचित हो जाते हैं, जैसे **अपराजिता, अयोध्या, ब्रह्मणः पूः, देवानां पूः, हिरण्ययी पूः, त्रि-अरां, अष्ट-चक्रा, नवद्वारा, हिरण्यय कोश** इत्यादि। इन नामों पर गौर करने से हमें ज्ञात होगा कि, अयोध्या शब्द किस वस्तु का बोध कराने के लिए प्रयुक्त है ? पर इस के पहले यह स्पष्टतया बतलाना ठीक जँचता है कि, ' पुर् ' शब्द से ' पुरुष ' शब्द का क्या सरोकार है। गीर्वाणवाणी में जीवात्मा के लिए ' पुरुष ' शब्द भी प्रयुक्त है। इस शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकारसे की जाती है जैसे, मानवी शरीर एवं अन्तस्तलका सारभूत अंश, जो उसे व्याप्त कर ओजस्वी ढंग से धारणपोषण करता हुआ, आभायुक्त बना डालता है और मानवी शरीर को दृष्टान्तरूप से नगरी, दुर्ग या गढ कहते हैं।

' आत्मा ' शब्द के समान ही ' पुरुष ' शब्द भी जीवात्मा एवम् परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है, क्योंकि शरीर में आत्मा को जो महत्त्व है, वही समूचे विश्व में परमात्मा को प्राप्त है। जैसे व्यक्तिगत आत्मा मानवी शरीर को सजीव एवं आभायुक्त करता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अखिल विश्व में व्याप्त होता हुआ, इस का धारणपोषण कर, इसे अनुप्राणित तथा शासित भी करता है। अतएव दोनों के लिए आत्मा तथा पुरुष शब्द प्रयुक्त होते हैं।

जिसमें आत्मा या पुरुष व्याप्त हो, धारणपोषणादि क्रिया कलाप सुचारु रूपसे निभाता है। उस मानवी शरीर एवम् विश्व को पुर् या नगरी कहते हैं। इसलिए ' **देवानां पूरयोध्या** ' का अर्थ है, देवों की वह नगरी जो जीत लेनेमें, लडनेमें अति दुरूह है, महाकठिन कर्म है। अच्छा, ये देव कौन हैं ? प्रकृति की विविध प्रचण्ड शक्तियाँ, मानवी देह में पाये जानेवाले ज्ञानेन्द्रिय जो प्रकृति में उपलब्ध शक्तियों के प्रतिनिधिरूप हैं, देव ही हैं। वैदिक प्रणाली के अनुसार सूर्य, वायु और अन्यान्य प्राकृतिक शक्तियाँ तथा इन्हीं के अंशरूप नेत्र, नासिका आदि इंद्रियगण ' देव ' शब्द से सूचित किये जाते हैं। अतः यदि हम ' देव ' शब्द से इंद्रियों का बोध प्राप्त करें, तो ' देवानां पूरयोध्या ' का सरल अर्थ मानवी शरीर है। इस अर्थ की पुष्टि ' नवद्वारा ' पदसे होती है जो कि, अति महत्त्वपूर्ण विशेषण है। आँख, कान आदि शरीर के नौ सूराखों की कल्पना इस पद से ध्वनित होती है। अयोध्या एवं अपराजिता दोनों का भावार्थ एक ही है। इस भाँति ऐसा कहा जा सकता है कि, देवतागण का दुर्ग या नगरी ' अयोध्या ' नाम प्रमुखतया मानवी शरीर को ही दिया गया है।

परन्तु यह ब्रह्म का दुर्ग या नगरी क्या है ? इसे जानने के लिए हमें पहले ब्रह्म को जानना चाहिए। निम्नलिखित मंत्र देखनेयोग्य हैं-

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व. १०-८-१)

(ज्येष्ठाय तस्मै) सब से श्रेष्ठ और प्रमुख ऐसे उस (ब्रह्मणे नम) ब्रह्म को अभिवादन हो, (यः भूतं च भव्य च) जो अतीत तथा भविष्यकालीन बातों पर (सर्व च अधितिष्ठति) और समूची घटनाओं पर पूर्णतया प्रभुत्व रखता है, (यस्य च स्वः केवलं) और जिस का अपना निजी तेज अखण्ड एवं अविछिन्न है।

यस्य भूमिःप्रमान्तरिक्षमुतोदरं। दिवं यश्चक्रे
मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र
आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
यः चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३४॥
(अथर्व० १०-७)

" उस सर्वोपरि ब्रह्म के सम्मुख सीस झुकावें (यस्य प्रमा भूमिः) जिस की चरणरेखा भूमि ही है, (उत अंतरिक्षं उदरं) और यह मध्यस्थान जिस के लिए उदरस्थानीय है, (य. दिवं मूर्धानं चक्रे) जो द्युलोक को अपना मस्तक बना चुका है, (सूर्यः यस्य चक्षुः) सूर्य

जिस के नेत्रस्थान में विराजमान है, (नवः चन्द्रमा च पुनः) और नित नया रूप धारण करनेवाला चन्द्रमा भी जिस के लिए आँख है, (यः अग्निं आस्यं चक्रे) जो अग्नि को अपना मुँह बना चुका है, '(वातः यस्य प्राणापानौ) वायु जिस के प्राण एवं अपान का कार्य करता है, (अंगिरसः चक्षुः अभवन्) अंग के सारभूत अंश जिसे दृष्टिशक्ति दे चुके हैं, (यः दिशः प्रज्ञानीः चक्रे) जो दिशाओं को अपने ज्ञानेन्द्रिय बना चुका है। "

इस अवतरण से ज्ञात होता है कि, ब्रह्म वही परमात्मा है, जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सब पर प्रभुत्व एवं शासन करनेवाला, अतएव सर्वोपरि है और यह समूचा विश्व जिसके लिए नगर अथवा दुर्ग का काम दे रहा है। उपर्युक्त मंत्रों में अखिल विश्व को परमात्मा के शरीर के रूप में बतलाया है। वेद के कथनानुसार यह समूचा संसार परमात्मा की ओजस्विता की सुन्दर अभिव्यक्ति ही है। अतः यह जगत् परमेश्वर का मानों शरीर है। वेद का यह मंत्र देखने योग्य है—

रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं१ परि स्वाम् । (ऋ. ३-५३-८)

अर्थ– (मघवा) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (स्वां तन्वं परि) अपने शरीर अर्थात् विश्व में संपूर्णतया (मायाः कृण्वानः) इन्द्रजालवत् आश्चर्यजनक परिवर्तन करता हुआ, (रूपं-रूपं बोभवीति) हरतरह का रूप धारण कर के आभायुक्त बनता है।

बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम् । परि स्पशो निषेदिरे ॥ (ऋ. १-२५-१३)

(हिरण्ययं द्रापिं बिभ्रत्) सुवर्णमय कवच धारण करता हुआ, (वरुणः निर्णिजं वस्त) वरुण चमकीले वस्त्र धारण कर चुका है, (स्पशः परि निषेदिरे) उस के गुप्तचर चारों ओर बैठे हुए हैं।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते। यस्मिन्क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीः ... ...　　(अथर्व. १३-३-१)

(इमे द्यावापृथिवी) इस द्युलोक तथा भूलोक को (यः जजान) जो उत्पन्न कर चुका है, (भुवनानि द्रापिं कृत्वा) विश्व के विभागों को कवच बना कर (यः वस्ते) जो पहनता है, (यस्मिन् उर्वीः षट्) जिस में बडी बडी विशाल छहः (प्रदिशः क्षियन्ति) दिशा-उपदिशाएँ निवास करती हैं। इस भाँति यह जगत् मानों परमेश्वर का " चमकीला वस्त्र या पहनावा " है, यही वरुण याने सर्वोपरि महान् प्रभु का " सुवर्णमय कवच " है। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि, यह सारा दृश्यमान संसार परमात्मा की शक्ति एवं सामर्थ्य का अभिव्यक्त स्वरूप या प्रतीक अथवा प्रकटनप्रकार है। अब हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि, ब्रह्म का किला या नगरी यह समूचा विश्व है और देवताओं की नगरी वा दुर्ग मानवी शरीर ही है। चूँकि मानव का शरीर ही स्वयं एक छोटे से अनुपात में विश्व है, अतः इसे ब्रह्म का दुर्ग या गढ कहा जा सकता है।

अच्छा, अब इस सुदीर्घ चर्चा का निष्कर्ष क्या है ? अयोध्या क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर है, देवतागण या इंद्रियों की नगरी अथवा ब्रह्म का नगर या दुर्ग मानवी देह है, जो एक छोटासा विश्व (The Microcosm) है। हम देख चुके हैं कि, ' अपराजिता ' अर्थात् कभी परास्त न होनेवाली, शिकस्त न खानेवाली, ' पुण्डरीक ' याने कमलपुष्प ऐसे नामों से शरीर का ही उल्लेख किया जाता है। यह आठ चक्रों तथा नौ द्वारों से युक्त है और इस में सौवर्ण भांडार है, अर्थात् मानव का हृदय या अंतःस्तल जो अत्यन्त तेजस्वी, आभामय, सुवर्णनिर्मित दुर्ग अपराजित है, जिस में ब्रह्म का प्रवेश हो चुका है।

इन्द्रियों पर विजयी होना।

अयोध्या का नरेश दशरथ कौन है ?

इतना निश्चित कर चुकने पर कि, अयोध्यानगरी, देवतागण और ब्रह्म की नगरी या दुर्ग के रूप में मानवी शरीर है और अपराजित या ब्रह्म के चमकीले सुवर्णमय गढ से तात्पर्य मानवी हृदय को बतलाना है। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि, वास्तव में अयोध्या का शासक दशरथ कौन है ? इस के लिए हम कठोपनिषद् से एक उत्कृष्ट अवतरण यहाँ पर देते हैं, जिस में जीवात्मा या मानव का विवेक रथी अर्थात् रथपर बैठ यात्रा करनेवाला, ऐसा दर्शाया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥३॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

" तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, जिस पर यात्री के रूप में बैठकर जीवात्मा यात्रा कर रहा है, बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम समझ। विवेकी पुरुष इंद्रियों को घोडे बतलाते हैं, तथा उन के घोडे रूप से कल्पना किये जाने पर विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इंद्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं। "

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

" जो उचित विचारशक्ति एवं विवेक से पथप्रदर्शन नहीं पाता है और जिस का मन सदा असंयत होता है, उस के अधीन इंद्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहतीं, जैसे दुष्ट घोडे सारथी के अधीन नहीं होते हैं। "

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

" पर जो बुद्धिमत्ता से कार्य करता है और सदैव मन को वश में रखता है, विवेकपूर्वक सभी हलचलें करता है, उस के अधीन इंद्रियाँ इस प्रकार रहती हैं, जैसे सारथी के अधीन अच्छे घोडे। "

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥७॥

" जो मानव हमेशा निर्दोष एवं पवित्र रहता है और अपने सारथी तथा पथप्रदर्शक के रूप में बुद्धि एवं सूक्ष्म विवेकशक्ति को तैयार रखता है, जो लगाम के रूप में सुअभ्यस्त एवं वशमें रहनेवाले मनको सुसज्ज रखता है, ऐसा ही पुरुष उस अन्तिम गंतव्य स्थान तक पहुँचता है। "

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८॥

" उसकी यात्रा का अंतिम पडाव निकट आता है, जो अति उच्च कोटि के ब्रह्मानन्द के समकक्ष है। क्योंकि वह व्यापक परमात्माके परम पदको प्राप्त कर लेता है। "

यहाँ पर ऐसी कल्पना की गयी है कि, मानवी शरीर रथ के समान है, जिस में बैठकर जीवात्मा परमात्मामय ध्येय की ओर अग्रसर होता है और उस का सारथी एवं पथप्रदर्शक बुद्धि है, जो मनरूपी लगाम से इंद्रियगण-रूपी घोडों को वश में रख ठीक राहपर से चलाता है। ' रथ ' से अभिप्राय है, रमण-साधन, जिस से आनन्द एवं उपभोग की प्राप्ति हो सके। विभिन्न इंद्रिय जो कि, संख्या में दस हैं, घोडे के रूप में निर्दिष्ट किये हैं और यों दर्शाने की चेष्टा की है कि, यात्री अच्छी राहपर से ही आगे बढता चला जायगा, यदि उस की तर्कशक्ति या बुद्धि एवं सूक्ष्म विवेकशक्ति उन इंद्रियों को उत्पथगामी होने न दे और उचित मार्ग पर ही चलाये। यदि हम इस उत्कृष्ट उपनिषद् के अवतरण को ठीक तरह हृदयंगम कर लें, तो बड़ी आसानी से हम अयोध्या के अधिपति दशरथ के वास्तविक स्वरूप को समझ लेंगे।

वस्तुतः दश-रथ वह है, जो दस इंद्रियरूपी अश्वोंपर यथोचित प्रभुत्व रखता हो और कदापि उन का दास न बनता हो, क्योंकि उसने तो मतवाले घोडों के समान अपने प्रमाथी दस इंद्रियों को विजित कर दमनपूर्वक भली भाँति अपने वश में रखा है। चूँकि पहले ही अयोध्या को जिस का नरेश एवं शासक दशरथ है, मानवी शरीर कहा, इसलिए दस इंद्रियों को अश्व कहने के बजाय रथ कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि, अयोध्या के अधिपति दशरथ बनने की क्षमता उस मानवी जीव में है, जो उचित तर्क एवं सूक्ष्म विवेक की सहायता से अपने दसों इंद्रियों का गुलाम नहीं, अपितु प्रभु बन चुका हो और ऐसा बनने के लिए अपने शिक्षासंपन्न मनरूपी लगाम से उन्हें शिक्षित, दांत एवं वशीभूत कर डालने की चेष्टा की हो। वास्तव में, जब मानव बुद्धि, विवेक एवं तर्क से अदम्य एवं अथक परिश्रम तथा प्रयत्न कर के सभी दसों इंद्रियों को भली भाँति अपने काबू में रखता है, तभी वह अयोध्या तथा अपराजिता (मानवी शरीर तथा अंतस्तल) के नरपति दशरथ के पदपर अधिरूढ हो सकता है।

(क्रमशः)

शुद्ध वेद।

वेद की चार संहिताओंका मूल्य यह है-

वेद	मूल्य	डाकव्यय	रेलचार्ज	विदेशका डाकव्यय
१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण)	५)	१।)	॥)	१॥।)
२ यजुर्वेद	२)	॥)	।)	॥)
३ सामवेद	३)	।)	।)	॥।)
४ अथर्ववेद द्वितीय संस्करण	५)	१)	॥)	१॥)
(छप रहा है)	१५)	३।)	१॥)	४॥।)

इन चारों संहिताओंका पेशगी म० आ० से सहुलियतका मू० ७॥) रु० है, तथा डा० व्यय ३) रु० है। इसलिए डाकसे मंगानेवाले १०॥) साडे दस रु० पेशगी भेजें। रेलचार्ज या डा० व्यय ग्राहकोंके जिम्मे है। इसलिये जो ग्राहक रेलसे चारों वेदों के एक या अनेक सेट मंगाना चाहते हैं, प्रति सेट के पीछे ८॥) रु० के अनुसार मूल्य भेजें। [इसमें ॥) दो बारका पैकिंग और ॥) दो बारकी रजिष्ट्रीके है] उनके ग्रंथ To Pay रेलपार्सल से भेजेंगे।

इनका मूल्य शीघ्र बढनेवाला है, इसलिये वेदप्रेमी ग्राहक शीघ्रता करें और अपना चन्दा शीघ्र भेजकर ग्राहक बनें।

यजुर्वेदकी चार संहिताएं।

निम्नलिखित यजुर्वेद की चारों संहिताओं का मुद्रण शुरू हुआ है।

	मूल्य	डा० व्यय	रेलव्यय	विदेशका डाक
१ काण्व संहिता (शुक्ल-यजुर्वेद) तैयार है)	३)	॥।)	।=)	१।)
२ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण-यजुर्वेद)	५)	१)	॥)	१॥)
३ काठक संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
४ मैत्रायणी संहिता	५)	१)	॥)	१॥)
	१८)	३॥।)	१॥।=)	५॥।)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य १८) है, परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं ९) नौ रु० में दी जायंगी। डा० व्यय अथवा रेलव्यय ग्राहकोंके जिम्मे होगा। मूल्य भेजने के समय यह प्रेषण-व्यय जोडकर मूल्य भेज दें। जिनको वेदों का अध्ययन करना है, उनके लिये यह अमूल्य अवसर है। ये ग्रंथ इतने सस्ते आजतक किसीने दिये नहीं और आगे भी इतने सस्त यह ग्रन्थ नहीं मिलेंगे।

जो सहुलियत का मूल्य ९) नौ रु० भेजकर यजुर्वेद की इन चार संहिताओं के ग्राहक होंगे, उनको "ऋग्वेद-यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता)-सामवेद-अथर्ववेद" ये चारों संहिताएं भी सहुलियत के मूल्यसेहि अर्थात् केवल ७॥) मूल्य-सेही मिलेंगी। प्रेषणव्यय डाकद्वारा ३) और रेलद्वारा १॥) है, वह ग्राहकों के जिम्मे रहेगा।

इस सहुलियत का लाभ ग्राहक शीघ्र लेवें।

मंत्री स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

वेद का रहस्य।

छठाँ अध्याय।

अग्नि और सत्य।

(लेखक- श्री० श्रीअरविन्द । अनुवादक- श्री० स्वामी अभयदेवजी)

ऋग्वेद अपने सब भागों में एकवाक्यता रखता है। इसके दस मण्डलों में से हम कोई सा लें, उसमें हम एक ही तत्त्व, एक ही विचार, एकसे अलङ्कार और एक ही से वाक्यांश पाते हैं। ऋषिगण एक ही सत्य के द्रष्टा हैं और उसे अभिव्यक्त करते हुए वे एक समान भाषा का प्रयोग करते हैं। उनका स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है, कोई कोई अपेक्षया अधिक समृद्ध, सूक्ष्म और गम्भीर अर्थों में वैदिक प्रतीकवाद का प्रयोग करने की प्रवृत्ति रखते हैं, दूसरे अपने आत्मिक अनुभव को अधिक सादी और सरल भाषा में प्रकट करते हैं, जिसमें विचारों का उर्वरापन, कवितामय, अलङ्कार की अधिकता या भावों की गम्भीरता और पूर्णता अपेक्षया कम होते हैं। अधिकतर एक ऋषि के सूक्त विभिन्न प्रकार के हैं, वे अत्यधिक सरलता से लेकर बहुत ही महान् अर्थगौरव तक शृङ्खलाबद्ध हैं।

अथवा एक ही सूक्त में चढ़ाव-उतार देखने में आते हैं; वह यज्ञ के सामान्य प्रतीक की बिलकुल साधारण पद्धतियों से शुरु होता है और एक सघन तथा जटिल विचार तक पहुंच जाता है। कुछ सूक्त बिलकुल स्पष्ट हैं और उनकी भाषा लगभग आधुनिकसी है, दूसरे कुछ ऐसे हैं, जो पहले-पहल अपनी दीखनेवाली विचित्रसी अस्पष्टता से हमें गड़बड़ में डाल देते हैं। परन्तु वर्णनशैली की इन विभिन्नताओं से आध्यात्मिक अनुभव की एकता का कुछ नहीं बिगड़ता, न ही उनमें कोई ऐसा पेचीदापन है, जो कि, नियत परिभाषाओं और सामान्य सूत्रों के ही कहीं बदल जाने के कारण आता हो। जैसे मेधातिथि काण्व के गीतिमय स्पष्ट वर्णनों में वैसे ही दीर्घतमस् औचथ्य की गम्भीर तथा रहस्यमय शैली में, और जैसे वसिष्ठ की एकरस समस्वरताओं में वैसे ही विश्वामित्र के प्रभावोत्पादक शक्तिशाली सूक्तोंमें हम ज्ञानकी वही दृढ स्थापना और दीक्षितोंकी पवित्र विधियोंका वही सतर्कतायुक्त अनुवर्तन पाते हैं।

वैदिक रचनाओं की इस विशेषता से यह परिणाम निकलता है कि, व्याख्या की वह प्रणाली भी जिसका कि, मैंने उल्लेख किया है, एक ही ऋषि के छोटे से सूक्त-समुदाय के द्वारा वैसी ही अच्छी तरह उदाहरण देकर पुष्ट की जा सकती है जैसे कि दसों मण्डलों से चुन कर इकट्ठे किये हुए कुछ सूक्तों के द्वारा। यदि मेरा प्रयोजन यह होता कि व्याख्या की अपनी इस शैली को जिसे मैं दे रहा हूं, इतनी अच्छी तरह स्थापित कर दूं कि, इस पर किसी प्रकार की आपत्ति की कोई संभावना न रहे, तो इससे कहीं बहुत अधिक ब्यौरेवार और बड़े प्रयत्न की आवश्यकता होती। सारे के सारे दसों मण्डलों की एक आलोचनात्मक परीक्षा अनिवार्य होती। उदाहरण के लिये, वैदिक पारिभाषिक शब्द 'ऋतम्', सत्य, के साथ में जिस भाव को जोड़ता हूं अथवा प्रकाश की गौओं के प्रतीक की मैं जो व्याख्या करता हूं, उसे ठीक सिद्ध करने के लिये मेरे लिये यह आवश्यक होता कि, मैं उन सभी स्थलों को, चाहे वे किसी भी महत्त्व के हों, उद्धृत करूं, जिन में सत्य का विचार अथवा गौ का अलङ्कार आता है और उनकी आशय व प्रकरण की दृष्टि से परीक्षा करके अपनी स्थापना की पुष्टि करूं।

अथवा यदि मैं यह सिद्ध करना चाहूं कि वेद का इन्द्र असल में अपने आध्यात्मिक रूप में प्रकाशयुक्त मन का अधिपति है, जो प्रकाशयुक्त मन 'द्यौः' या आकाश-द्वारा निरूपित किया गया है, जिसमें तीन प्रकाशमान लोक, 'रोचना' हैं, तो मुझे उसी प्रकार से उन सूक्तों की जो

टिप्पणी- इसी अङ्क में पृ० २४२ पर छपा अध्याय सप्तम है, वहां 'छठाँ अध्याय' ऐसा छपा है वह अशुद्ध है।

इन्द्र को सम्बोधित किये गये हैं और उन सन्दर्भों की जिन में वैदिक लोक-संस्थान का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, परीक्षा करनी होती। और वेद के विचार ऐसे परस्पर-ग्रथित और अन्योन्याश्रित हैं कि, केवल इतना करना भी पर्याप्त नहीं हो सकता था, जब तक कि अन्य देवताओं की तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक परिभाषाओं की जिनका कि सत्य के विचार के साथ कुछ सम्बन्ध है और उस मानसिक प्रकाश के साथ सम्बन्ध है जिसमें से गुजर कर मनुष्य उस सत्य तक पहुंच पाता है, कुछ आलोचनात्मक परीक्षा न कर ली जाती।

मैं अच्छी तरह समझता हूं कि, इस प्रकार का अपनी स्थापना को प्रमाणित करने का कार्य किये जाने की आवश्यकता है और वैदिक सत्य पर, वेद के देवताओं पर, तथा वैदिक प्रतीकों पर अपने अनुशीलन लिख कर इसे पूरा करने की मैं आशा भी रखता हूं। परन्तु उस उद्देश्य के लिये किया गया प्रयत्न इस कार्य की सीमा से बिल्कुल बाहर का होता, जिसे कि इस समय मैंने अपने हाथ में लिया है और जो केवल यहीं तक सीमित है कि, मैं अपनी प्रणाली का उदाहरण देते हुवे स्पष्टीकरण करूं और मेरी कल्पनासे जो परिणाम निकलते हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन करूं।

अपनी प्रणाली का स्पष्टीकरण करने के लिये मैं चाहता हूं कि, प्रथम मण्डल के पहले ग्यारह सूक्त मैं लूं और दिखाऊं कि, किस प्रकार से आध्यात्मिक व्याख्या के कुछ केन्द्रभूत विचार किन्हीं महत्त्वपूर्ण संदर्भों में से या अकेले सूक्तों में से निकलते हैं और किस प्रकार गम्भीरतर विचार-शैली के प्रकाश में उन सन्दर्भों के आसपास के प्रकरण और सूक्तों का सामान्य विचार एक बिल्कुल नया ही रूप धारण कर लेते हैं।

ऋग्वेद की संहिता, जैसी कि, हमारे हाथ में हैं, दस भागों में या मण्डलों में क्रमबद्ध है। इस क्रम-विभाजन में दो प्रकार का नियम दिखाई देता है। इन मण्डलों में से ६ मण्डल ऐसे हैं, जिन में प्रत्येक के सूक्तों का ऋषि एक ही है, या एक ही परिवार का है। इस प्रकार दूसरे मण्डल में मुख्य कर गृत्समद ऋषि के सूक्त हैं, ऐसे ही तीसरे और सातवें मण्डल के सूक्तों के ऋषि क्रम से ख्यातनामा विश्वामित्र और वसिष्ठ हैं। चौथा मण्डल वामदेव ऋषि का तथा छठा भारद्वाज का है। पांचवा अत्रि-परिवार के सूक्तों से व्याप्त है। इन मण्डलों में से प्रत्येक में अग्नि को संबोधित किये गये सूक्त सब से पहिले इकट्ठे कर के रख दिये गये हैं, उस के बाद वे सूक्त आते हैं, जिन का देवता इंद्र है, अन्य देवता बृहस्पति, सूर्य, ऋभवः, उषा आदि के आवाहनों से मण्डल समाप्त होता है। नवां मण्डल सारा ही अकेले सोमदेवता को दिया गया है।

पहले, आठवें और दसवें मण्डल में भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्तों का संग्रह है, परन्तु प्रत्येक ऋषि के सूक्त सामान्यतः उन के देवताओं के क्रम से इकट्ठे रखे गये हैं, सब से पहले अग्नि आता है, उस के पीछे इंद्र और अन्त में अन्य देवता। इस प्रकार प्रथम मण्डल के प्रारम्भ में विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दस् ऋषि के दस सूक्त हैं और ग्यारहवां सूक्त जेतृ का है, जो मधुच्छन्दस् का पुत्र है। फिर भी यह अन्तिम सूक्त शैली, प्रकार और भाव में उन दस के जैसा ही है, जो इस से पहिले आये हैं और इसलिये इन ग्यारहों सूक्तों को इकट्ठा मिला कर उसे एक ऐसा सूक्तसमुदाय समझा जा सकता है, जो भाव और भाषा में एकसा है।

इन वैदिक सूक्तों को क्रमबद्ध करने में विचारों के विकास का भी कोई नियम अवश्य काम कर रहा है। प्रारम्भ के मण्डल का रूप ऐसा रखा गया प्रतीत होता है कि, अपने अनेक अङ्गों में वेद का जो सामान्य विचार है, वह निरन्तर अपने आप को खोलता चले, उन प्रतीकों की आड में जो कि स्थापित हो चुके हैं और उन ऋषियों की वाणी-द्वारा जिन में प्रायः सभी को विचारक और पवित्र गायक का उच्च पद प्राप्त है और जिन में से कुछ तो वैदिक परम्परा के सब से अधिक यशस्वी नामों में से हैं। न ही यह अकस्मात् हो सकता है कि दसवें या अन्तिम मण्डल में जिस में ऋषियों की अधिक विविधता भी पाई जाती है, हमें वैदिक विचार अपने अन्तिम विकसित रूपों में दिखाई देता है और ऋग्वेद के उन सूक्तों में से जो कि भाषा की दृष्टि से अधिक से अधिक आधुनिक हैं, कुछ इसी मण्डलमें हैं। पुरुष-यज्ञ का सूक्त और सृष्टि सम्बन्धी महान् सूक्त हम इसी मण्डल में पाते हैं। इसी में आधुनिक विद्वान् भी यह समझते हैं कि, उन्होंने वेदान्तिक दर्शन का, ब्रह्मवाद

का, मूल उद्गम खोज निकाला है ।

कुछ भी हो, विश्वामित्र के पुत्र तथा पौत्र के ये सूक्त जिन से ऋग्वेद प्रारम्भ होता है, आश्चर्यजनक उत्कृष्टता के साथ वैदिक समस्वरता के प्रथम मुख्य स्वरों को निकालते हैं । अग्नि को सम्बोधित किया गया पहला सूक्त सत्य के केन्द्रभूत विचार को प्रकट करता है और यह विचार दूसरे व तीसरे सूक्तों में और भी दृढ हो जाता है, जहां कि, अन्य देवताओं के साथ में इंद्र का आवाहन किया गया है । शेष आठ सूक्तों में जिन में अकेला इंद्र देवता है, एक (छठे) को छोड कर जहां कि, वह मरुतों के साथ मिल गया है, हम सोम और गौ के प्रतीकों को पाते हैं, प्रतिबन्धक वृत्र को और इंद्र के उस अपने महान् कृत्य को पाते हैं, जिस में वह मनुष्य को प्रकाश की ओर ले जाता है और उस की उन्नति में जो विघ्न आते हैं, उन्हें हटा कर परे फेंक देता है । इस कारण ये सूक्त वेद की अध्यात्मपरक व्याख्या के लिये निर्णयकारक महत्त्व के हैं ।

अग्नि के सूक्त में, पांचवीं से लेकर नौवीं के पहले तक, ये चार ऋचायें हैं, जिन में आध्यात्मिक आशय बडे बल के साथ और बडी स्पष्टता के साथ प्रतीक के आवरण को पार कर के बाहर निकल रहा है ।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत् ॥
यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥
उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वे दमे ॥

इस सन्दर्भ में हम पारिभाषिक शब्दों की एक माला पाते हैं, जिस का कि, सीधा ही एक अध्यात्मपरक आशय है, अथवा वह स्पष्ट तौर से इस योग्य है कि, उस में से अध्यात्मपरक आशय निकल सके और इस शब्दावलि ने अपनी इस रंगत से सारे के सारे प्रकरण को रंगा हुआ है । पर फिर भी सायण इस की विशुद्ध कर्मकांडपरक व्याख्या पर ही आग्रह करता है और यह देखना मजेदार है कि, वह इस तक कैसे पहुंचता है । पहले वाक्य में हमें ' कवि ' शब्द मिलता है, जिस का अर्थ द्रष्टा है और यदि हम ' क्रतु ' का अर्थ यज्ञ-कर्म ही मान लें, तो भी परिणामतः इस का अभिप्राय होगा- " अग्नि, वह ऋत्विज् जिस का कि कर्म या यज्ञ द्रष्टा का है । "

और यह ऐसा अनुवाद है, जो तुरन्त यज्ञ को एक प्रतीक का रूप दे देता है और अपने आप में इस के लिए पर्याप्त है कि, वेद को और भी गम्भीर रूप से समझने में बीज का काम दे सके । सायण अनुभव करता है कि, उसे इस कठिनाई को जिस किसी प्रकार भी परे हटाना चाहिये और इसलिये वह ' कवि ' में जो द्रष्टा का भाव है, उसे छोड देता है और इस का एक दूसरा ही नयासा अप्रचलित अर्थ कर देता है + । आगे फिर वह व्याख्या करता है कि, ' अग्नि ' ' सत्य ' है, सच्चा है, क्योंकि वह यज्ञ के फल को अवश्य देता है । ' श्रवस् ' का अनुवाद सायण करता है, " कीर्ति ", अग्नि की अत्यन्त ही चित्र-विचित्र कीर्ति है । निश्चय ही यहां इस शब्द को धन-संपत्ति के अर्थ में लेना अधिक उपयुक्त होता, जिस से कि, ' सत्य ' की उपर्युक्त व्याख्या की असंगति दूर हो जाती । तब हम पांचवी ऋचा का यह परिणाम निकालेंगे-- " अग्नि जो होता है, यज्ञों में कर्मशील है, जो (अपने फलों में) सच्चा है- क्योंकि उस की ही यह अत्यन्त विविध संपत्ति है, वह देव अन्य देवों के साथ आये । "

भाष्यकार सायण ने छठी ऋचा का एक बहुत अनुपयुक्त और बेजोडसा अन्वय कर डाला है और इसके विचार को बदल कर बिलकुल तुच्छ रूप दे दिया है, जो ऋचा के प्रवाह को सर्वथा तोड देता है । " (विविध सम्पत्तियों के रूप में) वह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वह तेरी ही होगी । यह सच है, हे अङ्गिर * । "

+ " कवि शब्दोऽत्र क्रांतवचनो न तु मेधावि नाम "-सायण.

* " हे अग्ने, त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय, तत्प्रीत्यर्थं, यद् भद्रं वित्त-गृह-प्रजा-पशुरूपं कल्याणं करिष्यसि तद् भद्रं तवेत् तवैव सुखहेतुरिति शेषः । हे अङ्गिरोऽग्ने ! एतच्च सत्यं, न त्वत्र विसंवादोऽस्ति, यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्यामुत्तरक्रत्वनुष्ठानेन अग्नेरेव सुखं भवति । "- सायणः ।

अभिप्राय यह है कि इस सचाई के बारे में कोई सन्देह नहीं है कि, अग्नि यदि धन-दौलत देकर हवि देनेवाले का भला करता है, तो बदले में वह भी उस अग्नि के प्रति नये-नये यज्ञ करेगा और इस प्रकार यज्ञकर्ता की भलाई अग्नि की ही भलाई हो जाती है। यहां फिर इसका इस रूप में अनुवाद करना अधिक अच्छा होता- " वह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अङ्गिरः, " क्योंकि इस प्रकार हमें एक-दम अधिक स्पष्ट आशय और अन्वय पता लग जाता है और यज्ञिय अभिदेवता के लिये जो 'सत्य' सच्चा, यह विशेषण लगाया है, उसका स्पष्टीकरण हो जाता है। यही अग्नि का सत्य है कि, वह यज्ञकर्ता के लिये निश्चित रूप से बदले में भला ही करता है।

सातवीं ऋचा कर्मकाण्डपरक व्याख्या में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती, सिवाय इस अद्भुत वाक्यांश के कि, " हम नमस्कार को धारण करते हुए आते हैं। " सायण यह स्पष्टीकरण करता है कि, धारण करने का यहां अभिप्राय सिर्फ 'करना' है, और वह इस ऋचा का अनुवाद इस प्रकार करता है-

" तेरे पास हम प्रतिदिन, रात में और दिनमें, बुद्धि के साथ नमस्कार को करते हुए आते हैं ×। " आठवीं ऋचा में 'ऋतस्य' को वह सत्य के अर्थ में लेता है और इसकी व्याख्या यह करता है कि, इसका अभिप्राय है यज्ञकर्म के सच्चे फल। " तेरे पास, जो तू दीप्यमान है, यज्ञों का रक्षक है, सर्वदा उनके सत्य का (अर्थात् उनके अवश्यंभावी फल का) द्योतक है, अपने घर में वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ⁂। " यहां फिर, यह अधिक सरल और अधिक अच्छा होता कि, 'ऋतम्' को यज्ञ के अर्थ में लिया जाता और इसका अनुवाद यह किया जाता- " तेरे पास, जो तू यज्ञों में प्रदीप्त हो रहा है, यज्ञ (ऋत) का रक्षक है, सदा प्रकाशमान है, अपने घर में वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। " अग्नि का " अपना घर " भाष्यकार कहता है, यज्ञशाला है, और वस्तुतः ही इसे संस्कृत में प्रायः 'अग्नि-गृह' कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, उस सन्दर्भ तक का जो कि, पहले-पहल देखने पर आध्यात्मिक अर्थ की एक बड़ी भारी सम्पत्ति को देता हुआ लगता है, हम थोडासा ही जोड-तोड करके, एक विशुद्ध कर्मकाण्डपरक, किन्तु बिल्कुल अर्थ-शून्य, आशय गढ सकते हैं। तो भी, कितनी ही निपुणता के साथ यह काम क्यों न किया जाय, इसमें दोष और कमियां रह ही जाती हैं और उनसे इसकी कृत्रिमता का पता लग जाता है। हम देखते हैं कि, हमें 'कवि' के सीधे अर्थ को दूर फेंक देना पडा है जो अर्थ कि इसके साथ सारे वेद में जुडा हुवा है और इसके मत्थे एक अवास्तविक अर्थ को मढना पडा है। या तो हमें 'सत्य' और 'ऋत' इन दो शब्दों का एक दूसरे से सम्बन्ध-विच्छेद करना पडा है जब कि वेदमें ये दोनों शब्द अत्यन्त सम्बद्ध पाये जाते हैं या ऋत को जबर्दस्ती कोई नया अर्थ देना पडा है और शुरु से अन्त तक हमने उन सब स्वाभाविक निर्देशों की उपेक्षा की है जिनके लिये ऋषि की भाषा हम पर दबाव डालती है।

तो अब हमें इस सिद्धान्त को छोडकर इसके स्थान पर दूसरे सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिये और ईश्वर-प्रेरित मूल वेद के शब्दोंके उनका जो आध्यात्मिक मूल्य है, वह उन्हें पूर्ण रूप से देना चाहिये। 'क्रतु' का अर्थ संस्कृत में कर्म या क्रिया है, विशेषकर यह कर्म यज्ञ के अर्थों में, परन्तु इसका अर्थ वह शक्ति या बल (ग्रीक क्रटोस 'Kratos') भी होता है जो कि क्रिया को उत्पन्न करनेमें समर्थ हो। आध्यात्मिक रूप में यह शक्ति जो क्रिया में समर्थ होती है, संकल्प है। इस शब्द का अर्थ मन या बुद्धि भी हो सकता है और सायण स्वीकार करता है कि, इसका एक संभव अर्थ विचार या ज्ञान भी है। 'अवस्'

× हे अग्ने, वयमनुष्ठातारो दिवे दिवे प्रतिदिनं, दोषावस्तः रात्रावहनि च, धिया बुद्ध्या, नमो भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः, उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः "— सायणः।

⁂ " कीदृशं त्वां ? राजन्तं दीप्यमानं, अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानां, गोपां रक्षकम्, ऋतस्य सत्यस्य अवश्यं भाविनः कर्मफलस्य, दीदिविं पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम्, ..., स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिर्वर्धमानम् "— सायणः।

का शाब्दिक अर्थ सुनना है और इस मुख्य अर्थ से ही इसका आनुषङ्गिक अर्थ 'कीर्ति' किया गया है। पर अध्यात्मरूप से, इसमें जो सुनने का भाव है, वह संस्कृत में एक दूसरे ही भाव को देता है, जिसे हम 'श्रवण', 'श्रुति', 'श्रुत'– ईश्वरीय ज्ञान या वह ज्ञान जो अन्तः-प्रेरणा से आता है– में पाते हैं।

'दृष्टि' और 'श्रुति,' दर्शन और श्रवण, स्वतःप्रकाश और अन्तःस्फुरणा ये उस अतिमानस सामर्थ्य की दो शक्तियां हैं, जिसका सम्बन्ध सत्यके, 'ऋतम्' के प्राचीन वैदिक विचार से है। कोषकारों ने 'श्रवस्' शब्द को इस अर्थ में नहीं दिखाया है, परन्तु 'वैदिक ऋचा, एक वैदिक सूक्त, वेद के ईश्वरप्रेरित शब्द' इस अर्थ में यह शब्द स्वीकार किया गया है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि, किसी समय में यह शब्द अन्तःप्रेरित ज्ञान के या किसी ऐसी वस्तु के भाव को देता था, जो कि अन्तः-स्फुरित हुई हो, चाहे वह शब्द हो या ज्ञान हो। तो इस अर्थ को, कम से कम अस्थायी तौर पर ही सही, हमें उपस्थित सन्दर्भ में लगाने का अधिकार है, क्योंकि दूसरा कीर्ति का अर्थ इस प्रकरण में बिल्कुल असंगत और निरर्थक लगता है।

फिर नमस् शब्द का भी आध्यात्मिक आशय लेना चाहिये, क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है "नीचे झुकना' और इसका प्रयोग देवता के प्रति की गई सत्कारसूचक नम्रता की क्रिया के लिये होता है, जो कि भौतिक रूप से शरीर को दण्डवत् करके की जाती है। इसलिये जब ऋषि "विचारद्वारा अग्नि के लिये नमः धारण करने" की बात कहता है, तो इस पर हम मुश्किल से ही सन्देह कर सकते हैं कि, वह 'नमस्' को आध्यात्मिक तौर पर आन्तरिक नमस्कार के, देवता के प्रति हृदय से नत हो जाने या आत्म–समर्पण करने के अर्थ में प्रयोग कर रहा है।

तो हम उपर्युक्त चार ऋचाओं का यह अर्थ पाते हैं–

"अग्नि, जो यज्ञ का होता है, कर्म के प्रति जिस का संकल्प द्रष्टा का सा है, जो सत्य है, नानाविध अन्तःप्रेरणा का जो महाधनी है, वह देव देवों के साथ आये।"

"वह भलाई जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अङ्गिरः!"

"तेरे प्रतिदिन प्रतिदिन, हे अग्ने! रात्रि में और प्रकाश में, हम विचार के द्वारा अपने आत्म–समर्पण को धारण करते हुए आते हैं।"

"तेरे प्रति, जो तू यज्ञों में देदीप्यमान होता है, (या जो यज्ञों पर राज्य करता है,) सत्य का और इस की ज्योति का संरक्षक है, अपने घर में बढ़ रहा है।"

हमारे इस अनुवाद में यह त्रुटि है कि, हमें 'सत्यम्' और 'ऋतम्' दोनों के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त करना पड़ा है, जब कि, जैसे कि हमें 'सत्यम् ऋतम् बृहत्' इस सूत्र में देखने से पता चलता है, वैदिक विचार में इन दोनों शब्दों के ठीक–ठीक अर्थ में अन्तर था। अस्तु।

तो फिर यह अग्निदेवता कौन है, जिस के लिये ऐसी रहस्यमयी तेजस्विता की भाषा प्रयुक्त की गई है, जिस के साथ इतने महान् और गम्भीर कार्यों का सम्बन्ध जोड़ा गया है? यह सत्य का संरक्षक कौन है, जो अपने कार्य में इस सत्य का प्रकाशरूप है, कर्म में जिस का संकल्प एक ऐसे द्रष्टा का संकल्प है, जो अपनी नाना प्रकार से विविध अन्तःप्रेरणाओं पर शासन करनेवाली दिव्य बुद्धि से युक्त है? वह सत्य क्या वस्तु है, जिसकी वह रक्षा करता है? और वह भद्र क्या है, जिसे वह उस हवि देनेवाले के लिये करता है, जो उस के पास सदा दिनरात विचार में हवि-रूप से नमन और आत्म-समर्पण को धारण किये हुए आता है? क्या यह सोना है और घोड़े हैं और गौएं हैं, जिन्हें वह लाता है, अथवा यह कोई अधिक दिव्य ऐश्वर्य है?

यह यज्ञकी अग्नि नहीं है, जो इन सब कार्योंको कर सके, न ही यह कोई भौतिक ज्वाला अथवा भौतिक ताप और प्रकाश का कोई तत्त्व हो सकता है। तो भी सर्वत्र यज्ञिय अग्नि के प्रतीक का अवलम्बन किया गया है। यह स्पष्ट है कि, हमारे सामने एक रहस्यमय प्रतीकवाद है, जिस में अग्नि, यज्ञ, होता, ये सब एक गम्भीरतर शिक्षण के केवल बाह्य अलंकारमात्र हैं और फिर भी ऐसे अलंकार जिन का अवलम्बन करना और निरन्तर अपने सामने रखना आवश्यक समझा गया था।

उपनिषदों की प्राचीन वेदान्तिक शिक्षा में सत्य का एक

विचार देखने में आता है, जो अधिकतर सूत्रों के द्वारा प्रकट किया गया है और वे सूत्र वेद की ऋचाओं में से लिये गये हैं, जैसे कि एक वाक्य जिसे हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं, यह है, "सत्यम् ऋतम् बृहत्"– सच, ठीक और महान्। वेदमें इस सत्य के विषय में कहा गया है कि; वह एक मार्ग है, जो सुख की ओर ले जाता है, अमरता की ओर ले जाता है। उपनिषदों में भी यही कहा है कि, सत्य के मार्गद्वारा ही सन्त या द्रष्टा, ऋषि या कवि पार पहुंचते हैं। वह असत्य को पार कर लेता है, मर्त्य अवस्था को पार कर के अमर सत्ता में पहुंच जाता है। इसलिये हमें यह कल्पना करने का अधिकार है कि, एक ही विचार पर वेद में और वेदांत में दोनों जगह विचार चल रहा है।

वह आध्यात्मिक विचार उस सत्य के विषय में है, जो दिव्य तत्त्व का सत्य है, न कि वह जो कि, मर्त्य अनुभव का और दीखने का सत्य है। वह 'सत्यम्' है, सत्ता का सत्य है, अपनी क्रियारूप में वह 'ऋतम्' है, व्यापार का सत्य है,– दिव्य सत्ता का सत्य जो मन और शरीर दोनों की सही क्रिया को नियमित करता है, वह 'बृहत्' है, वह सार्वत्रिक सत्य है, जो असीम में से सीधा और अविकृत रूप से निकलता है। वह चेतना भी जो कि इस के अनुरूप होती है, असीम है, 'बृहत्' है, महान् है, विपरीत उस अनुभवशील मन की चेतना के जो कि, असीमता पर आश्रित है। एक को 'भूमा', विशाल कहा गया है, दूसरी को 'अल्प' छोटा। इस अतिमानस या सत्य-चेतना का एक दूसरा नाम 'महः' है और इस का अर्थ भी 'महान्', 'विशाल' यही है और ऐंद्रियक अनुभव होने तथा दिखाई देने के तथ्यों के लिए जो कि, मिथ्या ज्ञान से ('अनृतम्', जो सत्य नहीं है, या जो मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं में 'सत्यम्' का अशुद्ध तरीके पर प्रयोग है, उससे) भरे होते हैं, जैसे हमारे पास उपकरण-रूप में इंद्रियां, अनुभवशील मन (मनः) और बुद्धि (जो कि, उन की साक्षी पर कार्य करती है) है, वैसे ही सत्य चेतना के लिये उसी के अनुरूप शक्तियां हैं–'दृष्टि,' 'श्रुति,' 'विवेक,' सत्य का अपरोक्ष दर्शन, इस के शब्द का अपरोक्ष श्रवण, और जो ठीक हो, उस की अपरोक्ष विवेचनद्वारा पहिचान। जो कोई इस सत्य चेतना से युक्त होता है या इस योग्य होता है कि, ये शक्तियां उस में अपनी क्रिया करें, वह ऋषि या 'कवि' है, सन्त या द्रष्टा है। सत्य के 'सत्यम्' और 'ऋतम्' के ये ही विचार हैं, जिन को कि, हमें वेद के इस प्रारम्भिक सूक्त में लगाना चाहिये।

अग्नि वेद में हमेशा शक्ति और प्रकाश के द्विविध रूप में आता है। यह वह दिव्य शक्ति है, जो लोकों का निर्माण करती है, एक शक्ति है जो सर्वदा पूर्ण ज्ञान के साथ क्रिया करती है, क्योंकि यह 'जातवेदस्' है, सब जन्मों को जाननेवाली है, 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्'– यह सब व्यक्त रूपों या घटनाओं को जानती है अथवा दिव्य बुद्धि के सब रूपों और व्यापारों से वह युक्त है। इसके अतिरिक्त, यह बार–बार कहा गया है कि, अग्नि को देवों ने मर्त्यों में अमृत रूप से स्थापित किया है, मनुष्य में दिव्य शक्ति के रूप में, उस पूर्ण करनेवाली, सिद्ध करनेवाली शक्ति के रूपमें रखा है, जिस के द्वारा वे देवता उस मनुष्य के अन्दर अपना कार्य करते हैं। यह कार्य है जिसका कि प्रतीक यज्ञ को बनाया गया है।

तो आध्यात्मिक रूप से अग्नि का अर्थ हम दिव्य संकल्प ले सकते हैं, वह दिव्य संकल्प जो पूर्ण रूप से दिव्य बुद्धि के द्वारा प्रेरित होता है और असल में जो इस बुद्धि के साथ एक है, जो वह शक्ति है, जिससे सत्य चेतना क्रिया करती है या प्रभाव डालती है। 'कविक्रतु' शब्द का स्पष्ट आशय है, वह जिसका क्रियाशील संकल्प या प्रभावक शक्ति द्रष्टा की है, अर्थात् जो उस ज्ञान के साथ कार्य करता है, जो सत्य-चेतना से आनेवाला ज्ञान है और जिसमें कोई भ्रान्ति या गलती नहीं है। आगे जो विशेषण आये हैं, वे इस व्याख्या को और भी पुष्ट करते हैं। अग्नि 'सत्य' है, अपनी सत्ता में सच्चा है; अपने निजी सत्य पर और वस्तुओं के सारभूत सत्य पर जो इसका पूर्ण अधिकार है, उस कारण से इसमें यह सामर्थ्य है कि, वह इस सत्य का शक्ति की सब क्रियाओं और गतियों में पूर्णता के साथ उपयोग कर सकता है। इसके पास दोनों हैं, 'सत्यम्' और 'ऋतम्'।

इसके अतिरिक्त वह 'चित्रश्रवस्तमः' है, 'ऋतम्' से उसमें अत्यधिक प्रकाशमय और विविध अन्तःप्रेरणाओं की पूर्णता आती है, जो उसे पूर्ण कार्य करने की क्षमता

प्रदान करती है। क्योंकि ये सब विशेषण उस अग्नि के हैं जो 'होता' है, यज्ञ का पुरोहित है, वह है जो हविः प्रदान का कर्ता है। इस किये यज्ञ के प्रतीक से सूचित होनेवाले कार्य (कर्म या अपस्) में सत्य का प्रयोग करने की उसकी शक्ति ही है जो कि, अग्नि को मनुष्य द्वारा यज्ञ में आहूत किये जाने का पात्र बनाती है। बाह्य यज्ञों में यज्ञिय अग्नि की जो महत्ता है तदनुरूप ही आभ्यन्तर यज्ञ में इस एकीभूत ज्योति और 'शक्ति' के आन्तरिक बल की महत्ता है, उस आभ्यन्तर यज्ञ में जिसके द्वारा मर्त्य और अमर्त्य में परस्पर संसर्ग और मर्त्य और अमर्त्य में एक दूसरे के साथ आदान-प्रदान होता है। अन्य स्थलों में ऐसा वर्णन बहुतायत के साथ पाया जाता है कि, अग्नि 'दूत' है, उस संसर्ग और आदान प्रदान का माध्यम है।

तो हम देखते हैं कि, किस योग्यता वाले अग्नि को यज्ञ के लिये पुकारा गया है, " वह देव अन्य देवों के साथ आये।" "देवो देवेभिः" इस पुनरुक्ति के द्वारा जो दिव्यता के विचार पर विशेष बल दिया गया है यह बिल्कुल साफ समझ में आने लगता है जब कि हम अग्नि के इस नियत वर्णन को स्मरण करते है कि, अग्नि जो मनुष्यों में रहनेवाला देव है, मर्त्यों में अमर्त्य है, दिव्य अतिथि है। इसे हम पूर्ण आध्यात्मिक रंग दे सकते हैं, यदि यह अनुवाद करें, 'वह दिव्य शक्ति दिव्य शक्तियों के साथ आये।' क्योंकि वेदार्थ की बाह्य दृष्टि में देवताएं भौतिक प्रकृति की सार्वत्रिक शक्तियां हैं जिन्हें अपना पृथक् पृथक् व्यक्तित्व प्राप्त है, तो किसी भी आन्तरिक दृष्टि में ये देवतायें अवश्य ही प्रकृति की वे सार्वत्रिक शक्तियां, संकल्प, मन आदि होनी चाहियें जिन द्वारा प्रकृति हमारे अन्दर की हलचलों में काम करती है।

परन्तु वेद में इन शक्तियों की साधारण मनःसीमित या मानवीय क्रिया, 'मनुष्वत्' में और इनकी दिव्य क्रिया में सर्वदा भेद किया गया है। यह कल्पना की गई है कि, मनुष्य देवताओं के प्रति अपने आन्तरिक यज्ञ में अपनी मानसिक क्रियाओं का सही उपयोग करे तो उन्हें वह उनके सच्चे अर्थात् दिव्य रूप में रूपान्तरित कर सकता है, मर्त्य अमर बन सकता है। इस प्रकार ऋभु-गण जो कि पहले मानव सत्तायें थीं या जो मानव शक्तियोंके द्योतक थे, कर्मकी पूर्णता के द्वारा- 'सुकृत्यया' 'स्वपस्यया'- दिव्य और अमर शक्तियां बन गये। यह मानव का दिव्य को सतत आत्म-समर्पण और दिव्य का मानव के अन्दर सतत अवतरण है, जो कि, यज्ञ के प्रतीक से प्रकट किया गया प्रतीत होता है।

इस अमरता की अवस्था को जो इस प्रकार प्राप्त होती है आनन्द और परम सुखकी अवस्था समझा गया है जिसका आधार एक पूर्ण सत्यानुभव और सत्याचरण, 'सत्यम्' और 'ऋतम्' है। मैं समझता हूं इससे अगली ऋचा को हमें अवश्य इसी अर्थ में लेना चाहिये। " वह भलाई (सुख) जो तू हवि देनेवाले के लिये करेगा, वही तेरा वह सत्य है, हे अग्ने!" दूसरे शब्दों में, इस सत्य का (जो इस अग्नि का स्वभाव है) सार है अभद्र से मुक्ति, पूर्ण भद्र और सुख की अवस्था जो 'ऋतम्' के अन्दर रहती है और जिसका मर्त्य में सृजन होना निश्चित है, जब कि वह मर्त्य अग्नि को दिव्य होता बनाकर उसकी क्रिया द्वारा यज्ञ में हवि देता है। 'भद्रम्' का अर्थ है कोई वस्तु जो भली, शिव, सुखमय हो, और इस शब्द को अपने आप में कोई गम्भीर अर्थ देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वेद में हम इसे 'ऋतम्' की तरह एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ पाते हैं।

एक सूक्त (५-८२) में इसका इस रूप में वर्णन किया गया है कि, यह बुरे स्वप्न (दुःस्वप्न्यम्) का 'अनृतम्' की मिथ्या-चेतना का और 'दुरितम्' का, मिथ्या आचरण का विरोधी हैं, + जिसका अभिप्राय होता है कि, यह सब प्रकारके पाप और कष्ट का विरोधी है। 'भद्रम्' इस लिये 'सुवितम्' का, सत्य आचरण का समानार्थक है, जिसका अर्थ है वह सब भलाई और सुख कल्याण जो सत्य की, 'ऋतम्' की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह 'मयस्' है, सुख कल्याण है, और देवताओं को, जो कि, सत्य-चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, 'मयोभुवः'

+ प्रजावत् सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव॥ (ऋ० ५।८२।४)
दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ (ऋ० ५।८२।५)

कहा गया है अर्थात् वे जो सुख कल्याण लाते हैं या जो अपनी सत्ता में सुख कल्याण रखते हैं । इस प्रकार वेद का प्रत्येक भाग, यदि यह अच्छी तरह से समझ में आ गया है, तो प्रत्येक दूसरे भाग पर प्रकाश डालता है । इसमें परस्पर असंगति हमें तभी दीखती है जब इन पर पड़े हुए आवरण के कारण हम भटक जाते हैं ।

अगली ऋचा में यह प्रतीत होता है कि, फलोत्पादक यज्ञ की शर्त बताई गई है । वह है दिन-प्रतिदिन, रात में प्रकाश में, मानव के अन्दर उसके विचार का सतत रहना, उस दिव्य संकल्प और बुद्धि के प्रति अधीनता, पूजा और आत्म-समर्पण के साथ जिसका कि प्रतिनिधि अग्नि है । रात और दिन, 'नक्तोषासा', भी वेद के अन्य सब देवों की तरह प्रतीक रूप ही हैं और आशय यह प्रतीत होता है कि, चेतना की सभी अवस्थाओं में, चाहे वे प्रकाशमय हों चाहे धुंधली, समस्त क्रियाओं की दिव्य नियन्त्रण के प्रति सतत वशवर्तित्व और अनुरूपता होनी चाहिये ।

क्योंकि चाहे दिन हो चाहे रात, अग्नि यज्ञों में प्रदीप्त होता है, वह मनुष्य के अन्दर सत्य का, 'ऋतम्' का रक्षक है और अन्धकार की शक्तियों से इसकी रक्षा करता है, वह इस सत्य का सतत प्रकाश है जो मन की धुंधली और पर्याक्रान्त दशाओं में भी प्रदीप्त रहता है । ये विचार जो इस प्रकार आठवीं ऋचा में संक्षेप से दर्शाये गये हैं, ऋग्वेद में अग्नि के जितने सूक्त हैं उन सब में स्थिर रूप से पाये जाते हैं ।

अन्त में अग्नि के विषय में यह कहा गया है कि, वह अपने घर में वृद्धि को प्राप्त होता है । अब हम अधिक देर तक इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं रह सकते कि अग्नि का अपना घर वैदिक गृहस्थाश्रमी का 'अग्नि-गृह' है । हमें स्वयं वेद में ही इसकी कोई दूसरी व्याख्या ढूंढनी चाहिये, और वह हमें प्रथम मण्डल के ७५ वें सूक्त में मिल भी जाती है ।

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत् ।
अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥ (ऋ० १।६५।५)

'यज्ञ कर हमारे लिये मित्र और वरुण के प्रति, यज्ञ कर देवों के प्रति, सत्य के, बृहत् के प्रति, हे अग्ने ! स्वकीय घर के प्रति यज्ञ कर ।'

यहां 'ऋतं, बृहत्' और 'स्वं दमम्' यज्ञ के लक्ष्य को प्रकट करते हुए प्रतीत होते हैं और यह पूर्णतया वेद के उस अलंकार के अनुरूप हैं जिसमें यह कहा गया है कि, यज्ञ देवों की ओर यात्रा है और मनुष्य स्वयं एक यात्री है जो सत्य, ज्योति या आनन्द की ओर अग्रसर हो रहा है । इस लिये यह स्पष्ट है कि, 'सत्यं, ''बृहत्' और 'अग्नि का स्वकीय घर' एक ही है । अग्नि और अन्य देवताओं के बारे में बहुधा यह कहा गया है कि, वे सत्यमें उत्पन्न होते हैं, 'ऋतजात,' विस्तार या बृहत् के अन्दर रहते हैं । तो हमारे इस सन्दर्भ का आशय यह होगा कि, अग्नि जो मनुष्य के अन्दर दिव्य संकल्प और दिव्य शक्ति रूप है, सत्य-चेतना में जो कि इसका अपना वास्तविक क्षेत्र है, बढता है, जहां मिथ्या बन्धन 'उरौ अनिबाधे,' विस्तृत और असीम में टूट कर गिर जाते हैं ।

इस प्रकार वेद के प्रारंभिक सूक्त की इन चार ऋचाओं में हमें वैदिक ऋषियों के प्रधानभूत विचारों के प्रथम चिह्न देखने को मिलते हैं,- अतिमानस और दिव्य सत्य चेतना का विचार, सत्य की शक्तियों के रूप में देवताओं का आवाहन, इस लिये कि वे मर्त्य मन के मिथ्या रूपों में से मनुष्य को निकाल कर ऊपर उठाये, इस सत्य के अन्दर और इसके द्वारा पूर्ण भद्र और कल्याण की अमर अवस्था को पाना और दिव्य पूर्णता के साधनरूप में आभ्यन्तर यज्ञ करना तथा उसमें अपने पास जो कुछ है एवं अपने आप जो कुछ है उसका हवि रूप से उत्सर्ग कर देना, जिसके द्वारा कि मनुष्य मर्त्य से अमर हो जाता है । शेष सब वैदिक विचार अपने आध्यात्मिक रूपों में इन्हीं केन्द्रभूत विचारों के चारों तरफ एकत्रित हो जाते हैं ।

स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा) की हिंदी पुस्तकें ।

	मू.	डा०व्य०
१ ऋग्वेद-संहिता	५)	१)
२ यजुर्वेद-संहिता	२)	॥)
३ सामवेद	३)	।॥)
४ अथर्ववेद	३)	।॥)
५ काण्व-संहिता ।	३)	॥=)
महाभारत आदिपर्व	६)	१।)
,, सभापर्व	२॥)	॥)
संस्कृतपाठमाला ।	६॥)	।॥=)
वै. यज्ञसंस्था भाग १	१)	।)
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।		
१ द्वितीय काण्ड ,,	२)	॥)
२ तृतीय काण्ड ,,	२)	॥)
३ चतुर्थ काण्ड ,,	२)	॥)
४ पंचम काण्ड ,,	२)	॥)
५ षष्ठ काण्ड ,,	२)	॥)
६ सप्तम काण्ड ,,	२)	॥)
७ अष्टम काण्ड ,,	२)	॥)
८ नवम काण्ड ,,	२)	॥)
९ एकादश कांड ,,	२)	॥)
१० त्रयोदश काण्ड ,,	१)	॥)
११ चतुर्दश काण्ड ,,	१)	॥)
१२ १५ से १८ तक ४ काण्ड	२॥)	॥)
छूत और अछूत	१।॥)	॥)
भगवद्गीता (पुरुषार्थबोधिनी)	९)	१॥)
महाभारतसमालोचना । (१-२)	१)	॥)
वेदस्वयंशिक्षक (भा. १-२)	३)	॥)
योगसाधनमाला ।		
१ सध्योपासना ।	१॥)	।-)
२ प्राणविद्या ।	॥)	
३ योगके आसन । (सचित्र)	२)	।≡)
४ ब्रह्मचर्य ।	१)	।-)
५ योगसाधनकी तैयारी ।	।॥)	।-)
यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय	॥=)	≡)
शतपथबोधामृत	।)	-)

देवतापरिचय-ग्रंथमाला		
१ रुद्रदेवतापरिचय	॥)	≡)
२ ऋग्वेदमें रुद्रदेवता	॥=)	=)
३ देवताविचार	≡)	-)
४ अग्निविद्या	१॥)	-)
बालकधर्मशिक्षा		
१ प्रथम भाग	-)	-)
२ द्वितीय भाग	=)	-)
३ वैदिक पाठमाला प्रथम पुस्तक	≡)	-)
आगमनिबंधमाला		
१ वैदिक राज्यपद्धति	।-)	-)
२ मानवी आयुष्य	।)	-)
३ वैदिक सभ्यता	।॥)	≡)
४ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥)	≡)
५ वैदिक सर्पविद्या	॥)	=)
६ शिवसंकल्पका विजय	॥)	=)
७ वेदमें चर्खा	॥)	=)
८ वैदिक धर्मकी विशेषता	॥)	=)
९ तर्कसे वेदका अर्थ	॥)	=)
१० वेदमें रोगजन्तुशास्त्र	≡)	-)
११ वेदमें लोहेके कारखाने	।-)	-)
१२ वेदमें कृषिविद्या	≡)	।-)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न	=)	-)
१४ इंद्रशक्तिका विकास	॥)	=)
१५ वेदोक्त प्रजननशास्त्र	≡)	-)
उपनिषद्-माला । १ ईशोपनिषद्	१)	।-)
२ केन उपनिषद्	१।)	।-)
१ वेदपरिचय । भाग १-२	२॥)	॥)
२ गीता-लेखमाला १ से ७ भाग	५॥)	१॥)
३ गीता-समीक्षा	=)	-)
४ वेदोपदेश ।	१।।)	॥)
५ भगवद्गीता (प्रथम भाग) (भाषानन्दी भाष्य)	१)	।-)
६ यज्ञोपवीत-संस्कार-रहस्य	१॥)	॥)

Regd. No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- व० श्री० सातवळेकर, भारत-मुद्रणालय, औन्ध